साहित्य-सन्देश आगरा की

१९५१-५२ की पूरी फाइल की

विषय-सूची

—:○◡○:—

साहित्य सन्देश

वर्ष १३] 40001 आगरा—जौलाई १६५१ [अङ्क १

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र
*
प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा
*
मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा
*
वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।≈)

इस अङ्क के लेख

हिन्दी का नया प्रकाशन

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

मालवी लोक-गीत—श्याम परमार ३)
कला-कल्पना और साहित्य—डा० सत्येन्द्र ४)
झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का समीक्षात्मक,-
अध्ययन—रामलाल सावल एम. ए. २)
जनमेजय का नाग-यज्ञ—डा० सुधीन्द्र ॥)
पञ्चवटी एक सरल अध्ययन—श्री रामुल गुप्त १।)
आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेई ७)
आधुनिकवादों की रूप-रेखा-उत्तमचन्द्र जैन ।॥)

कविता

हिमालय—महेशचन्द्रप्रसाद एम. ए. २)
विराग—धन्यकुमार जैन १)
अग्नि-शस्य—नरेन्द्रशर्मा, २॥)

उपन्यास

पी कहाँ—रतननाथ 'सरशार' ३)
आखिरी दाँव—भगवतीचरण वर्मा ३॥)
मुक्ति का बन्धन—गोविन्दवल्लभ पन्त ४)
राख की दुलहिन—रघुवीरशरण मिश्र ६)

कहानी

मन-मयूर—अन्नपूर्णानन्द ४)
मैं मरूँगा नहीं—यशपाल जैन २॥)
आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीत—राहुल २।)
अंजलिका—श्री तारकेश्वर भारती १।)
स्मृतियों की आँधी—राजकुमारी शिवपुरी १।)

नाटक

अमिट की रेखाएँ—विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त १)
बुझता दीपक—भगवतीचरण वर्मा २)

जीवनी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—
—श्री नरेशचन्द्र द्विवेदी ॥)

राजनीति

मि० ह्यूम की परम्परा—
—पं० किशोरीदास वाजपेई ॥)

धार्मिक

ईश्वर मीमांसा—छुल्लक निजानन्दजी ६)

चिकित्सा

अचूक चिकित्सा के प्रयोग—
जानकीशरण वर्मा २॥)

कथा

कादम्बरी कथा-सार—अनु० ऋषिश्वरनाथ भट्ट ५)

विविध

कार्तिकृत भक्ति साहित्य—
—चिरञ्जीलाल माथुर 'पंकज' ॥=)

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। वार्षिक मूल्य ४) है।

२—महीने की १० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट [illegible] उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अंक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें।

वर्ष १३] आगरा—जौलाई १९५१ [अङ्क १

हमारा नया वर्ष—

हम ईश्वर की कृपा से अपना बारहवाँ वर्ष पूरा कर चुके हैं। हमने प्रारम्भ में ही अपने पत्र को आलोचना प्रधान बनाने का ध्येय रक्खा था। उसी ध्येय पर हम अक्षुण्ण रूप से चल रहे हैं। उसमें हमको जो सफलता मिली है वह पाठकों और लेखकों की कृपा का फल है। यह तो हम नहीं कह सकते हैं कि हम साहित्य की गति-विधि के परिवर्तन और उसके स्तर को ऊँचा उठाने में कहाँ तक सहायक हो सके हैं, या हुए भी हैं? तथापि लोकरुचि को आलोचना-प्रिय बनाने में हम अवश्य सफल हुए हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है ग्राहकों की बढ़ती हुई संख्या। ग्राहकों की जितनी संख्या बढ़ेगी उतनी ही हम लेखकों की सेवा कर सकेंगे और उतना ही इस पत्र का स्तर ऊँचा उठा सकेंगे। आशा है हमारे कृपालु पाठक इसके प्रचार में सहायता देंगे। इसी के साथ वे साहित्य सन्देश को अपने अध्ययन की वस्तु बनाएँ और अपनी साहित्यिक जानकारी बढ़ाएँ। जो अतिरिक्त जानकारी वे चाहें उसको हमें लिखें हम उसको पूरा करने का भरसक प्रयत्न करेंगे।

हमारे लेखक भी हमारे ऊपर पूर्ववत् कृपा करते रहें। उनसे हमारा निवेदन है कि जहाँ तक हो लेख छोटे भेजें और उनमें जो उद्धरण दें उनको कहाँ से लिया है, इसका उल्लेख यथा सम्भव अवश्य कर दिया करें जिससे कि हम उनको उपलब्ध पुस्तकों से मिला सकें। आशा है लेखक गण इस बात का ध्यान रक्खेंगे और लेखक तथा अन्य सभी पाठक हम पर कृपा बनाए रक्खेंगे।

हिन्दी-प्रचार : हिन्दी शिक्षा समिति—

केन्द्रीय शासन के शिक्षा-सचिवालय की अध्यक्षता में १२, १३ तथा १४ जून को नयी दिल्ली में हिन्दी-प्रचार की समस्या पर विचार करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में संलग्न हिन्दी-प्रचार संस्थाओं के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ।

इस सम्मेलन में यह निश्चय हुआ कि एक

केन्द्रीय संस्था की सरकार के आधीन स्थापना हो जि का नाम 'हिन्दी शिक्षा समिति' रहे। शिक्षा स ति में अहिन्दी प्रदेशों के तथा भारत-सरकार द्वारा नियुक्त ११ सदस्य रहेंगे। यह संस्था निम्न कार्य सम्पन्न करेगी : हि डी की कक्षाएँ खोलना, अध्यापकों को शिक्षा देना,—ीरलेखन, तारकर्मी, टेकनीक तथा कार्य-लेखक तैयार करना।

केन्द्रीय संस्था की सहायता के लिए चार क्षेत्रीय संस्थाएँ होंगी। चार क्षेत्र बनाये जायँगे—उत्तरी क्षेत्र में जम्मू-काश्मीर, पञ्जाबी भाषी पञ्जाब, पेप्सू तथा सिंधी भाषी जनता सम्मिलित होंगे! पूर्वीय क्षेत्र में आसामी, बंगाली तथा उड़िया बोलने वाले, दक्षिणी में तामिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम भाषी, तथा पश्चिमी में मराठी, गुजराती भाषी क्षेत्र सम्मिलित होंगे।

आज से पूर्व के युग में यह विश्वास किया जाता था कि जो आयोजन सरकार के द्वारा किये जाते हैं उनकी सफलता अनिवार्य है, किन्तु आज इस विश्वास की जड़ें हिलने लगी हैं, इसीलिए हमें यह हार्दिक कामना करनी पड़ती है कि सरकार इस आयोजन में सफल हो। हिन्दी के सम्बन्ध में सरकार के कर्णधारों में अत्यन्त भ्रम है। उस भ्रम के रहते कोई भी योजना कैसे सफल हो सकती है? हम गांधीजी की आज यही प्रार्थना दुहराते हैं :

'सबको सन्मति दे भगवान'

सरकार के इस प्रयत्न में यह बात स्पष्ट है कि उसने अहिन्दी-प्रान्तों में कार्य करने वाली हिन्दी-प्रचारक संस्थाओं को सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की है—इन संस्थाओं के अनुभव से लाभ उठाया जा सकता है। क्षेत्र-विभाजन भी वैज्ञानिक है। किन्तु इस समस्त उद्योग का स्तर भी यदि सार्वजनिक संस्थाओं के जैसा रहा तो विशेष आशा नहीं की जा सकती। जब तक आज के राजनीतिज्ञ का वास्तविक हृदय परिवर्तन नहीं होता देश की राष्ट्र-भाषा की समस्या सुलझाने की अपेक्षा उलझेगी ही।

वैताल वहीं टँगा है—

केन्द्र में शिक्षा के जो सूत्रधार हैं उसका वैयक्तिक दृष्टिकोण हिन्दी के विरुद्ध है। वे विधान से मजबूर हैं, वे उसके अनुकूल अपने को प्रदर्शित करते हुए भी अपने संस्कारों से मजबूर हैं। देश की राष्ट्रभाषा के लिए अन्य प्रान्तों का सहयोग आवश्यक है किन्तु उन सबके मतों के संयोजन में ऐसे लोगों का हाथ होना चाहिए जो हिन्दी के प्रश्न को सहृदयता की दृष्टि से देख सकें, और जो उसकी उच्च सम्भावनाओं में विश्वास रखते हों, न कि वे जो हिन्दी को बङ्गाली और उर्दू से पिछड़ा हुआ समझते हों। ऐसे आदमियों के हाथ में यदि प्रश्न रहा तो 'वैताल वहीं टँगा है' की उक्ति सार्थक हो जायगी।

शासन सम्बन्धी परीक्षाएँ—

श्री राजगोपालाचार्य भी सार्वजनिक शासन की परीक्षाओं में हिन्दी को अनिवार्य नहीं बनाना चाहते हैं क्योंकि दूसरे प्रान्त वालों के लिए वह असुविधाजनक होगा। किसी अंश में वह असुविधाजनक हो सकता है किन्तु उनके लिए पास होने का मापदण्ड कुछ नीचा किया जा सकता है। जहाँ कि हिन्दी भाषियों के लिए वह ४० प्रतिशत हो वहाँ अहिन्दी भाषियों के लिए २५ प्रतिशत हो सकता है किन्तु उनको हिन्दी से अछूता रखना राष्ट्रभाषा की अवहेलना करना है।

आने वाले १५ वर्ष—

आज जो हिन्दी के सम्बन्ध में कहीं कहीं ऐसे विषाक्त आयोजन दिखायी पड़ रहे हैं, हम उसके मूल में अपने संविधान को ही पाते हैं। उसमें जो हिन्दी के पूर्ण राष्ट्र-भाषा-पद पाने के लिए १५ वर्ष की अवधि रखी गयी है, उसी पर इस सबका उत्तरदायित्व है। 'हिन्दू-आंग्लीय तथा अरबी भक्त-

दल'। (यह नामकरण महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी का है) इस अवधि को हिन्दी-विरोध के परिपोषण में लगा रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। सरकार में जिस दल का प्रावल्य है, उसके कारण हिन्दी की वह प्रगति नहीं हो रही जो होनी चाहिए—और इस प्रगति से पन्द्रह वर्ष तो क्या सौ वर्षों में भी हिन्दी अपना वैधानिक अधिकार नहीं पा सकती।

सेठ गोविन्ददास का स्मरण-पत्र—

इस विषय पर राष्ट्रपति के पास सेठ गोविन्ददास ने प्रतिनिवेदन प्रेषित किया है। हम भी यहाँ यह विचार करना चाहते हैं कि किस विधि से हम शीघ्र से शीघ्र हिन्दी की योग्यता को पूर्ण कर सकते हैं, हमारे कुछ सुझाव ये हैं:—

हिन्दी क्षेत्रों के विश्व-विद्यालयों के प्रत्येक विषय के शिक्षण के लिये हिन्दी को अनिवार्यतः माध्यम बना दिया जाय। प्रत्येक अध्यापक हिन्दी में ही भाषण दे। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग चाहे जिस माध्यम में हो, किन्तु समस्त व्याख्या हिन्दी में ही की जाय। जो प्राध्यापक हिन्दी बोलना न जानते हों उनके लिये प्रारम्भिक हिन्दी की शिक्षा देने के लिए विश्व-विद्यालयों में कक्षायें आरम्भ कर दी जायँ। इसके लिये अधिक से अधिक एक वर्ष पर्याप्त है। इस प्रयोग से हिन्दी में बोलने का साहस बढ़ेगा और धीरे-धीरे पारिभाषिक शब्दों की समस्या भी स्वयमेव हल हो जायगी। बिना पानी में पैर दिये तैरना नहीं आता। अध्यापकों को आलस्यवश गाड़ी की लीक पर चलने की आदत छोड़ना पड़ेगी। यही हाल सरकारी कर्मचारियों का है। उनको प्रान्तीय भावना छोड़कर राष्ट्रीयता की भावना को अपनाने की आवश्यकता है। अधिकारियों को चाहिए कि वे वकीलों को हिन्दी में काम करने के लिए प्रोत्साहन दें। न्यायाधीश भी अपने निर्णय हिन्दी में लिखें। यदि हाईकोर्ट के जज उन्हें न समझें तो केवल तीन साल तक उनका अनुवाद उनके लिये हिन्दी में कराया जाय। जिस प्रकार स्वदेशी की भावना के लिये लोगों ने कुछ दिनों अधूरी और भोंडी और खुरदरी चीजों को अपनाया किन्तु कुछ ही दिनों में स्वदेशी कपड़ा विदेशी कपड़े से टक्कर लेने लगा, [illegible] स्वदेशी भाषा भी विदेशी भाषा से टक्कर लेने लगेगी।

आशा है डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी सेठ गोविन्ददास के स्मरण-पत्र पर ध्यान देंगे। देश के लोगों की भावना उनके साथ है और जो लोग हिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी के क्षेत्र में काम कर रहे हैं उनकी भी सलाह लें।

पुस्तक-मेला—

जून में शिमला में 'पंजाब लाइब्रेरी एसोशियेशन' की ओर से एक पुस्तक-मेला सम्पन्न हुआ। यह चौथा मेला था।

पुस्तकों के इस प्रकार के मेले किसी भी देश के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी के पुस्तकालयों, विद्यालयों अथवा विश्व-विद्यालयों को ऐसे विशाल हिन्दी,पुस्तक मेलों का आयोजन करना चाहिए, इससे पुस्तकों के अध्ययन और चयन में प्रोत्साहन मिलता है।

अनिवार्य पुस्तकालय—

श्री टेकचन्द बार-एट लॉ ने शिमला पुस्तक-मेला के उद्घाटन कर्त्ता श्री जस्टिस खोसला का स्वागत करते हुए इस बात पर विशेष जोर दिया कि अस्पतालों, सुश्रूषागृहों, तथा जेलों में विशेष पुस्तकालयों की व्यवस्था होनी चाहिए। यह सुझाव अभिनन्दनीय है। उत्तर प्रदेश को भी इस दिशा में विशेष प्रगति करनी चाहिए।

निजी पुस्तकालय—

आज इस बात की बहुत आवश्यकता है कि हम निजी पुस्तकालय बनाने की ओर अग्रसर हों। हमारे जीवन में अपेक्षित गम्भीरता और विनोद तथा

स्वस्थ दृष्टिकोण का अभाव है। प्रत्येक सभ्य समाज में निजी पुस्तकालयों ने इस अभाव की पूर्ति की है। हिन्दी क्षेत्र के युवकों की व्यय शक्ति बढ़ गयी है। किन्तु वे अपने परिश्रमोपार्जित धन को पुस्तकालय बनाने की ओर व्यय नहीं करते। सिनेमा और शृङ्गार-प्रसाधन, तथा क्षणिक [illegible] के साथ वे पुस्तकों को भी अपना प्रिय बना सकें तो निश्चय है कि उनके घर का वातावरण ही कुछ और हो जायगा। पुस्तकें केवल उनके लिए ही मार्ग-दर्शक, ज्ञान-वर्द्धक, मित्र तथा मनोरञ्जन कराने वाली सिद्ध नहीं होंगी, वे उनकी सन्तति के लिए भी एक सुन्दर और गौरवपूर्ण उत्तराधिकार की वस्तु सिद्ध होंगी।

विदेशी विश्वविद्यालयों में हिन्दी—

हमें यह पढ़ कर हर्ष हुआ है कि भारत से बाहर विदेशों के अनेक विश्व-विद्यालयों में हिन्दी की शिक्षा दी जाने लगी है। इन विश्वविद्यालयों में हिन्दी के योग्य प्रोफेसर नियुक्त हैं जिनमें कुछ भारतीय और शेष उन्हीं देशों के निवासी हैं। जिन विश्वविद्यालयों में इस समय हिन्दी की शिक्षा दी जा रही है वे नीचे लिखे अनुसार हैं—(१) लंदन विश्वविद्यालय (२) आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय (३) लेनिनग्राड विश्वविद्यालय, रूस। (४) पेरिस विश्वविद्यालय, फ्रांस। (५) जाकार्ता विश्वविद्यायय, इण्डोनेशिया। (६) पेकिङ्ग विश्वविद्यालय, चीन। (७) टोकियो विश्व-विद्यालय, जापान। (८) काठमांडू विश्वविद्यालय, नेपाल। (९) लासा विश्वविद्यालय, तिब्बत। (१०) काबुल विश्वविद्यालय, अफगानिस्तान। (११) रंगून विश्वविद्यालय, बर्मा।

लन्दन में हिन्दी केन्द्र—

लन्दन में अब हिन्दी प्रेमियों की संख्या पर्याप्त हो चुकी है और उन्होंने २१ मई को एक हिन्दी केन्द्र की स्थापना कर दी है। केन्द्र के अध्यक्ष डा० कमल कुलश्रेष्ठ हैं, जो साहित्य सन्देश के पुराने लेखक हैं और अब लन्दन विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं। श्री ओमप्रकाश आर्य केन्द्र के मन्त्री हैं। यह केन्द्र ३३, एक्जैट्र स्ट्रीट लन्दन में रहेगा। केन्द्र का उद्देश्य हिन्दी भाषा और और साहित्य का प्रचार और प्रसार करना तथा उसके विकास में योग देना रहेगा।

साहित्य-संत श्री वियोगी हरि का एक भाषण—

राष्ट्रभाषा प्रचारक सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन के सभापति पद से साहित्य-संत श्री वियोगी हरिजी ने एक महत्वपूर्ण सामयिक भाषण दिया है वह पठनीय एवं मननीय है। उसके कुछ स्थलों की ओर हम यहाँ पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं—

"हमारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दी को हमारे राष्ट्र ने सदा स्वेच्छा से ही स्वीकार किया है, किसी लोभ या भय से नहीं। हिन्दी को राज्य का नहीं, राष्ट्र का ही हमेशा आश्रय मिला है। मुगल-शासन-काल में फारसी का प्रभुत्व रहा, और उसके बाद राजभाषा अँग्रेजी का। फिर भी हिन्दी अमरबेल की तरह पनपती और बढ़ती रही।...

"कहा जाता है कि हिन्दी अभी बनी नहीं है, जब बन जायेगी तब व्यवहारतः वह राजभाषा के पद पर बैठ सकेगी। उसे बनाने की योजनाएँ भी बन रही हैं। लेकिन भाषा का निर्माण तो वस्तुतः राष्ट्र की मूल प्रकृति करती है और वह कर रही है। ....द्वार कोई बन्द नहीं करना चाहता, पर जाग्रत द्वारपाल अर्थात् देश की मिट्टी और जल-वायु-जनित संस्कार-समूह इतना ध्यान तो रखेगा ही कि जिन शब्दों और मुहाविरों को अन्दर लाया जा रहा है, वे आवश्यक और उपयुक्त भी हैं या नहीं, और वे स्वभावतः कहाँ तक घुल-मिल सकेंगे।...

"राजभाषा स्वीकार कर लिये जाने के बाद हिन्दी को समस्त भारत के अनुरूप फिर से बनाने या गढ़ने की तजवीज पर मेरा निवेदन है कि वह कोई ऐसी अनगढ़, अङ्गहीन भाषा नहीं है जो उसे मनमाने ढग से बनाने या गढ़ने की आवश्यकता हो।"

पाश्चात्य विद्वान् एवं शब्द-शक्ति

प्रो० भोलाशङ्कर व्यास, एम० ए०, शास्त्री (ओरियन्टल स्कूल ऑफ स्टडीज, लन्दन)

भारतीय विद्वानों ने शब्द तथा अर्थ के विभिन्न सम्बन्धों का विवेचन करते समय जिन सूक्ष्म तथा तर्कपूर्ण तथ्यों की खोज की है, उतना सूक्ष्म विवेचन पाश्चात्य विद्वानों में नहीं मिलता। फिर भी पाश्चात्यों ने भी इस विषय में कुछ गवेषणा अवश्य की है, तथा वे भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, जस पर कि भारतीय विद्वान। यूनानियों, लैटिनों तथा आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने शब्द के विभिन्न अर्थों को साक्षात् अर्थ (प्रॉपर सेन्स) तथा आलङ्कारिक अथवा लाक्षणिक अर्थ (फीगरेटिव ऑर मेटेफोरिक सेन्स) इन दो कोटियों में विभक्त किया है।

अरस्तू के मतानुसार साक्षात् शब्द वह है, जिसका प्रयोग सभी लोग करते हैं, तथा उससे सम्बन्धित अर्थ साक्षात् अर्थ है। सिसरो तथा क्विंतीलियन 'वाचक' शब्द की जो परिभाषा देते हैं, वह भारतीय परिभाषा से मिलती-जुलती है। उनके मतानुसार 'वाचक' शब्द, पदार्थों का साक्षात् बोधक है, उसका उन पदार्थों से नियत सम्बन्ध होता है। 'वाच्य' अर्थ वह है जो उस शब्द का नियत अर्थ है। क्विंतीलियन के ही आधार पर फ्रेंच विद्वान् दुमार्से ने कहा है :—

"वाच्य अर्थ शब्द का प्राथमिक संकेत है। साक्षात् अर्थ में प्रयुक्त शब्द इस बात को द्योतित करता है कि उसी अर्थ को प्राथमिकता क्यों दी गई है।" दूसरे शब्दों में दुमासे के मत से वाच्यार्थ वह है जिसके ज्ञान में विशेष परिश्रम नहीं होता। यह वह अर्थ है, जिसको शब्द सर्व प्रथम द्योतित करते हैं।

आलङ्कारिक अथवा लाक्षणिक अर्थ के विषय में अरस्तू ने अवश्य विशेष विचार किया है, किन्तु उसका यह भेद इतना सूक्ष्म तथा विस्तृत नहीं है जितना भारतीयों की लक्षणा का क्षेत्र। साक्षात् वाचक शब्द तथा लाक्षणिक शब्दों के भेद का संकेत अरस्तू ने 'ह्रिटोरिक्स' की तृतीय प्रबन्ध के द्वितीय परिच्छेद (पृष्ठ २०६) में [illegible] "साधारण प्रयोग के शब्द, साक्षात् अर्थ में प्रयुक्त शब्द तथा लाक्षणिक प्रयोग ही केवल गद्यशैली में पाये जाते हैं। इसका प्रमाण यह है कि केवल इन्हीं शब्दों का प्रयोग सब लोग करते हैं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा, वाचक शब्दों के द्वारा तथा साधारण प्रयोगों के द्वारा, तथा साधारण प्रयोग के शब्दों के द्वारा ही बातचीत करता है।" इसी सम्बन्ध में अरस्तू के अनुवादक थ्योदोर बकले ने पादटिप्पणी में बताया है कि शब्दों को वस्तुतः कितने प्रकार का माना जा सकता है। वे कहते हैं—'Ku-ia' वे शब्द हैं, जिनका प्रयोग साधारण रूप में पाया जाता है। इन शब्दों को विस्तृत व. (gluttai) से भिन्न माना जाता है। साक्षात् संकेत तथा मुख्यार्थ में प्रयुक्त वाचक शब्द (Oikeia) उन लाक्षणिक शब्दों (Metaph-orai) से भिन्न हैं, जिनका प्रयोग किसी औपमानिक अर्थ के लिए होता है, तथा जिनमें मुख्यार्थ का बाध होता है। कितने ही शब्द ऐसे भी हैं, जो साधारण रूप में प्रयुक्त होने पर भी वाचक नहीं होते। वस्तुतः इन तीन प्रकार के शब्दों में वाचक शब्द बहुत कम होते हैं, क्योंकि व्यक्तिगत पदार्थों का साक्षात् वाच्यत्व वाणी के समस्त क्षेत्र में पर्याप्त रूप से व्यवहृत नहीं हो सकता। इसीलिए इनके मूल के लाक्षणिक परिवर्तन की आवश्यकता होती है। ये लाक्षणिक शब्द भी समय बीतने पर इतने स्वाभाविक बन जाते हैं कि इनके प्रयोग करने पर श्रोता को लाक्षणिकता का भान नहीं होता।

अपितु ये शब्द वाचक शब्दों की भाँति श्रोता के मन में अन्य भाव बोधक के बिना ही उन भावों की साक्षात् प्रतीति कराते हैं, जिनसे वक्ता का आशय है। संस्कृत विद्वानों के 'द्विरेफ' 'कुशल' आदि शब्दों के विषय में भी ऐसी ही धारणा है, जिनका मूल आधार लाक्षणिक ही रहा है।

भारतीय विद्वानों ने लक्षणा के रूढ़िगत तथा प्रयोजनगत दो भेद किये हैं, यूरोपीय विद्वानों ने ऐसे कोई भेद नहीं किये। किन्तु जिस प्रकार भारतीय विद्वानों के मतानुसार प्रयोजनवती लक्षणा विशिष्ट व्यंग्यार्थ का बोध कराती हुई विशेष चमत्कार (आनन्द) का उद्बोध करती है, उसी प्रकार यूरोपीय विद्वानों के मतानुसार मेटेफर के प्रयोग से भी अर्थव्यक्ति का प्रसाधन चमत्कारोत्पादन होता है। बॉजवेल ने एक स्थान पर (पृष्ठ ६६) बताया है:—"लाक्षणिक अभिव्यक्ति के विषय में ये प्रयोग शैली के महान् गुण हैं, जबकि इनका प्रयोग ठीक तौर से किया गया हो, क्योंकि ये एक भाव के स्थान पर दो भावों का बोधन कराते हैं—अधिक स्फीत रूप में अर्थ व्यक्ति कराते हैं, साथ ही आनन्द के प्रत्यक्ष के साथ भावबोध कराते हैं।" कहना न होगा कि लाक्षणिक प्रयोग से अनुभूति ये दो अर्थ (दो भाव) "गंगायां घोषः" से प्रतीत "गङ्गातट" तथा "शैलपावनत्वादिक प्रतीति" ही हैं। अतः बॉजवेल दूसरे शब्दों में हमें व्यंग्यार्थ जैसी वस्तु का भी संकेत देते जान पड़ते हैं।

लाक्षणिकता का प्रयोग भाषा के दारिद्रय के कारण होता है। जब लोग प्रत्येक अवसर पर अपने भावों का वहन करने वाले शब्दों को नहीं पाते, तो वे औपमानिक शब्दों का आश्रय लेते हैं। उन शब्दों को उनके मुख्यार्थ से हटा कर अभिप्रेत अर्थ की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग में पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार दो तत्त्वों की आवश्यकता होती है:— (१) शब्द का मुख्यार्थ से हट कर दूसरी ओर जाना, तथा (२) उपमान का आधार। ये दोनों भारतीय विद्वानों के "मुख्यार्थबाध" तथा "तद्योग" से मिलते-जुलते हैं। रूढ़ि अथवा प्रयोजन यद्यपि ये लक्षणा का तत्त्व नहीं मानते, तथापि उनका स्थान अवश्य रहता है; इसका संकेत हम अभी-अभी दे चुके हैं।

लाक्षणिकता को अरस्तू ने चार प्रकार का माना है— (१) जाति से व्यक्तिगत, (२) व्यक्ति से जाति गत, (३) व्यक्ति से व्यक्तिगत, तथा (४) साधर्म्यगत। अरस्तू का यह प्रकार भेद बाद के यूरोपीय विद्वानों से भिन्न है। बाद के विद्वान् केवल तीसरे व चौथे प्रकार में ही लाक्षणिकता मानते हैं। अरस्तू के इस भेद को संक्षेप में समझ लेना आवश्यक होगा।

(१) जाति से व्यक्ति :—अरस्तू ने इस लाक्षणिक प्रकार का जहाँ शब्द के मुख्यार्थ से हट कर जाति से व्यक्ति का अथवा भारतीय दार्शनिकों के पारिभाषिक शब्दों में सामान्य से विशिष्ट का बोध होता है, निम्न उदाहरण दिया है :—

"उस बन्दरगाह पर मेरा जहाज सुरक्षित खड़ा है"

इस उदाहरण में "खड़ा होना" जो कि सामान्य रूप क्रिया है, उससे "बन्दरगाह में बाँधे जाने" रूप विशिष्ट क्रिया का बोध होता है। हिन्दी से हम इसका उदाहरण यों दे सकते हैं :—

निकल रही थी मर्म वेदना
करुणा-विकल कहानी-सी
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही
हँसती-सी पहचानी-सी ॥ (प्रसाद)

यहाँ भी मर्म-वेदना के लिए 'निकलने' क्रिया का जो प्रयोग किया गया है, वह "अन्तस्तल से प्रकट होने" इस विशिष्ट अर्थ में ही हुआ है। जिस प्रकार 'जहाज का बन्दरगाह में बँधा होना" "खड़े होने में" समाहित हो सकता है। उसी प्रकार "अन्तस्तल से प्रकट होना "अवचेतन मन से व्यक्त होना" "निकलने" में समाहित हो सकता है।

एक सामान्य का बोध कराती है, दूसरी विशेष का। इसी उदाहरण में "करुणा-विकल कहानी-सी" "हँसती-सी" तथा "पहचानी-सी" में साधर्म्यगत लाक्षणिकता भी पाई जाती है।

(२) व्यक्ति से जातिः—अरस्तू ने इस प्रकार की लाक्षणिकता वहाँ मानी है, जहाँ विशेष से सामान्य का बोध होता हो, जैसे 'यूलिसीज ने दस सहस्र पराक्रम-कार्य किये हैं (टेन थाउजेन्ड व्हेलियन्ट डीड्स यूलिसीज हेज एचीव्ड)। यहाँ "दशसहस्र" इस विशिष्ट का "अनेक, असंख्य" इस सामान्य अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसी का यह भी उदाहरण दे सकते हैं:—"उर में उठते शत-शत विचार" (पन्त)। इसमें भी "शत शत" का प्रयोग "असंख्य" अर्थ में हुआ है।

(३) व्यक्ति से व्यक्ति :—जहाँ एक विशिष्ट अर्थ के लिए दूसरे विशिष्ट अर्थ के वाचक का प्रयोग किया गया हो, जैसे "काँसे के खड्ग से उसके जीवन को खेंच लिया" (द ब्रेजन फेल्शन ड्रयू अवे हिज लाइफ) तथा "क्रूर खड्ग से काटा हुआ" (कट बाइ र्‌यूथलेस स्वोर्ड)। यहाँ प्रथम उदाहरण में 'काटने' के अर्थ में 'खेंच लेने' का तथा दूसरे में खेंच लेने' के अर्थ में 'काटने का प्रयोग हुआ है।' 'काटना' तथा 'खेंच लेना' किसी वस्तु को ले जाने को द्योतित करते हैं, जिस सामान्य के ये दोनों विशेष भाव हैं। इसी का यह भी उदाहरण दे सकते हैं:—

> नव कोमल आलोक बिखरता
> हिम-संसृति पर भर अनुराग।
> सित-सरोज पर क्रीड़ा करता
> जैसे मधुमय पिंग पराग॥ (प्रसाद)

यहाँ 'बिखरता' का प्रयोग 'व्याप्त होने' के अर्थ में हुआ है। वैसे दोनों विशेष भाव किसी वस्तु को आवेष्ठित कर लेने के सामान्य भाव के ही अवान्तर रूप है। साथ ही पिंग पराग के लिए 'क्रीड़ा करने' का प्रयोग 'वायु के झोंके से इधर उधर उड़ने' के अर्थ में हुआ है। ये दोनों विशेष भाव 'चाञ्चल्य' रूप सामान्य भाव के ही विशिष्ट रूप हैं। अतः इन दोनों में एक विशेष से दूसरे विशेष के भाव का बोधन कराने वाली लाक्षणिकता है। कहना न होगा कि इस लाक्षणिकता का [illegible] प्रयोजनरूप किसी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराने के ही लिए [illegible] का 'बिखरना' पट-वास के बिखरने का स्मरण कराता है, तथा पिंग पराग का क्रीड़ा करना, बालक की क्रीड़ा का स्मरण कराता है। इस प्रकार से दोनों ही आह्लाद के व्यञ्जक बन कर आशा के उदय से प्रफुल्लित मनु की मनःस्थिति तथा प्रातःकाल के उल्लास की व्यञ्जना करते हैं।

(४) साधर्म्यगतः—अब अरस्तू का अन्तिम किन्तु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भेद रहा है। यह भेद साधर्म्य को लेकर चलता है। इसको हम भारतीयों की गौणी लक्षणा से अभिन्न मान सकते हैं। किन्तु इसका क्षेत्र गौणी लक्षणा से कुछ विस्तृत है, इसे हम देखेंगे। अरस्तू के मतानुसार साधर्म्यगत लाक्षणिकता वहाँ होती है, "जहाँ प्रथम वाचक का द्वितीय वाचक से ठीक वैसा ही सम्बन्ध होता है, जैसा कि तृतीय का चतुर्थ से। ऐसी दशा में द्वितीय का प्रयोग चतुर्थ के लिए अथवा चतुर्थ का प्रयोग द्वितीय के लिए किया जाता है।" उदाहरण के लिए, यदि कहा जाय कि कटोरे (प्याले) का बेकस (शराब का देवता) से वही सम्बन्ध है, जो ढाल का मार्स (लड़ाई के देवता से) से। अतः ढाल को हम मार्स का कटोरा, तथा कटोरे को बेकस की ढाल कह सकते हैं। अथवा सन्ध्या का दिन के साथ वही सम्बन्ध है, जो बुढ़ापे का जीवन से। अतः हम सन्ध्या को दिन का बुढ़ापा, तथा बुढ़ापे को जीवन की सन्ध्या कह सकते हैं। इसके अन्य उदाहरण हम यों ले सकते हैं—

> "अस्त हुवा रवि तेरा अब रे,
> चला गया मधुमय वसन्त॥"

(दाइ सन इज़ सेट दाइ स्प्रिंग इज़ गौन)—(ग्रे)

यहाँ "रवि के अस्त होने" तथा "वसन्त के चले जाने" का "सुख के अन्त होने" से तात्पर्य है। रवि का दिवस से वही सम्बन्ध है जो कवि का [illegible] से, इसी प्रकार वसन्त का संवत्सर से भी वही सम्बन्ध है। हिन्दी काव्य से हम यह उदाहरण ले सकते हैं :— [illegible]

जब कामना सिन्धु—[illegible]
ले सन्ध्या का तारा-दीप।
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी,
तू क्यों हँसती अरी प्रतीप॥
(प्रसाद)

इस उदाहरण में "सन्ध्या का तारा-दीप" तथा "सुनहली साड़ी उसकी" में साधर्म्यगत लाक्षणिकता है। प्रथम में सन्ध्या के साथ तारे का ठीक वही सम्बन्ध है, जो प्रिय की कुशल कामना के लिए सागरतट या नदीतट पर पूजादीप को बहाने आती हुई नायिका से दीपक का। साथ ही उसी नायिका से सुनहली साड़ी का ठीक वही सम्बन्ध है, जो सन्ध्या से उसकी लालिमा का। अतः 'सन्ध्यातारक' के लिए 'सन्ध्या का तारा-दीप' का प्रयोग 'मार्स का ढाल—कटोरा' के समान है। 'उसकी सुनहली साड़ी' का प्रयोग केवल 'मार्स का कटोरा' जैसा प्रयोग है। वैसे दोनों में ही साधर्म्यगत लाक्षणिकता है। भारतीय आलंकारिकों की पारिभाषिक शब्दावली में हम प्रथम में "सारोपा गौणी लक्षणा" तथा द्वितीय में "साध्यवसाना गौणी लक्षणा मानेंगे, किन्तु फिर भी दोनों स्थानों पर है साधर्म्यगत गौणी ही।

लाक्षणिक प्रयोगों के विषय में अरस्तू के निष्कर्ष ठीक वही हैं, जो भारतीय विद्वानों के लक्षणा के विषय में। लाक्षणिक प्रयोगों के गुण का निर्देश करते हुए अरस्तू ने बताया है, कि वे दूरारूढ नहीं होने चाहिए। हमारे यहाँ भी दूरारूढ लाक्षणिक प्रयोगों में दोष ही माना गया है। इस दोष को अलंकारशास्त्रियों ने 'नेयार्थ' कहा है। जैसे 'उध्यत्कमललौहित्यैर्वक्राम्भेभूषिता तनुः' इस उदाहरण में 'स्त्रियों ने पद्मराग मणियों से अपने शरीरों को भूषित किया' यह अर्थ दूरारूढ ही है, क्योंकि 'कमललौहित्य' का 'पद्मराग' तथा 'वक्राम्भेः'' का 'स्त्रियें' (वक्राम्भेः) 'यह अर्थ लेने में कोई रूढि या प्रयोजन नहीं है। लाक्षणिक प्रयोगों के अरस्तू ने पाँच परमावश्यक तत्त्व माने हैं :—(१) लाक्षणिक प्रयोग बिलकुल ठीक हो, (२) यदि किसी का उत्कर्ष द्योतित करना हो तो उनका ग्रहण उन्नत मूल से किया गया हो, और यदि अपकर्ष द्योतित करना हो तो निम्न मूल से गृहीत हो, जैसे वाहीक के निम्नत्व को द्योतित करने के लिए 'गौः' का प्रयोग या किसी के मूर्खत्वातिशय को द्योतित करने के लिए 'गधे' का प्रयोग, (३) लाक्षणिक प्रयोगों में ध्वनिमाधुर्य का भी ध्यान रखना चाहिए, (४) वे दूरारूढ न हों, (५) उनका ग्रहण सुन्दर पदार्थों से किया जाय। इस दृष्टि से लाक्षणिक प्रयोगों में अरस्तू ने सौन्दर्य-प्रसाधन पर विशेष महत्त्व दिया है। एक स्थान पर उसने कहा है कि 'गुलाब के समान अँगुलियों वाली अरोरा' (रोज़ी-फिंगर्ड अरोरा) के प्रयोग में 'रक्तांगुलि' (दि पर्पल-फिंगर्ड) अथवा लोहेलांगुलि (दी क्रिमसन फिंगर्ड) वाले प्रयोगों से महान् अन्तर है।

लाक्षणिक प्रयोगों के उपर्युक्त चारों प्रकारों में अरस्तू ने साधर्म्यगत को सबसे सुन्दर तथा चमत्कारजनक बताया है। वस्तुतः उपमानोपमेय भाव को लेकर चलने के कारण इस प्रकार के प्रयोगों में एक विशेष चमत्कार पाया जाता है। अरस्तू कहता है:—"किन्तु चार प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों में, वह प्रकार भेद उच्चतम कोटि का है, जिसका आधार समान अनुपात (साधर्म्य) है। जैसे पेरिक्लीज ने कहा था "वह नवयुवक जो युद्ध में निहत हुआ, नगर से उसी प्रकार अन्तर्हित हो गया, जिस प्रकार किसी ने संवत्सर से वसन्त को

छीन लिया हो।" अरस्तू के मत से निम्न लाक्षणिक प्रयोग उच्चतम कोटि का होगा—

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई॥
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से।
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में
शरद-विकास नये सिर से॥ (प्रसाद)

"जिस प्रकार कोई राजा बाणों से अपने बैरी को पराजित करता है, तथा उस विजयी राजा की जय लक्ष्मी से पराजित राजा ध्वस्त हो जाता है, वैसे ही प्रलय निशा को ध्वस्त करती हुई उषा अपनी स्वर्णिम किरणें बरसाती हुई प्रकट हुई। पराजित राजा अपनी रक्षा के लिए कहीं जाकर छिप जाता है, वैसे ही कालरात्रि भी समुद्र के जल में छिप गई। जब दुष्ट राजा का अन्त हो जाता है, तथा सन्नृप विजयी होता है, तो वह प्रकृति (मन्त्री आदि) जो दुष्ट राजा के अत्याचार से म्लानमुख थी, फिर प्रसन्न हो जाती है। ठीक उसी प्रकार प्रलयनिशा में ध्वस्त प्रकृति भी अब उल्लासमय हो गई। शोक का अन्त हुआ तथा उल्लास का प्रचार हो गया। संसार में वर्षा का अन्त हो गया तथा नये ढंग से शरद् ऋतु आई।" यहाँ "वर्षा" शोक तथा मलिनता की द्योतक है, 'शरद-विकास' उल्लास तथा निर्मलता का। इसउदाहरण में 'प्रकृति' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग ने एक विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। यहाँ बिजली राजा से पराजित राजा, बाण तथा मंत्रियों का वही सम्बन्ध है, जो उषा से रात्रि, किरणें तथा प्रकृति का। इसी प्रकार उषा से रात्रि का वही सम्बन्ध है, जो शरत् से वर्षा का। ये समस्त प्रयोग मनु के मन से चिन्ता के मालिन्य के नष्ट होने तथा वहाँ आशा के उल्लासमय उदय होने की व्यञ्जना करते हैं।

जिस प्रकार साधर्म्यगत गौणी लक्षणा को भारतीयों ने सारोपा तथा साध्यवसाना इन दो भेदों में विभाजित किया उसी प्रकार अरस्तू भी साधार्म्यगत लाक्षणिकता दो प्रकार की मानता जान पड़ता है। सारोपा में आरोपक एवं आरोप्यमाण दोनों का एक साथ प्रयोग पाया जाता है, जैसे "गौर्वाहीकः" में। किन्तु साध्यवसाना में आरोपक आरोप्यमाण का निगरण कर जाता है, [illegible] वाहीक के लिए "गौर्गच्छति' इस प्रयोग में। अरस्तू के मतानुसार भी लाक्षणिक प्रयोगों में कभी-कभी वाचक का भी प्रयोग लाक्षणिक के साथ-साथ ठीक उसी तरह किया जाता है, जैसे "गौ र्वाहीकः" में "गौः" के साथ साथ "वाहीक" (वाचक शब्द) का प्रयोग किया गया है। इसका कारण उसी वाच्य को बतलाने के लिए होता है, ताकि लाक्षणिक प्रयोग से अप्रासंगिक अर्थ न ले लिया जाय।

यूरोपीय साहित्यशास्त्र के प्रायः समस्त अर्थालङ्कार इसी लाक्षणिक प्रयोग के अन्तर्गत आते हैं। उपमा (सिम्ली) के विषय में अरस्तू का कहना है कि उपमा भी लाक्षणिक प्रयोग ही है, क्योंकि उसमें भी साधर्म्यमूलक रूपक की भाँति दो प्रकार के अभिव्यञ्जक प्रयोग पाये जाते हैं। अतिशयोक्ति (हाइपरबोले) भी इसी साधर्म्यगत रूपक की कोटि में आती है। यही नहीं मूर्तीकरण (परसॉनिफिकेशन) में भी साधर्म्यगतत्व का विशेष हाथ होता है।

सिसरो के मतानुसार समस्त लाक्षणिक प्रयोग साधर्म्यमूलक ही होते हैं। यह साधर्म्य उन पदार्थों में होता है, जो किसी शब्द के वाच्य (साक्षात्-अर्थ) तथा लक्ष्य (लक्ष्यार्थ) हैं। किंतीलियन की परिभाषा भारतीय-परिभाषा से मिलती-जुलती है। उसके अनुसार लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त शब्द, उस अर्थ से भिन्न अर्थ द्योतित करता है, जो अर्थ उसके प्रयोग पर आश्रित रहता है। यह प्रयोग, निःसन्देह

(शेष पृष्ठ १२ पर देखिए)

काव्यगत सत्य का स्वरूप

श्री सिद्धेश्वरप्रसाद

काव्य जीवन और जगत् की भावमूलक व्याख्या है। इस व्याख्या का माध्यम है सौन्दर्य। लेकिन जिस प्रकार जीवन और जगत् के स्वरूप और मूल-तत्त्व को लेकर अनेक मत—प्रचलित हैं और सभी अपने अपने ढङ्ग से सत्य तक पहुँचने को प्रयत्न-शील हैं उसी प्रकार काव्यगत सत्य को लेकर भी अनेक 'वाद' प्रचलित हैं।

विज्ञान, दर्शन और काव्य तीनों अपने अपने ढङ्ग से सत्य की व्याख्या करते हैं। विज्ञान का क्षेत्र दृश्य जगत् है और उसकी पद्धति विश्लेषणात्मक है। दर्शन का क्षेत्र दृश्य और अदृश्य दोनों है। लेकिन इसकी पद्धति तर्क और चिन्तन प्रधान है। काव्य का क्षेत्र दृश्य और अदृश्य दोनों रहा है और इसकी पद्धति भावना मूलक रही है। अनुभूति की पकड़ में आनेवाली कोई भी वस्तु काव्य का विषय हो सकती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यगत सत्य का सम्बन्ध अनुभूति से है। अनुभूति के बिना काव्य की स्थिति सम्भव नहीं। जब तक अनुभूति जगती नहीं, भावना उमड़ती नहीं, पण्डित माखनलालजी के शब्दों में 'एक प्रकार का धुआँ-सा उठकर मनको बेचैन नहीं कर देता, तब तक सफल काव्य-सृष्टि नहीं हो सकती। अनुभूति के अभाव में की गई रचना बौद्धिक व्यायाम मात्र है।

अनुभूति की इसी अनिवार्यता के कारण काव्यगत और वस्तुगत सत्य में अन्तर हो जाता है। काव्यात्मक अनुभूति 'आत्मा की मनन शक्ति की असाधारण अवस्था' का प्रतिफल है, वस्तुगत सत्य जीवन के साधारण व्यापार की देन है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि काव्यगत सत्य और वस्तुगत सत्य परस्पर विरोधी हैं। सच बात तो यह है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। काव्यात्मक अनुभूति की उदात्तता एवं काव्य में कल्पना के प्रयोग के कारण ही काव्यगत सत्य के सम्बन्ध में भ्रम पैदा होता है।

अनुभूति के प्रकृत पथ को छोड़ कर कुछ लोगों ने काव्यगीत सत्य का सम्बन्ध यथार्थ से जोड़ा है तो दूसरों ने आदर्श से। पर अनुभूति न तो यथार्थ जैसी चीज है और न आदर्श जैसी। वह तो अपने आप में पूर्ण है। काव्यगत सत्य का सीधा सम्बन्ध अनुभूति से ही है यथार्थ या आदर्श से नहीं। घोर से घोर यथार्थवादी रचना अनुभूति के अभाव के कारण काव्यगत सत्य से कोसों दूर हो सकती है और यही बात अनुभूति हीन आदर्शवादी रचना पर भी लागू है। ऐसी रचनाएँ और चाहे जो हों पर काव्य की श्रेणी में नहीं आतीं।

काव्यगत सत्य को कल्पना प्रसूत कहकर टाल देने की प्रवृत्ति भी दीख पड़ती है। कहा जाता है कि काव्य में आए हुए वर्णन सच्चे नहीं होते (शायद ऐसे लोगों का संकेत फोटोग्राफी की वास्तविकता की ओर रहता है।) तर्क किया जाता है कि प्रेमचन्दजी की न तो किसी 'होरी' या 'सूरदास' से भेंट हुई थी और न प्रसादजी की 'मनु' या 'श्रद्धा' से; फिर इनके तत्सम्बन्धी कथन को सत्य कैसे माना जा सकता है? बात यहीं तक समाप्त होती तो गनीमत थी। ऐसे तर्कशील जिज्ञासु एक कदम और आगे बढ़ कर पूछते हैं कि यदि काव्यगत 'सत्य' होता है फिर गुसाईंजी और गुप्तजी के राम में अन्तर क्यों?

ऐसे लोगों के लिए आँखों देखी वस्तु का हू-बहू वर्णन ही एकमात्र सत्य है। पर इस प्रकार के यथार्थ कथन वाले हू-बहू वर्णन में ही कितना भेद

होता है इसका अनुभव जीवन में पग-पग पर हुआ करता है। लाल वस्तु को तो प्रत्येक व्यक्ति लाल ही कहता है, पर किसी भी वस्तु को सभी एकमत हो अच्छी या बुरी अथवा सुन्दर या असुन्दर नहीं कहते। और यह अन्तर तुलसी तथा गुप्त के राम से कम नहीं, ज्यादा ही है। एक ही सत्य के इन नाना रूपों को ही ध्यान रख कर कहा गया है—'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।' तुलसीदास ने भी 'भावभेद-रसभेद अपारा' या 'हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता' कह कर इसी भाव को व्यक्त किया है।

जब हू-बहू (यथातथ्य) सत्य के स्वरूप-निर्णय में इतनी कठिनाई है, और उसके बाद भी तर्क-करों के स्पर्श से वह छुई-मुई ही बनता जाता है तब काव्यगत सत्य को नपी-तुली रेखाओं के बीच देखने की इच्छा हास्यप्रद नहीं तो और क्या है? काव्यगत सत्य 'सम्भावित सत्य' है। इसे एक ही सीमा स्वीकार है, वह है अनुभूति। इस 'सम्भावित सत्य' में एक ऐसी विशेषता है जो काव्य को दीर्घ आयु प्रदान करती है। 'ब्रह्म राम ते नाम बड़' जैसी बात इसमें है। तुलसी ने जिस राम को अपने काव्य का आधार बनाया था वह कबके काल-कवलित हो चुके थे, उनकी अयोध्या भी क्या से क्या हो गई थी। लेकिन तुलसी की अनुभूति के माध्यम से आये सभी अमर हो गए। अयोध्या के राम और सीता के स्थान पर 'मानस' के राम और सीता ही आज लाखों के मन-प्राण में बसे हुए हैं—एक जीवित संसार के रूप में आशा और उत्साह देते हुए, जीवन-पथ में प्रेम का मार्ग प्रशस्त करते हुए, सेवा लेते हुए और सेवा देते हुए।

यथार्थ जहाँ हू-बहू होने का दावा करता है वहीं वह अपनी स्थूलता के कारण अल्पायु भी होता है। उसका सौन्दर्य भी स्थूलता के निकट होने के कारण देश, काल और पात्र की सीमा में अपेक्षाकृत अधिक सीमित होता है। 'बातौं भुरइ राधिका भोरी' (सूर) की मीठी बातों में आने वाले लोगों की संख्या राधा और गोपिकाओं तक ही थी पर इस उक्ति के सौन्दर्य पर लुटनेवाले सहृदय पग-पग पर मिलेंगे।

तर्क-कर के स्पर्श से जो सत्य छुई-मुई-सा हो जाता है वही भावभूमि में अनुभूतिमय हो जाता है और इस प्रकार व्यक्तित्व का एक अभिन्न अङ्ग। 'याथातथ्य सत्य क्षुद्र स्वार्थों [illegible] पड़कर अपने को सीमित [illegible], पर वही भावमय होने पर असीम हो जाता है। भावमय होने पर वह अनुभूतिगम्य हो जाता है और तब वह काव्यगत सत्य के रूप में हमारे सामने आता है। हू बहू में हमारी दृष्टि बँध न जाय इसीलिए 'कविर्मनीषी' के द्रष्टा ने 'याथातथ्यतः' के साथ 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' की बात कही है। संघर्षमय जीवन और अति भौतिकवादी दृष्टि ने आज 'याथातथ्यतः' की भावना को उभाड़ दिया है पर एक नदी के दो किनारे की तरह आवश्यक दूसरे किनारे 'शाश्वतीभ्यः' को निरर्थक करार दिया है। वह निरर्थक तो न हो सका पर वैसा करने से हमारा अनिष्ट अवश्य हुआ है। आधार को ही गन्तव्य मानकर जो भूल की जा सकती है वही यहाँ भी हुई है। 'याथातथ्य' हमारा आधार है, हमारे पैरों के नीचे की वह पवित्र मिट्टी है जिस पर हम खड़े हैं। पर हमारा सिर तो मिट्टी पर नहीं है, वह जहाँ है वही 'शाश्वतीभ्यः' की ओर संकेत है। दोनों की चर्चा कर दो बिन्दुओं की ओर संकेत किया गया है। एक यह बतलाता है कि हम कहाँ हैं और दूसरा यह कि हमें कहाँ जाना है? दोनों में से कोई भी बिन्दु स्थिर नहीं है—इसलिए कि हम गतिशील हैं—कल का प्राप्य आज प्राप्त है और यही क्रम अनादि-काल से चला आरहा है। ऐसी अवस्था में बड़े-छोटे का झगड़ा ही मूर्खतापूर्ण है।

सत्य को अपनी अनुभूति की अभिनव सुषमा प्रदान करने वाला कवि 'स्वयम्भूः' तो है ही, पर इसके पहले वह 'परिभूः' है, विश्वप्रेमी है। उसका

विश्व-प्रेम मनीषी-का विश्वप्रेम है। मनीषी का विश्व-प्रेम यथार्थ और सम्भाव्य-सत्य के दोनों स्वरूपों पर सम-दृष्टि रखने की शक्ति देता है। इसके बिना उसकी दृष्टि शाश्वतकाल की ओर नहीं मुड़ सकती, उस परम रमणीय तत्त्व के अगाध रस में अपने को नहीं डुबो सकती, मुर्झाये जीवन को अनन्त कालतक हरा भरा रखने की शक्ति उसके काव्य में नहीं आ सकती।

हमारे सामने के अब तक के उस साहित्य में, जो हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है, काव्यगत सत्य का यही रूप अभिव्यक्त हुआ है।

काव्यगत सत्य की—जो भाव-भूमि पर अनुभूति से सिंचित हो, कल्पना का मुग्धकारी सौन्दर्य ले, शब्द को शरीर बना और अर्थ को प्राणों में सँजो-कर रसोद्रेक की क्षमता ले अवतरित होता है—उपेक्षा नहीं की जा सकती। जीवन के यथार्थ सत्य से स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी यह उससे तात्त्विक समता रखता है। काव्य की एक व्याख्या जीवन की पुनः सृष्टि के रूप में की गई है। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में यह हमारे अभावों का भाव मय-चित्र है, और है स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से जीवन को समझने-बूझने, परखने और तौलने का प्रयत्न। स्रष्टा की सृष्टि में मनुष्य उसी रूप में है, जैसा वह बनाया गया है। पर काव्यमय संसार का निर्माता वह स्वयं है, और अपने को जैसा उसने बनाना चाहा है उसका वह भावमय रूप यहाँ उतरा है। इसीलिए इस काव्यगत सत्य का महत्त्व अनुपम है। काव्य गत सत्य इतिहास की तरह मृतों के शव की प्रदर्शनी नहीं, जीवितों के हृदय के स्पन्दन का लेखा-जोखा है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्यगत का सम्बन्ध तथ्य से नहीं अनुभूति से है। काव्य में महत्त्व की वस्तु तथ्य नहीं अनुभूति है।

अनुभूति की उपेक्षा कर काव्य के विवेचन में अन्य वस्तुओं को महत्त्व देने के कारण साहित्य-क्षेत्र में जो भ्रम एवं अस्पष्टता फैली है, वह दूसरे निबन्ध का विषय है।

———

(पृष्ठ ६ का शेष)

अन्य प्रयुक्त शब्दों तथा प्रकरण के अर्थ का निर्धारक होता है। फ्रेंच विद्वान् दुमार्से के मतानुसार लक्ष्यार्थ वह है, जो मुख्यार्थ से सर्वथा विपरीत होता है। आड्गन तथा रिचर्ड्स ने भी लाक्षणिकता वहीं मानी है, जिसमें एक सम्बन्धित (अर्थ) का प्रयोग उसके लिए किया जाय, जिसका उससे कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य रहता है। यह प्रयोग इसलिए किया जाता है कि दूसरे वर्ग की वस्तुओं से सादृश्य सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। (मीनिङ्ग ऑव मीनिङ्ग परि १० पृष्ठ २१३) "प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म" (परि० २२ पृष्ठ २४०) नामक पुस्तक में 'मेटेफर' के विषय में रिचर्ड्स का कहना है कि "लाक्षणिकता एक अर्धगूढ प्रणाली है, जिसके द्वारा बहुत से तत्त्व अनुभव के क्षेत्र में आ जाते हैं।" लाक्षणिकता को अर्धगूढ प्रणाली मानकर क्या रिचर्ड्स भारतीय आलंकारिकों के व्यंग्यार्थ का तो संकेत नहीं देते, जो लाक्षणिकता (प्रयोजनवती) में सर्वदा निहित है?

———

रासो के अर्थ का क्रमिक विकास

श्री दशरथ शर्मा, डी० लिट्०

रासो के 'रासे' से मैं कुछ दिनों से तटस्थ हूँ। किन्तु मई, सन् १९५१ के साहित्य-सन्देश में प्रकाशित श्री वैजनाथप्रसाद खेतान का 'रासो की व्युत्पत्ति' नामक लेख मुझे एक दो शब्द लिखने के लिए विवश करता है। श्री खेतान द्वारा निर्दिष्ट रासो के 'ऊधम' या 'पचड़े' आदि अर्थों से परिचित होते हुए भी, मैं इन्हें रासो के मुख्य अर्थ नहीं मानता; और श्री खेतान भी सम्भवतः इस बात से अनभिज्ञ नहीं हैं कि शब्दों का प्रचलित प्रयोग अनेकशः लाक्षणिक एवं मुख्य अर्थ से भिन्न होता है। राजस्थानी के 'क्यूं-महाभारत मचा राख्यो है', 'क्यूं फालतू रामायण करै है', 'ओ निरो बुद्धू है' प्रभृति वाक्य केवल मात्र 'महाभारत', 'रामायण' और 'बुद्धू' शब्दों के मुख्यार्थ तक पहुँचने में हमारे सहायक हो सकते हैं; वे स्वतः इनके मुख्यार्थ को बोधित नहीं करते। श्री खेतान के वाक्य, 'क्यूं रासो मचावे 'है के विषय में भी यही कहना संगत होगा।

रासो के अर्थ का क्रमिक विकास हिन्दी भाषा की एक रोचक कथा है। श्रीमद्भागवत, हरिवंश और विष्णुपुराण में 'रास' या 'हल्लीस' शृङ्गारमय गान से मुक्त एक नृत्य विशेष का नाम है। राधा-कृष्ण और गोपिकाओं का रूप धारण कर कृष्ण-रास का अभिनयन भी व्रज आदि भारतीय प्रान्तों में प्राचीन समय में पर्याप्त जन-प्रिय रहा होगा। रास के—नृत्य, अभिनय, और गेय वस्तु—इन्हीं तीन अङ्गों से समय पाकर, परस्पर मिलतेजुलते किन्तु साहित्य की दृष्टि से विभिन्न तीन, प्रकार के रासों की उत्पत्ति हुई, अपभ्रंश-काव्यत्रयी और खरतरगच्छपट्टावली से हमें ज्ञात है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक कुछ नृत्यविशेष रास के नाम से सिद्ध थे। जैनाचार्य जिन वल्लभसूरि (मृत्यु संवत् ११६७) ने लगुडरास और तालरास का खरतर गच्छा मन्दिरों में सर्वथा निषेध किया था। स्त्रियों का तो प्रश्न ही क्या, पुरुषों [illegible] भी देवालयों में लगुडरास की [illegible]। इसके अनेक कारण थे। रास करने वालों की चेष्टाएँ अत्यधिक विटों की सी होतीं; कभी-कभी प्रमादवश सिर में चोट लग जाती; पाठ भी दुष्ट होता।"[1] किन्तु सब समय और सब तरह के रास वर्जित न थे। जैनाचार्य जब किसी नगर में प्रवेश करते या किसी प्रतिद्वन्द्वी को शास्त्रार्थ में पराजित करते तो श्रावक गण प्रसन्न होकर अनेक रासों की योजना कर आनन्द मनाते।[2] अन्य रास की भी ग्यारहवीं शताब्दी तक उत्पत्ति हो चुकी थी। चर्चरी और रास नृत्यों के साथ लोग अनेक प्रकार की देश्य भाषा में रचित गीतियां गाते; यही गीतियां चर्चरी और रास के नाम से प्रसिद्ध हो चलीं।[3] इनकी जनप्रियता को ध्यान में रखते हुए जैन आचार्यों ने अनेक ऐसे प्रबन्धों की रचना की।[4] जहाँ सामान्य जनता

१—अपभ्रंश-काव्यत्रयी, पृष्ठ १२ और ४७.

२—खरतरगच्छ-पट्टावली (अप्रकाशित), विशेषतः जिनपति सूरि का जीवन-चरित पढ़ें।

३—चर्चरी के प्राचीन उदाहरण के लिये कर्पूर मञ्जरी देखें।

४—अपभ्रंश काव्यत्रयी में एक चर्चरी और एक रास है। जिनपाल (मृत्यु संवत् १२९४ वि०) रचित इनकी टीकाओं के ये तीन उद्धरण पठनीय हैं।

(क) चर्चरी रास कप्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल
वृत्तिप्रवृत्तिं नाधत्ते प्रायः कोऽपि विचक्षणः।

(ख) इहहि···श्रीमदभिर्जिन कुशलसूरिभिर्लोक
प्रवाह पतितान् बहून् जन्तूनुपलभ्य तदुप

चर्चरी और रास नृत्यों के समय शृङ्गारमयी चर्चरियाँ और रास गाती; गुरुभक्तिमयी जैन जनता उपदेशमय रासों का प्रयोग करती। यह भी सम्भव है कि इन्हीं उपदेश बहुल रासों के कारण गेय रास अन्त में केवल श्रव्य मात्र रह गये, नृत्य से उनका सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो गया।

हमें जैन और अजैन दोनों प्रकार के रास उपलब्ध हैं। भरतेश्वर-बाहुबलि-रास जम्बुस्वामिरास, रेवंतगिरिरास, कछूलीरास, गोतमरास, दशार्णभद्र-रास, वस्तुपाल-तेजपालरास, श्रेणिकरास, पेथड़रास, समरसिंहरास, प्रभृति की रचना सन् ११८५ से सन् १४१५ के बीच में हुई। इनमें 'वीर रस प्रधान तथा संक्षिप्त कथा प्रसङ्गवाला, ओजस्विनी शैली में रचित' भरतेश्वर-बाहुबलि-रास विशेषतः पठनीय है। रासो या रासउ रास शब्द का एकवचनान्त-रूप है; अतः इसका इन प्रबन्धों में स्वभावतः अनेक बार प्रयोग किया गया है। पाठकों के लिए हम यहाँ तीन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं:—[५]

(१) परमेसर तित्थेसरह पयपंकय पणमेमि।
भणिसु रासु रेवतगिरे अंबिकादेवि सुसरेवि।
(रेवंतगिरिरास, रचना संवत् लगभग १२८८ वि०)

(२) सिरि भद्देसर सूरिहिं वंसो
बीजी साहह बनिसु रासो।
(कछूलीरास, रचना संवत् १३६३ वि०)

(३) वस्तुपाल तेजिग तणउ अम्हे बोलिस रासो
भरतषेत्र धुरि गुजरात अनहिलपुर वासो।
(वस्तुपाल तेजपालरास, रचना संवत् लगभग १३५० वि०)

अजैन रासों की संख्या किसी समय बहुत अधिक रही होगी। किन्तु उनकी वही दशा हुई है जो प्रायः लोक-गीतों की हुआ करती है। बहुत से काल कवलित हो चुके हैं; कई इतने विकृत रूप में प्राप्त हैं कि उन्हें प्राचीन मानना कठिन है। प्राचीन अजैन एवं अतीव जनप्रिय रासों का उपलब्ध समग्र नमूना शायद अब्दुर रहमान का संदेश रासक मात्र है। पुरातन प्रबन्ध संग्रह से प्राप्य पृथ्वीराज रासो के अपभ्रंश में रचित कुछ छन्द और रासो के अनेक भागों का अपभ्रंश से अत्यधिक साम्य यह सिद्ध करते हैं कि बारहवीं तेरहवीं शताब्दियों में यह भी समग्र रूप में वर्तमान रहा होगा।[६]

रास का तीसरा प्राचीन अङ्ग, अभिनय भी शनैः शनैः विकसित होकर रासक नाम के उपरूपक में परिणत होगया; यह रास का आदिम नहीं, अपितु विकसित रूप मात्र था। नृत्य और गान उसके आवश्यक अङ्ग थे। नायक कोई प्रसिद्ध या मूर्ख व्यक्ति होता।[७] इन मध्यकालीन रासकों की राजस्थानी के प्रचलित रासों और ख्यालों से तुलना की जा सकती है। कुछ वर्ष पूर्व राजस्थान के शेखावाटी प्रान्त में इनका पर्याप्त प्रचार था। अब प्रायः थियेटर और सिनेमा उनका स्थान ग्रहण कर चुके हैं।

कालक्रम से रासो का अर्थ और भी परिवर्तित हुआ। मुख्यार्थ के साथ-साथ कुछ गौण अर्थ भी मुख्यार्थ का रूप धारण करने लगे। जनप्रिय गेय

(शेष पृष्ठ २८ पर)

चिकीर्षया ···श्रावक श्राविकादि शिक्षा विशेष प्रतिपादकः प्राकृत भाषया ·· रासकश्चक्रे।

(ग) चर्चरीचक्रुः। इयं च प्रथम मञ्जरी भाषया नृत्यद्भिर्गीयते।

५. उदाहरण श्री एन्० बी० दीवतिया की Gujrati Language and Literature, vol. II से दिये गये हैं।

६—इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए राजस्थान भारती, भाग १ अङ्क १ में लेखक का 'The Original Prithviraja-Raso, an Apabhramsa Kavya' नाम का लेख देखें।

७—उपरूपक 'रासक' के वर्णन के लिए साहित्य दर्पण का छठा अध्याय देखें।

सूरसागर और महाभारत

प्रो० मुरली मनोहर प्रसाद एम० ए०

कवि जब रचना करने के लिये प्रस्तुत होता है, तो वह अपने युग से प्रभावित होता है, पर इसके अतिरिक्त वह अपने पूर्व के साहित्य से भी अनुप्राणित होता है। कलाकार की श्रेष्ठता इसी में है, कि वह अपने पूर्व से कुछ लेकर भविष्य के लिये कुछ दे जाय। प्रायः सभी कवि अपने पूर्व के साहित्य से प्रभावित होते हैं—और उसी के आदर्श पर अपने नव साहित्य का सृजन करते हैं। महाकवि तुलसीदास भी अपने पूर्व के साहित्य से प्रभावित थे। 'रामचरित-मानस' की रचना उन्होंने 'स्वान्तः सुखाय' की थी पर इसके लिये 'नानापुराण निगमागम' की सहायता लेना नहीं भूले थे।

महाकवि सूरदास इस नियम के अपवाद नहीं हैं। उनके 'सूर-सागर' पर भी पहले की रचनाओं का प्रभाव है। कहा जाता है कि 'सूर-सागर' का आधार ग्रन्थ 'श्री मद्भागवत' है। और यह बहुत अंशों में ठीक भी है। सूरदास श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभाचार्य उपनिषदों, ब्रह्म-सूत्रों और भगवत गीता के अतिरिक्त 'श्री मदभागवत्' को भी अपनी भक्ति का प्रधान आधार मानते थे। अतः सूरदास पर श्री मद्भागवत् का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। सूरदास ने श्रीमद्भागवत् को सूरसागर का प्रधान आधार बनाया था। इसका अर्थ यह नहीं कि सूरसागर 'भागवत' का अनुवाद मात्र या सर्वांश में उसी के अनुकरण पर बना हुआ ग्रन्थ है। सूर ने अपने 'सूर-सागर' में 'भागवत' से कथाओं का सूत्र-मात्र लिया है, उनका परिष्कार अपने ढङ्ग से किया है, और अपनी रुचि के अनुकूल अपनी भाषा और शैली में मौलिक ढङ्ग से उनका वर्णन किया है।

सूरदास के 'सूरसागर' पर 'श्रीमद्भागवत' के अतिरिक्त अन्य पुराणों जैसे नारदीय पुराण, [illegible]-पुराण, ब्रह्म-पुराण आदि का भी [illegible] पड़ा है। सूरदास पर जयदेव [illegible] स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इसी सिलसिले में कहा जाता है कि 'सूरसागर' पर 'महाभारत' का भी पूर्ण रूप से प्रभाव पड़ा है। पर यह बात सत्य नहीं। प्रभाव दो प्रकार का हो सकता है—एक प्रत्यक्ष प्रभाव और दूसरा अप्रत्यक्ष प्रभाव। 'सूरसागर' पर महाभारत का प्रत्यक्ष प्रभाव तो स्पष्ट रूप से नहीं पड़ा है—हाँ, अप्रत्यक्ष रूप से भले पड़ा हो।

जिस प्रकार 'सूरसागर' पर श्रीमद्भागवत का प्रत्यक्ष प्रभाव है, उस प्रकार 'महाभारत' का नहीं। फिर भी कृष्ण-चरित्र से सम्बन्ध रखने के कारण यदि भाषा और शैली की दृष्टि से नहीं तो भावों की दृष्टि से तो 'महाभारत' का सूर पर कुछ तो प्रभाव पड़ा ही है। किन्तु यह प्रभाव स्पष्ट और बहुत अधिक नहीं है।

सूरदास पर 'महाभारत' का इतना कम प्रभाव क्यों पड़ा? इसके दो कारण हो सकते हैं। एक या तो उनकी रुचि महाभारत की ओर नहीं; और दूसरा कारण यह हो सकता है कि उनके गुरु वल्लभाचार्य का संकेत उस ओर न मिला हो। अगर गोस्वामीजी का उपदेश हो जाता तो वे अवश्य उसकी ओर उन्मुख होते।

यदि सूरदास 'महाभारत' से पूर्णतः प्रभावित होते तो वे कर्मयोगी और नीतिज्ञ श्रीकृष्ण को अपने काव्य का नायक बनाते, बाल और किशोर कृष्ण को नहीं। सम्भवतः तब सूर किसी प्रबन्ध-काव्य के प्रणेता होते गेय काव्य के नहीं। जिस प्रकार 'श्री मद्भागवत' में कुब्जा का उल्लेख है और जिस तरह से उसमें 'रास' और 'भ्रमरगीत' का

वर्णन है। वह महाभारत में कहीं भी प्राप्त नहीं होता। सूरदास ने कुब्जा और अन्यान्य पुराणों में कथित (ब्रह्मवैवर्त पुराण) राधा का सम्बन्ध श्रीकृष्ण के साथ पूर्णतया स्थापित किया है किन्तु 'महाभारत' में इन दोनों का नाम तक भी नहीं मिलता है, वर्णन की कौन कहे?

'महाभारत' के कृष्ण एक आदर्श नेता, दार्शनिक, नीति-धुरन्धर, कर्मयोगी, और महारथी योद्धा हैं। श्रीकृष्ण महाभारत में सर्वप्रथम द्रौपदी-स्वयंवर के अवसर पर दिखाई देते हैं, किन्तु वे वहाँ स्वयंवर में भाग लेने नहीं गये थे, उन्हें अपने फुफेरे भाई पाण्डवों का पता लगाना था। ब्राह्मण वेष में रहने पर भी उस स्वयंवर में विजय प्राप्त करने वाले अर्जुन को उन्होंने पहचान लिया। यहीं से कृष्ण और पाण्डवों विशेषतः अर्जुन के साथ मैत्री प्रारम्भ होती है। श्रीकृष्ण ने उसके बाद पाण्डवों की बराबर सहायता की है। यहाँ तक कि अपने परिवार की इच्छा नहीं रहने पर भी उन्होंने अपनी बहन सुभद्रा का अर्जुन के द्वारा हरण होने दिया। इसके बाद कृष्ण और अर्जुन इन दोनों का प्रयत्न यही रहा कि जिसमें भारतवर्ष जो छोटे-छोटे असंख्य राज्यों में बँटा हुआ था एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के अधीन हो, साथ ही जितनी आर्य संस्कृति की विरोधिनी शक्तियाँ थीं उनका अलग-अलग या मिलकर भी इन्होंने विनाश किया। इस प्रकार जरासन्ध, शिशुपाल आदि असंख्य अनार्य राजाओं का मूलोच्छेदन कर इन्होंने युधिष्ठिर का साम्राज्य शक्तिशाली बनाया। श्रीकृष्ण ने इस कार्य में अपना अत्यधिक त्याग प्रदर्शित किया। यदि वे चाहते तो तो स्वयं सम्राट बन सकते थे। किन्तु उन्होंने धर्मराज को ही सम्राट के पद पर सुशोभित कर अपनी निस्वार्थता प्रदर्शित की। अपने बल, नीति, और पराक्रम से कृष्ण भारत को एक शक्तिशाली आर्य साम्राज्य का रूप देना चाहते थे और उसी में उनका सारा जीवन व्यतीत हुआ। यदि सूरदास 'महाभारत' से प्रभावित होते तो उनके लिये कृष्ण का यह चरित्र अधिक आकर्षक और महत्वपूर्ण होता—तथा उनके युग के अनुकूल भी। किन्तु सूर को कृष्ण का यह रूप पसंद नहीं था। उन्होंने द्रौपदी की लज्जा की रक्षा करने वाले कृष्ण की ओर अपनी भक्ति अधिक प्रदर्शित की और महाभारत के नेता तथा गीताशास्त्र के रचयिता कृष्ण की ओर जरा भी नहीं।

यह पहले ही बता चुके हैं कि 'महाभारत' में कुब्जा, रास, या भ्रमरगीत का प्रसङ्ग नहीं मिलता—जो कि 'सूरसागर' का प्राण है। गोपियों के साथ किसी प्रकार का अनुचित सम्बन्ध का तो सारे महाभारत में कहीं भी पता नहीं चलता। जिस समय शिशुपाल ने कृष्ण को गालियाँ देना शुरू किया है उस समय उन्हें ग्वाला, अपने मामा को विश्वासघात से मारने वाला, जरासन्ध के सामने से युद्ध में भागने वाला तथा अपनी वाग्दत्ता पत्नी रुक्मणी को हरण करने वाला कहा है। किन्तु उसने एक बार भी यह नहीं कहा कि कृष्ण ने कभी गोपियों के साथ अनुचित व्यवहार किया है। स्वयं कृष्ण ने ही दुर्योधन के सामने कहा था—

> नाहं कामान्न संरम्भान्
> न द्वेषान्नार्थ कारणात्।
> न हेतु वादाल्लोभाद्वा
> धर्मं जह्यांकथंचन।

उस श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में यह लिखना कि वे रास में गोपियों के साथ किसी प्रकार अनुचित वर्त्ताव करते थे, या गोपियों का वस्त्र लेकर भाग जाते थे, अनुचित होगा। श्रीकृष्ण ने अपने मुँह से ही अपने बारे में ऐसा नहीं कहा है। जो दुर्योधन सदा उनके प्रतिकूल रहता था उसका भी कहना था—

> सहि पूज्यते मोलोके
> कृष्णः पृथुल लोचनः।

त्रयाणामपि लोकनाम
विदित मम सर्वथा।

तो हम कह सकते हैं कि अगर सूरदास 'महाभारत' का आदर्श लेते तो 'महाभारत' के अनुकूल ही श्रीकृष्ण का चरित्र अङ्कित करते न कि 'बूझत श्याम कौन तू गोरी' पूछने वाले कृष्ण का।

'महाभारत' में श्रीकृष्ण के बाल-जीवन की घटनाओं का यत्र-तत्र उल्लेख अवश्य हुआ है जैसे पूतना, बक और केशी इत्यादि का वध। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रीकृष्ण के साथ गोकुल की कथाओं का कुछ सम्बन्ध तो अवश्य है और सम्भवतः 'महाभारत' के बालकृष्ण का जीवन गोकुल में ही व्यतीत हुआ था। पर इसका स्पष्ट चित्र महाभारत में देखने को नहीं मिलता। और ठीक इसके विपरीत सूरदास के 'सूरसागर' में गोकुल के कृष्ण का चित्र ही अधिक मुखरित हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है, इस ऐतिहासिक श्रीकृष्ण को लेकर संस्कृत और हिन्दी के भक्त कवियों ने उन्हें पूर्ण ब्रह्म का रूप दिया। राधा और कुब्जा की कल्पना भक्तों की निजी कल्पना है, और कर्म योगी श्रीकृष्ण को इन लोगों ने भक्तवत्सल कृष्ण के रूप में परिणत कर दिया है। इस प्रकार ऐतिहासिक महात्मा श्रीकृष्ण को इन्होंने परमेश्वर श्रीकृष्ण के रूप में परिणत कर दिया है और इस प्रकार आध्यात्मिक संकेतों के आधार पर अपने काव्यों का स्वरूप निर्मित किया है। सूरदास भी इसी कोटि के भक्त हैं और उनकी रचना सूरसागर इसी प्रकार की रचना है।

श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व रूप स्थापन में भी 'महाभारत' और 'सूरसागर' में महान अन्तर है। ईश्वर के अवतार के सम्बन्ध में गीता के अनुसार दो मत हैं। एक मत का प्रतिपादन गीता के दसवें अध्याय के ४१ वें श्लोक में इस प्रकार किया गया है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है उसको तुम मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई समझो। इसके अनुसार [illegible] कर कोई भी अलौकिक शक्ति सम्पन्न [illegible] ईश्वर का अवतार समझा जा सकता [illegible] दूसरे मत का प्रतिपादन गीता के चौथे अध्याय के छठे श्लोक से आठवें श्लोक तक में किया गया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

ईश्वर सभी प्राणियों का स्वामी और जन्म हीन तथा विकार रहित होता हुआ भी अपनी प्रकृति का सहारा लेकर जन्म लिया करता है। जब जब धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब वह स्वयं अपनी सृष्टि करता है। मानव के रूप में जन्म लेकर वह सज्जनों की रक्षा और पापियों का विनाश करता है। इस प्रकार युग युग में वह धर्म की मर्यादा को अविच्छिन्न रखता है।

इन दोनों मतों में 'महाभारत' में अवतार का प्रथम मत ही माना गया है। यद्यपि द्वितीय मत की झलक भी जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ती है किन्तु सूरसागर में तो एकमात्र द्वितीय मत ही माना गया है। सूरदास ने तो स्पष्ट रूप से यह कह दिया है कि कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं और गोपियाँ जीवात्माएँ हैं, तथा राधा प्रकृति स्वरूपिणी है। एक जगह सूर ने गोपियों को वेद की ऋचायें भी बतलाया है। इस तरह से 'सूरसागर' में कृष्ण का अतिमान भी रूप सर्वत्र व्याप्त है। किन्तु 'महाभारत' में वे एक महान नेता के रूप में अङ्कित किये गये हैं। उनका ईश्वरत्व मानते हुए भी महाभारत काव्य उनको एक असाधारण महापुरुष के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित करता है। समग्र महाभारत में कुछ ही स्थलों पर

श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार बतलाया गया है। उदाहरण के लिए महाभारत के आदि पर्व के १६६ अध्याय में यह कहा गया है कि द्रौपदी के पाँच पति पाँच युगों के इन्द्र हैं और स्वयं द्रौपदी स्वर्ग की लक्ष्मी है। साथ ही यह भी कहा गया है कि [illegible] से पीड़ित विश्व को परित्राण करने के लिए भगवान [illegible] ने इन पाँच इन्द्रों को अपनी लक्ष्मी के साथ अपने दा [illegible] साथ भेजा है। जिनमें एक काला और एक श्वेत था। श्वेत केश बलराम हुआ और काला केश कृष्ण हुआ। फिर आदि पर्व के २३० अध्याय में कहा गया है कि अर्जुन और कृष्ण विश्व के अंश से उत्पन्न नर और नारायण नाम ऋषियों के अवतार हैं। लेकिन इतना सब कहने पर भी सभापर्व में कृष्ण को मानव के ऐसा चित्रित किया गया है, जहाँ पर वे स्वयं स्पष्ट कहते हैं कि मैं जरासन्ध से बहुत डर रहा हूँ और उसी के भय से मथुरा से द्वारिका भागा हुआ हूँ किन्तु 'सूरसागर' में ऐसी कोई बात नहीं है। सभापर्व में ही ३३ अध्याय के १६ से २१ श्लोकों तक नारद ने कृष्ण को ईश्वर का अवतार कहा है। किन्तु उसी पर्व के २७ अध्याय में कृष्ण को विश्व का सर्व श्रेष्ठ पुरुष कहा गया है।

यथार्थ में 'महाभारत' में श्रीकृष्ण प्रधानतया एक आदर्श वीर नीतिज्ञ और दार्शनिक के रूप में चित्रित किये गये हैं। ईश्वर के रूप में उनका वर्णन बहुत थोड़े स्थलों में हुआ है। सभापर्व के ४६ अध्याय में द्रौपदी का वस्त्र उठाते समय कृष्ण की अतिमान की शक्तियों का परिचय दिया गया है। कौरवों की सभा में सन्धि का प्रस्ताव ले जाने पर उस समय दुर्योधन ने उन्हें कैद करना चाहा—वहाँ पर भी उन्होंने अतिमान की रूप का प्रदर्शन किया है। फिर गीता के ११ अध्याय में युद्ध आरम्भ होने के पूर्व उन्होंने अर्जुन को अपना विराट स्वरूप दिखलाया है। इन तीन स्थलों को छोड़ कर सम्पूर्ण महाभारत में कृष्ण एक आदर्श पुरुष के रूपमें दिखाई पड़ते हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि शिशुपाल उन्हें गालियाँ देते हुए भी कभी व्यभिचारी नहीं कहता। स्वयं कृष्ण ने ही व्यभिचार, जुआ, शिकार और मद्यपान इन चारों की घोर निन्दा की है। वनपर्व में उन्होंने कहा है—

स्त्रियोऽक्षा मृगयापानमेतत् कामसमुत्थितम्।
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तंयैर्नरो भ्रश्यतेश्रियः॥

इससे स्पष्ट है कि 'महा भारत' में श्रीकृष्ण एक अलौकिक तत्त्व दर्शी, अनुपम सदाचारी तथा नीतिज्ञ राष्ट्र रक्षक के रूप में चित्रित किये गये हैं। उनका ईश्वरत्व उनके मानवत्व में छिप जाता है। किन्तु 'सूर सागर' में तो प्रारम्भ में ही सूरदास कहते हैं कि श्रीकृष्ण निर्गुण ब्रह्म के ही सगुण स्वरूप हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी विचारणीय है कि सूर ने राम और कृष्ण तथा अन्यत्र अवतारों में अन्तर नहीं माना है। सबको एक ही मानते हैं और इच्छानुसार एकके नाम से दूसरे को पुकारते हैं। निस्संदेह इसमें वे महाकवि जयदेव से प्रभावित हैं। जिन्होंने अपने प्रथम गीत में ही दशावतार धारण करने वाले कृष्ण की वन्दना की है। किन्तु 'महाभारत' राम और कृष्ण को एक ही व्यक्ति नहीं मानता। वनपर्व के १८६ अध्याय के ५३ श्लोक में रामचन्द्र को श्रीकृष्ण से बिल्कुल पृथक माना गया है।

तो हम संक्षेप में कह सकते हैं कि सूरदास 'महाभारत' से विशेष प्रभावित हुए नहीं जान पड़ते, क्योंकि दोनों में अधिक अन्तर दीख पड़ता है। और ठीक इसके विपरीत सूरदास 'श्रीमद्भागवत से अधिक प्रभावित दीखते हैं।

———

हिन्दी काव्याकाश का कमनीय कलाधर 'सूर'

प्रो० विनयकुमार गुप्त एम० ए०

भक्तिकाल के चिरस्मरणीय युगल कवियों का जिस समय आविर्भाव हुआ उस समय भारत की दशा शोचनीय थी। खण्ड राज्यों में विभक्त होने के कारण राजपूत राजा अपनी स्वतन्त्रता सुरक्षित न रख सके। धीरे-धीरे ये राज्य मुसलमानों के हाथ चले गये और साथ ही साथ वीरकाव्य की परम्परा भी बन्द हो गई। वस्तुतः निराशापूर्ण हृदय से रुदन न निकल कर विजयोल्लास क्योंकर निकलता? जनता के हृदय में नैराश्य लहरें मार रहा था, क्योंकि देश के साथ ही साथ उनकी रोटी, चोटी तथा बेटी पर भी अत्याचार ढाया जा रहा था। हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति को नष्ट करने का पूर्ण रूप से आयोजन हो रहा था। प्राचीन मन्दिरों के भग्नावशेषों पर नवीन मसजिदें खड़ी की जा रही। ऐसी स्थिति में निर्गुण ब्रह्म की सत्ता ने लोगों को निरीश्वरवादी होने से तो बचाया, किन्तु वह सूखते हृदयों पर अमृत का संचार न कर सकी। राम और रहीम को एक बतलाने वाली वाणी बल का सृजन न कर सकी। जनता को एक ऐसे ईश्वर की आवश्यकता थी जो उसकी पुकार सुने। उन्हीं की भाँति प्रेमपूर्ण हो। उस आदर्श का स्थापन हिन्दी साहित्य के दो प्रसिद्ध पहलवान सूर और तुलसी ने किया। इन महाकवियों की वाणी पाकर श्रीकृष्ण और श्रीराम नैराश्य-सागर में डूबती हुई हिन्दू जाति के लिए सुदृढ़ नौका सदृश हुए। सूर ने भगवान का प्रेमपूर्ण रूप रच कर जनता का जीवन के प्रति अनुराग जगाया।

किसी चमक के लोभी ने "सूर सूर तुलसी शशी" कहकर "सकार" का प्रेम प्रदर्शित किया है। किन्तु दोहे का "सकार" विनष्ट न करते हुए भी हम अपनी व्यक्तिगत सम्मति से उक्त उक्ति का यों होना अधिक उचित समझते हैं कि "सूर शशि तुलसी रवि"। वास्तव में कवि-कुल-कमल-दिवाकर प्रातः स्मरणीय भारतीकंठ गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य हैं और कवि-कुमुद-कलाधर सूर उसके कमनीय कलाधर।

सूर्य प्रचण्ड होता है, प्रतिदिन उदित होता है और विश्व के कोने कोने से अन्धकार को विदीर्ण कर प्रकाश का सञ्चार करता है। जगत भर के प्राणों का पोषक है। जड़ तथा चेतन दोनों का संवर्द्धक है। वह विश्व-व्यापी, सर्वकालीन तथा सर्व प्रिय है। यही सब गुण ज्यों के त्यों तुलसी में हैं। उनकी कविता नव-रसों से परिपुष्ट है। उनके काव्य में कोई अङ्ग या रस नहीं छूटने पाया है। उनकी कविता रूपी पद्मिणी कलापक्ष तथा हृदयपक्ष दोनों पक्षों से युक्त हो हिन्दी साहित्याकाश में विहार करती है तथा विश्व भर को अपनी जागृति की प्रभाती से उद्बोधन का गीत सुनाती है। तुलसी की कविता भास्कर की भाँति जीवन के समस्त क्षेत्रों में प्रकाश भरती है। उसमें सम्पूर्ण मानव जीवन की व्याख्या है। वह जगत के कोने कोने को स्पर्श करती है। अंशुमाली के समान वह काव्यकला के प्रत्येक अंश से परिपूर्ण है, समस्त कलाओं से युक्त है। अरुण के समान वह भारतीयों के उदय की द्योतक है। उससे रसिकों तथा काव्य प्रेमियों के हृत्कमल विकसित होते हैं जिससे मन चञ्चरीक आपसे आप गायन-मस्त हो जाता है। उनके "मानस" में मानस-पोषक सलिल है, जीवन तृष्णा को बुझा देने वाली स्वच्छ वारि है। अतः तुलसी ही भारतीय काव्याकाश के सूर्य हैं।

कलाधर शीतल है, शृङ्गारिक चिन्ह है। शुक्ल-पक्ष में चमकने वाला तथा कृष्ण पक्ष में तिरोहित रहने वाला है। जीवन का सम्पूर्ण विश्लेषण न होकर

केवल बाललीला एवं शृङ्गार का वर्णन है। यही उसका शुक्ल-पक्ष है। जीवन के अन्यान्य पक्ष उसके कृष्ण पक्ष हैं। उन पर कोई प्रकाश वह नहीं डालती। उसका क्षेत्र संकु... है, जीवन के प्रत्येक भाग तक उसकी पहुँच नहीं। अतः वह निर्विवाद हिन्दी साहित्याकाश के ... कलाधार हैं और कविता कामिनी के कमनीय कांता उसमें ...रिक शीतलता है और प्रेम तथा बाल लीला का ... सूरदास की वीणा अमर है। भक्ति के आवेश में तन्त्री के तारों से जो झङ्कार सूर ने निकाली उसमें हिन्दू जाति के लिए अमर सन्देश भरा पड़ा है। उन दिनों हिन्दुओं के मुर्झाए मनों को सींचने में वह पूर्ण रूप से सफल हुई। लगभग ५०० वर्ष की वह मधुर गुञ्जार आज भी कर्ण-रन्ध्रों में उसी प्रकार गुञ्जरित होती है। उनकी वाणी काव्य के सभी गुणों से परिपूर्ण है। उनमें अलङ्कारों, रसों, तथा गुणों एवं भावों का पूर्ण सञ्चार तथा प्रसार है। सूर की उत्प्रेक्षाएँ तथा उपमाएँ तो अपनी उपमा ही नहीं रखतीं! सूर शशि में तुलसी भुवन भाष्कर जैसी व्यापकता भले ही नहीं, चाहे बहुत कुछ अंशों में वह अपना प्रकाश सूर्य से ही ग्रहण करते हों किन्तु अपने शीतल रश्मि क्षेत्र में सूर अपना सानी नहीं रखते, वात्सल्य का जो चित्र अन्धे सूर ने खींचा है उसके शतांश तक भी दो आँख वाले कवि नहीं पहुँच सके हैं। अपने सीमित क्षेत्र में सूर ने अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया। उनकी काव्यगति सर्वतोमुखी तथा वस्तृत चाहे न हो किन्तु एकाङ्गी और संकुचित होते हुए भी वह सूर को उन क्षेत्रों का पूर्ण सम्राट घोषित करने में पर्याप्त है। वात्सल्य तथा शृङ्गार के चित्रण में जो अद्वितीय सफलता सूर को मिली है वह तुलसी को नहीं। सूर के कृष्ण में सच्ची बाल-लीला की झलक है क्योंकि सूर के नायक ने सारी लीलाएँ ही प्रकृति के बीच वनस्थली में की। अतः कृष्ण का गोचारण, रासलीला आदि सम्पूर्ण चित्रण ही काव्यमय है सूर के कृष्ण तुलसी के राम के समान शूर योद्धा नहीं, वह तो माधुर्य की मूर्ति हैं। सूर ने उन्हें गोपीनाथ ही बनाया दीनानाथ नहीं, वे बनवारी हैं, दानवीर नहीं, मनमोहन हैं। वे मुरली की तान अलापते हैं, पाञ्चजन्य का गगन भेदी निनाद नहीं करते गीता के उपदेष्टा नहीं, मनमोहन है। सूर ने शृङ्गार के दोनों पक्षों का सफल चित्रण किया है। विरह व्यथा के इस वारिधि में उद्धव जैसे ज्ञानी भी बह गए।

शिशु जीवन की ऐसी सच्ची झाँकी किसी भी साहित्य का कोई भी कवि चित्रित नहीं कर सका है। सूर की कविताओं को पढ़कर हम कह सकते हैं कि—"कृष्णचन्द्र की लीलाओं को अपने आँगन में देखो।" उन्होंने नेत्रों के समक्ष एक सजीव चित्र प्रस्तुत कर दिया है। "कर गहि अंगूठा मुख मेलत" किस घर में देखने में नहीं आता। मिट्टी खाना या मिठाई चुराना शिशु-स्वभाव ही है।

कृष्ण का सोना:—

"कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं।
कबहुँ अधर फरकावै ॥
सोवत जानि मौन है रहि रहि,
करि-करि सैन बतावै ॥"

माता के निम्न वात्सल्य भरे शब्दों से प्रत्येक गृहस्थी परिचित है:—

"मेरे लाल को आउ निदरिया,
काहे न आन सुवावे।
तू काहे न वेगि सी आवै।
तोकों कान्ह बुलावै ॥"

इसी प्रकार "मैया कबहि बढ़ेगी चोटी", "मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ," "मैया मैं नाही दधि खायो" तथा "मैया मैं न चरैहों गैया" आदि पद वात्सल्य से ओतप्रोत है।

प्रेम की कोई स्थिति इस अन्धे कवि की दृष्टि से छिपी नहीं रह सकती। अपने सखा श्रीकृष्ण के विनय में इनकी कोमलकान्त पदावली उच्चकोटि में पहुँची है। एक छोटे बालक की मधुर क्रीड़ाओं का

वर्णन करके उन्होंने वात्सल्य को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। इस प्रकार गोपियों के प्रेम सम्बन्धी पदों में इन्होंने मानव हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म कोने को पुस्तक के समान खोलकर रख दिया है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार हृदय की विभिन्न दशाओं के मार्मिक और हृदयग्राही शब्द-चित्र खींचकर रख दिए। किन्तु इस दाम्पत्य रति पर कई दृष्टिभेद हैं। बहुधा इनमें अश्लीलता का दोषारोपण किया जाता है, और कुछ मतों के अनुसार इन्हें आध्यात्मिक तथ्यों का प्रतीक मात्र माना जाता है।

वास्तव में न तो सूर पर अश्लीलता का दोषारोपण किया जा सकता है, और न उनके पदों को आध्यात्मिक रूप ही दिया जा सकता है। क्योंकि श्लील और अश्लील दोनों धारणाएँ समय के अनुसार बदलती रहती हैं।

सूर की भावनाएँ उच्चकोटि की थीं और उन्हीं भावनाओं से बीज उत्पन्न हुए हैं। उनके पद रूपी लहलहाते पौदे मरुभूमि में जल का काम दे गए। उन्होंने प्रेम मार्ग के त्याग और पवित्रता का चित्रण किया है। और उस त्याग का रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध स्थापित कर भक्ति-मार्ग की सुगमता प्रतिपादित की है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपिकाओं का प्रेम निश्छल और अटूट है। उस प्रेम का प्रादुर्भाव भी साथ रहते और साथ खेलते हुए हुआ है, जैसा कि गोपियाँ स्वयं कहती हैं:—"लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटे।" अन्त में इसी अटूट प्रेम के द्वारा गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-मार्ग को मिटाती हुई दृष्टि सन्मुख आती हैं। सूर ने संयोग और विप्रलंभ का अत्यन्त हृदय-ग्राही वर्णन किया है, जो प्रत्येक मनुष्य की अनुभूति है।

कृष्ण-वियोग में पशु-पक्षी चर-अचर सभी को दुःख है, पर मधुवन हरा है। अतः नायिकाएँ उसे भी 'उकठ' जाने की इच्छा प्रकट करती हैं। गउएँ दुखी घूम रही हैं। पर कृष्ण नहीं आते। विषम वेदना से हृदय प्रपीड़ित है। यह लीजिए:—

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नंद-नंदन तेऊ तहाँ ते धाए।

'बरु' शब्द में कितने भाव सन्निहित हैं। कैसी अनूठी योजना है।

गोपिकाओं के अन्तस्तल से जो आहें निक[illegible] हैं, वे पाषाण पर अविराम आघात प[illegible] सकती है। उनकी कामना द्रष्टव्य [illegible]

"जो विधिना अपबस करि पाऊँ।
लोचन रोम-रोम प्रति माँगौ,
पुनि पुनि [illegible] दिखाऊँ॥"

बेचारी गोपिकाओं ने अपलक नयनों से प्रतीक्षा करनी प्रारम्भ की। नींद आती ही नहीं अतः—

अँखियाँ भई बरन ज्यों गुंजें।

आँखों की लालिमा को दूर कर गोपी की बाहु-पीड़ा पर सहानुभूति प्रकट कीजिए:—

"बाँह थकी वायसहिं उड़ावत कब देखों उनहार।"

इस प्रकार की पंक्तियाँ सूरे कई स्थानों पर लिखी हैं। इनमें ममहित हृदय की करुणकथा का मार्मिक दिग्दर्शन है, वियोगिनी गोपियों के विरह-विदग्ध मर्मस्थल की विषम लपटें हैं, और हैं संतप्त उर से निकली उत्तप्त आहों की धधकती चिनगारियाँ।

सूरदासजी ने उपमा, उत्प्रेक्षाओं द्वारा अनूठे ढङ्ग से अपने भावों को प्रकट किया है। जैसे एक स्थान में, एक गोपी श्रीकृष्ण को स्वप्न में देखती है, और जैसे ही हंसकर उन्होंने उसकी भुजा गही वैसे ही उसकी निद्रा भंग हो गई। इस पर वह कहती है:—

"ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखिकैं,
आन के पिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर विधाता,
चपल कियो जल आनि॥

अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है, कि सूरदास हिन्दी काव्याकाश के कमनीय कलाधर हैं जिनकी कलाओं से प्रेम एवं वात्सल्य की शीतल-चन्द्रिका निकल कर संसार के संताप को दूर करती हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी और साहित्य-सृजना

श्री गुलाबराय एम० ए०

साहित्य शास्त्रियों ने काव्य के कई उद्देश्य [illegible] हैं। उनके सम्बन्ध में आचार्य मम्मट की निम्नोल्लिखि[illegible] [illegible]रिका बहुत प्रसिद्ध है।

काव्यं यशसेऽर्थकृते [illegible]विदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासमिततयोपदेशयुजे ॥*

—काव्य प्रकाश १।२

इन उद्देश्यों में गोस्[illegible] 'यशसे' और 'अर्थकृते' से कोसों दूर थे। जिन महात्मा का जीवन आदर्श 'यथालाभ सन्तोष सदा' 'काहू सों कछु न चहौंगा' था जो 'विगत मान, सम सीतल मन' रहना चाहते थे उनके लिए यश-लिप्सा कोई अर्थ नहीं रखती थी, उनको दूसरों की भलाई-बुराई से प्रयोजन ही न था—

'साधु कै असाधु, कै भलों कै पोच, सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं राम को।'

वे सब सांसारिक ऐश्वर्यों को तुच्छ समझते थे।

सुरराज सो राजसमाज, समृद्धि
विरंचि धनाधिप सो धन भो।
पवमान सो, पावक सो, जस सोम सो,
पूषन सो, भव [illegible]न भो ॥
करि जोग, समीरन साधि, समाधि क,
धीर बड़ो, बसहू मन भो।
सब जाय सुभाय कहै तुलसी
जो न जानकीजीवन को जन भो ॥

—कवितावली उत्तर काण्ड। ४२

जिसको न धन की परवाह हो और न यश की वह नर काव्य क्यों लिखने बैठा? भगवान के यशगान के लिए ही वे भगवती सरस्वती को कष्ट देना चाहते थे, देखिये:—

राम-चरित-सर बिनु अन्हवायें।
सो स्रम जाइ न कोटि उपायें ॥
× × × ×
कीन्हे प्राकृत-जनगुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ॥

—रामचरित मानस बालकाण्ड

यही भक्तिकाल और रीतिकाल की कविता में अन्तर है। वह राजाओं और आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिये लिखी जाती थी—यह भगवान को प्रसन्न करने के लिए। कृष्ण भक्त-कवि भी तो कह देते थे 'सन्तन कहा सीकरी सन काम'।

कविता का जब तक उद्देश्य उच्च न हो तब तक छन्दों की छटा, अलङ्कारों की झङ्कार और शब्दों की कलाबाजी ऐसी ही सौन्दर्यहीन है जैसी कि 'विधु-बदनी सब भाँति संवारी। सोह न बसन बिना बर नारी।' तुलसी ने 'व्यवहारविदे' कविता अवश्य लिखी, उनकी बराबर बिरले ही लोगों को लोक-व्यवहार का ज्ञान था, किन्तु वह लोक-व्यवहार ज्ञान प्रसङ्गवश आ गया था, यह उनका मुख्य उद्देश्य नहीं था। परमार्थ उनके लिये मुख्य था, लोक उनके लिये गौण। लोक-मर्यादा की रक्षा भी शास्त्र-मर्यादा की रक्षा के लिए होती थी और शास्त्र-मर्यादा की रक्षा मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की प्रसन्नता के लिए होती थी। वे लोकहित से उदासीन न थे लेकिन वह भी देश में रामराज्य की स्थापना के लिए तथा कुटिल कलि-काल के कुप्रभाव निवारणार्थ थी। जहाँ पर हमारे प्रगतिवादी

* अर्थात् काव्य यश के लिये, अर्थलाभ के अर्थ, लोक-व्यवहार जानने के लिए, शिवेतर (शिव के विपरीत) रोगादि अनिष्टों की क्षति वा नाश के निमित्त, तुरन्त (सद्यः) परम आनन्द देने के लिये और कान्ता का-सा प्रेम-पूर्ण मन-भावन उपदेश देने के लिये प्रयोजनीय है।

भाई, 'खेती न किसान को, भिखरी को न भीख, बलि, बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।' 'दारिद दसानन दबाई' दुनी (कवितावली उत्तरकाण्ड ९७) के आधार पर बाबा तुलसीदासजी को स्वर्ग से घसीट कर अपनी पंक्ति में बैठा लेने में संकोच नहीं करते, वहाँ वे यह भूल जाते हैं कि यह दसानन दबाई दुनी की फर्याद दसानन-मद मर्दन मर्यादा पुरुषोत्तम राम के गुण-गान करने और उनके आगे प्रार्थी बनने के स्वान्तःसुख के लिए है। उसी पद में नीचे की भी पंक्तियाँ आतीं हैं:—

वेद हू पुरान कही, लोकहू बिलोकियत
सांकरे समै पैं राम रावरे कृपा करी।
दारिद्-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु !
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी—॥

—कवितावली उत्तर काण्ड ९७

इसमें 'दारिद-दसानन दबाई दुनी' की हार्दिक द्रवण शीलता तो है ही किन्तु दीनबन्धु के दुरित-दहन गुणों की घोषणा और उनके आगे हहा करने का भक्त-हृदय का आह्लाद अधिक मुखरित होता है।

तुलसीदासजी ने 'शिवेतरक्षतये' अवश्य काव्य लिखा। हनूमान वाहुक वाहू पीड़ा के लिए ही लिखा गया था। कष्ट की दुरुहता से वे मजबूर थे। किन्तु उनकी प्रार्थना भी अपने दोषों की स्वीकृति से पुष्ट थी। 'आपने ही पाप तें, त्रिताप तें, कि साप तें। चढ़ी है वाहु वेदन, कही न सहि जाति है॥' उनकी प्रार्थना आर्त की तो थी ही किन्तु उसमें भगवान से निजी सम्बन्ध की घोषणा अधिक थी।

'चेरो तेरो तुलसी 'तू मेरो' कह्यो राम दूत,
ढील तेरी, बीर, मोहिं पीर ते पिराति है।'

इनूमान वाहुक ३०

सद्यः 'परिनिर्वृत्तये' सभी सत्काव्य का उद्देश्य है। वह तुलसी का भी था।• यही उनका 'स्वान्तः सुखाय' था, यही उनका मूल उद्देश्य है जिसकी घोषणा हमको रामचरित मानस के मङ्गलाचरण में ही मिल जाती है, देखिए :—

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥

—रामचरितमानस (इण्डियन प्रेस) पृष्ठ २

इसके सम्बन्ध में हम अन्त में विचार करेंगे। 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' भी गोस्वामीजी के उद्देश्यों से बाहर न था। उनका सारा काव्य उपदेशात्मक था। प्रकृति-वर्णन तक [illegible] उन्होंने उपदेशात्मकता को [illegible] छोड़ा है, उनकी उपमाएँ भी उपदेश से भरपूर हैं—'डगइ न संभु सरासन कैसे। [illegible] वचन सती मन जैसे।' लेकिन गोस्वामीजी ने [illegible] भी किसी गुरुडम वश नहीं दिये थे। वे कथनी और करनी के अन्तर को जानते थे। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।' इसीलिए वे अपने भगवान से प्रार्थना करते हैं :—

तुम अपनायो ह[illegible] [illegible]वै ह[illegible] [illegible]रि जानिहौं।
गढ़ि गुढ़ि, छोल छाल कुन्द की सी भाई बातैं
जैसी मुख कहौं तैसी जिय जब आनिहौं॥

कवितावली, उत्तर काण्ड ६३

वे लेखक और वक्ता के उत्तरदायित्व को जानते थे। मुखपर खराद पर की सी चढ़ी साफ-सुथरी छिली-छिलाई बातों का कहना तो सहल है किन्तु उनको उर में लाना कठिन है। 'भगवान की कृपा हुई', इस बात को वे तभी स्वीकार करेंगे जब उनका चरित-परिवर्तन हो जायगा। इसी लिए वे कोरे शास्त्र ज्ञान के विरुद्ध थे—'वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भवपार न जावे, निसि गृह मध्यदीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई।'

अब जरा विचार लेना चाहिए कि तुलसी का 'स्वान्तः सुखाय' क्या था? वह 'सद्यःपरिनिर्वृत्तये' के रूप के बहुत निकट आता है। 'सद्यःपरिनिर्वृत्तये' में उद्देश्य इतना नहीं है जितना कि फल। 'फल' और उद्देश्य में यही अन्तर है कि पहले भोगा हुआ फल उद्देश्य होता है और उद्देय की प्राप्ति फल कहलाती है। 'सद्यःपरिनिर्वृत्तये' फल की भावना

अधिक है। 'स्वान्तःसुखाय' में सृजन से पूर्व का हृदयोल्लास और सृजन से पश्चात का आनन्द दोनों ही शामिल है। यह स्वान्तःसुखाय काव्य सृजन का सबसे पहला उपकरण है। स्वान्तःसुखाय अन्य उद्देश्यों का निराकरण नहीं करता है किन्तु जब तक 'स्वान्तःसुखाय' की भावना नहीं होती, जब तक काव्य में हृदय का रस नहीं मिलता, तब तक उसमें सजीवता नहीं आती है। जो लोग लोकहित और प्रचार को महत्ता देते हुए 'स्वान्तःसुखाय' का विरोध करते हैं उनको यह जानना चाहिये कि 'स्वान्तःसुखाय' के बिना लोकहित भी ग्रामोफोन की रेकार्ड का-सा प्रोपेगेन्डा बन जाता है। उसमें जान नहीं होती। कबीर में लोकहित था किन्तु उसके साथ उनका स्वान्तःसुख भी मिला हुआ था। तुलसी ने जो लोकहित की बातें कहीं वे सब हृदय की ईमानदारी के साथ और 'स्वान्तःसुखाय' कहीं।

अब प्रश्न यह होता है कि तुलसी ने 'स्वान्तःसुखाय' की बात कहकर क्या व्यक्तिवाद का आश्रय दिया? तुलसी व्यक्तिवादी नहीं थे। वे लोक-संग्रह और समाज-व्यवस्था में विश्वास रखते थे। उनका स्वान्तः सुख 'बहुजन सुखाय' और 'लोकहिताय' भी था। उनका स्वान्तः सुख रामभक्ति की प्रतिष्ठा में था और उस समय समाज को व्यवस्था देने और उसकी रक्षा के लिए राम के आदर्श चरित का अनुशीलन आवश्यक था। इसलिए उनका 'स्व' संकुचित स्व न था, उसका विश्वात्मा से जिसके प्रतीक भगवान राम थे तादात्म्य था।

गोस्वामीजी का स्वान्तः सुखाय 'आर्ट फार आर्टस् सेक' का बहुत उठा हुआ रूप हो सकता है किन्तु 'आर्ट फार आर्टस् सेक' नहीं है। वे काव्य-कला के सब अङ्गों को जानते हुए भी उनकी परवाह नहीं करते थे। नीचे की चौपाई में वे प्रायः सभी अङ्गों को गिनाकर कहते हैं कि उनकी सफलता इनके कारण नहीं वरन् राम विषयक होने के कारण हैं—

आखर अरथ अलंकृति नाना।
छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भाव-भेद रस-भेद अपारा।
कवित-दोष-गुन विविध प्रकारा॥
कवित्त विवेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥

× × × ×

एहि महँ रघुपति नाम उदारा।
अति पावन पुरान श्रुति-सारा॥

—रामचरित मानस (इन्डियन प्रेस) पृष्ठ १५

'आखर अरथ अलंकृति नाना' से अक्षर और अर्थ ('वर्णानामर्थसंधानां' कालिदास ने भी वागर्थ को प्रधानता दी है) का अभिप्राय लिया गया है किन्तु इसका अर्थ अलंकृति को मिला कर शब्द और अर्थ के अलङ्कार भी हो सकता है। छन्द रचना के अनेकों प्रकार, भाव-भेद और रसभेद कविता के गुण दोष होते हुए भी वे अपने को इनसे अनभिज्ञ बतलाते हैं।

'कवि न होउँ नहिं बचन-प्रबीनू।
सकल कला सब विद्याहीनू॥'

उन्होंने केशव की भाँति यह गर्व नहीं किया 'रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छंद।' गोस्वामीजी ने रघुपति के नाम को ही प्रधानता दी है। वे कला की अपेक्षा विषय को प्रधानता देते हैं। विषय की उच्चता से कला में भी उच्चता आ जाती है। कवित्व चाहे जितना हो किन्तु उसमें विषय की उत्तमता न हो तो वह नीरस हो जाता है, देखिए:—

भनित विचित्र सु-कवि-कृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति संवारी।
सोह न वसन बिना बर नारी॥

—रा. च. मानस पृष्ठ १५

गोस्वामीजी का जीवन जैसा राममय था वैसी ही उनकी कविता राममय थी और यही उसके श्रेय

का कारण थी। कलावादी विषय को प्रधानता नहीं देते और वे लोकहित से उदासीन रहते हैं। गोस्वामी जी ने लोकहित को मुख्यता दी है—

कीरति भनित भूति भलि सोई।
सुरसरि-सम सब कहँ हित होई॥

तुलसी कलावादी नहीं थे वरन् हितवादी थे और उनका हितवाद हृदयवाद से समन्वित था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि तुलसी का सृजन-सिद्धान्त हितसमन्वित हृदयवाद था। वह Art for art's sake न था वरन् Art for Hearts sake था और उनका हृदय विश्वात्मा के हृदय के साथ ठीक प्रतिस्पन्दित होता था। उनका 'स्वान्तःसुखाय' स्वच्छन्दतावाद नहीं था। आजकल का हृदयवाद लोक-मर्यादा की परवाह नहीं करता न उसको लोक-मत का ध्यान रहता है। तुलसी के हृदयवाद में लोकमत की उपेक्षा नहीं थी लेकिन उनके लोकमत में बुध जन सम्मिलित थे और होना भी यही चाहिए। साधारण लोक रुचि और लोकमत में नौटङ्की और स्वांग भी आदर पा जाते हैं। इसीलिए वे स्वान्तः सुखाय के पक्षपाती होते हुए बुध जनों की आदर की अपेक्षा रखते हैं; वे साधु समाज में अपनी वाणी का सम्मान चाहते थे, देखिए :—

होउ प्रसन्न देहु बरदानू।
साधु समाज भनित सनमानू॥
जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं।
सो स्रम बादि बाल कवि करहीं॥

गोस्वामीजी भावक और आलोचकों के प्रति उदासीन नहीं थे। वे कवि और भावक (Critic) का कार्य अलग-अलग मानते थे और भावक और सहृदय पाठक में ही काव्य की पूर्णता स्वीकार करते थे, देखिए: —

मनि-मानिक-मुकता-छबि जैसी।
अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥
नृप-किरीट तरुनी-तनु पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥

तैसेहि सु-कबि-कबित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥

रामचरित मानस (इण्डियन प्रेस) पृष्ठ १७

संस्कृत में भी कहा है—'एकः सूते कनकमुपलः तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः।' अर्थात् एक पत्थर सोना उत्पन्न करता है किन्तु उसकी परीक्षा करने वाला [illegible] ही पत्थर (कसौटी का) होता है।

इसी हितवाद के [illegible] तुलसी ने भाषा की भी परवाह नहीं की वे भाव के ही पारखी थे।

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच
काम जु आवे क[illegible]; [illegible] लै करैं कुमाँच॥

दोहावली [illegible]

किन्तु उनकी भाषा की कामरी संस्कृत के कमांच से अधिक मूल्यवान बन गई। भाषा को वे बाह्य आडम्बरों से दबाना भी नहीं चाहते थे। वे उसको सरल और जन साधारण के बोधगम्य देखना चाहते थे—

सरल कवित कीरति बिमल
सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु
जो सुनि करहिं बखान॥

रा० च० मानस पृष्ठ २१

भाषा की सरलता के साथ वे भगवान रामचन्द्र जैसे विमल कीर्ति वाले चरित-नायक चाहते थे। तुलसीदास ने हिन्दी के साथ बड़ा उपकार किया कि उस समय पंडित समाज में संस्कृत का प्रचार होते हुए भी और संस्कृत में लिखने की क्षमता रखते हुए भी उन्होंने रामकथा के सहारे हिन्दी को ऊँचा उठाया, यद्यपि केशव की भाँति उन्होंने हिन्दी में लिखने के लिए अपने को 'मन्द-मति' नहीं कहा। 'उपज्यो तेहि कुल मन्दमति शठ कवि केशवदास'। तथापि हिन्दी की हीनता की थोड़ी-बहुत कसक अवश्य थी—

स्याम सुरभि पय बिसद अति
गुनद करहिं सब पान।

(शेष पृष्ठ ३५ पर देखिए,)

तुलसी के राजनैतिक आदर्श

प्रो० गोपीनाथ तिवारी एम० ए०

प्रजा[illegible]तम राज्य-प्रणाली एक बेहूदी वेश्या है जो थिरकती है, इठलाती है और छोटे बड़े सभी को चंगुल में लेने का प्रपञ्च फैलाती है। वह किसी की नहीं और है भी सभी की। राज्यतंत्र व्यवस्था एक पति परायणा पत्नी है। उसके भी दो रूप हैं। एक रूप में वह दंड भय से [illegible] के साथ दिखाई देती है, और कहती है—'बिनु भय होय न प्रीति।' यह उसका डिक्टेटरी एवं तानाशाही स्वरूप है। उसका दूसरा रूप आदर्श स्वकीया, (पतिव्रता) का है। जो प्रेम और कर्तव्य पर स्थिरता-पूर्वक टिका रहता है। भारतीय राज्यतन्त्र-नीति का यही रूप है। इस नैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत राजा, प्रजा का स्वामी एवं बाप नहीं वरन् पुत्र एवं सेवक है। तभी तो मर्यादा पुरुषोत्तम महाराजा रामचन्द्र ने एक कुवादी धोबी के एक वाक्य को सुनकर प्राणों से भी प्रिय प्रियतमा जानकी को दूर भेजकर चिर वियोगी जीवन की असह्य यंत्रणा को सहा एवं प्रजा-हित के लिये महानतम बलिदान किया। उन्होंने विचारा, 'यथा राजा तथा प्रजा' सिद्धान्त को मानने वाला भारतीय नर समाज धीरे-धीरे अपना चरित्र बल खोकर खोखला न बन जाय। महाराज यदि चाहते तो निन्दक धोबी की जबान खिंचवा लेते। पर यह भारतीय राज्यादर्श न होता। महाराजा सगर पर पुकार हुई—अन्नदाता! आपका पुत्र अन्यायी असमंजस पनघट के घड़ों को तीरों से बींधकर नृत्य-करता है। बच्चों को पकड़ कर पानी में कूदता है। आज्ञा हुई—देशनिकाला दिया जाय। महाराज सगर राम के पूर्वज थे। राम ने रघुवंशियों की प्रजापालन नीति की रक्षा की। उधर पश्चिम में देखते हैं, वहाँ का महाराजाधिराज दूसरे की थाती दबोचने के लिये प्रजाहित की चिन्ता न कर एक स्त्री को पाने के लिये साम्राज्य छोड़ देता है।

रामराज्य भारत के असंख्य नर-नारियों का दूरातीत से आदर्श-राज्य-व्यवस्था रही है। उस राज्य में कुत्ते को न्याय मिलता है। आज तो न्याय कानूनी दलालों द्वारा बिकता है। जो अधिक से अधिक दाम दे सके, वह न्याय-बाजार से उसे खरीद ले। भारतीय राज्यादर्श में प्रजा के प्रत्येक संकट का उत्तरदायित्व राजा के कंधों पर था। अयोध्या नगरी के एक वृद्ध ब्राह्मण का युवक पुत्र अकालमृत्यु के गले उतर गया। रोते रोते ब्राह्मण ने लाश राजा राम के सामने फेंक कर कहा—महाराज! ऐसा क्यों? आपके राज्य में कहीं अधर्म हो रहा है। राम ने योगिराज वशिष्ठ से पूछा—यह ठीक कहता है क्या? वशिष्ठ ने सिर हिला दिया। आज भूचाल से प्रान्त नष्ट हो जाय, सूखे से भुखमरी फैल जाय, बाढ से घर बार तबाह हो जायँ, प्लेग या काला-पीला ज्वर लाखों को दाढ़ नीचे करले, युद्ध-देवी करोड़ों का रक्त पान करे; सब प्रजा का अपराध। शासक मूछों पर ताव दे पुष्प शय्या सजाता है। पर राजाराम को एक ब्राह्मण कुमार की अकाल मृत्यु का उत्तर दायित्व कन्धों पर उठाना पड़ा। राम के राज्य में सबको न्याय मिला चाहे वह तुच्छ पशु पक्षी था या उच्चवर्गीय ब्राह्मण। इसी आदर्श का अनुगमन किया विक्रम एवं भोज ने जो प्रजा के सो जाने पर भी रात्रि में अपनी आँखों से अपनी प्रिय प्रजा का दुख दर्द वेश बदलकर देखने जाया करते थे। अतः राम राज्य में प्रजा अत्यन्त सुखी, सन्तुष्ट, धर्मनिष्ठ, शिक्षित एवं समृद्ध थी जिसका वर्णन गोस्वामी तुलसीदास ने वाल्मीकि के आधार पर यों किया है—

बैर न करै काहु सन कोई।
राम प्रताप विषमता खोई॥

बरनास्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग,
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय शोक न रोग।
दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहिं व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीति।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीति॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउँ पीरा।
सब सुन्दर सब विरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी।
नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी।
सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥
सब उदार सब पर उपकारी।
विप्र चरन सेवक नर नारी॥
एक नारि व्रत रत सब झारी।
ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

तुलसीदास के आदर्श राजा राम हैं और आदर्श राज्य व्यवस्था 'राम राज्य'। इसी 'राम राज्य' के उपासक थे हमारे पूज्य बापू। तुलसीदास ने इसी आदर्श के अनुसार राजा के गुण भी बताये हैं। उन्होंने यह भी बताया है, राजा कैसा हो? उनकी कसौटी है, 'प्रजाहित'। जो राजा प्रजा-हित में निरत है वही आदर्श राजा है। उन्होंने फतवा दिया—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥
सोचिए नृपति जो नीति न जाना।
जेहि न प्राणप्रिय प्रजा समाना॥

प्रजा के विशेष सौभाग्य से ऐसे राजा प्राप्त होते हैं। ऐसे राजा अपनी जनता पर सुख-समृद्धि की अजस्र वर्षा करते हैं। तुलसीदास अच्छे या आदर्श राजा की समता सूर्य से करते हैं। वे कहते हैं—हमें भगवान भास्कर की भाँति का राजा चाहिये। सूर्य अपने करों से पानी को भाप रूप में [illegible] है। क्या कोई देख पाता है कि दिनकर पानी ले रहा है? कोई नहीं। सूर्य पानी को अदृश्य रूप से खींच-कर एकत्र करता है। पुनः उसे वर्षा रूप में हमें लौटा देता है बिना किसी भेद भाव के। वह चांडा[illegible]-मी देता है और ब्राह्मण को भी [illegible] लोग चारण सामने देख लोग आनन्द [illegible] रचनाएँ दो रूप में इसी प्रकार अच्छा रा[illegible] और दूसरी प्रबन्ध के रूप रूप में धन लेता है। श्रेणी में खुमान रासो, पृथ्वी-चलता कि हमसे कर [illegible] श्रेणी में बीसल-कर के भार का आभास तक नहीं होता। [illegible] 'परोक्ष' करों के पक्षपाती हैं। एक कर हम स्वयं देते हैं। यह 'प्रत्यक्ष' कर है। एक कर मंडियों में हमसे पूर्व या बाद में ले लिया जाता है। यह 'परोक्ष' कर है। राजा इन परोक्ष करों का संचय करता है और इस धनराशि को प्रजाहित पर इस प्रकार खर्च करता है कि लोगों को ज्ञात हो जाता है कि राजा हमारी सुख-सुविधा का कितना ध्यान रखता है। राजा जब सुख-सुविधा, निर्माण, शिक्षा, सुरक्षा इत्यादि पर रुपया बहाता है तब प्रजा को पता चलता है, राजा हमारा कितना ध्यान रखता है।

बरखत हरखत लोग सब करखत लखै न कोय।
तुलसी भूपति भानु सम, प्रजा भाग बस होय।

जो राजा प्रजा का ध्यान रखता है, प्रजा के हित-चिन्तन में रत रहता है, वही वास्तव में राजा है। राजा कैसा होना चाहिए, इस पर वे कहते हैं—

मुखिया मुख सो चाहिये खान पान को एक।
पालै पोसै सकल अङ्ग तुलसी सहित विवेक॥

इसी को वे 'राजधर्म सरबस इतनोई' कह राजा की विशेषता बताते हैं। कोमल नवनीत हो या कठोर बादाम, मुख खाता है। क[illegible] औषध हो या मीठा दूध, कौन पीता है? मुख, नाक नहीं, आँख नहीं। खाने पीने के कष्ट को सहने वाला अकेला मुख है। अच्छी प्रकार दाँतों से चबाकर मुख-महा-

राज पदार्थ को पेट और आँतों के पास भेज देता है। मुख ने कुछ पदार्थ स्वयं हजम किया, शेष पेट एवं आँतों से भस्म करवाया। इस प्रकार भोजन को रक्त रूप में परिणत हो जाने पर वह सब अङ्गों को दे देता है। यह रक्त विभाजन भी बड़े विवेकपूर्ण [illegible] होता है। अन्धाधुन्ध सबको रक्त नहीं देता, प्रेजोत [illegible] आवश्यकता है, उतना ही देता है। [illegible] जो थिरकती है, इ[illegible] भी पिया। अपने पास को चंगुल में लेने का प्रपञ्च फैला[illegible]। प्रायः सर्वांश नहीं और है भी सभी की। राज्यतं[illegible] यही राजा का पति परायणा पत्नी है। उसके [illegible] ने में स्वाद पैदा रूप में वह दंड भय [illegible] आता है। इसी प्रकार हर्षपूर्वक प्रजा कर दान करे, उसे किसी भी प्रकार की तनिक भी असुविधा या पीड़ा न हो। अब मुख के समान वह सब प्रजा-अङ्गों में विवेक पूर्वक बाँट दे। महाराजा राम भारतवर्ष के बहुत बड़े राजा थे। अतुल धनराशि कर रूप कोष में आती थी, पर सीता महारानी स्वयं रसोई पकाती थीं और अपने हाथों अन्य परिचर्या करती थीं। आया धन प्रजा पर वापिस पहुँच जाता था, हाँ परिवर्तित रूप में।

तुलसीदास ने एक अन्य दोहे में राजाओं [illegible] कहा—ऐ राजाओ! तुम नीति निपुण बन प्रजा-पालन करो। किस प्रकार? "माली भानु कृसानु सम"। बाग मालिक का है। पर माली पेड़ों की पुत्रवत् रक्षा करता है, उन्हें टाट उढ़ाकर शीत-घाम से बचाता है; बड़े प्रेम से सींचता है और प्रतिदिन जाकर देखता है, मेरे पेड़ की क्या दशा है? कोई टहनी तोड़ता है तो उसका दिल टूट जाता है। इसी प्रकार राजा भी ईश्वर के वृक्षों को सींचे, पनपावे। तुम सूर्य के समान उनसे परोक्ष कर ले प्रजा पालन पर व्यय करदो। सूर्य के समान उनका 'तम' हरो। राजा को और भी आगे बढ़ना चाहिये। उसे अग्नि समान तेजस्वी एवं आतंकी बनना है। उसके तेज एवं आतङ्क से शत्रु काष्ठ एवं तृण की नाईं भस्मीभूत हो जायँ। वह प्रजापीड़कों, अन्यायियों, अत्याचारियों हिंसकों, कुमार्गियों एवं उच्छृङ्खलों का दाह-संस्कार अग्निवत् करदे।

माली भानु कृसानु सम, नीति निपुन महिपाल।

ऐसे हों राजा। निस्सन्देह ऐसे राजा के राज्य में प्रजा को बड़ा सुख मिलेगा, वह दूधों नहायेगी, पूतों फलेगी! गोस्वामी तुलसीदासजी इसी राज्य को 'सुराज' कहते हैं! इस सुराज में दुष्ट न फल सकेंगे। आज के चोर बाजारी, लम्पट एवं रिश्वती उड़नछू हो जायेंगे (जिमि सुराज खल उद्यम गयऊ) इस सुराज के 'सुराज' में प्रजा प्रतिदिन वृद्धि पायेगी, उन्नत बनेगी (बढ़ै प्रजा जिमि पाइ सुराजा)। और उसकी दशा होगी—

> ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।
> त्रिविध ताप पीड़ित ग्रहभारी॥
> पाय सुराज सुदेस सुखारी।

× × × ×

पर क्या ऐसे सुराजा कलियुग में पर्याप्त प्राप्त होंगे? नहीं।

"प्रजा भाग बस होहिंगे, कबहुँ कबहुँ कलिकाल"

(पृष्ठ १४ का शेष)

और अभिनेय रासों के नायक अधिकतर महान् योद्धा रहे होंगे।[८] उनके जीवन का चित्रण करते समय युद्धों का वर्णन आवश्यक था। रासो में अनेक अन्य विषयों के वर्तमान होते हुए भी इसी कारण से रासो सम्भवतः जनता के दिमाग में झगड़े का समानार्थक शब्द बन गया। जो दशा किसी समय महाभारत और भारत की हुई थी वह अन्ततः राजस्थान में रासो की भी हुई।

८—पृथ्वीराज रासो, बीसलरासो, खुम्माण रासो, हम्मीर रासो आदि से यही प्रतीत होता है।

हिन्दी में वीर काव्य

श्री दिनेशनन्दन प्रसाद, बी० ए० 'आनर्स', (एम० ए०)

ऊषाकाल की अरुणिमा के सदृश संसार के समस्त साहित्य का सूत्रपात वीर भावना के साथ हुआ। चाहे वह ग्रीक साहित्य हो या लैटिन साहित्य, संस्कृत हो या अरबी, अँग्रेजी हो या फ्रेंच—सभी भाषाओं के आदि-काव्य में वीरता का ही वर्णन प्रमुख है। हिन्दी का तो वीर रस से गम्भीर ममत्व रहा, क्योंकि वह हिन्दी का पिता जो ठहरा। उसी की गोद में उत्साह का अमृत पीकर हिन्दी बड़ी हुई। अपनी अबोधावस्था में ही उसे शिव के ताण्डव, योगिनियों की जमात और चामुण्डा की हुँकार को अनेक बार स्वयं अपनी आँखों से देखने का अवसर प्राप्त हुआ।

हम पाते हैं कि हिन्दी-भाषा के जन्म के साथ ही वीर, भक्ति और शृङ्गाररस के त्रिवेणी की धारा आज तक अबाधगति से प्रवाहित होती रही है। यह धारा कभी-कभी क्षीण अवश्य हो गई, पर अपना अस्तित्व नहीं खोई। हाँ, यह अवश्य हुआ कि कभी कोई धारा विशेष रूप से प्रवाहित हुई। काल-विभाजन के अनुसार हिन्दी साहित्य-काल चार भागों में विभाजित है—वीर-काल, भक्ति-काल, रीतिकाल और आधुनिक काल।

हिन्दी के आदिकाल में, इस देश के अस्त-व्यस्त वातावरण में वीर पक्ष ही प्रधान रहा। यह युद्ध का युग था, क्योंकि भारत के उत्तर-पश्चिम कोने से मुसलमानों के आक्रमण होते रहे। उस समय भारत अनेक टुकड़ों में बँटा हुआ था। केन्द्रीय-शक्ति का अभाव था। जितने राजे रजवाड़े थे सभी अपने को सम्राट से कम नहीं समझते थे। आपस में फूट और वैर का साम्राज्य था। फलस्वरूप भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य—गहरवार, चौहान, चंदेल और परिहार आदि—उत्तर पश्चिम की ओर स्थापित हो गये थे। इस काल की रच-नाएँ 'रासो' कहलाती हैं और कवि लोग चारण के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये रचनाएँ दो रूप में मिलती है—एक मुक्तक और दूसरी प्रबन्ध के रूप में। प्रबन्ध काव्य की श्रेणी में खुमान रासो, पृथ्वी-राज रासो, और मुक्तक काव्य की श्रेणी में बीसल-देव रासो और आल्ह-खण्ड प्रसिद्ध है। इनका ऐतिहासिक विवेचन हमें अभीष्ट नहीं। हम तो केवल काव्य की दृष्टि से उनका थोड़ा सा परिचय प्राप्त कर लेना चाहते हैं। इन ग्रन्थों से पता चलता है कि यह युग वीरों का था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत पूर्णतः इस काल पर चरितार्थ होती है। इस युग की जो भावना थी, वह आज भी गाँवों में ढोल के गम्भीर गर्जन के साथ यह वीर हुङ्कार सुनाई पड़ती है—

> बारह बरिस लैं कूकर जीएँ,
> औ तेरह लैं जिए सियार।
> बरिस अठारह छत्री जीएँ,
> आगे जीवन के धिक्कार॥

यही कारण था कि फूट का प्राबल्य होते हुए भारत की पवित्र भूमि भी उस समय अद्वितीय वीरों से अभिमण्डित थी। कर्नल टॉड ने Annuls and antiquitis of Rajasthan नामक पुस्तक में एक जगह लिखा है। "There is not a petty state in Rajasthan that has not had its Thermopylac and Scarcaly a city that has not produced a deoni-das." रासो में एक कथा इस प्रकार आती है—"जब एक राजा बुड्ढा हो गया और उसका मृत्यु-काल निकट आया तो वह भय से विह्वल हो उठ क्योंकि क्षत्रिय के लिये खाट पर पड़कर मरना

उसकी दृष्टि में सबसे बड़ा कायरपन था। अतः उसने अपने समीपवर्ती राज्य को रण-निमन्त्रण देकर उस पर अपने हृदय का भाव पत्र द्वारा व्यक्त किया। निमन्त्रण स्वीकृत होने पर जिस समय वह [illegible] सज्जा से सजकर युद्ध के लिये चला, उसके चेहरे से रोगजनित क्षीणता एक दम ही लुप्त हो गई। और इस प्रकार अंत में घोर संग्राम करते हुए वह वृद्ध नरेश वीरगति को प्राप्त हुआ।" ऐसे सजीव और अजीव उदाहरण वीरता के केवल भारतीय-साहित्य में ही [illegible] हैं। इन चारण कवियों [illegible] वीर-रस की सच्ची अनुभूति ऐसे अद्वितीय वीरों के साथ रहकर ही प्राप्त हुई थी। चारण लोग अपने आश्रयदाताओं के साथ रणभूमि में जाकर एक हाथ में कलम लेकर वीरों को उत्साहित करते तथा दूसरे हाथ में तलवार लेकर शत्रु को पृथ्वी पर सदा के लिए सुला देते थे। युद्ध-वर्णन कवि लोग प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा करते थे। राजाश्रय में रहते हुए भी चारणकाल के कवि अर्थ लोभी या चाटुकार नहीं कहे जा सकते।

इस युग की भावना अपना विशेष स्थान रखती है। शत्रु को मार देने वाला उतना वीर नहीं समझा जाता था। वीर तो वही समझा जाता था जो शत्रु को पराजित कर दुश्मन को बार-बार युद्ध के लिए प्रस्तुत होने का अवसर दे। क्षमा वीरता का प्रधान अङ्ग थी, कायरता का नहीं। 'दिनकर' के शब्दों में हम कह सकते हैं—

"क्षमा शोभती उस भुजङ्ग को,
जिसके पास गरल हो।
उनको क्या, जो दन्तहीन,
विष रहित 'विनीत' सरल हो?"

तत्कालीन समस्त रासो कारों ने अपने आश्रयदाताओं के अदम्य पराक्रम और अपारवाहिनी का उल्लेख किया है। सौन्दर्य-प्रियता की भावना ने शृङ्गार को वीररस का उद्दीपन बना दिया। अतः इस युग के वीर काव्यों में शृङ्गार का पुट यथेष्ट मात्रा में मिलता है, क्योंकि किसी सुन्दर कन्या का पता चलते ही वह उपहार-स्वरूप माँगी जाती थी, और न मिलने पर युद्ध की भूमि तैयार हो जाती थी। इसका अर्थ यह है कि युद्ध मूल में प्रेम द्वारा प्रेरित होते थे। अधिक सुन्दरियों से विवाह करना भी नरेशों की अधिक वीरता का द्योतक था। जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में 'प्रेम और युद्ध' की अनेक कथाएँ हैं, उसी प्रकार हिन्दी के वीर-काव्य में भी।

रासो का ऐतिहासिक महत्व हम भले ही स्वीकार न करें, पर इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि वे अपने समय के सच्चे काव्य हैं। हाँ, कुछ चारण कवियों ने निकम्मे आश्रयदाताओं की भी यथेष्ट प्रशंसा की, पर स्वयं उनकी रचनाएँ काल की कठोर जठराग्नि में जल गयीं। उदाहरण स्वरूप आज प्रयत्न करने पर भी यह नहीं जाना जा सकता कि विभीषण के अवतार जयचन्द्र की प्रशंसा में 'जयचन्द्र-प्रकाश' और 'जयमयंक जस चन्द्रिका' में मधुकर कवि ने क्या लिखा था। इस युग के कवियों पर आक्षेप है कि इनमें राष्ट्रीयता का अभाव था। किन्तु यदि विचार कर देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत उस समय टुकड़ों में बँटा था। प्रान्तीयता की सीमा में ही उस काल की राष्ट्रीयता निहित थी। अतः इस बात के लिए वे लांछित नहीं किये जा सकते।

मुसलमानों का आक्रमण भारत पर होता रहा। मुसलमान लोग पानी के बुलबुले नहीं थे जो हवा के एक ही झोंके से गायब हो जाते। धीरे-धीरे मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थापित हो गया। चारणों को आश्रय देने वाला कोई नहीं रहा। दिल्लीश्वर अकबर की वैभव-विभूति जगदीश्वर से भी होड़ लेने लगी थी। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही

क्या था ? आचार्यों के उपदेश से जनता लौकिक कष्टों को भूलने का प्रयत्न कर रही थी । संसार सोता था । परन्तु फिर भी कवि नाम का प्राणी इस समय तक जाग्रत था । वीर-भाव की धारा अब भी मन्द-गति से आगे बढ़ रही थी । सौभाग्य से इस काल के कवियों को एक ऐसा प्रतापी लोक-नायक मिला, जो पराधीनता के पाश को काटे । उसका नाम था प्रताप ।

इस काल के कवि 'स्वान्तःसुखाय' लेखक थे । फिर भी सूर और तुलसी ऐसे भक्त-कवियों के काव्य में वीर-भावना लक्षित होती है । रामायण में तो कुछ पात्र ऐसे हैं, जिनकी नसों में बराबर खून की गर्मी वर्तमान है । धनुष-यज्ञ के अवसर पर लक्ष्मण परशुरामजी से कहते हैं—

> यहाँ कुम्हड़ बतिया कोई नाहीं ।
> जो तर्जनि देखत मरि जाहीं ॥

सूर ने भी वीर-रस का चमत्कार गीति-काव्यों में दिखलाया है । महामना भीष्म महाभारत में श्रीकृष्ण से शस्त्र ग्रहण करवाने की प्रतिज्ञा करते हैं—

> आज जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ ।
> तो लाजों गंगा-जननी को,
> सांतनु सुत न कहाऊँ ॥
> स्यंदन खण्डि महारत खण्डों,
> कपिध्वज सहित डुलाऊँ ।
> इती न करों सपथ मोहि हरि की,
> छत्रिय गतिहि न पाऊँ ॥
> पांडव दल सन्मुख ह्वै धाऊँ,
> सरिता रुधिर बहाऊँ ।
> सूरदास रणभूमि विजय बिन,
> जियत न पीठ दिखाऊँ ॥

इस प्रकार केशव और गंग ने भी वीर-रस के पद लिखे । यहाँ तक कि दासजी ने गंग का नाम यह कह कर तुलसी के साथ लिया है कि—"तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सिरताज ।" गंग भाट थे । इन्हें वीर काव्य की प्रतिभा अपने पूर्वजों से विरासत में मिली थी । इस काल के प्रतिनिधि कवियों में जयपुर के दयालदास, दुरसाजी, पृथ्वीराज आदि के नाम लिये जा सकते हैं । दुरसाजी यद्यपि दरबारी कवि थे, पर उनके वीर-काव्य में विषाद की एक क्षीण रेखा उनके हृदय की मर्मान्तक पी[illegible]ा देख सकने की कुञ्जी है । सुना जाता है कि स्वयं महाराणा प्रताप भी वीररस की कविता करते थे ।

इस समय कवियों का एक ऐसा वर्ग भी था जिनके लिए मुगल दरबार का दरवाजा खुला था । यह वर्ग उन कवि[illegible] था जो अर्थ के लिए लिखते थे । दरबार के सम्मान को प्र[illegible] लिए मानों उस समय के कवियों की लार टपकी पड़ती थी । तभी तो तुलसीदास को भी कहना पड़ा—"उमरदराज महाराज तेरी चाहिए ।"

इस काल की वीर भावना में विद्रोह की प्रवृत्ति प्रधान थी । इस काल के कवियों ने छिपे-छिपे उस विस्फोट की भूमिका तैयार की जिसने भूषण और लाल को उत्पन्न किया; जो अपनी ओज भरी वाणी के बहाव में सुदृढ़ मुगल सत्ता को ही बहा ले गये ।

वीर रस का तृतीय उत्थान स्वर्णयुग कहलाता है । औरङ्गजेब की अदूरदर्शिता से शासक और शासित एक दूसरे के विरुद्ध ताल ठोंककर मैदान में आये और वीर रस का डङ्का पुनः बज उठा । यह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा । भूषण, लाल, मान, हरिकेश, गोपाल, सारङ्गभूधर और सूदन सब इसी काल की विभूतियाँ हैं । वीर रस की उन्नति का प्रमुख कारण सच्चे वीर और कवियों के उदार आश्रयदाताओं का प्रादुर्भाव था । शिवाजी छत्रसाल आदि अद्वितीय वीर तो थे ही साथ ही साथ गुण-ग्राहक भी थे । इस समय की जो वीरवाणी प्रस्फुटित हुई, उसकी अपारशक्ति ने देश का इतिहास बदल डाला । भूषण की कविता में अपने आ[illegible]दाता का गुणगान नहीं, बल्कि [illegible] के पालन ह[illegible] का कीर्तिगान है । इसी से भूषण के वीर रससे प्लावित उद्गार सा[illegible] जनता जनार्दन के

घर कर गये। अतः भूषण की कविता हिन्दू भावना से ओत-प्रोत हो गई संघर्ष का सुन्दर रूप इन पंक्तियों में मिलता है—

बेद राखे विदित, पुरान राखे सारयुत।
राम नाम राख्यो, अति रसना सुघर में॥
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की।
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में॥

राष्ट्रीय भावनाओं का स्वरूप समय की गति और परिस्थितियों के हेर फेर के साथ बदलता रहता है। शत्रु के सामने [illegible] कर लड़कर मारने और उसके [illegible] में अस्त्र न रहने पर स्वयं अस्त्र प्रदान करने का आदर्श अब लुप्त हो चुका था। किसी भी युक्ति द्वारा शत्रु का संहार करना इस समय की सबसे बड़ी वीरता थी। इस वीरता के आचार्य शिवाजी थे जिन्होंने सीमित शक्तियों के अनुसार इस नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

इस काल के कवियों पर यह आक्षेप किया जाता है कि इनमें सम्प्रदायिकता का पुट अधिक था। पर जो कुछ सम्प्रदायिकता थी वह अत्याचार के विरुद्ध थी। औरङ्गजेब के विरुद्ध जो कुछ लिखा गया, वह इसलिए नहीं कि वह मुसलमान था, वरन इस कारण कि वह अत्याचारी था। स्वयं भूषण ने कुछ पदों में अकबर और बाबर की नीति की प्रशंसा की है। राष्ट्रीयता का मापदण्ड तो समय और युग के अनुसार बदलता ही रहता है। आज के युग में भी तो म० गाँधी, मि० जिन्ना के अनुसार जातीय नेता ही थे, राष्ट्रीय नहीं। महात्मा गाँधी के पश्चात् मि० जिन्ना ने अपने शोकोद्‌गार में यही कहा था "कि भारत का एक बड़ा हिन्दू नेता आज उठ गया।"

रीतिकाल से आगे बढ़कर वीरता की भावना भारतेन्दु की रचना में फूट पड़ी। इस युग में भारतेन्दु ने ही कवि का ध्यान सर्व प्रथम कामिनी की कंचुकी और केशों से हटा कर उसे देश की दशा रोने को निमन्त्रित किया था। उन्होंने जामवन्त बनकर हनुमान के समान भूले हुए कवि को उसका पराक्रम स्मरण कराया। इस प्रकार बीज-वपन का कार्य कर भारतेन्दु अस्त हो गये और लाला भगवानदीन के उचित-खाद पानी को पाकर वीर-रस का अकुँर 'वीर-पञ्चरत्न' के रूप में फूट पड़ा, और मैथिलीशरण के निरीक्षण में तो बढ़कर वटवृक्ष ही हो गया।

इस युग में हमारी सभ्यता एक नवीन पथ की ओर अग्रसर होने लगी। हमारी सभ्यता तथा संस्कृति पर पाश्चात्य शिक्षा का व्यापक प्रभाव पड़ा और जन समाज की दृष्टि में राष्ट्र का रूप ही बदल गया। भारतेन्दु ने अपनी आवाज बुलन्द की। उन्होंने भारत की दयनीय परिस्थिति की ओर संकेत किया—

सबै सुखी जग के नर नारी,
रे विधना, भारत हि दुखारी।
भारत-दुर्दशा लखी न जाई॥

भारतेन्दु ने अपनी देशगत वीरत्व भावना को प्रत्येक स्थल पर सजाया। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक के भरत वाक्य में राजा हरिश्चन्द्र के मुख से कहला ही दिया है—

खल जनन सों सज्जन दुखी,
मति होइं हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत,
गहै कर दुख बहै।

इतना ही नहीं, उन्होंने गद्य में भी वीर-भावना को स्थान दिया।—भारत-दुर्दशा में भारत-भाग्य कहता है—'अब सोने का समय नहीं है। अँग्रेजों का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे। हा भारत, तेरी क्या दशा हो गई? हे करुणा-सागर भगवान्, इधर भी दृष्टि कर! हे भगवती राजेश्वरी इसका हाथ पकड़ो।'

भारतेन्दु अपने भावों को पूर्ण रूप से राजभय और राजदण्ड के कारण प्रतिपादन न कर सके। दिनकर के समान भारतेन्दु ने भी माना है—

बँधा तूफ़ान हूँ, चलना मना है।
बँधी उद्दाम निर्झर धार हूँ मैं॥
कहूँ क्या कौन हूँ? क्या आग मेरी।
बँधी है लेखनी लाचार हूँ मैं॥

यह भावना बहुत दिनों तक चलती रही। ब्रिटिश-सरकार की नीति के कारण देश में असन्तोष भावना पूर्ण रूप से व्याप्त होने लगी। इस युग के वीर-काव्यकारों में हम सर्वश्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', (उपनाम त्रिशूल); माखनलाल चतुर्वेदी; निराला, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, अनूप शर्मा, दिनकर, श्यामनारायण पांडेय आदि के नाम ले सकते हैं। ये कवि वर्तमान काल में वीर रस के नवीन रूप के निर्माता हैं। गांधीजी से प्रायः सभी कवि प्रभावित हुए। गांधी युग का अटल तत्व है—आत्म सम्मान की जाग्रति, जीवन की सच्ची समस्याओं का हल तथा विचारों में सत्य, अहिंसा और सेवा तत्व। इसका परिचालन काव्य-क्षेत्र में गुप्तजी की इस ध्वनि ने किया है—

हम कौन थे! क्या होगये हैं,
और क्या होंगे अभी।

—भारत-भारती

आज वीरता शरीर का नहीं, हृदय का धर्म होगया है। आज का पुरुष देव-प्रतिभा और कोमलाङ्गिनियों के अङ्ग का स्पर्श न चाहकर एक मर मिटने की अभिलाषा के लिये कहता है—

"मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जाते वीर अनेक।"

—माखनलाल चतुर्वेदी

आज वही सर्वश्रेष्ठ वीर है जिसका शरीर चाहे केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र ही हो, परन्तु उसमें स्वाभिमान की आग रह-रह कर धधक रही हो, उसे अपनी जन्मभूमि पर नाज और अभिमान हो; क्योंकि सनेहीजी के शब्दों में:—

जिसको न निज गौरव तथा
निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है
और मृतक समान है।

श्री नवीन ने छायावादी कवियों के वि[illegible] क्रान्ति का आह्वान किया।

कवि कुछ ऐसी तान सुना दे,
जिससे उथल पुथल मच जाये।
बरसे आग, जलद जल जाये,
भस्म सात भूधर हो जाये।
नाश-नाश की महानाश की,
प्रलयंकर आँखें खुल जायें॥

आज के वीर काव्यकारों ने यद्यपि वीर रस का स्वरूप बदल डाला है, फिर भी इनमें अपने गतवीरों के प्रति सम्मान और श्रद्धा का भाव है। चौहान ने जिस प्रेम के साथ जलियाँवाले बाग का वर्णन किया है उसी प्रेम से 'झाँसी वाली रानी' का भी। गुप्तजी ने जिस उत्साह से अपनी 'भारत-भारती' द्वारा भारतवासियों को जगाया है, उसी उत्साह से 'जयद्रथ वध' में बालक अभिमन्यु को भी।

इस प्रकार वीर रस आज अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है। आज की कविता में विध्वंस का जोश है, पर निर्माण की क्रियात्मक प्रेरणा नहीं, जो क्रान्ति के मूल में होना चाहिए। आज की कविता शत्रु के व्यक्तित्व के विरुद्ध नहीं, उसकी नीति के विरुद्ध ही युद्ध की घोषणा करती है। प्राचीन काल से ही वीर रस के चार स्वरूप मानते आये हैं—युद्धवीर, सत्यवीर, धर्मवीर और दानवीर। श्री वियोगी हरि ने वीर-सतसई में अनेक नये वीरों के उदाहरण उपस्थित किये हैं। हो सकता है हम उनके मत से सहमत न हों, परन्तु आज तो युद्धवीर को अहिंसा-वीर कहना ही उपयुक्त जान पड़ता है। दान और धर्म की भावना भी आज क्षीण और दुर्बल हो रही है। अतः वीर-रस के नवीन विभाग किये जाना आवश्यक है।

वासवदत्ता की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

श्री अमर बहादुरसिंह 'अमरेश' 'साहित्य-रत्न'

वासवदत्ता को आम्रपाली तथा बुद्ध को उपगुप्त कर देने से वासवदत्ता की ऐतिहासिकता पर कोई धब्बा नहीं लगेगा। यह ठीक है किन्तु प्रश्न तो यह उठता है कि भैरवी का भैरव नाद सुना कर पूजा-गीत गाने वाले कवि ने वासवदत्ता के ऐतिहासिक आधार को छोड़ कर सांस्कृतिक आधार ही क्यों लिया। वासवदत्ता का सांस्कृतिक आधार ही इस बात का साक्षी है कि कवि इतिहास में धूल नहीं झोंकना चाहता प्रत्युत वह इतिहास रूपी मधुमक्खी के छत्ते से केवल सांस्कृतिक मधु की कुछ बूँदें विप्लव के थके हुये राष्ट्र को स्वस्थ करने के लिए प्रदान करना चाहता है। उसका तात्पर्य यह बताना नहीं है कि यह मधु कमल अथवा गुलाब के फूल का है या अमराई के मदिर मसृण बौरों का वह तो केवल यही सिद्ध करना चाहता है कि यह मधु है जो स्वतन्त्रता संग्राम में जर्जर एवं श्रान्त क्लान्त राष्ट्र की सभ्यता संस्कृति और नैतिक पृष्ठभूमि को पुष्ट करेगा।

किसी भी राष्ट्र के निर्माण के लिए अतीत के इतिहास के पृष्ठों में वर्तमान का नया अध्याय जोड़ने के साथ साथ ही भविष्य की रूपरेखा भी बनानी पड़ती है क्योंकि भविष्य का निर्माण अतीत की प्रेरणा और वर्तमान के आधार से ही होता है। भारत के स्वाधीनता संग्राम का संबल, बुद्ध की अहिंसा, अशोक की समदर्शिता और राणा प्रताप का आजादी के लिए उत्सर्ग ही नहीं है प्रत्युत उसमें हरिश्चन्द्र का सत्य गीता के गायक की नीति और सब के पश्चात् रामराज्य की भावना भी छिपी है। जलियां वाला बाग बारदोली एवं वेतवा के सत्याग्रह तथा चौराचौरी की रक्त-रञ्जित कहानी केवल इसलिए नहीं लिखी गई कि हम एक अभिनव-क्रान्ति का सूत्रपात करें। क्रान्ति का सूत्रपत तो करना ही था साथ ही साथ हमें देश में रामराज्य भी लाना था। वासवदत्ता के कवि ने परतन्त्रता की काली रात में भैरवी गाकर युग के साथ जहाँ अपनी हुँकार मिलाई है वहाँ उसने उस तिमिराच्छादित रजनी में प्रभात की सुनहरी आभा देखी है। लेकिन उस हेमांगी आभा के लाने के लिये हमें सभ्यता रूपी ऊषा के अञ्चल से संस्कृति रूपी बाल रवि की कनकाकार रश्मियाँ भी लानीं होंगीं। अन्यथा हम भले ही रात पार करलें किन्तु हमें प्रभात न मिलेगा। वासवदत्त निस्सन्देह एक ऐसी किरण है जो परतन्त्रता की काली रात के पश्चात् स्वतन्त्रता की ऊषा के सुखद अञ्चल में फूलों को मुसकाने का कलियों को अवगुंठन खोलने का विहगों को चहचहाने का एवं मलयानिल को बाल मधुपों की पलकें चूमने का साह्स प्रदान करती है। किसी भी राष्ट्र का वास्तविक बल उसकी नैतिकता है। कवि स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्र में नैतिक बल देखना चाहता है। फलतः इसी के लिए उसे सरदार चूड़ावत के साथ-साथ उर्वशी का, कर्ण और कुन्ती के साथ-साथ कुणाल और वासवदत्ता का भी चरित्र चित्रण करना पड़ा है। एक बूँद की भी कल्पना अपना कोई ऐतिहासिक आधार न रखते हुये भी सांस्कृतिक महत्ता छिपाये है।

अब प्रश्न यह उठता है, कि क्या युग-युग की भारतीय संस्कृति यही है, अथवा कवि के इन्हीं चरित्र नायक नायिकाओं से राष्ट्र का नैतिक बल बढ़ेगा। यह एक गम्भीर प्रश्न है। जिसे समझने के लिये डा० सत्येन्द्र ने कविता के रस दूर हट जाने की बात कही है। वास्तव में कविता के रस अलग हटना इतिहास के समीप आना होगा। इतिहास

के समीप आते ही कला का ह्रास और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का पतन हो जाता है, क्योंकि अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का सृजन करने के लिये ही कला का जन्म हुआ है। और कला ने अपना सहयोग देकर उस अभिव्यक्ति को आकर्षक मोहक एवं प्रभावशाली बनाया है। इस प्रकार की कला पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है। इतिहास में कला नहीं है, प्रत्युत वह युग का सत्य है और उसे साहित्य बनाने के लिये हमें कल्पना का सहारा लेना पड़ेगा। वासवदत्ता के कवि की कला का रूप 'बहुजन सुखाय बहुजन हिताय' है इसीलिये कवि ने युग के सत्य को नहीं बल्कि युग के आदर्श को कल्पना के साँचे में ढाला है। फलस्वरूप हम भले ही इतिहास के सत्य में सन्देह करें लेकिन युग के आदर्श को बिना किसी हिचकिचाहट के मानने के लिये कवि हमें विवश कर देता है। वासवदत्ता का आदर्श युग का आदर्श है, नैतिकता का आदर्श है और है युग-युग की भारतीय संस्कृति का आदर्श।

यह बात सर्वमान्य है, कि कवि का काम इतिहास लिखना नहीं है, और जब उसका काम इतिहास लिखना नहीं है, केवल ऐतिहासिक युग का आदर्श दिखाना ही एकमात्र ध्येय है, तो उसकी ऐतिहासिकता पर सन्देह कैसा। हमारा संस्कृत साहित्य इस बात का जीता जागता प्रमाण है। पुराणों में लिखी हुई कथायें आज के युग में कपोल कल्पित ही प्रतीत होती हैं। उनमें कुछ ऐतिहासिक आधार है अथवा नहीं यह मैं नहीं बता सकता। किन्तु इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उनमें जो सांस्कृतिक भावना छिपी है, वह महान है, अनुकरणीय है, भले ही उसका सचाई से कोई सम्बन्ध न हो। अंग्रेजी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक कवि लार्ड टेनीसन के चार्ज आफ दि [illegible] ब्रिगेड में कितनी वास्तविकता है, यह इतिहास ही बता सकता है, किन्तु उसके ६०० सैनिकों का त्याग अवश्य अनुकरणीय है, जिसके समक्ष कवि ने संसार को स्तंभित और चकित देखा है।

वासवदत्ता का कवि दूरदर्शी है, वह यह जानता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश की नैतिक अवस्था खराब हो जायगी। अतः पहिले से ही उसने औषधि का प्रबन्ध कर दिया है। यदि भारतीयता का आदर्श हमारे चरित्र को बनाने में कुछ भी सहायक हो सकता है, तो मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि उसमें वासवदत्ता के आदर्श का बहुत बड़ा हाथ रहेगा।

पृष्ठ २५ का शेष)

गिरा ग्राम्य सियराम-जस,
गावहिं सुनहिं सुजान ॥
मानस पृष्ठ १७

किन्तु गोस्वामीजी को हम इसके लिए दोषी नहीं ठहराते। हिन्दी को 'ग्राम्य' कहने में उनके मुख से तत्कालीन पण्डित-समाज बोल रहा था। फिर भी उन्होंने बड़ा साहस किया। वास्तव में वे हिन्दी को हीन नहीं कहना चाहते थे वरन् रामयश वर्णन की बड़ाई करना चाहते थे। एक की बड़ाई में दूसरे का छोटापन कुछ व्यञ्जित हो जाता। वे जब अपने को ही श्रेय नहीं देते थे तब अपनी वाणी को क्या श्रेय देते ?

गोस्वामीजी की कविता में जो रस और कवित्व आया है वह स्वाभाविक रुप से या विषय के प्रभाव से (रामप्रताप) आया

जदपि कवित रस एकउ नाहीं।
राम-प्रताप प्रगट एहि माँही ॥
—रा० च० मानस (इण्डियन प्रेस) पृष्ठ १६

'हंस-मयूर' की ऐतिहासिकता

डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

'हंस मयूर' के लेखक श्री वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ उपन्यासकार हैं। इतिहास के पृष्ठों का अध्ययन कर उसके मर्म को उन्होंने अपनी प्रतिभा से जीवित और जगमगाहट युक्त किया है। उपन्यास-क्षेत्र में अपनी दीर्घ तपस्या के उपरान्त आज वे अद्वितीय स्थान प्राप्त कर सके हैं। इनकी उपन्यास-कला में स्थानीय रंग तथा ... प्रकृति का मर्म भूमि और प्राणियों के चित्रण में चहचहा उठा है—वर्माजी जैसे स्वयं बुंदेलखण्ड बन गये हों, जैसे उनकी लेखनी से स्वयं बुंदेलखंड बोल उठा हो।

इस यशस्वी उपन्यासकार ने इधर नाटक-कला के प्रयोग करने की भी चेष्टा की है। 'हंस-मयूर' उसी चेष्टा का परिणाम है। 'हंस-मयूर' में वर्माजी की वे सभी साधारण विशेषतायें परिलक्षित होती हैं, जो उनके उपन्यास-निर्माण में प्रमुखता रखती हैं—'हंस-मयूर' की वस्तु ऐतिहासिक है, उसका सम्बन्ध बुंदेलखण्ड के अथवा मध्य-भारत के क्षेत्र से है, रोमांस के रंग से वह रंजित है। किन्तु यह उपन्यास नहीं नाटक है।

प्रेरणा—

प्रश्न यह है कि इस नाटक को लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली होगी? इसका ठीक उत्तर तो लेखक ही दे सकता है—और उसने 'परिचय' में जो लिखा है उससे हमें विदित होता है:—

१—चिनौती का परिणाम—"देश में ऐसे नाटकों की बड़ी आवश्यकता है जो पढ़े जाने योग्य तो हों ही, परन्तु मञ्च के लिए भी उपयुक्त हों। उतनी ही आवश्यकता इस प्रकार के साहित्य की चित्रपट जगत के लिये भी है, जिसमें इतिहास और चरित्र-चित्रण की नब्बे प्रतिशत उपेक्षा की जाती है। मैंने जब 'विक्रमादित्य' चित्रपट देखा तब मन में इतनी ग्लानि हुई............मुझको एक चिनौती मिली—एक ऐतिहासिक चित्र बनाने में यदि इतिहास का नाश करते हैं तो आपही एकाध नाटक लिखिये। उस चिनौती का उत्तर यह नाटक है।"

'चित्रपट' देखने से हुई प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यह नाटक लिखा गया। इस कथन में इतिहास की पुनरावृत्ति प्रतीत हो रही है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को भी नाटक लिखने की ऐसी चिनौती पारसी कम्पनियों के नाटकों से हुई ग्लानि से मिली थी। किन्तु क्या इसी चिनौती के लिए यह नाटक लिखा गया? संभवतः ऐसा नहीं। यह तो एक कारण और अत्यन्त गौण कारण हो सकती है। इसके फल-स्वरूप तो इस नाटक का वह अंश परिपुष्ट हुआ जिसका सम्बन्ध इतिहास और ऐतिहासिक वेषभूषा तथा संस्कृति से है।

२—सामयिक प्रवृत्ति—इस चिनौती से भी अधिक प्रेरणाप्रद सामयिक प्रवृत्ति रही होगी। 'विक्रम द्विसहस्राब्दि' के अवसर पर भारत भर का ध्यान विक्रमादित्य की ओर आकर्षित हुआ—नाटकों तथा काव्यादि में विक्रमादित्य पर पर्याप्त मात्रा में लिखा गया—और तब वर्माजी ने भी लिखाः—

"हिन्दी में विक्रमादित्य के ऊपर जो नाटक अब तक लिखे गये हैं, उनमें आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसन्धानों का बहुत कम उपयोग किया गया है। और चित्रपटों की तो बात ही निराली है।"

फलतः हिन्दी में विक्रमादित्य पर लिखने की जो प्रवृत्ति चली थी, उसी में यह एक और आहुति दी गयी—यह इस दृष्टि से विशेषतः की गयी कि

उस युग और उस युग की ऐतिहासिक रूपरेखा प्रामाणिक आधार पर उभरे। दूसरे शब्दों में यह नाटक अपने से पूर्व के विक्रमादित्य सम्बन्धी नाटकों की आलोचना बना और उनकी अभावपूर्ति के लिए प्रस्तुत हुआ।

३—सामयिक सन्देश—इस प्रवृत्ति में भी लेखक की दृष्टि का महत्त्व विद्यमान है। प्रत्येक ऐतिहासिक नाटक किसी ऐतिह्य की सामयिक व्याख्या करता होता है—उसकी वस्तु, उसके पात्र उनकी वेष-भूषा, उनके शील-संस्कार कितने ही इतिहास के अनुकूल होकर अतीत को सजीव करने वाले हों, पर उनके विचारों और व्याख्याओं में लेखक के युग के स्पन्दन होते हैं, उनमें ऐतिहासिक अतीत की अनुकूलता के साथ सामयिक समस्याओं का इङ्गित होता है—और वह इस नाटक में प्रबलता पूर्वक अभिव्यक्त हुआ है—वे समस्यायें इस प्रकार समझी जा सकती हैं :—

अ—गाँधीवाद की प्रतिक्रिया—गाँधीजी ने 'अहिंसा' को अपने शब्दों तथा आचरणों से बहुत महत्त्व दिया। हमारी वर्त्तमान स्वतन्त्रता उसी 'अहिंसा' का, उसी अहिंसा द्वारा 'हृदयपरिवर्त्तन' का परिणाम है। उस प्रकार गाँधीजी ने 'अहिंसा' को धर्म के साथ अथवा सत्य के साथ समन्वित कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विजयिनी सिद्ध किया, उसे राजनीतिक संघर्ष में भी एक अचूक अस्त्र प्रमाणित कर दिया। आधुनिक लेखक ने 'अहिंसा' को देखा और उसे समझने के लिए वह इतिहास की ओर लपका—उसने "बौद्धों" और "जैनों" को देखा। उनकी 'अहिंसा' के ऐतिहासिक परिणाम को देखा। फलतः वह गाँधीवादी अहिंसा के भी विरुद्ध हो गया, और उसके मन में अहिंसा की प्रतिक्रिया बहुत प्रबल हुई, जिसके कारण कुछ ने तो 'हिंसा' को अथवा 'शस्त्र' को ही प्रमुखता दी, कुछ ने समन्वय प्रस्तुत किया। वर्माजी में भी यह प्रतिक्रिया और समन्वय स्पष्ट मिलता है, यद्यपि वे समन्वय को सफलता पूर्वक नाटकीय वस्तु के द्वारा प्रस्तुत नहीं कर सके।

आ—सांस्कृतिक-सङ्घर्ष का प्रतिफल—गाँधीवादी प्रतिक्रिया का मूलाधार सांस्कृतिक-संघर्ष से उत्पन्न उत्तेजना ही है। आधुनिक वैज्ञानिक पदार्थवादी युग में यह सङ्घर्ष राजनीतिक पहलू रखता है। हिन्दू और मुसलमानों के नाम से भारत में दो संस्कृतियों की स्थिति मनवायी गयी है। आधुनिक लेखकों ने 'शकों' में आज के मुसलमानों के दर्शन किये हैं। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटवारे और उससे सम्बन्धित क्रूर रक्तपात ने उन्हें 'अहिंसा' की ओर मुँह बिचकाने का पुनः अवसर दिया।

इस प्रकार लेखक ने 'अहिंसा' की प्रतिष्ठा के साथ 'हिंसा' को समन्वित कर, हिंसा को बर्बरता और पैशाचिकता से मुक्त करने का सुझाव दिया है, साथ ही गाँधीजी के 'वैष्णव-भाव' की व्याख्या 'चतुर्भुज जी विष्णु' की व्याख्या के रूप में की है। गाँधीजी ने वैष्णव-जन का लक्षण यह बताया था—

"वैष्णवजन तो तेने कहिए,
जे पीर पराई जाणें रे।

उन्होंने करुणा के भाव को प्रमुखता दी। इस लेखक ने विष्णु की चतुर्भुजी मूर्त्ति की अवतारणा के ऐतिहासिक उद्भावन का लाभ उठाकर गाँधीवादी वैष्णव भावना का संशोधन करने की चेष्टा की है जो इस प्रकार है—

"रक्तपात का निवारण करने के लिए विष्णु के एक हाथ में गदा है। संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने के लिए और दुर्वृत्तियों का दमन करने के लिए दूसरे हाथ में चक्र है। स्पष्ट स्वर में नीति और शौर्य के मेल की घोषणा करके जन को जगाने के लिए तीसरे हाथ में शङ्ख है और विश्व में सर्वत्र सांवली सलोनी स्मितमयी हरी दूब बढ़ाने और जीवन को पुरस्कार तथा वरदान के लिए चौथे हाथ में कमल है।"

इन विचारों में कहीं इस नाटक की मूल प्रेरणा हो सकती है। प्रेरणा को हृदयङ्गम करने के उप-

रान्त अब हम नाटक पर विचार करने के लिए अग्रसर हो सकते हैं।

कथानक—कालकाचार्य, उनकी बहिन सुनन्दा, तथा शिष्य बकुल धर्म-प्रचारार्थ धारा छोड़कर उज्जैन के लिए प्रस्थान करते हैं, मार्ग में नलपुर जनपद के कच्छप दस्युओं ने उन्हें किञ्चित प्रताड़ित किया। ये लोग उज्जैन में पहुँचते हैं, उस समय महाकालके मन्दिर के सामने उज्जैन निवासी मेला सजा रहे हैं—विविध धार्मिक प्रदर्शन होने जा रहे हैं, जिनमें मुख्य हैं कापालिकों के प्रसिद्ध आचार्य पुरंदर का समाधि-प्रदर्शन। कालकाचार्य तथा बकुल का धर्म के प्रश्न पर विवाद खड़ा हो जाता है, कापालिक अपनी आलोचना से चिढ़ जाते हैं। राजन्य गर्दभिल्ल के आजाने से शान्ति स्थापित हो जाती है। जैन-यात्री वहाँ से चले जाते हैं। यहीं गर्दभिल्ल इन्द्रसेन का स्वागत करता है। इन्द्रसेन शकों के प्रतिरोध को संगठित करने के प्रयत्न को अग्रसर करने के लिए गर्दभिल्ल और उज्जैन से विदा लेता है।

उधर अवसर पाकर कापालिक बकुल को बलि देने के लिए पकड़ ले जाते हैं। कालकाचार्य और सुनन्दा वहाँ पहुँच जाते हैं और बाधा डालते हैं, तभी गर्दभिल्ल भी आ उपस्थित होता है। आचार्य पुरंदर तीनों को उनके यज्ञ-ध्वंस करने के अपराध में बन्दी बनाते हैं, गर्दभिल्ल उन्हें मालवगण का बन्दी बनाते हैं—और अपने भवन में तीनों को पृथक-पृथक रखते हैं।

गर्दभिल्ल सुनन्दा के प्रेमपाश में बद्ध हो चले हैं, वे युक्ति से कालकाचार्य और बकुल को कारागार से मुक्त कर देते हैं। सुनन्दा का प्रेम शनैः शनैः उन्हें मिल जाता है। दोनों विवाह सूत्र में बँध जाते हैं।

कालकाचार्य प्रतिशोध और बहिन की मुक्ति के लिए शकों को उज्जैन पर आक्रमण करने का निमन्त्रण देते हैं।

कुजुल, नहपान, भूमक, उषवदास, मथुरा के क्षत्रप कालकाचार्य तथा बकुल परामर्श करते हैं और आक्रमण की नीति निर्धारित होती है। यहीं हमें भूमक-पुत्री तन्वी का परिचय मिलता है।

शकों का आक्रमण होता है। उज्जैन पर उषवदात का अधिकार होता है, गर्दभिल्ल तथा सुनन्दा भाग जाते हैं। कालकाचार्य सुनन्दा को उज्जैन में न पाकर धर्म प्रचारार्थ उज्जैन छोड़ कर चले जाते हैं। बकुल और तन्वी उषवदात से आज्ञा लेकर सर्वगत बन जाते हैं।

इन्द्रसेन शक विरोधी सङ्गठन में प्रवृत्त है। विदिशा के राजा रामचन्द्र नाग को वह 'हंस-मयूर संस्कृति' का मर्म समझाता है, और इसी झंडे को नये सङ्गठन का प्रतीक बनाता है। यहीं तन्वी और बकुल मञ्जुलिका और श्रीकण्ठ के नाम से अभिनय दिखाते हैं, और यहीं से तन्वी इन्द्रसेन की ओर आकर्षित होती है, यहाँ तक कि उनसे प्रेम की भीख भी माँग लेती है, यद्यपि विवाह स्थगित रहता है, पूर्ण विजय-प्राप्ति तक।

भागते हुए सुनन्दा और गर्दभिल्ल जङ्गल में भटक गये। गर्दभील्ल को शेर खा गया। सुनन्दा इन्द्रसेन की शरण में आगयी। बकुल ने उसे पहचाना और रहस्योद्घाटन के भय से उसने उसी रात इन्द्रसेन के वध का निर्णय किया, तन्वी की बाधा पर ध्यान नहीं दिया। किन्तु तन्वी ने बकुल को प्रयत्न में असफल कर पकड़वा दिया।

इसी अवसर पर शकों से अन्तिम युद्ध हुआ और उषवदात पकड़ा गया। वह विदेशा में बन्दी बनाया गया। शक विजय पूर्ण हुई, और उज्जैन में इन्द्रसेन को कृत उपाधि से विभूषित किया गया और मालव संवत का प्रचलन।

इन्द्रसेन तब तन्वी को अपनाता है।

ऐतिहासिक-अधार—विक्रमादित्य तथा विक्रम-सम्वत् के सम्बन्ध में तीन प्रधान मत हैं। एक मत उन लोगों का है जो यह मानते हैं कि भारतीय

इतिहास में ई० पू० ५७ में ऐसी कोई घटना नहीं घटी जिसमें सम्वत् का प्रवर्त्तन माना जाय। फर्गुसन इसके अगुआ है। दूसरा मत यह है कि ई० पू० ५६ में विक्रमादित्य नाम का पुरुष हुआ, उसने शकों से उज्जैन का उद्धार किया और सम्वत् चलाया। इस मत में दो शाखायें हैं। एक यह मानता है कि यह विक्रमादित्य नाम यथार्थतः राजा का था, और उसकी उपाधि साहसांक थी—प्रसाद प्रभृति विद्वान इसी मत के हैं। दूसरे यह मानते हैं कि विक्रमादित्य नाम नहीं था, उपाधि थी. और आँध्रवंश के गौतमी पुत्र शातकर्णि ने ही यह उपाधि धारण की। डा० काशीप्रसाद जायसवाल तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा जयचन्द्र विद्यालङ्कार इसी मत के हैं। तीसरा मत यह है कि ई० पू० ५६ में उज्जैन का शकों से उद्धार करने की घटना तो हुई पर इसका नायक 'कृत' नाम का कोई मालवगण-प्रमुख था, उसके नाम से यह सम्वत् चला और आरम्भ में इसीलिए यह 'कृत सम्वत्' कहलाया, फिर यही मालव सम्वत् हुआ, बाद में 'विक्रम' के नाम से अभिहित किया गया। इस मत के मानने वाले डा० अल्तेकर ही एक अकेले व्यक्ति प्रतीत होते हैं। उन्होंने केवल. पुरातत्व की साक्षी पर ही निर्भर किया है—और सम्वत् का नाम 'कृत' देख कर यह अनुमान किया है कि इसी नाम का कोई व्यक्ति हुआ होगा, जिसने सम्वत् चलाया।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा डा० अल्तेकर के मत को ही मानते हैं, किन्तु एक संशोधन उन्होंने उसमें कर दिया है, 'कृत' को नाम न मानकर उपाधि माना है। आचार्य पुरन्दर ने व्याख्या की है 'कृत अर्थात् सतयुगी' अतः यह नाटक विक्रम-सम्वत् के प्रवर्त्तन की घटना से सम्बन्धित होते हुए भी 'विक्रमादित्य' से सम्बन्ध नहीं रखता। [illegible]दावनलाल वर्मा ने उस पुरुष का मूल नाम 'इन्द्रसेन' माना है, [illegible] सम्भावना के लिए भी कोई स्थान नहीं रहने दिया कि सम्भवतः कृत का ही दूसरा नाम 'विक्रमादित्य' हो। यह तो घटना और उससे सम्बन्धित प्रमुख व्यक्ति के सम्बन्ध की बात हुई, पर नाटक तो केवल इतने से ही ऐतिहासिक नहीं हो सकता। उसको तो एक पूरी सुगठित कथा-वस्तु चाहिए, और उसकी भी ऐतिहासिकता प्रमाणित होनी चाहिए। यहाँ पुरातत्व मात्र सहायक नहीं हो सकता, अतः उसे 'प्रभावक-चरित' का आश्रय लेना पड़ा है। डा० अल्तेकर ने भी इसी 'प्रभावक-चरित' को ऐतिहासिक मान्यता दी है।

इसमें वर्माजी ने निम्न परिवर्तन किये हैं—

प्रभावक-चरित	हंस-मयूर
कालक के पिता का नाम 'वीरसिंह'	पिता का नाम देने की आवश्यकता नहीं समझी।
कालक की बहिन 'सरस्वती'	आरम्भ में बहिन का नाम 'सुनन्दा' रखा गया है, बाद में मालव-उद्धार के उपरान्त तथा गर्द्दभिल्ल की मृत्यु हो जाने पर जब सुनन्दा कालकाचार्य के पास भेज दी जाती है, तब कालकाचार्य उसका नाम 'सरस्वती' रखते हैं।
कालक के गुरु गुणाकर	इनका भी कोई उल्लेख नाम लेकर करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई।
उज्जैन का राजा गर्दभिल्ल विषयी तथा लम्पट था	उज्जैन का राजा गर्द्दभिल्ल न्यायी, सद्विचारी,

सिन्धु के शकों में शाही और शाहानुशाही का होना। कालकाचार्य की एक शाही से मैत्री, उसी शाही का शाहानुशाही से मनमुटाव—और तब कालकाचार्य के परामर्श से शाही का काठियावाड़ भागना।	किन्तु अकर्मण्य था, शाही और शाहनुशाही का कोई उल्लेख नहीं। शमीनगर में कुजुल, नहपान, भूमक उषवदात से एक साथ कालकाचार्य को मिलाया गया है, जहाँ सम्मिलित सभा में आक्रमण का स्वरूप निर्धारित किया गया है। कुजुल ने भूमक की तुच्छता बताते हुए शाहानुशाही और क्षहरात शकों की परस्पर के कलह का उल्लेख किया है।
कालकाचार्य के मित्र ने गर्दभिल्ल पर आक्रमण कर परास्त किया, गर्दभिल्ल अकेला भागा और सिंह ने उसे खा लिया। सुनन्दा वन्दी थी उसे मुक्त कराया गया और इस प्रकार कालकाचार्य को मिली।	सम्मिलित शकों के निश्चय के अनुसार उषवदात ने आक्रमण किया और गर्दभिल्ल को परास्त किया। गर्दभिल्ल सुनन्दा के साथ भागा, और शेर का शिकार हुआ। सुनन्दा इन्द्रसेन की शरण में गयी। और शकों पर विजय के उपरान्त कालकाचार्य के पास भेज दी गयी, जहाँ कालकाचार्य ने उसे सरस्वती नाम देकर पुनः श्राविका बनाया।
विक्रमादित्य ने उज्जयनी विजेता शकों को उज्जयनीपर आक्रमण कर परास्त किया और संवत् चलाया।	इन्द्रसेन के संगठित उद्योग से त्रिपुरी के निकट नर्मदा के कांठे में अन्तिम युद्ध में शक हारे, उषवदात बन्दी हुआ।

इस नाटक में ऐतिहासिक वृत्त की तो यह अवस्था है। इसके अतिरिक्त शेष काल्पनिक है—नाटक का प्रधान नायक प्रतीत होने वाला व्यक्ति इन्द्रसेन कल्पित है, कालकाचार्य का शिष्य 'वकुल' और 'तन्वी' भी। तन्वी को लेखक ने 'सुतनुका' नाम की उस काल की ऐतिहासिक शक नर्तकी के आधार पर कल्पित किया है।

द्विविध कथानक—नाटक पर दृष्टि डालने से एक बात विदित होती है कि इसका कथानक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक भाग वहाँ समाप्त होता है जहाँ शक लोग उज्जैन पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। दूसरा भाग इसके आगे आरम्भ होता है। पहले भाग के लिए नाटककार ने दो अङ्क दिये हैं; द्वितीय संस्करण के ६५ पृष्ठ, दूसरे भाग के लिए शेष ३ अङ्क, और ४६ पृष्ठ। कथानक के पूर्व भाग में ऐतिहासिक घटना-क्रम की प्रधानता है, क्योंकि कालकाचार्य की जैन-कथा यहीं अपना विस्तार समाप्त कर लेती है। आगे का अंश कल्पना प्रधान है, और इस अंश की केवल दो घटनायें ही प्रमाणानुकूल हैं। एक शकों का उन्मूलन और सम्वत् प्रवर्त्तन, दूसरी गर्द्दभिल्ल का सिंह द्वारा भक्षण। इस प्रकार इन्द्रसेन और तन्वी का प्रेम प्रकरण, बकुल द्वारा इन्द्रसेन की हत्या का प्रयत्न और तन्वी द्वारा उसकी रक्षा, इन्द्रसेन के शक-विरोधी सङ्गठन का स्वरूप, हंस-मयूरी संस्कृति की प्रतिष्ठा आदि सभी बातें वर्माजी की कुशल कल्पना से उद्भूत हैं; इसमें लेखक ने ऐतिहासिक सम्भावनाओं पर दृष्टि रखी है, जिसका विवेचन उसने नाटक के परिचय में विस्तार पूर्वक कर दिया है। वेषभूषा की ऐतिहासिकता पर उसने विशेष ध्यान दिया है।

ऐतिहासिक विकृतियाँ—इस ऐतिहासिक

विचारण के समय ही हमारा ध्यान ऐतिहासिक विकृतियों पर जाता है। नाटककार को यह स्वतन्त्रता है कि वह ऐतिहासिक कथानक को अपने अनुकूल संशोधित करले, जिससे वस्तु-गर्भित सत्य और संदेश पूर्णतः प्रकट हो सके, और इतिहास के द्वारा छोड़ी हुई कड़ियों की पूर्ति करके बिखरे चित्रों को व्यवस्थित किया जा सके, पर नाटककार का महान् उत्तरदायित्व यह भी है कि वह अपने मन के विष की कालिमा इतिहास दत्त प्रतिभा पर न पोत दे—उसके ऐतिहासिक स्वरूप की उदारता-पूर्वक रक्षा करते हुए नाटककार को अपना अभिप्राय प्रकट करना चाहिए। वर्माजी ऐतिहासिक नाटककार के इस स्वरूप की प्रतिष्ठा इस नाटक में नहीं कर सके।

नाटक में कालकाचार्य का स्वरूप विकृत किया गया है। कालकाचार्य के लिए नाटककार ने जाने-अनजाने वकुल को कसौटी बना दिया है, उसने कालकाचार्य को कहीं अकेले सामने नहीं आने दिया। साथ साथ दोनों पर दृष्टि जाती है तो वकुल ही हमें प्रभावित करता है, कालकाचार्य नहीं, यह यवन शिष्य गुरु से प्रत्येक स्थिति में प्रबल है। वकुल स्वयं वर्माजी का पुत्र है, उन्हीं की कल्पना से प्रसूत इसीलिए संभवतः विमातृ भाव से कल्पना ने वकुल के साथ पक्षपात किया है, इतिहास-सृष्टि का उतना नहीं। वकुल को लेखक ने कालकाचार्य के साथ आरम्भ से ही प्रस्तुत तो उदार भावना से किया है। वे कालकाचार्य के देश-द्रोह की कालिमा को संभवतः हलका करना चाहते थे। वकुल न होता तो कालकाचार्य देश-द्रोह की ओर उठाए गये कदम को वापिस ले लेते, और अन्ततः हमें यह प्रतीत होता है कि कालकाचार्य इतने दोषी नहीं जितने वकुल—जो यवन था, और जिसमें देश के प्रति कोई भक्ति नहीं हो सकती थी। किन्तु इसी से कालकाचार्य का ऐतिहासिक स्वरूप बिगड़ गया है। कालकाचार्य का व्यक्तित्व महान था, लेखक उससे भली प्रकार संप्रेरित और प्रभावित नहीं हो सका। जिस ऐतिहासिक उदारता से उसने गर्दभिल्ल का अङ्कन किया है, उसी ऐतिहासिक उदारता के लिये उनका कालकाचार्य तरस रहा है।*

---

* कुछ अन्य वि[illegible] भी ध्यान देने योग्य हैं। कुजुल, भूमक तथा नहपान को [illegible] उपस्थित करने में ऐतिहासिक काल-क्रम में च्युति हुई है। कुजुल कुषाणवंश का संस्थापक था, उसका राज्य भारत में ४५ ई० के उपरांत प्रस्थापित हुआ। भूमक ऐतिहासिक प्रमाणों से नहपान का पूर्ववर्ती नृपति था, समकालीन नहीं। ऐतिहासिक प्रमाणों से उषवदात कट्टर हिन्दू प्रतीत होता है न कि जैन। फिर ये सभी व्यक्ति और वृत्त अभी पर्याप्त विवादास्पद हैं—इसी बहाने नाटककार की मान्यता विशेष आपत्तिजनक नहीं कही जावेगी। फिर भी जहाँ तक नाटकीय कथा-वस्तु का सम्बन्ध है, यह कोई अनिवार्य बात नहीं थी कि इतने क्षत्रप-महाक्षत्रप वीरों को ऐतिहासिक नाम से पुकारा जाता। उषवदात ही इस समूह में प्रधान कर्त्ता बना है, अकेले उसी को लिया जा सकता था, और तन्वी को भी 'उषवदात' की पुत्री माना जा सकता था इससे नाटकीय कल्पित कथा-वस्तु में कोई बाधा भी नहीं पड़ती और ऐतिहासिक भ्रम-अभ्रम की समस्या भी खड़ी नहीं होती।

'कलिंग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र'

प्रो० सिद्धनाथकुमार, एम० ए०

'दिनकर' ने 'सामधेनी' के 'दो शब्द' में लिखा है—"इस संग्रह की 'कलिङ्ग-विजय' नाम्नी कविता 'कुरुक्षेत्र, की पूर्वपीठिका के रूप में लिखी गई थी। किन्तु, 'कुरुक्षेत्र' के साथ वह, कुछ स्पष्ट कारणों से ही, नहीं जा सकी। अब वह वर्त्तमान संग्रह में प्रकाशित हो रही है। आशा है कि जिन पाठकों के पास ये दोनों पुस्तकें मौजूद हों, वे 'कलिङ्ग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र' को साथ मिलाकर पढ़ेंगे।' प्रस्तुत निबन्ध में उपर्युक्त दोनों रचनाओं का एक तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करने का प्रयास किया गया है।

'कलिङ्ग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र' का मूल विषय युद्ध है। युद्ध मानवता का वह अभिशाप है, जो अपने रक्तपात और हिंसा की विभीषिकाओं से मानव-जीवन को प्रत्येक युग में संतप्त करता रहा है। बीसवीं शताब्दी का जीवन तो इससे पूर्णतः आक्रांत है। छोटे-छोटे युद्धों की तो बात ही नहीं, दो विश्व-युद्ध संसार को अपनी रक्त-लीला दिखा कर चले गए हैं और तीसरा हमारे सामने आने का उपक्रम कर रहा है। ऐसी परिस्थिति में हमारी सभ्यता और संस्कृति की नींवें हिलने लगी हैं, संसार का अस्तित्व संदिग्ध हो उठा है, अधिकांश जन-समुदाय जीवन की आवश्यक सुविधाओं के संघर्ष में रक्त से लथपथ हो रहा है। फलतः जन-जीवन में विक्षोभ का जन्म स्वाभाविक है, 'दिनकर' का कवि अपने युग की समस्याओं के प्रति सदा जागरूक रहा है, और उसने 'कलिङ्ग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध से आन्दोलित हृदय की अभिव्यक्ति कर इसी जागरूकता का परिचय दिया है।

यद्यपि उपर्युक्त दोनों रचनाओं का आधार युद्ध है, पर दोनों में युद्ध के स्वरूप और उसकी समस्याओं के सम्बन्ध में पर्याप्त अन्तर है। सभी युद्ध एक ही प्रकार के नहीं होते। युद्ध-युद्ध में अन्तर होता है। एक युद्ध शक्ति-प्रदर्शन, मद-तृप्ति एवं साम्राज्य-लिप्सा की पूर्त्ति के लिए लड़ा जाता है, दूसरा आत्म-रक्षा के लिए, सम्मान रक्षा के लिए और अन्याय, शोषण, उत्पीड़न आदि का प्रतिकार करने के लिए। प्रसिद्ध विचारक रस्किन ने युद्ध को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—'War for exercise or play, War for dominion, and war for defence." प्रथम प्रकार का युद्ध प्राचीन काल में लड़ा जाता था, जब मनुष्य के जीवन में पर्याप्त अवकाश था और मनोरञ्जन के साधन बहुत कम थे, लेकिन आज आनन्द मात्र के लिए युद्ध नहीं होते। अब दो ही प्रकार के युद्ध हुआ करते हैं, या तो साम्राज्य-विस्तार के लिए, या आत्म-रक्षा के लिए। यह भी कहा जा सकता है कि ये दोनों भी विभिन्न प्रकार के युद्ध नहीं हैं, बल्कि एक ही युद्ध के दो पहलू हैं। प्रत्येक युद्ध में ये दोनों पक्ष सम्मिलित रहते हैं। एक पक्ष दूसरे पक्ष को पराजित कर अपने आनन्दोपभोग की सुविधाएँ जुटाने के लिए अथवा अपने अभिमान का निरंकुश शासन स्थापित करने के लिए लड़ता है, दूसरा पक्ष विवश होकर आत्म-रक्षा के लिए प्रयत्नशील होता है। और, विचारकों के सम्मुख युद्ध एक प्रश्न बन कर आता है कि वास्तव में उसका जन्मदाता कौन है—वह, जो स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों पर आघात करता है, या वह, जो आघात से अपनी रक्षा करने के लिए प्रत्याघात का आश्रय लेता है? 'कुरुक्षेत्र' में कवि ने इसी प्रश्न को सुलझाने का प्रयास किया है। आरम्भ में ही यह प्रश्न रखा गया है—

पापी कौन? मनुज से उसका
न्याय चुरानेवाला?

या कि न्याय खोजते विघ्न का
　सीस उड़ानेवाला ?

लेकिन इसके विपरीत 'कलिङ्ग-विजय' में कोई प्रश्न नहीं है, कोई समस्या नहीं है, फलतः कोई संघर्ष नहीं है। वहाँ केवल एक भावुक हृदय युद्ध से आहत दृश्यों को देख कर विक्षुब्ध हो उठता है और युद्ध के परिणाम उसे युद्ध से विरक्त कर देते हैं।

जैसा उपर कहा गया, 'कलिङ्ग-विजय' में युद्ध का केवल एक पक्ष है। सम्राट अशोक आक्रमणकारी हैं और उन्होंने यह आक्रमण अपनी साम्राज्य-लिप्सा की तृप्ति के लिए ही किया था। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—

खड्ग-बल का ले मृषा आधार
छीनता फिरता मनुज के प्राकृतिक आधार

× × ×

भौं उठा पायें न तेरे सामने बलहीन,
इसलिए ही तो प्रलय यह ! हाय रे हियहीन !
शमित करने को स्वमद अति ऊन,
चाहिए तुझको मनुज का खून !

लेकिन अशोक का हृदय-परिवर्त्तन संसार के सम्मुख एक महान् आदर्श उपस्थित करता है। महात्मा गांधी मनुष्य को इसी आदर्श के उच्च धरातल पर ले जाना चाहते थे। अत्याचारी अपने कार्यों से विक्षुब्ध हो स्वयं प्रायश्चित करे, संसार में शान्ति, प्रेम, अहिंसा का प्रचार करे, 'कलिङ्ग-विजय' इसी आदर्श की प्राण-प्रतिष्ठा करती है।

लेकिन 'कुरुक्षेत्र' में उल्लिखित युद्ध को किस श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाय, यह निर्णय करना सरल नहीं है। कुरुक्षेत्र-युद्ध को धर्म युद्ध कहा जाता है, लेकिन क्या 'कुरुक्षेत्र' में वर्णित युद्ध धर्मयुद्ध ही है, यह एक विचारणीय प्रश्न है कुरुक्षेत्र में इसके अनेक उत्तर दिए गए हैं, जो परस्पर विरोधी भी हैं। जब प्रारम्भ में कवि कहता है—

ईश जानें, देश का लज्जा विषय
तत्त्व है कोई कि केवल आवरण
उस हलाहल-सी कुटिल द्रोहाग्नि का…

तब लगता है, जैसे 'इतिहास के अध्याय पर' रोनेवाले युधिष्ठिर ने 'देश की इज्जत बचाने के लिए' ही युद्ध छेड़ा था, यद्यपि बाद में कहीं इसका समर्थन नहीं होता। इसके विपरीत युधिष्ठिर कहते हैं—

द्रौपदी हो दिव्य वस्त्रालंकृता
और हम भोगें अहम्मय राज्य यह,
पुत्र-पति-हीना इसी से तो हुईं
कोटि माताएँ, करोड़ों [illegible]

अथवा—

यह राजसिंहासन ही जड़ था
इस युद्ध की मैं अब जानता हूँ।

भीष्म की उक्तियों से भी इसी तथ्य का समर्थन होता है कि वैयक्तिक विद्वेष की ज्वाला से ही कुरुक्षेत्र-युद्ध की शिखाएँ फूटी थीं—

बिंधा चित्र-खग एक भूमि में
　जिस दिन अर्जुन-शर से
उसी दिवस जन्मी दुरग्नि
　दुर्योधन के अन्तर से।

इसके अतिरिक्त भीष्म ने स्थान-स्थान पर यह भी कहा है कि कुरुक्षेत्र के पूर्व ही समर चलने लगा था और युधिष्ठिर के न लड़ने पर भी यह आग किसी व्याज से अवश्य फूटती, यद्यपि इसके विरोध में भी उन्होंने स्वयं कहा है—

प्रकटी होती मधुर प्रेम की
　मुझ पर कहीं अमरता,
स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का
　दिन न देखना पड़ता।

यदि सचमुच कुरुक्षेत्र के पूर्व जन-जीवन में असंतोष की आग फैलने लगी थी, [illegible] वह एक व्यक्ति (युधिष्ठिर या भीष्म) के रोकने से नहीं रुकती। तात्पर्य यह कि कुरुक्षेत्र-युद्ध के मूल में देश की लज्जा

का प्रश्न अथवा लोकव्यापी कल्याण की भावना नहीं दीख पड़ती। वास्तव में दुर्योधन ने पांडवों को कष्ट दिए थे, उन्हें उनके अधिकारों से वंचित किया था, जिससे क्रुद्ध हो कर पांडवों ने युद्ध छेड़ा। यह दूसरी बात है कि उस समय राजाओं के हृदय में परस्पर विद्वेष की भावनाएँ थीं, उन्होंने युद्ध को प्रज्ज्वलित करने में सहायता दी। इस प्रकार युधिष्ठिर ने कौरवों से प्रतिशोध लेने तथा अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए युद्ध में भाग लिया। लेकिन इससे युद्ध से सम्बन्धित प्रधान प्रश्न के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता, और कवि ने भीष्म द्वारा इस प्रश्न का [illegible] और स्पष्ट शब्दों में दिखलाया है—

> न्यायोचित अधिकार माँगने
> से न मिलें तो लड़के,
> तेजस्वी छीनते समर को
> जीत, या कि खुद मर के।

इस प्रकार 'कलिङ्ग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र' के के माध्यम से अभिव्यक्त कवि की युद्ध-सम्बन्धी भावनाओं का अन्तर स्पष्ट हो जाता है, और ज्ञात होता है, यह अन्तर उन दोनों रचनाओं के रचना-कालों का अन्तर है। 'कलिङ्ग-विजय' सन् १९४१ की रचना है। उस समय संसार में द्वितीय महायुद्ध चल रहा था। युद्ध की लपटें चारों ओर फैल रही थीं। पर भारत ने इस युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया, वह एक तटस्थ दर्शक बना रहा। लेकिन युद्ध की मर्मस्पर्शी घटनाओं की खबरें यहाँ भी आ रही थीं। भारतीय जनता भी उनसे आन्दोलित हुई, उसका हृदय भी युद्ध के रक्तपात आदि से क्षुब्ध हुआ। 'कलिङ्ग-विजय' में, लगता है, जैसे यही विक्षुब्धता अभिव्यक्त हुई है।

'कुरुक्षेत्र' संभवतः १९४२ सन् के बाद की रचना है। '४२ में भारतीय-स्वाधीनता का महान् संग्राम हुआ, जिसमें भारतीयों ने अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए प्राणों की बाजी लगा दी। पर विद्रोह दमित हुआ, शान्त हुआ, जैसे अग्नि शान्त हो गई, 'दिनकर' ने उस समय कहा था—

> धुँधली हुईं दिशाएँ, छाने लगा कुहासा,
> कुचली हुई शिखा से आने लगा धुआँ-सा,
> कोई मुझे बतादे, क्या आज हो रहा है,
> मुँह को छिपा तिमिर में क्यों तेज रो रहा है?
>
> (आग की भीख)

तत्कालीन शान्ति दमन के पाषाणों से दबी हुई शान्ति थी। कवि के शब्दों में उस शान्ति का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

> सब समेट, प्रहरी बिठला कर
> कहती, 'कुछ मत बोलो'
> शान्ति-सुधा बह रही, न इसमें
> गरल क्रान्ति का घोलो।
> हिलो-डुलो मत, हृदय-रक्त
> अपना मुझको पीने दो,
> अचल रहे साम्राज्य शान्ति का,
> जियो और जीने दो।"
>
> (कुरुक्षेत्र)

उस शान्ति के विरोध में क्रान्ति का आह्वान करना आवश्यक था, और कवि ने 'कुरुक्षेत्र' के द्वारा भारतीय जनता को कर्म की 'प्रेरणा दी'।

कवि ने 'कलिंग-विजय' के बाद 'कुरुक्षेत्र' इसलिए प्रारम्भ किया कि इसमें 'भीष्म के धर्म कथन में प्रश्न का दूसरा पक्ष भी विद्यमान था'। साथ ही, 'कुरुक्षेत्र' की व्यापक पृष्ठभूमि पर ऐसी बहुत-सी बातों के लिए स्थान था, जिनकी अभिव्यक्ति 'कलिंग-विजय' की सीमित पृष्ठभूमि पर संभव नहीं थी। 'कुरुक्षेत्र' में जो विचारों का संघर्ष, भाग्यवाद का विरोध, समाजविकास का इतिहास आदि अंकित हैं, उनके लिए 'कलिङ्ग-विजय' में अवकाश नहीं था। इसके अतिरिक्त कवि संसार में युद्धों की एक अटूट शृङ्खला देख रहा है, जिसके सम्बन्ध में उसने कहा है—

लेकिन,

मनुज के प्राण शायद पत्थरों के हैं बने,
इस देश का दुख भूल कर,
होता समर-आरूढ़ फिर ।
फिर मारता, मरता,
विजय पाकर बहाता अश्रु है।

अशोक ने केवल एक ही युद्ध में भाग लिया था, फलतः 'कलिङ्ग-विजय' में उपर्युक्त तथ्य की अभिव्यक्ति संभव नहीं थी। महाभारत में इसके लिए स्थान है। स्वयं युधिष्ठिर की आज्ञा से 'कुरुक्षेत्र' के बाद अश्वमेध में अनेक युद्ध हुए थे। 'कुरुक्षेत्र' के पञ्चम सर्ग में इसका एक संकेत हुआ है।

सब बातों में असमानताओं के रहते हुए भी 'कलिङ्ग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र' में एक बहुत बड़ी समानता है। दोनों में युद्ध के हृदय-विदारक दृश्यों तथा विकल भावनाओं को बड़े ही मर्मस्पर्शी ढङ्ग से चित्रित किया गया है।

स्पष्ट है कि 'कलिङ्ग-विजय' और 'कुरुक्षेत्र' अपने अपने रचना-कालों की देन हैं। स्वरूप-विधान [illegible] अन्तर के साथ-साथ उनकी युद्ध-सम्बन्धी भावनाओं में भी पर्याप्त अन्तर है। 'कलिङ्ग-विजय' में केवल भावनाएँ हैं, 'कुरुक्षेत्र' में भावनाओं और विचारों का सुन्दर सामञ्जस्य है। 'कलिङ्ग-विजय' की ग[illegible] बिल्कुल सरल है। उसमें कोई संघर्ष नहीं, 'कुरुक्षे[illegible]' संघर्षों से पूर्ण है। 'कलिङ्ग-विजय' एक महान् आ[illegible] स्थापित करती हुई भी जहाँ अपनी मात्र भावुक[illegible] के कारण हिन्दी की अधिकाँश कविताओं के साम[illegible] स्तर पर ही रह जाती है, वहाँ 'कुरुक्षेत्र' अप[illegible] बौद्धिकता के मिश्रण से एक प्रौढ़ [illegible] पर पहुँच जाता है। युद्ध की समस्या पर लि[illegible] हिन्दी-काव्य (जो उँगलियों पर ही गिने ज[illegible] योग्य हैं) में दोनों का महत्वपूर्ण स्थान रहे[illegible] इसमें सन्देह नहीं।

(पृष्ठ ४८ का शेष)

महारथी व्यस्त हैं। कुछ उन्हें मारने-काटने-गिराने में शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं। और तरुण साहित्य-सेवी के हृदयपर कोई अच्छी तस्वीर नहीं खिंच पाती।

कोई यह कहेगा कि यह तो घोर सांस्कृतिक सङ्कट (क्राइसिस) का काल है। और जो जीवन की अन्य दिशाओं में प्रतिफलित हो रहा है, साहित्य उससे अछूता नहीं है। परन्तु आपको याद होगा, ग्यारह वर्ष पूर्व जब आगरे से आप 'साधना' मासिक निकालते थे, तब मैंने 'साहित्य-प्रवाह' नाम से एक नियमित स्तम्भ 'विद्यार्थी' उपनाम से लिखा था, तब मेरे मन में इतनी खिन्नता और निराशा नहीं थी। 'लिखूँ तो किसलिए?' लेखमें मैंने बहुत सी सख्त-सुत बातें उस वक्त जोश में कहीं थीं—पर फिर भी जैसे साधना पर विश्वास अटूट था, कोई आशा थी। अब कुछ 'संशयात्मा' सी स्थिति[illegible] पड़ा हूँ। और गत दो-ढाई वर्षों में अपने मान[illegible] स्वास्थ्य को सन्तुलित रखने में अपने आपको अस[illegible] पा रहा हूँ; सृजन के क्षण जैसे किसी उत्तप्त [illegible] झुलस गये हैं। मतवादों के घूर्णायित वात्या[illegible] चारों ओर हैं; परन्तु प्रतिभा के अंकुर का सौहार्द[illegible] सिंचन जैसे शेष हो गया है। हल्ला-गुल्ला साहि[illegible] क्षेत्र में बहुत है; भीड़ भड़क्का भी है; पर सब मि[illegible] कर परिणाम बहुत थोड़ा निकल पा रहा है। [illegible] काइ, लिटिल वूल!'

ऐसा क्यों है, इस पर और भी आलोचक वि[illegible] करें तो अच्छा हो। मेरे मत से आलोचक अ[illegible] कर्तव्य से चूक गये हैं। और आलोचना अ[illegible] विधायक और रचनात्मक हो तभी कुछ आशा [illegible]

—प्रभाकर मा[illegible]

आलोचना रचनात्मक हो !

श्री प्रभाकर माचवे एम० ए०

प्रिय सत्येन्द्रजी,

आपसे दिल्ली में भेंट हुई। लेख लिखने को आपने कहा। लेख तो क्या लीजिये एक पत्र। पत्र में मन की बातें ज्यादह अच्छी तरह मुक्त कही जा सकती हैं।

एक सभा में हिन्दी के एक स्वनामधन्य प्रगतिवादी आलोचक महोदय बोले—'मेरा काम आलोचना करना है। मेरा काम रचनात्मक साहित्य रचना तो नहीं है।'

यह वाक्य बहुत अर्थपूर्ण है। प्रश्न यह है कि यदि आलोचक का काम रचनात्मक साहित्य से अलग है तो वह क्या है? क्या वह निरी चीर-फाड़ है। ऐसे साहित्य-डाक्टरों की कमी नहीं है, जो यह मान कर चलते हैं कि साहित्य और साहित्यिक इस समय किसी घोर गतिरोध, प्रतिक्रिया आदि-आदि नामों से विभूषित रोग से ग्रस्त हैं, और उन्हें डोज पर डोज दवा पिलाना उनका ही काम है। परन्तु यह स्वयम् साहित्य-वैद्य या नीम-हकीम कभी अपने भी बारे में सोचते हैं क्या?

माना कि यह युग ह्रासोन्मुख (डिकेडेंट) है। और पूँजीवादी, विकृत, अश्लील आदि आदि विशेषणों से विभूषित समाज-व्यवस्था है तो यह आलोचक महोदय जो अपने को सुप्रीम जज मानते हैं, क्या इन सब स्थिति-गतियों से परे किसी ऐसे लोक में बसते हैं, जो इससे परे है? यदि ऐसी बात नहीं है तो आलोचक भी उन सभी मान्यताओं के उतने ही शिकार हैं, जितने कि लेखक।

वस्तुतः साहित्य के क्षेत्र में रचनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक साहित्य में इस प्रकार द्वैत निर्माण करना या मानकर चलना, खतरे से खाली नहीं है। नीचे मैं वर्तमान हिन्दी आलोचना-पद्धतियों के स्तरों की चर्चा करना चाहता हूँ। व्यक्तियों के उल्लेख मैं जान-बूझ कर टाल रहा हूँ। समझदार पाठक उन्हें संकेत से समझ लेंगे।

(१)

आज हिन्दी में यह दशा है कि एक ओर तो यह नारा है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गयी, अतः उसके अभावों की सर्वांङ्गीण पूर्ति हो। उसमें उत्तमोत्तम, उपयोगी और सुन्दर साहित्य सिरजा जावे। इस विषय में संस्थाएँ, शासन, साहित्यिक दलों की ओर से और व्यक्तिगत रूप से भी बहुत कुछ कार्य हो रहा है। वह अपने-अपने ढंग पर शुभ है। प्रकाशकों की शिकायत हैं कि उनकी किताबें कोर्स हुए बिना बिकती नहीं। दूसरी ओर साधारण पाठक की शिकायत यह है कि नयी हिन्दी कविता उसकी समझ में नहीं आती। उसे कहीं पर स्टेज पर खेलना हो तो उसके लायक नाटक नहीं मिलते। लड़कियों-स्त्रियों को सिवा सस्ती चवन्नीवाली 'सेक्सी' कहानियों की पत्रिकाओं के कोई बढ़िया उपन्यास कथाएं नहीं मिलतीं। वे अपनी तृषा शरत और प्रेमचन्द से ही पूरी कर लेती हैं। और आलोचना का तो पूछिये ही नहीं। उसके स्तर बँध गये हैं:—

१—स्कूल-कालेज की विद्यार्थियोपयोगी कुञ्जीवादी आलोचना। अमुक-अमुक लेखक: 'एक-अध्ययन' दो 'मीमांसा' या ऐसे ही नामों से कोई लेखक चन्दबरदाई से प्रेमचन्द तक हिन्दी में नहीं बचा है। इस स्तर की आलोचना का यह लाभ है कि विद्यार्थी कठिन मूल न पढ़कर, सस्ती टीकाओं से परीक्षा पास कर लेता है, वहाँ एक बड़ी हानि यह है कि आलोचना के स्तर को इस प्रकार की सस्ती किताबों ने पनियल बना दिया। यानी विचार के

स्तर से आलोचना निरे गद्य-अन्वय और भाष्य के स्तर पर उतर आयी। विद्यार्थियों की स्वतन्त्र चिंतन शक्ति को प्रोत्साहन देने के बदले, उसने उन्हें 'रेडी-मेड' बैसाखियों का सहारा लेने की आदत डालकर, उनकी खोज और जिज्ञासा की वृत्ति को समाप्त कर दिया। यह आलोचना-पद्धति निरी पूरक है। रचनात्मक नहीं।

२—दूसरी आलोचना पद्धति है, विश्लेषणवादी ढङ्ग से दिमाग में पहिले से कुछ चौखटे बनाकर, उन तहखानों में या दड़वों में लेखकों की कला को 'सार्ट' कर देना। यह 'लेबलों' से चलने वाली आलोचना है। जैसे अमुक-अमुक लेखक रसवादी हैं, गान्धीवादी हैं, छायावादी हैं, रहस्यादी हैं, प्रगतिवादी हैं, त्रात्स्कीवादी हैं, आदि-आदि ! इस आलोचना-पद्धति का गुण जहाँ यह है कि जिन दिमागों में तर्क-शक्ति नहीं होती, जो सूक्ष्म विश्लेषण नहीं कर सकते, उन्हें बड़ा सहारा मिल जाता है, और वे सहज ही उस कलाकृति की 'जाति' (स्पीशीज) को चीह्नने लगते हैं। परन्तु सबसे बड़ी कमी इस पद्धति में यह है, कि जहाँ कोई नयी प्रतिभा, एक नया साहित्यिक प्रयोग, एक नया विद्युत्प्राय विचार-कण आया कि ये कटे-कटाये नाप वहाँ अधूरे पड़ जाते हैं। और ये आलोचक बौखलाकर या तो नया 'वाद' खोजने लगते हैं, या कहने लगते हैं, अमुक-अमुक लेखक अब तक छायावादी था, बाद में प्रगतिवादी बना, परन्तु क्या कहें अब वह अरविन्दवादी हो गया? जैसे उसके इस प्रकार के रूप-परिवर्तन में कोई विकास-रेखा या अन्विति है ही नहीं? यह सब 'वाद' क्या वह लेखक ऐसे बदलता जाता है, जैसे कोई अपना कपड़ा या कोट बदलता है? और इस प्रकार की पूर्वाग्रह पूर्ण पूर्वग्रह दूषित आलोचना नवीन मौलिकता का मूल्याङ्कन करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुई है। वह बौखलाकर ध्वंसवाद की शरण लेती है।

३—तीसरी आलोचना पद्धति तटस्थ रस-ग्रहण के नाम पर गुण-दोष-विवेचन का निष्काम यत्न है। पहिले तो इतनी तटस्थता जितनी आलोचक अपने तईं मानकर चलता है, उसमें होती नहीं। दूसरे गुण और दोष के विवेचन का अर्थ है कि एक मूल्याङ्कन के पहिले कुछ निर्दिष्ट मूल्य होने ही चाहिये। आज के युग में आकर साहित्य के क्षेत्र में साहित्य-शास्त्र के अपने मूल्य जैसे ना-काफी हो गये हैं। और इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, प्राणीविज्ञान, मनोविज्ञान आदि-आदि वाह्य-मूल्य महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। इस सम्बन्ध में, मुझे क्षमा किया जाय, यदि मैं कहूँ, हिन्दी आलोचकों का वैज्ञानिक अध्ययन और दृष्टिकोण अभी कुछ अपवाद छोड़कर परिपक्व नहीं है। फिर बौद्धिकता का यह सरञ्जाम, उनमें व्याप्त रस-ग्राहकता के लिए पोषक सिद्ध होने की अपेक्षा दारक भी भी सिद्ध हो सकता है। परिणामतः एक उथली, गड्ड-मड्ड, थोड़े से आधुनिक वैज्ञानिक शब्द प्रयुक्त करने वाली दिशाहीन ही समीक्षा दिखायी देने लगती है। 'दृष्टिकोण' नाम से हिन्दी में तीन महानुभावों की पुस्तकें पढ़ जाने से यही मत-निश्चय होगा।

(३)

तो हिन्दी आलोचना का वर्तमान स्तर, मेरे मत में. असंतोषप्रद है। परन्तु यह कहना तो काफी नहीं हुआ। यह पुनः एक अ-रचनात्मक दलील ही हुई। तो इस स्थिति के सुधार का क्या उपाय है?

मैं समझता हूँ सबसे पहिला दायित्व हमारे साहित्य के शिक्षकों-अध्यापकों पर है। यह मैं नहीं आशा करता कि हर अध्यापक नवीन से नवीन दार्शनिक मनोवैज्ञानिक-समाज शास्त्री सिद्धान्तों की जानकारी रख ही लेगा। परन्तु उच्च स्तर पर हिन्दी और अन्य भारतीय प्रान्तीय भाषाओं में जो एक अन्ध प्रान्ताभिमान या भाषाभिमान से प्रेरित हो हम डाक्टरेट की डिग्रियाँ अन्धे की रेवड़ियों की तरह बाँटने लगे हैं, उन पर तो कोई नियन्त्रण (नैतिक नियन्त्रण) हो सकता है। कई पी-एच० डी० प्राप्त

के प्रकाशित-अप्रकाशित थीसिस मेरे पढ़ने में आये हैं। और मेरा प्रामाणिक मत है कि वे एम० ए० के निबन्ध के प्रश्नपत्र के उत्तर, और कुछ तो उससे भी कम स्तर के कार्य होते हैं। केवल कुछ फुट नोटों द्वारा खासी मिहनत उनमें दरसाने का झूठा अभ्यास होता है। परन्तु जिसे ज्ञान के क्षेत्र में मौलिक चिंतन, अन्वेषण, दान कहते हैं उसका उनमें अभाव पाया जाता है। आखिर अपनी सर्वोच्च उपाधि को हम यदि इतना सस्ता बना देंगे तो स्वाभाविक है कि मिडिल, मैट्रिक, इण्टर की श्रेणी का क्या हश्र होगा? कई बी० ए० हिन्दी पास (सम्मेलन के विशारद, रत्न भी) शुद्ध हिन्दी लिखने से अनभिज्ञ मिले हैं। इसका क्या कारण है? क्या हिन्दी के चोटी के भाषा-शास्त्री और गण्यमान आचार्य मिलकर वर्तनी (हिज्जे), शुद्ध लेखन आदि के नियम निश्चित नहीं कर सकते? महाराष्ट्र-साहित्य-परिषद् की शुद्ध लेखन पद्धति प्रायः सभी मराठी पढ़ाये जाने वाले विश्व-विद्यालयों में स्वीकृत है। जो उस पद्धति से नहीं लिखता उसे कम गुण (मार्क) मिलते हैं।

शुद्ध लेखन के बाद दूसरी चीज है हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों के मूल शुद्ध पाठों के प्रति आदर। आप चार प्रान्तों की हिन्दी टेक्स्ट बुकें उठा लीजिये। मीरा, कबीर, तुलसी, सूर के पदों के रूपों में आपको विभिन्नता जान पड़ेगी। संसार की किसी भी सुसंस्कृत भाषा में ऐसा नहीं होता। उस पर विचार होता है। पाठ निश्चित किये जाते हैं। उनमें प्रामाणिक पाठों को ही माना जाता है। विद्यार्थी गलत पाठ याद कर लेते हैं।

फिर यह है कि आधुनिक साहित्य का जहाँ तक प्रश्न है गलत मूल्यांकन इस हद तक है कि जो सस्ता, बिना मूल्य लेखन सहज प्राप्त हो जाय वह कोर्स बुकों वाले संग्रहों (क्या पद्य और क्या गद्य) में डाल दिया जाता है। साहित्यिक गुणों पर यह कसौटी नहीं होती कि अमुक कहानी या पद्य लिया जाय या नहीं; कुछ तो नाम का आतंक यहाँ काम करता है, कुछ प्रान्तीयता और कई बार ऐसे बाह्य विचार भी कि अमुक की रचना ले लेने से यह पुस्तक जल्दी कोर्स-बुक हो जायगी। एक नाटक-संग्रह में एक व्यक्ति ने आजीवन एक नाटक लिखा है तो वह भी शामिल है, और कहीं कही तो मार पीटकर किसी को नाटककार बना दिया गया है।

इस सारी धाँधली का कहीं कोई निष्पक्ष नियंत्रण, इस पर कोई रोकथाम, बुजुर्ग साहित्यिकों से कोई नैतिक डाँट-डपट साहित्य में क्या कहीं नहीं रह गयी है? महावीरप्रसाद द्विवेदीजी भाषा के सम्बन्ध में जो सावधानी अपने सम्पादन में बरतते थे, या प्रेमचन्द ने जितना प्रोत्साहन (मुझ जैसे नये लेखक को दिया था बनारसीदासजी ने जिस तरह कुछ विवाद उठा कर उन पर मुक्त चर्चाएँ कराई (यथा 'साहित्य और राजनीति' पर) वह सब सम्पादकीय आदर्श आजकल हिन्दी में क्या लुप्त हो गये?

मैं आये दिन हिन्दी के तरुण नये लेखकों, युवकों, विद्यार्थियों, जाने-माने आलोचकों, अध्यापकों से मिलता हूँ और मुझे स्थिति बहुत भयावह जान पड़ती है। क्योंकि अध्ययन, साधना, परिश्रम और उदार दृष्टि का मुझे बहुत अभाव चारों ओर जान पड़ता है। संकीर्णता बढ़ती जा रही है, यहाँतक कि 'प्रगति' के पोषकों में भी 'अ-गति' उत्पन्न हो गयी है। रचना क्षीण होती जा रही है, गुणदोष विवेचन में 'दोषैक दृष्टि' का प्राधान्य है। और यों हिन्दी का समीक्षा-क्षेत्र काफी हलके-उथले सतह के विवादों में पड़ गया है। मूल वस्तु है साहित्य की सरिता का प्रवाह, वह जैसे शुष्क शब्द-जञ्जाल की सिकता में सूख रहा है। मैं साहित्य का एक अदना प्रेमी हूँ, पंन्द्रह-बीस साल से कुछ कागज रँग रहा हूँ। पर मेरा मन इस समय हिन्दी आलोचना की स्थिति पर जितना खिन्न है, उतना पहिले कभी नहीं था, क्योंकि मार्ग कहीं दिखायी नहीं देता। सही, स्वस्थ मूल्याङ्कन का अभाव है। साहित्यिकों के जैसे ... बन गये हैं; अपनी-अपनी महंती पुजवाने में ...

(शेष पृष्ठ ४५ पर देखिये)

आलोचना

पञ्चवटी : एक सरल अध्ययन—लेखक-श्री रामुलु गुप्त, प्रकाशक-लोकमान्य हिन्दी मन्दिर, गवर्नर पेठ, विजयवाड़ा। पृष्ठ ७२, मूल्य १।)

यद्यपि राम-कथा के किसी न किसी अङ्ग को लेकर आदि कवि से लेकर आज तक के कवियों ने अनेक महाकाव्य रचे हैं, परंतु लेखक ने यह दर्शाया है कि गुप्तजी की पञ्चवटी का रङ्ग आधुनिकता को अपनाये हुए कालिदास और तुलसीदास के पञ्चवटी वर्णन से कितना मेल खाता हुआ भी भिन्न है।

पुस्तक में शब्दार्थ और भावार्थ दोनों देकर पुस्तक को परीक्षार्थियों के लिए सरल, सुबोध बना दिया है। पुस्तक की भूमिका में राम काव्य के प्रमुख पात्रों का विवेचनात्मक चरित्र-चित्रण लिखा गया है।

—गङ्गाप्रसाद कमठान

कविता

बलिपथ के गीत—ले०-श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'; प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ - मूल्य २॥)

मिलिन्दजी ने एक सच्चे जनकवि की भाँति अपने युग की यथार्थ परिस्थिति को सरल और मार्मिक अभिव्यक्ति के रूपमें प्रस्तुत किया है। भाषा की प्राञ्जलता, विचारों की प्रौढ़ता, अनुभूति की तीव्रता और कला का अच्छा निखार 'बलिपथ के गीत' में मिलता है। दूसरी बात यह है कि पूरी पु[illegible] तारतम्य है, जिससे पाठक पढ़ता है और आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करता है। चाहे पथिक को प्रोत्साहन देने वाली रचनाएँ हों, चाहे बापू पर बहाए गए आँसू; चाहे किसान की प्रशस्ति हो चाहे कारागृह के कष्टों का वर्णन, चाहे क्रांति के इतिहास पर अपना मन्तव्य व्यक्त किया गया हो चाहे परतन्त्रों की चेतना को वाणी दी गई हो, सर्वत्र कवि का दृष्टिकोण मानवता वादी और प्रगतिशील है।

सीता परित्याग—ले०-स्व० श्री रामस्वरूप टण्डन। प्रकाशक-रामज्ञान मन्दिर, चारयारी बाग, लाटूश रोड, कानपुर। पृष्ठ २५१, मूल्य ४)

महाकवि भवभूति के उत्तर रामचरित की कथा अपनी करुणा के लिए प्रसिद्ध है। सीता के निष्कासन का प्रसङ्ग रामायण का सबसे अधिक दुःखद प्रसङ्ग है भी। 'वैदेही वनवास' में हरिऔधजी ने भी उस कथा को आधार बना कर सीता के चरित्र को उज्ज्वल बनाने के साथ-साथ राम के चरित्र पर आरोपित लांछन को धोने की चेष्टा की है। 'सीता परित्याग' भी उसी कथा पर आधारित काव्य है। यह खण्ड काव्य बारह सर्गों में समाप्त हुआ है। इसकी शैली द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक शैली है, जिसमें कहीं भी क्लिष्टता नहीं है। करुण दशा के चित्रण में कवि को अच्छी सफलता मिली है।

मकथा के प्रेमियों को इसे पढ़ कर अवश्य न्तोष होगा।

किरन—ले०-श्री महेन्द्रप्रताप। प्रकाशक-इण्ड-ट्रियल आर्ट प्रिंटर, रील बाजार, कानपुर। मूल्य १॥)

प्रस्तुत संग्रह में कवि की ४५ स्फुट कविताओं का ग्रह है। कविताएँ विभिन्न मनोदशाओं से सम्ब-धत है। जहाँ तक अनुभूति और उस अनुभूति को ल्पना के सहारे व्यक्त करने का प्रश्न है, कवि को समें सफलता मिली है पर कहीं-कहीं भाषा साथ हीं देती है। उस दृष्टि से परिष्कार की आवश्यकता । एकान्त कविताओं का बहुत कुछ सौन्दर्य तुकों ... निर्भर रहता है, जिसकी ओर कवि तनिक भी ध्यान नहीं है। इतना होते हुए भी वेताएँ स्वाभाविक हैं और उनमें शक्ति भी पर्याप्त त्रा में हैं।

मुरलिका—लेखक-श्री रमेशचन्द्र झा। प्रका-क-भारती प्रकाशन सुगौली, चम्पारन, बिहार। ७५, मूल्य १।)

'मुरलिका' कवि के ६४ गीतों का संग्रह है। संग्रह के गीतों की मर्मस्पर्शिता और प्रभविष्णुता से सिद्ध है कि बहुत शीघ्र उसका दूसरा संस्करण ाशित हुआ है। इन गीतों में कवि ने सीधे-सादे दों में अपने हृदय की भावनाओं को व्यक्त कर या है। स्वयं कवि का वक्तव्य इस सम्बन्ध में यह —"मेरे गीत किसी वाद विशेष से प्रेरित नहीं है र वादों से न मेरा कोई विवाद है न कोई तर्क । मेरे मनमें जब जब जैसी भावनाएँ और कल्प-एँ उठीं, अपनी कूची के द्वारा मूर्त्त और साकार या। साथही मेरे लिखने का दृष्टिकोण भी सदा न्तः सुखाय रहा।" संभवतः इसीलिए सब गीत स्वाभाविक उतरे हैं। कहीं उनमें प्रयास नहीं, त्रमता नहीं। लेखक का भविष्य उज्ज्वल है।

प्रियम्वदा—लेखक और प्रकाशक वही। पृष्ठ सं. , मूल्य १॥)

महाकवि निराला की प्रसिद्ध कृति 'तुलसीदास' की शैली पर लिखा गया यह एक खण्ड-काव्य है। इसमें बौद्धों के 'संघारामों' और 'विहारों' के कलुषित जीवन और बौद्ध भिक्षुओं और कापालिकों के पारस्परिक संघर्ष की पृष्ठभूमि में सम्राट् समुद्रगुप्त के महामात्य की पुत्री प्रियम्वदा के तप और त्याग-मय जीवन की झलक दी गई है। प्रियम्वदा का पति आनन्दघन कापालिकों का प्रतिनिधित्व कर बौद्ध-भिक्षुओं को सताता है। वह बन्दी होकर प्राणदण्ड पाता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय से प्रियम्वदा उसकी प्राण-भिक्षा माँगती है। राजा न्याय का पक्ष लेकर वैसा करने से मना कर देता है। अन्त में प्रियम्वदा भी राज्य-मर्यादा के लिए अधिक आग्रह नहीं करती। आनन्दघन को प्राणदण्ड मिलता है। वह उसके शीश को पाकर ही सन्तुष्ट हो जाती है। इस खण्डकाव्य में प्रियम्वदा और चन्द्रगुप्त द्वितीय का चरित्र-चित्रण बहुत ही सुन्दर है। सबसे बड़ी बात है भाषाधिकार। लेखक की आज्ञाकारिणी दासी की भाँति भाषा उसके इङ्गित पर चलती है। फल-स्वरूप काव्य में कहीं क्लिष्ट शब्दावली का नाम तक नहीं है। युग की छाप भी, स्वाभाविक रूप से इस खण्डकाव्य में दिखाई देती है।

अर्चना के फूल—ले०-श्री मदनलाल नककोफा प्रकाशक-मानसरोवर, गया। पृष्ठ ५६, मूल्य १।)

इस गीत-संग्रह के कवि को किसी ने पीड़ा का वरदान दिया है। वह वरदान देने वाला देवता निष्ठुर और निर्मम है। लेकिन कवि उसे प्यार और श्रद्धा-सम्मान दिए बिना जी नहीं सकता। पीड़ा को लिए अपनी फूटी किस्मत का रोना रोते हुए भी वह उसकी बन्दना में रत है। वह उसे सच्चे हृदय से चाहता है इसलिए उसके गीतों में कसक और तड़प का ही प्राधान्य है। वेदना सहने के लिए कटिबद्ध कवि को जीत नहीं हार प्रिय है, सुख नहीं दुख प्रिय है और प्यार नहीं तिरस्कार प्रिय है। 'निराधार' तुम्हारा-

दान' 'विवश' 'हार-जीत' 'पाषाण' आदि कविताएँ बड़ी मार्मिक हैं।

ज्योतिष्क—ले०-श्री गोविन्दप्रसाद त्रिपाठी 'अनल', प्रकाशक-राष्ट्रभाषा प्रकाशन, मछ्ना, कानपुर। मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में कवि की ४२ कविताएँ संग्रहीत हैं। अधिकांश कविताओं का सम्बन्ध ग्राम्य प्रकृति से है। स्वयं कवि ने कहा भी है—'मेरा सम्बन्ध नगर की अपेक्षा ग्रामों से अधिक रहा है, जहाँ की प्रकृति का सुकुमार सौन्दर्य मुझे निरन्तर आकर्षित करता रहा है।' कविताएँ शान्त और एकान्त वातावरण में लिखी गई हैं अतः उनमें पाठक को शान्ति मिलना स्वाभाविक है।

—कमलेश

अर्चना—रचयिता-श्री हरिशङ्कर श्रीवास्तव 'शलभ'। प्रकाशक—कला प्रकाशन, मधेपुरा, भागलपुर। पृष्ठ ४८, मूल्य ।।।)

'शलभ' जी की यह प्रथम काव्य-कृति है जिसमें चुनी हुई स्फुट कविताएँ संग्रहीत हैं। हृदय में उठे भावों को कवि ने निश्छल हो कर शब्दों में बाँधने का प्रयास किया है। किन्तु हाड़-मास से बने मानव शरीर की जान बूझ कर या अनजाने उपेक्षा कवि के यश रूपी चन्द्र में कालिमा जैसी है। छपाई सफाई सामान्यतः अच्छी है। प्रेस की भूलें अक्षम्य नहीं।

व्रजवीर—रचयिता-श्री अनुरूपसिंह 'अमर', प्रकाशक—लोकहितकारी पुस्तकालय, १ शिवठाकुर गली, कलकत्ता। पृष्ठ १८३, मूल्य सजिल्द ३)

बारह सर्गों में विभाजित इस प्रबन्ध-काव्य में कवि ने व्रजवीर-श्रीकृष्ण-के कार्य-कलापों का काव्यमय चित्रण करने का प्रयास किया है। कृष्ण-काव्य की परम्परा में 'अमर' जी ने एक नूतन वस्तु देने की इच्छा तो की है किन्तु उस परम्परा में जो एक से एक चमकीले नक्षत्र पूर्व से ही उदित हैं उनके भव्य प्रकाश के सामने इसका आलोक लोगों को आकृष्ट कर सकेगा इसमें सन्देह है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विषय प्राचीन होने पर भी इन्होंने वातायन खुले रखे हैं जिनसे सामयिक सुख-दुःख के शीतल-उष्ण झोंके पहुँच कर विषय में जीवन डाल रहे हैं। नन्द के मुँह से कवि ने स्पष्ट रूप से कहलाया है—

न बढ़कर देशद्रोह से कभी,
भयङ्कर हो सकता है पाप।
देश-द्रोही का जीवन एक,
घृणित हो जाता है अभिशाप।

सभी सर्गों में छन्दों की एकरूपता पढ़ने वाले के धैर्य की परीक्षा के रूप में है। छपाई-सफाई और गेटअप सामान्य है और पुस्तक का मूल्य उस हिसाब से कुछ अधिक लगता है।

सुवेला—रचयिता-शम्भुनाथ 'शेष'। प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ६४, मूल्य सजिल्द २)

प्रस्तुत पुस्तक में कवि की २९ स्फुट कविताएँ सङ्कलित हैं। कवि के हृदय में जो भावनाएँ आती हैं उनके स्पष्ट, मुखर एवं प्रांजल वर्णन संग्रह की अधिकांश कविताओं में दृष्टिगत होते हैं। लगता है जैसे कविताएँ कवि के अन्तस्तल से निकली हैं, सप्राण गतिवान। ऐसी कोई बात नहीं जिसकी सहायता से कवि को किसी वाद के अन्दर बाँध दिया जाय। जिन्हें कवि ने स्वयं अनुभव किया है उनके वर्णन में अपेक्षाकृत और भी प्राणवानता पायी जाती है।

यथार्थवादिता में प्रेरणात्मक शक्ति, ध्वंस की यमुना के साथ निर्माण की सरस्वती, अगीत छन्दों की आत्मा में गेयता की सुकुमारता और थोड़े शब्दों में ही अधिक शब्दों में कहे जाने वाली भावनाओं का चित्रण कवि की विशेषता है॥

पलायन—रचयिता-वैरागी। प्रकाशक-बी० एन० के० प्रेस, ३७ स्ट्रीट मद्रास १। पृ० ८८, मूल्य १।।)

हिन्दी [illegible] राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने के बाद [illegible] भाषा-भाषी प्रान्तों में हिन्दी के प्रचार-

प्रसार की महती आवश्यकता है। सुदूर दक्षिण के मद्रास का रहने वाला तामिल भाषा का सिद्धहस्त कवि और लेखक श्री बैरागी की प्रस्तुत पुस्तक इस बात की परिचायक है कि अहिन्दी भाषा-भाषी भी हिन्दी को किस प्रकार आसानी से अपने वश में कर उच्चकोटि का काव्य-प्रणयन कर सकते हैं। संशय की संध्या, जागृतिगान, कल्पना के प्रति, अरुण प्रभात, प्रकाश की पुकार, अन्तिम चितवन तथा गीत मञ्जरी के गीत ऐसी कविताएँ हैं जिनमें कवि की पैनी दृष्टि और भावनाओं को शब्दों में रखने की विशेष टेकनीक के नूतन स्वरूप के दर्शन होते हैं। संग्रह के अन्त की तीन कविताएँ 'वञ्चित पति' 'स्वर्गवासी की स्मृति में' तथा 'पलायन' मूल तामिल के अनुवाद हैं। इसकी छन्दविहीन पंक्तियों में भावों का सधा हुआ और तीव्र अभिव्यञ्जक स्वरूप लेखक की लेखनी को चूमने को मजबूर करती है। यद्यपि कुछ कविताएँ प्रयास मात्र मालूम पड़ती हैं तथापि हिन्दी काव्य-जगत इनकी कुछ रचनाओं से गौरव की अनुभूति करेगा।

प्राणों के स्वर—रचयिता—श्री दामोदर। प्रकाशक—श्री भावना-प्रकाशन मन्दिर, मऊ कोठी, आर्यनगर, गोरखपुर। पृ० ६६, मूल्य २॥)

सोलह वर्ष के अल्प वय का कवि श्री दामोदर का यह काव्य-संग्रह ऐसा है जिसकी कविताओं में प्राण और ओज है। संग्रह की ३५ कविताओं में अधिकांश गेय हैं और उनमें है लय और हृदय-विदग्धता। ऐसे ही कवियों की रचनाएँ पढ़ कर 'कवि जन्मते हैं बनाये नहीं जाते' कथन पर विश्वास होने लगता है। श्री दामोदर की यह रचना प्रत्येक हिन्दी काव्य-प्रेमियों को पढ़नी चाहिए। पुस्तक की छपाई-सफाई और गेटअप भी अच्छा है।

पद्म-प्रदीप—रचयिता—शान्ति एम० ए०। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस। पृ० ६४, मूल्य २)

गीतों भरी बहत्तर कविताओं का यह संग्रह पद्म-प्रदीप कवियित्री की छठी काव्य-पुस्तिका है। भावों की मार्मिकता और सुकुमारता को काव्य की लड़ी में पिरोकर कवियित्री ने जो निर्माल्य बनाये हैं वे अतीव तलस्पर्शी हैं। प्रकृति के कोमल वैभव को गेय पदों में अभिव्यक्त करने का प्रयास अपने ढङ्ग का अनोखा ही है। इस संग्रह में प्रकृति-प्रेम परक कई कविताएँ हैं जिनमें कवियित्री अपनी काव्य-कलात्मकता द्वारा मनोज्ञता लायी है। गम्भीरता है पर ऐसी नहीं कि मस्तिष्क को भी बोझिल ज्ञात हो, दार्शनिकता है पर ऐसी नहीं कि सिद्धान्त-कथन में हृदय का साथ छोड़ दिया गया हो। 'मुक्ति आज बंधन में मुझको, मुक्ति आज बंधन में', 'बिदा के समय कौन सा गीत', 'सूने में मैं सोचा करती', 'रात ने नहीं किया अवसाद, जल उठे मेरे पद्म प्रदीप' प्रभृति ऐसी कविताएँ हैं जो पाठकों को आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकतीं। कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त लिखित आमुख से पुस्तक का महत्त्व बढ़ गया है।

मेरे बापू—रचयिता—श्री 'तन्मय' बुखारिया। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस। पृ० ११०, मूल्य २॥)

भारतीय जीवन में बापू की सेवा कभी भुलाई नहीं जा सकती। उनके जीवन-काल में ही उनके ऊपर पर्याप्त लिखा-कहा जा चुका है। अवसानोपरांत तो उसमें और प्रगति हुई है। बापू के ऊपर अब तक हिन्दी-काव्य में जितनी रचनाएँ मिलती हैं उनमें श्री तन्मय का यह संग्रह अपना विशेष स्थान रखता है। बापू के सिद्धान्त और उनके कार्यों से हार्दिक एकता रखने के कारण जो भी रचनाएँ इसमें हैं उनमें जीवन के कण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। 'मेरे बापू' शीर्षक कविता जो कि पुस्तक का नाम भी है, कई पृष्ठों में समाप्त हुई है और इसमें बापू के क्रिया-कलापों एवं तज्जन्य प्रभाव के मुखर चित्र उतरे हैं। 'बापू तुम जीवन के कवि

थे' 'आज धरा का चिर सुहाग-सिन्दूर लुट गया' तथा 'आज हमारी आजादी की ऊषा कुछ शरमाई-सी है' कविताएँ भी मार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। अन्तिम कविता 'स्वर्गोल्लास' में कवि ने यह दिखाया है कि बापू के स्वर्ग पहुँचने पर स्वर्ग के लोग हर्षोत्फुल्ल हैं। सर्वत्र भाषा में निखार और शैली में प्रवाह दृष्टिगत होता है।

—शिवप्रसाद लोहानी

उपन्यास

दामनगीर—लेखक-श्री जानकीप्रसाद पुरोहित प्रकाशक—नवजीन पुस्तकमाला, मल्हारगञ्ज मेन-रोड, इन्दौर। पृ० सं० २३४, मूल्य ३)

'दामनगीर' लेखक के शब्दों में 'समाज के खोखले आदर्श का नमूना और यथार्थ की तस्वीर' है। इसकी कथावस्तु मुख्यतः राकेश और रञ्जना की प्रेमगाथा है। दोनों के एक जाति के होने पर भी समाज ने उन्हें मिलने न दिया! राकेश और रञ्जना तड़प-तड़प कर कराल काल के गाल में समा गये।

उपन्यास में दो बातें मुख्य हो कर आती हैं। रञ्जना और राकेश का अमर प्रेम—जिस में आदर्श का गान नहीं है परन्तु उसकी नस-नस में पीड़ा, आवेग, चुभन और एक हो जाने की सतत लगन है। प्रेम का विषय न जाने कितना पुराना हो गया है फिर भी लेखक ने इस कथा को अपनी निज की अनुभूति देकर स्वाभाविक और सजीव बना दिया है। चित्रण मर्मस्पर्शी है।

दूसरी बात है, क्रूर समाज का चित्रण। लेखक ने इसका खाका खींचना चाहा है। चित्रण में स्वाभाविकता है, समस्याएँ और भी ढंग से कुरेदी जा सकती थीं।

—शशिभूषण सिंहल,

नारी का प्रतिशोध—(ऐतिहासिक उपन्यास) लेखक-हरशरणदास 'शरण' प्र०—विद्या-मन्दिर प्रकाशन, दरियागञ्ज, दिल्ली। पृ० सं० ६४, मूल्य १)

बङ्गाल के नवाज सरफ़राज का पतन तथा अलीवर्दी का अभ्युदय इस उपन्यास का प्रतिपाद्य विषय है। इसका हेतु बनती है एक नारी रेखा जो जगत सेठ की पुत्रवधू है। रेखा सरफ़राज के चंगुल से छूटकर आती है पर नवाब के यहाँ रही हुई उसको सेठ पुनः स्वीकार नहीं करता। मेघेशकुमार डाकू की मदद से वह प्रतिशोध का काम शुरू करती है। नवाब का तोपखाना लूट लाती है। युद्ध में सरफ़राज काम आता है, रेखा का पति भी समाप्त होता है। इससे रेखा स्वयं सती हो जाती है। उपन्यास बहुत साधारण कोटि का है। वस्तुतः उपन्यास की व्यापकता न होकर इसमें कहानी य[illegible] की सी एकाङ्गिता है। स्वर छन्द कविता के ढङ्ग के वर्णन या वार्तालाप चलते हैं, जिससे न चरित्र उभरे हैं न कथानक रसात्मक बन पाया है। कथानक और चरित्र का सम्बन्ध-निर्वाह भी नहीं हो पाया है। चरित्रों का हृदय-परिवर्तन आकस्मिक-असंभाव्य है। चरित्रों का स्वाभाविक विकास लेखक की अनभिज्ञता से सर्वथा अवरुद्ध हो गया है। मुख्य चरित्र रेखा की भी बस रेखा-सी ही खिंच पाई है। सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिख सकना लेखक के बूते का नहीं।

—प्रो० नागरमल सहल

नाटक

सोरों का सन्त गोस्वामी तुलसीदास— लेखक रामदत्त भारद्वाज, प्रकाशक—ज्ञान-मन्दिर, कासगञ्ज, पृ० संख्या १२४, मूल्य १॥)

पं० रामदत्त भारद्वाज ने 'तुलसीदास' के सम्बन्ध में नई शोध की है। यह नाटक उन्होंने उसी शोध के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास को सोरों का मानकर लिखा है। तुलसीदास पर एक नाटक पं० बदरीनाथ भट्टजी भी लिख गये हैं। उस समय तक नई शोध से बहुत सी नयी [illegible] प्रकाश में नहीं आयी थीं। भारद्वाजजी की [illegible] स्थापनायें यद्यपि

प्रबल है, फिर भी मान्य नहीं हो पायी हैं; नाटक के द्वारा लेखक उन्हें दूसरे मार्ग से मान्यता प्रदान कराने में प्रयत्न-शील हुआ है। इस नाटक में अधिक भाग तुलसी के माता-पिता के विवाह, तुलसी जन्म, तुलसी-शिक्षा और तुलसी विवाह आदि से सम्बन्ध रखता है, तुलसी का आगे का अपना वृत्त उतना स्थान नहीं पा सका। नाटक में नाटक-कला की चमक नहीं आ पायी।

देश-भक्त नर्तकी—लेखक सैयद कासिमअली, साहित्यालंकार, प्रकाशक—सुषमा साहित्य-मन्दिर, जवाहर गंज, जबलपुर, पृ० सं० १७६, मूल्य २)

[illegible]क की भूमिका श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार ने लिखी है। इस नाटक में नादिरशाह के आक्रमण का वृत्तान्त है, जिसमें हूर नामक नर्तकी का विशेष चित्रण किया गया है। इस नर्तकी ने अन्त में अपने देश को नष्ट करने वाले नादिर से ईरान में पहुँचकर और उसे विष देकर बदला लिया। समस्त नाटक देश प्रेम के पवित्र भाव से ओत-प्रोत है। मजहब से पहले देश-भक्ति का स्थान है, यही इसका सन्देश है। इसे नाटककार ने भली प्रकार व्यक्त किया है। घर के भेदियों एवं गद्दारों के कारनामों का भी चित्रण किया गया है। विलास और रसिकता के परिणाम भी हमारे सामने रखे गये हैं। नाटक में नादिरशाह का अच्छा चरित्र-चित्रण किया गया है। उसके पतन और पाश्चात्ताप का दृश्य तो कंपन पैदा कर देता है। नाटक रोचक है, और असाम्प्रदायिक देश-भक्ति के भावों का पोषण करता है।

—डा० सत्येन्द्र

निबन्ध

जबानो—लेखक—महात्मा भगवानदीन। प्रकाशक—श्री पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ संख्या २२४, मूल्य ३)

कुछ वर्षों पहले 'लोक जीवन' में महात्मा भगवानदीन के विचारोत्तेजक और स्फूर्तिदायक कुछ निबन्धों को पढ़ कर मुझे लगा था कि हिन्दी में एक विशिष्ट शैली के लेखक का प्रादुर्भाव हुआ है। उनके निबन्धों का पुस्तकाकार प्रकाशन हिन्दी के निबन्ध-साहित्य को एक नूतन देन है।

प्रस्तुत पुस्तक दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में 'आत्मा की आजादी' आदि १३ निबन्ध तथा द्वितीय खण्ड में 'विश्वास' आदि ६ निबन्ध हैं। पुस्तक यद्यपि जवानों को लक्ष्य में रख कर लिखी गई है किन्तु इसमें संग्रहीत निबंध सभी के लिए उपयोगी हैं। महात्मा भगवानदीन जीवन-द्रष्टा हैं, उनके निष्कर्ष जीवन की अनुभूतियों पर आश्रित हैं, कहीं से उधार लिये हुए नहीं हैं—इसलिए वे सीधे हृदय को स्पर्श करते हैं। लेखक की शैली अत्यन्त प्रभावक है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए बीच-बीच में छोटे-छोटे उपाख्यानों के समावेश से वह और भी रुचिकर हो गई है। इस दृष्टि से सरदार पूर्णसिंह का यत्र-तत्र स्मरण दिलाती है। आत्म-निर्माण से सम्बन्ध रखने वाली यह पुस्तक प्रत्येक युवक के हाथ में होनी चाहिए। इस पुस्तक के विषय कभी पुराने नहीं पड़ेंगे और न इसके अन्दर धधकती हुई जीवन-ज्वाला कभी राख के ढेर का दुःखद दृश्य देखेगी।

—प्रो० कन्हैयालाल सहल

खट्टा-मीठा—लेखक—प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्रकाशक—ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना ४। पृष्ठ सं० ७०, मूल्य ॥।)

'खट्टा-मीठा' लेखक के ११ निबन्धों का संग्रह है। इनमें से अधिकांश निबन्ध समय समय पर 'आर्यावर्त्त' में प्रकाशित होते रहे हैं। इन निबन्धों की सबसे प्रमुख विशेषता उनकी सरसता है और व्यंग्य-विदग्धता है। कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं जिनमें केवल हलका, सस्ता नहीं, मनोरञ्जन मिलता है, जैसे 'साइकिल', 'प्रयाग की प्रदर्शनी' में। उनके तल से यदि किसी गम्भीर सत्य को उठाने का प्रयत्न किया गया तो सारा रस ही जाता रहेगा।

हाँ, ऐसे निबन्ध भी वहाँ हैं जिनकी तह में एक गहरा व्यंग्य मिलेगा जो साहित्य और जीवन के बाह्य स्तरों को वेधता हुआ मर्म को कचोटने की शक्ति रखता है। वहाँ लेखक की चिन्तन शक्ति मिलती है, पर उसने अपने विषय को भाराक्रांत होने से हमेशा बचाये रखा है। खट्टा-मीठा का यह संयोग आस्वादन योग्य है।

—प्रो॰ मोहनलाल एम॰ ए॰

जीवनी और संस्मरण

आधे रास्ते—ले॰—श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी। अनु॰ पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' प्र॰—राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, दिल्ली। पृ॰ सं॰ २२७, सजिल्द मूल्य ४॥)

गुजराती के प्रसिद्ध साहित्यकार, बम्बई के भूतपूर्व गृहमन्त्री तथा भारत सरकार के वर्तमान खाद्य-मन्त्री श्री के॰ एम॰ मुन्शी की गुजराती में लिखी हुई आत्मकथा के प्रथम भाग का यह सुन्दर हिन्दी अनुवाद है। कोई आदमी बचपन से ही बड़ा नहीं होता वरन् प्रतिभा, लगन और अध्यवसाय से बड़ा बनता है—यह बड़ा पाठ हमें आज की सब महत्वपूर्ण आत्मकथाओं से मिलता है। श्री मुन्शी बचपन में 'नाज़ुक, थोड़ा बोलने वाले, लजीले और अकड़ू' थे। बिना फेल हुए मैट्रिक पास कर लिया तो उस ज़माने के मुन्शीयों में यह बड़ी बात हो गई। भड़ौंच के रहने वाले भार्गव ब्राह्मण कैसे मुन्शी कहलाने लगे इसका बड़ा रोचक वर्णन उन्होंने दिया है। मुन्शी के टीले पर ही इनका जन्म हुआ था ३० दिसम्बर, १८८७ को। मुन्शीगीरी पाई थी नन्दलाल ने 'जो मेरी माँ की सातवीं पीढ़ी के परदादा थे।' बादशाह आलम ने भड़ौंच परगने के हर गाँव पर एक रुपया के हिसाब से नन्दलाल कवि को मुन्शीगीरी बख्शी थी। ईस्टइण्डिया कम्पनी के पुण्य-प्रताप से 'आज तो किसी बिरले को ही वर्ष में नौ आने दो पाई मिलते हैं।' मन्त्री महोदय कितना पाने वाले 'मुन्शी' हैं इसका पाठक सहज अन्दाज लगा सकते हैं। डिप्टी-कलक्टर होने योग्य पिता के योग्यतर पुत्र श्री मुन्शी की यह आत्म-कथा अत्यन्त रोचक है—ऐतिहासिक तथ्यों से भरी हुई परम साहित्यिक। खाद्य-मन्त्रीजी का बयान सुनिये—'यदि मेरी पहली दुश्मनी किसी से हुई तो अन्न-देव से। (विधिवशात् आज भी आपको उसीसे लड़ना पड़ रहा है) खाने का वक्त मेरा रोने का वक्त होता था। माँ, तीनों बहनें और मुझे प्यार करने वाले स्नेही जुलूस-सा निकालते थे। एक खाने की वस्तु लेता था, दूसरा बन्टी लेता था, तीसरा मुझे गोदी में लेता था और चौथा सीटी बजाता था.......यह दुश्मनी आजतक चली आती है।' पिता से भी कहीं अधिक प्रभाव इन पर परम साध्वी तापी माँ का पड़ा जिनका लेखक ने बारबार बड़े स्नेह और श्रद्धा से स्मरण किया है। माँ की ही बदौलत लेखक 'आधे रास्ते' तो पहुँच पाये हैं वरना न जाने कितनी बार चार वर्ष की अपढ़ बहू के कारण लेखक ने आत्महत्या तक का विचार किया था। गायत्री-मन्त्र का श्रद्धापूर्वक जप करने वाले ब्राह्मण कैसे उस पथ से हटे हैं। यह सब इसमें पढ़ने को मिलेगा। अँग्रेजी साहित्य का बड़ा रुचिपूर्वक अध्ययन किया था। इन्होंने—'उपन्यास लिखने की कला में ड्यूमा मेरा गुरु है।' इसके द्वितीय भाग की पाठकों को बड़ी उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा रहेगी। बा॰ गुलाबरायजी की 'मेरी असफलताएँ' नामक पुस्तक से कुछ ही कम विनोद-पूर्ण यह आत्मकथा सब के लिए परम संग्रहणीय है। अवसरोपयुक्त हास्य—कभी गम्भीर, कभी बाल-सुलभ इसमें सर्वत्र मिलेगा। पुस्तक की शैली प्रशंसनीय है।

—प्रो॰ नागरमल सहल, एम॰ ए॰

विज्ञान

विज्ञान के चमत्कार—लेखक-प्रिंसिपल छबीलदास, प्रकाशक-स्वामी केशवानन्द, संयोजक, मरुभूमि जीवन ग्रन्थमाला कार्यालय, संगरिया। पृ॰ सं॰ ६२, मूल्य १)

इस पुस्तक में लेखक ने विज्ञान की उन देनों

का वर्णन किया है जो अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जैसे नींद लाने वाली मशीन, तैरने वाला मकान, बारहमासी गेहूँ, न जलने वाले वस्त्र, आदि! ऐसे ही कितने ही विषय इसमें समाविष्ट हैं। अन्त में कुछ जानने योग्य विचित्र बातों का भी आँकड़ों सहित उल्लेख है। पुस्तक की छपाई यदि और भी सुन्दर होती, और सम्पादन में भी सुरुचि का ध्यान रहता तो पुस्तक शीघ्र लोक-प्रिय हो जाती।

—डा० सत्येन्द्र

धर्म और दर्शन

भारतीय विचार-धारा—लेखक-श्री मधुकर प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृ० सं० १२१, मूल्य २)

भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए भारतीय विचार धारा से अवगत होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी दृष्टि से इस पुस्तक में भारतीय धर्म और दर्शन का एक संक्षिप्त परन्तु क्रमबद्ध विवरण दिया गया है। यह पुस्तक किसी पुस्तक का अनुवाद न होकर मौलिक ढङ्ग से लिखी गई है और इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों की पुष्टि मूल ग्रन्थों से उद्धरण देकर की गई है। इसमें वेदों तथा उपनिषदों की विचार-धारा के पश्चात् आस्तिक और नास्तिक अर्थात् वैदिक और अवैदिक दर्शनों के सिद्धान्तों का बड़ी सरल भाषा में प्रतिपादन किया गया है। बौद्धों के चार प्रमुख सम्प्रदायों का निरूपण किया गया है, और वेदान्त के भी अद्वैत, विशिष्टाद्वैत-द्वैत सम्प्रदायों का भी विवेचन किया गया है। यदि शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत का भी विवेचन हो जाता तो बहुत अच्छा होता। आशा है कि यह पुस्तक हमारे शिक्षित नवयुवकों का भारत की विचार-धारा से परिचित कराने में सहायक होगी।

—गुलाबराय

फुटकर

वस्तुकार-क्षत्रिय-वंश दिवाकर—ले० तथा प्रकाशक-श्री लक्ष्मीप्रसाद 'रमा' कविरत्न। पृ० ३२, मूल्य ।।)

इसमें लेखक ने वास्तुकार जाति, जिसे समाज 'लढ़िया' कहता है, उत्पत्ति तथा उसके स्थान के विषय में सामग्री प्रस्तुत की हैं। लेखक ने जनता की शङ्का समाधान के लिये सैंतीस वर्ष खोज करके पत्र-पत्रिकाओं-पुस्तकों और वेद स्मृति और पुराणों से हवाला देने का प्रयास किया है। पुस्तक में जाति के मुख्य जनों के नाम भी गिनाये गये हैं।

प्राप्ति स्वीकार

नीचे लिखी पुस्तकें मिल गई हैं, प्रेषक महोदयों को धन्यवाद:—

१ राष्ट्र-भाषा गीताञ्जलि—ले०-बा० रूपकुमार जेठानी 'चापल'। पता—राष्ट्रभाषा विद्यालय वैरागढ़ पृष्ठ २४, मूल्य ।) इसमें राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में आठ-दस सुन्दर कवितायें संग्रहीत हैं।

२—पुष्पहार—लेखक-अंबाप्रसाद सिंह 'कुन्द' प्रकाशक-विन्देश्वरी प्रसाद सिंह धौषपुर, पृष्ठ ४४, मू० ।।) पुस्तक में २३ कविताओं का संग्रह है, कविताएँ साधारण कोटि की हैं। मूल्य अधिक है।

३—नाश और निर्माण—लेखक-प्रो० वर्के एम० ए०, प्रकाशक-का पता नहीं। पृष्ठ १२, मू० =)

४—हमारा सन्देश क्या—लेखक-महादेव प्रसाद वर्मा एम. ए. बी. टी., प्रकाशक-लोकराज प्रेस डुगसायगञ्ज, फैजाबाद। वर्तमान युग की समस्याएँ और समाधान पर ५८ पृष्ठ की पुस्तक, मूल्य ।।)

५—बंग प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन का स्वागत भाषण।

६—प्रेम महाविद्यालय वृन्दावन का ५०-५१ का कार्य विवरण।

७—चेतावनी—(एक किसान की कलम से) प्रकाशक-कुँवर ब्रह्मदेवसिंह परिहार, वरहटा मऊगंज, रीवाँ। पृष्ठ सं० ६, मूल्य ।)

Shahitya Shandesh, Agra. REGD. NO. A. 263.
JULY. 1951. Licence No. 16.
Licensed to Post without Prepayment

परीक्षोपयोगी

साहित्य सन्देश आगरा के

१२ वें वर्ष की

जुलाई १९५० से जून १९५१ तक की पूरी फाइल

जिसमें

भारतेन्दु विशेषाङ्क भी सम्मिलित है।

इस फाइल में १०३ निबन्ध हैं जो प्रथमा मध्यमा-उत्तमा; विदुषी-सरस्वती, रत्न भूषण-प्रभाकर, प्रवेशिका-भूषण-साहित्यालङ्कार, विद्यालङ्कार, इण्टर, बी० ए० तथा एम० ए० आदि के परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न सम्पादकीय विचारधाराएँ पुस्तकों की आलोचनाएँ तथा पूरे वर्ष में प्रकाशित नवीन पुस्तकों की सूची भी इस फाइल में आपको मिलेगी जिससे आपको विविध ज्ञान प्राप्त होगा।

फाइल के सम्बन्ध में हम इतना निवेदन और करदें कि इसमें अन्य विषयों के अतिरिक्त ५०० पृष्ठ तो ठोस सामिग्री के हैं जिनको यदि पुस्तकाकार में छपवाए जायँ तो १००० पृष्ठ से अधिक की मोटी पुस्तक हो जाय। जिसका मूल्य औसत दर्जे १०) और ठाट-बाट के साथ छापने पर १५)-२०) हो जाता है। परन्तु साहित्य सन्देश अपने ग्राहकों से केवल चार रुपया वार्षिक लेता है। इस फाइल में मोटी बसली की जिल्द लगा कर उसके ऊपर कवर तथा विषय सूची छाप कर इसका मूल्य ५) रखा है।

यह फाइल थोड़ी बनी हैं और सदा की भाँति शीघ्र बिक जाने की आशा है। अतः आप आज ही अपनी फाइल मँगालें।

विषय सूची मुफ्त मँगायें। सजिल्द ५) पोस्टेज पृथक।

मिलने का पता:—साहित्य सन्देश कार्यालय, ४, गांधी मार्ग, आगरा।

वर्ष १३] आगरा—अगस्त १९५१ [अङ्क २

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

महेन्द्र

*

प्रकाशक

हित्य-रत्न-भण्डार, आगरा,

*

मुद्रक

साहित्य-प्रेस, आगरा

*

क मूल्य ४), एक अङ्क का ।≈)

इस अङ्क के लेख

हिन्दी का नया प्रकाशन

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

ऋतम्भरा—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या २॥)

हिन्दी की योग्यता कैसे बढ़ाएँ—सोहनलाल श्रीवास्तव १॥)

लोक व्यवहार—सन्तराम, बी० ए० ६)

अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ६)

साहित्य और साधना—डा० भागीरथ मिश्र ४॥)

मकरन्द—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ३॥)

हिन्दी-गद्य मीमांसा—रमाकान्त त्रिपाठी ६)

उत्तमा के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—प्रो० ओमप्रकाश, एम० ए०

उद्धव शतक समीक्षा—रामनारायण मिश्र एम० ए० १॥)

विविध

जाति विच्छेद—बी० आर० अम्बेडकर ३)

नाटक

कल और आज—स्नेह, एम० ए० ॥।)

मृच्छ कार्टक नाटक—व्यौहार राजेन्द्रसिंह एम० ए० २।)

जौहर—नारायण चक्रवर्ती ।≈)

स्वर्ग का पतन—अरुण १।)

अन्ध कवि—नारायण चक्रवर्ती १)

वैदिक-साहित्य

गायत्री—विद्यानन्द विदेह १॥)

वैदिक-योग पद्धति—आचार्य विदेह ।≈)

वैदिक बाल शिक्षा— " " ।≈)

आर्य-समाज का साप्ताहिक अधिवेशक—आचार्य विदेह ।≈)

सर्व-क्षेम आर्य साम्राज्य— " " ॥)

विदेह आलाप— " " " ।)

कहानी

नील अंगार—ब्रह्मदेव ॥)

ग्रहण के बाद—नरेन्द्र २।)

मौन के स्वर—व्यौहार राजेन्द्रसिंह ॥।)

नई कहानियाँ—अशान्त त्रिपाठ १॥)

मुक्ता-हार—श्री बैजनाथ राय ≈)

टीकाएँ

मध्यमा हिन्दी पथ-प्रदर्शक गायड—कुमुद विद्यालङ्कार ६)

सूर संग्रह की टीका—केदारनाथ द्विवेदी २)

भ्रमण

सर्वोदय यात्रा—विनोबा— ।)

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। वार्षिक मूल्य ४) है।

२—महीने की १० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अंक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें।

सभी प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मंगाने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।
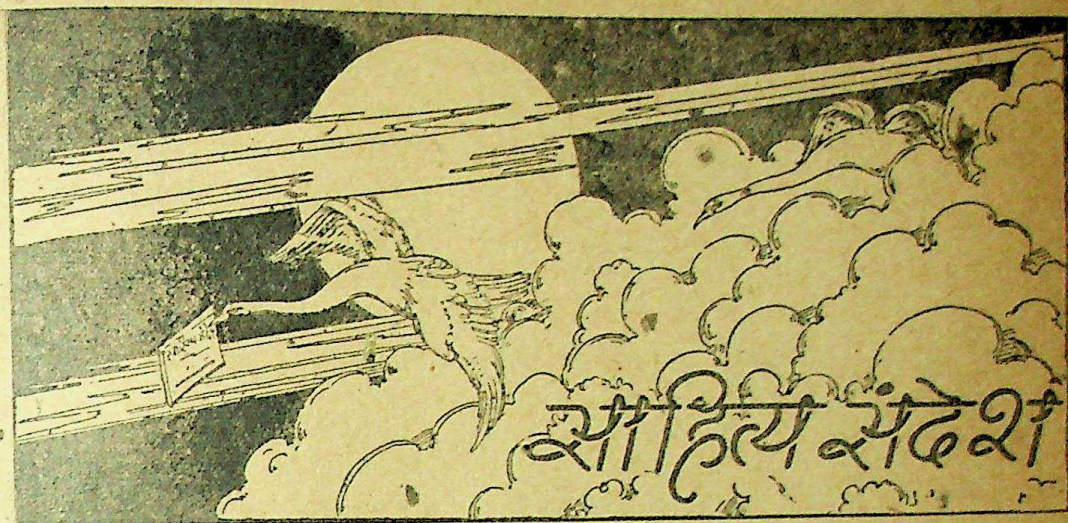
वर्ष १३] आगरा—अगस्त १९५१ [अङ्क २

तुलसी जयन्ती—

तुलसी जयन्ती का पुण्य पर्व नौ अगस्त को पड़ रहा है। हिन्दी के इस रस सिद्ध कवि की जयन्ती को धूम-धाम से मनाकर हमारे पाठक-गण अपनी कृतज्ञता को प्रकाश देने के साथ-साथ जनता को तुलसी के ग्रन्थों के रसास्वादन की ओर भी प्रवृत्त करेंगे। रामचरित मानस के अतिरिक्त तुलसी साहित्य का बहुत कम अध्ययन होता है किन्तु तुलसी का प्रत्येक ग्रन्थ एक अमूल्य देन है। सभी स्कूलों और कालिजों को इस पुण्य पर्व के मनाने की आवश्यकता है जिससे कि हमारे विद्यार्थियों में अपने साहित्य के अमूल्य रत्नों के अध्ययन की ओर रुचि जाग्रत हो। इस अवसर पर तुलसी की छोटी-छोटी प्रदर्शनियों की भी आवश्यकता है।

तुलसी के सम्बन्ध में निर्णय—

तुलसीदासजी के सम्बन्ध में हम एक उपेक्षित बात की ओर संकेत करना चाहते हैं। वह यह है कि तुलसी जन्म स्थान के सम्बन्ध में सोरों और राजापुर का विवाद अब बहुत परिपक्व हो गया है। इस सम्बन्ध में अब इतनी सामग्री उपलब्ध है कि विधिवत् किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। हमारा सुझाव यह है कि उत्तर-प्रदेश की सरकार भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन एक साहित्यिक (कमीशन) न्याय मण्डल बनाये जो विधिवत समस्त सामग्री का अध्ययन करे, प्रमाण तथा साक्षियों को देखे [illegible] निष्पक्ष निर्णय दे। अभी तक इस विषय में जो अध्ययन हुए हैं अथवा निष्कर्ष निकाले गये हैं वे वैयक्तिक हैं। इस साहित्य न्याय मण्डल का हमारा सुझाव है कि कुछ इस प्रकार का सङ्घटन हो—

१—एक हाईकोर्ट का जज

२—डा० यदुनाथ सरकार

३—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

४—डा० अमरनाथ झा

५—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। अथवा ऐसे [illegible] कुछ शोध और निर्णय सम्बन्धी मान्यता रखने वाले व्यक्ति इसमें हों।

लल्लूजीलाल स्मारक—

लल्लूजीलाल का एक अनोखा व्यक्तित्व था। आधुनिक युग की नींव रखने वालों में ये प्रमुख थे। आधुनिक हिन्दी खड़ीबोली गद्य की प्रथम रूप रेखा इन्होंने प्रस्तुत की, और उसमें साहित्य भी रचा। इनकी साहित्य सेवा महान है। 'प्रेमसागर' भक्तों के गले का हार ही नहीं था, हिन्दी गद्य के अध्ययन की सीढ़ी भी था। ऐसे युग निर्माताओं के प्रति हम आज भी अकृतज्ञ हैं। न इनका कोई दिवस ही मनाया जाता है, न इनका कोई स्मारक ही खड़ा किया गया है। ये आगरा के निवासी थे, वहाँ इनके स्थान तक की सुरक्षा नहीं। आगरा निवासियों को इस दिशा में प्रयत्न शील होना चाहिए। आगरा की नागरी प्रचारिणी सभा तथा मथुरा के व्रज साहित्य मण्डल को व्रज के ऐसे युग निर्माताओं के स्मारक के लिए कोई योजना प्रस्तुत करना चाहिए। ईश्वर पाठक भी ऐसे ही निर्माता थे। कितने खेद की बात है कि इन युग पुरुषों पर हिन्दी में एक महत्व पूर्ण पुस्तक तक भी नहीं।

ऐतिहासिक अनुसंधान—

बङ्गाल के रोयल एशियाटिक सोसायटी ने दस दिसम्बर १९५० को ५१ वीं गाँठ के अवसर पर इतिहास विज्ञान के महान आचार्य सर यदुनाथ सरकार का अभिनन्दन किया। उसमें माननीय सरकार ने स्वतंत्र भारत के इतिहासकारों को कुछ महत्वपूर्ण बातें बतलाई थीं। आपने कहा कि अब तक हमारे विद्वानों को इतिहास की गवेषणा में अनुवादों पर निभर रहना पड़ता है। अब हमें यह ख्याल छोड़ देनी पड़ेगी। मूल ग्रन्थों का अध्ययन ही अनुसंधान कार्य में सच्ची सफलता दिला सकता है। इस भाषण में उन्होंने यह बतलाया कि सुदूर अतीत में हमारे सहस्रों धर्म ग्रन्थ चीन और तिब्बत ले जाये गये थे। उन देशों में हमारे इन ग्रन्थों का अनुवाद हुआ था। आज वह भारतीय ग्रन्थ मूल रूप में न भारत में मिलते हैं न अन्यत्र। अतः हमें उन देशों की भाषाओं का अध्ययन करके उनमें मिलने वाले अपने ग्रन्थों के अनुवाद से ही अपनी मूल सम्पत्ति का सङ्कलन करना चाहिये। सर यदुनाथ सरकार का यह वक्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के इतिहास अनुसन्धित सुविद्वानों को भी इस संकेत से लाभ उठाना चाहिए। जितना शीघ्र ही वे इस दिशा में प्रयत्न शील होंगे उतना शीघ्र ही हिन्दी को उसके गौरव योग्य सामग्री मिल सकेगी।

मराठी का सन्देश—

'साहित्य-सन्देश' इस बात की आवश्यकता सुझाता आया है कि हिन्दी लेखक को आज देश की समस्त भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए—कुछ का सामान्य ज्ञान कुछ का विशेष। भारत भर की आत्मा आज राष्ट्रभाषा हिन्दी में व्याप्त हो जानी चाहिए। आज के हिन्दी उपन्यासकार, नाटककार, कवि अपने प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं में घिरा रह जाता है। अतः महाराष्ट्र के सबसे बड़े नाट्यकार श्री मामा वरेरकर का यह उपालम्भ हमें ध्यान से सुनना चाहिए। वे कहते हैं—

> "हिन्दी लेखकों को चाहिये कि वे फारसी रोमांस को छोड़ कर भारतीय यथार्थता को देखें और उस पर लिखने के लिये अपनी कलम उठायें।
>
> हिन्दी की नयी पुस्तकों में एक रसता है, विविधता नहीं—जो एक भारतीय भाषा के लिये बहुत जरूरी है। इसके लिये मराठी पुस्तकों का अनुवाद उनकी आँखें खोलने में सहायक होगा।" ('आज कल' से)

'मराठी' हमारे देश की समृद्ध भाषा है। इस सन्देश का स्वागत हिन्दी लेखकों को करना ही चाहिए—पर हमतो इस सन्देश को और भी व्यापक बनाना चाहते हैं। मराठी तो वैसे भी हिन्दी के

कितने ही लेखक पढ़ते-लिखते हैं—पर उन भाषाओं की ओर दृष्टि जाना आवश्यक है जिनकी ओर अभी तक ध्यान नहीं गया।

तामिल और हिन्दी—

पी० ई० एन० में तामिल पर लेख लिखते हुये एस० आर० जगन्नाथन ने सब से आरम्भ में ही इस आशय की कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं।

'तामिल लोग यह अनुभव करते हैं कि हिन्दी के द्वारा उसके वे पचे पारिभाषिक शब्द तथा मुहावरे तामिल में बलात सन्निविष्ट कराये जा रहे हैं। दक्षिण भारतीय पत्रों ने अब भी कितने ही अँग्रेजी शब्दों को आत्मसात् कर रक्खा है। और साधारण धारणा यह है कि यह अच्छा होगा कि यदि कार्यक्रम नये शब्द गढ़ने की अपेक्षा तामिल में अध्यात-लोक प्रचलित अंग्रेजी शब्दों को ही अपनायें।"

इस मनोवृत्ति पर किसी को प्रसन्नता नहीं हो सकती। तामिल वासियों को हिन्दी में राष्ट्रीय स्वरूप के दर्शन करने की भावना जाग्रत करनी चाहिये। हिन्दी आज उतनी ही उनकी है जितनी कि तामिल—तामिल मातृ भाषा के नाते, हिन्दी राष्ट्र भाषा के नाते। शब्द चयन में अधिकारियों को आज प्रान्तीय दृष्टि और प्रान्तीय सुविधा को प्रमुखता देकर समस्त देश की आवश्यकता का ध्यान रखना चाहिए। बहुत सम्भव है जो अँग्रेजी शब्द तामिल में प्रचलित हैं वे भारत के अन्य क्षेत्रों में न हों। बेपचे अर्थात् अनगढ़ शब्द समय पाकर पच जायँगे और लोकप्रियता प्राप्त कर लेंगे।

उर्दू और संस्कृत शब्द—

भावलपुर में एक कालेज की उर्दू सभा बज़्मे उर्दू के वार्षिक उत्सव पर माननीय डा० सैयद महमूद ने अधिवेशन के अन्तिम दिन सभापति पद से भाषण देते हुए उर्दू के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कहीं—

१—उर्दू की मदद से भारत सुदूरपूर्व मध्यपूर्व, चीन, हिन्देशिया, पाकिस्तान, अरेबिया, मिश्र तथा मोरक्को के बहुत निकट आ सकता है।

२—उर्दू भाषा का जन्म साधारण लोगों में हुआ है। इसके ७५ प्रतिशत शब्द संस्कृत तथा तद्भूत शब्दों से आये हैं।

३—उन्होंने उर्दू लेखकों से आग्रह किया कि वे सर्व साधारण की भाषा में बोले जाने वाले संस्कृत शब्दों को आत्मसात् कर भाषा को जीवन के निकट लावें।

यह सभी बातें बहुत ही चतुराई के साथ कही गई हैं। पहिली बात में प्रलोभन है और पाकिस्तान के अतिरिक्त और किसी देश के लिए उर्दू की अपेक्षा हिन्दी का ही अधिक महत्व सिद्ध होगा। दूसरी बात उर्दू के जन्म के समय तो सत्य थी किन्तु स्थिति आज भिन्न है। तीसरी बात यदि उर्दू के लेखक स्वीकार कर लें तो हिन्दी तथा उर्दू में कोई भी भेद नहीं रह जायगा। भारत के उर्दू प्रेमियों को आज इसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

अपेक्षित सत्य—

'दी इण्डियन पी० ई० एन०' ने श्री के० आर० श्री निवास आयङ्गर के एक लेख की कुछ पंक्तियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। उनका यह लेख 'आर्यसमाज' के जून के अङ्क में प्रकाशित हुआ है। हम उसके एक वाक्य का हिन्दी रूपान्तर साहित्य सन्देश के पाठकों के लिए प्रेषित करते हैं। आयङ्गर लिखते हैं:—

"निश्चय ही यह अपेक्षित है कि आत्मिक क्षेत्र में साम्य को मान्यता दी जाय, क्योंकि ऐसी मान्यता के बिना मानव कुटुम्ब विवेक रहित छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होते जाने की आत्मघातक दौड़ में अनिवार्यतः प्रवृत्त रहेगा। अतः यह परम आवश्यक है कि ऐसे मार्ग निर्मित हों जिनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की परिधि में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य सुरक्षित रहे।

और विभक्त होकर नष्ट होने के भय को दूर करने के लिए यह उचित है कि परम्परागत मान्यताओं को, सजीव अतीत के यथार्थ को, सजीव विचारों की धारा के अमृतोपम गुणों को, सर्वयुगीन दार्शनिकता की शक्ति तथा पूर्ण सत्यता को पुनर्स्थापित किया जाय।"

इसमें जिस तथ्य का प्रतिपादन है, वह एक अपेक्षित ही नहीं आज तो उपेक्षित सत्य है।

हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य—

हिन्दी में 'विज्ञान नामक' पत्र बहुत समय से हिन्दी में विज्ञान सम्बन्धी साहित्य की पूर्ति की चेष्टा कर रहा है। इसके अप्रैल के अङ्क में हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य शीर्षक एक विचारणीय अग्रलेख प्रकाशित हुआ है। इसकी यह पंक्तियाँ हमारा ध्यान विशेषतः आकर्षित करती हैं—

"सारांश यह है कि हिन्दी के वैज्ञानिक साहित्य का भण्डार बहुत ही कम है, स्थिति बड़ी ही असन्तोष-जनक है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि संसार की ऐसी कोई सम्पन्न भाषा नहीं जिसने वैज्ञानिक साहित्य के सृजन का प्रयास न किया हो या जिसका विज्ञान के विकास में एकाधिकार रहा हो। अनेक देशों के सहयोग ने विज्ञान को वर्तमान सीमा तक पहुँचाया है। हिन्दी प्रेमी जनता, विद्वान, सरकार सभी को अपनी भाषा में वैज्ञानिक साहित्य का भण्डार बढ़ाने में अभी तक भगीरथ प्रयत्न करना बाकी है, और आशा ही नहीं विश्वास है कि सभी अपने इस दायित्व की ओर ध्यान देंगे।"

पाठकों में पुस्तक प्रेम—

१६ जुलाई के 'आर्यमित्र' में श्री गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय एम० ए० ने अपने पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी कुछ अनुभव लिखे हैं, जिनसे विदित होता है कि पुस्तक प्रकाशन में जितना रुपया उन्होंने व्यय किया उतना रुपया भी बिक्री से प्राप्त नहीं हो सका, लाभ की तो बात ही क्या। यह बात उन पुस्तकों के प्रकाशन की है जो एक गम्भीर विद्वान की भारत प्रसिद्ध पुस्तकों की हुई और उस समाज में जो पुस्तकें पढ़ने और खरीदने में बहुत आगे है। जब आर्यसमाज की पुस्तकों की यह दशा है तब दूसरे प्रकाशनों की क्या चर्चा की जाय। हिन्दी के पाठकों को यह स्थिति बदलनी चाहिए और पुस्तक खरीद कर पढ़ने और घर में एक छोटा मोटा पुस्तकालय रखने की आदत डालनी चाहिए। बिना इसके अच्छी हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन नहीं बढ़ सकता। आज तो दुःख है कि व्यक्तिगत रूप से हिन्दी पुस्तकें खरीदने वालों की बहुत ही कमी हो गई है।

'हिन्दुस्तानी' के स्थान पर 'हिन्दी'—

कुछ दिन पहले हमने 'साहित्य सन्देश' में यह लिखा था कि 'दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' का नाम अब 'हिन्दी प्रचार सभा' होना चाहिए। हमें प्रसन्नता है कि सभा ने इस ओर ध्यान दिया और अभी हाल ही में उसने यह निश्चय कर लिया है कि भविष्य में सभा का नाम 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' ही होगा। हम इसके लिए सभा के सञ्चालकों को बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि इस निश्चय के बाद भाषा के रूप को भी वे हिन्दी बनाने की कृपा करेंगे।

श्री उमेशचन्द्र मिश्र का देहावसान—

हिन्दी के एक और प्रसिद्ध साहित्यक पत्रकार की मृत्यु का समाचार मिला है। हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के सुयोग्य सम्पादक श्री उमेशचन्द्र मिश्र का देहावसान ६ जून को हो गया। उमेशचन्द्र जी हिन्दी के सिद्ध हस्त लेखक, विचारक और सम्पादक थे। हिन्दी को, विशेषतः उसके पत्रकार क्षेत्र को, मिश्र जी से बहुत आशा थी, अभी उनकी आयु ही क्या थी, ४६ वर्ष की छोटी आयु में हिन्दी के इस यशस्वी पत्रकार के उठ जाने से जो क्षति हुई है, उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

पाश्चात्य विद्वान एवं शब्द शक्ति व्यञ्जना

प्रो० भोलाशङ्कर व्यास, एम० ए०, शास्त्री

पाश्चात्य विद्वान् व्यञ्जना जैसी शब्द-शक्ति नहीं मानते फिर भी व्यंग्यार्थ को अवश्य मानते हैं। पाश्चात्यों के 'एल्यूजन' तथा 'डबल सेन्स' को हम व्यंग्यार्थ का एक रूप मान सकते हैं। 'एल्यूजन' लाक्षणिक प्रयोग से विशेष संश्लिष्ट रूप में प्रयुक्त होता है, तथा इसी में विशिष्ट लाक्षणिक प्रयोग की मनोवृत्ति निहित रहती है। फिर भी अरस्तू में अथवा एलेग्जेंड्रियन साहित्य-शास्त्रियों में इस प्रकार का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। क्विंतीलियन ने 'एल्यूजन' के विषय में कुछ प्रकाश अवश्य डाला है। क्विंतीलियन के मतानुसार यह प्रयोग उस प्रकार का विपरीतार्थक नहीं है, जैसा 'आइरनी' में होता है, किन्तु यह तो उसी वास्तविक अर्थ में निहित होता है, जिसकी प्रतीति कवि कराना चाहता है। दुमार्से में दो अलङ्कार ऐसे मिलते हैं, जो सामान्य रूप से 'एल्यूजन' से सम्बन्धित हैं। इनमें एक तो 'एलेगरी' है, दूसरा 'विशिष्ट प्रकार का एल्यूजन' (प्रॉपर एल्यूजन) है। इनके विषय में दुमार्से ने कहा है:—'एलेगरी का मेटेफर से अत्यधिक सम्बन्ध होता है। यह वही नहीं है, जो कि मेटेफर से प्रतीत होता है। यह वह अर्थाभिव्यक्ति है जिसमें सर्वप्रथम मुख्यार्थ की प्रतीति होती है तथा जिससे वे समस्त अन्य वस्तुएँ प्रतीत होती हैं, जिनका प्रयोग कोई व्यक्ति मनोवृत्ति को व्यक्त करने के लिये करता है, साथ ही जो दूसरे अनभिवाञ्छित अर्थ की बुद्धि को उत्पन्न नहीं करता।"

एल्यूजन तथा शाब्दी-क्रीड़ा (ल जू द मो) का एलेगरी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। एलेगरी में स्पष्ट रूप में तो एक अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु साथ ही किसी दूसरे अर्थ की मनोवृत्ति की भी व्यञ्जना होती है। यह व्यञ्जना अधिकतर एल्यूजन या शाब्दी क्रीड़ा के द्वारा ही होती है। यह व्यंग्यार्थ प्रतीति जो मुख्यतः किसी न किसी भाव (अर्थ) से सम्बन्धित है, मेटेफर पर आश्रित रहती है। यही 'एल्यूजन' है। इस प्रकार पाश्चात्यों के 'एल्यूजन' में हम लक्षणामूलक तथा अर्थमूलक व्यंग्यार्थ का समावेश कर सकते हैं। शाब्दी क्रीड़ा से जहाँ भिन्नार्थ प्रतीति भी होती है, उसे हम शाब्दी अभिधामूला व्यञ्जना के समकक्ष मान सकते हैं। फिर भी गौर से देखने पर प्रतीत होता है कि वाच्यार्थ पर तथा द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोगों पर आश्रित व्यञ्जना ठीक उसी ढंग पर पाश्चात्य साहित्य में नहीं मिलती। इसका प्रमुख कारण भाषाओं की अभिव्यञ्जना-प्रणाली तथा शब्द समूह का भेद है। संस्कृत भाषा इतनी अधिक सुगठित शब्दावली वाली है, तथा पर्यायवाची एवं विपरीतार्थक शब्दों में इतनी समृद्ध है कि इस प्रकार का काव्य कौशल दिखाने का वहाँ पर्याप्त साधन है, जो पाश्चात्य भाषाओं में नहीं। ठीक यही बात संस्कृत तथा हिन्दी के विषय में भी कही जा सकती है। व्यञ्जना और ध्वनि के भेदोपभेदों के उचित उदाहरण जैसे संस्कृत में मिल सकते हैं, वैसे कई भेदों के लिए हिन्दी में मिलना कठिन है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में फिर भी एक स्थान पर एक ऐसी शक्ति का संकेत मिलता है, जिसे हम व्यञ्जना के समान मान सकते हैं। वैसे शुद्ध रूप से यह वस्तु-शक्ति तो नहीं, किन्तु जिस प्रकार व्यञ्जना में वक्ता के अभिप्राय का विशेष स्थान है, उसी प्रकार इसमें भी वक्ता के अभिप्राय का विश्लेषण हुआ है। यह शक्ति—यदि इसे शक्ति कहना अनुचित न हो तो—स्टाइक दार्शनिकों का 'तो लेक्तोन' है। इसका अनुवाद अधिकतर लोग

अर्थ या अभिव्यक्ति (मीनिंग ऑर एक्सप्रेशन) से करते हैं। जेलर के मतानुसार "तो लेक्तोन विचारों का सार है - विचार का ग्रहण हम (यहाँ पर) अपने सीमित रूप में करते हैं, जब वह वाह्य पदार्थ से जिससे उसका सम्बन्ध है, भिन्न होता है, साथ ही उसकी व्यञ्जक ध्वनि (शब्द) से तथा उसको प्रकट करने वाली मनःशक्ति से भी भिन्न होता है।" जेलर वस्तुतः तो लेक्तोन का वास्तविक रूप देने में समर्थ नहीं हो सका है। स्टाइक दार्शनिकों के इस शब्द का स्वरूप हमें कुछ बाद के लेखकों के उल्लेखों से ज्ञात होता है। अरस्तू के टीकाकार रामोनियस ने बताया है कि "जिस वस्तु को स्टाइक दार्शनिकों ने 'लेक्तोन' नाम दिया है, वह मन तथा पदार्थ के मध्य में स्थित है।" एक दूसरे ग्रीक विद्वान् के मतानुसार "स्टाइक दार्शनिक तीन वस्तुओं को परस्पर सम्बन्धित मानते हैं:— 'प्रतिपाद्य' 'प्रतिपादक' तथा पदार्थ। इनमें प्रतिपादक जो शब्द (दिओ) है, प्रतिपाद्य वह वास्तविक वस्तु है जो शब्द से अभिव्यक्त होती है, वह वस्तु जो हमारी मानसिक स्थिति में विद्यमान रहती है। यह वह वस्तु है जो अनभिप्रेत व्यक्ति (दूसरे लोग) शब्द सुनते समय नहीं समझ पाते। तथा पदार्थ वाह्य उपहिता है। इनमें से दो वस्तुएँ (शब्द तथा पदार्थ) तो मूर्त्त (कॉरपॉरियल) हैं, किन्तु एक (लेक्तोन) अमूर्त्त है।"

वस्तुतः तो लेक्तोन मन तथा पदार्थ के बीच रहती है तथा यह मनः स्थिति पर आधारित है। तो लेक्तोन से हम भर्तृहरि के 'ज्ञानं' की अभेद प्रतिपत्ति कर सकते हैं। इसे हम वे संबंधित भाव मान सकते हैं, जिन्हें चेतन या अर्धचेतन रूप में, व्यक्ति अभिव्यञ्जित करना चाहता है। यही साहित्यशास्त्रियों की व्यञ्जना मानी जा सकती है। अरस्तू यद्यपि मानव मन की सम्बन्धित स्वाभाविक क्रियाओं को तथा आकस्मिक परिस्थितियों से जनित उनके परिवर्त्तनों को स्वीकार करता है, फिर भी वह विचार तथा पदार्थ के बीच की स्थिति को नहीं मानता। एपीक्यूरियन दार्शनिक भी वह विचार लेक्तोन जैसी वस्तु मानने के पक्ष में नहीं है। इसी बात को प्लूटार्च ने बताया है कि उन लोगों ने शब्द तथा पदार्थ को ही मानते हुए तथा प्रतीयमान वस्तु होती ही नहीं इसकी घोषणा करते हुए अभिव्यञ्जना के प्रकार से छुटकारा पाया है। उन लोगों ने दिक्, काल तथा स्थान जैसी वस्तुओं को जो व्यञ्जना के प्रकार हैं, 'सत्' की कोटि में नहीं माना है, जिनमें वस्तुतः समस्त सत्य निहित है, क्योंकि उनके मतानुसार ये (प्रकरण) कुछ होते हुए भी 'असत्' हैं। कहना न होगा कि भारतीय साहित्यशास्त्र की व्यञ्जना का आधार दिक्, काल जैसी वस्तुएँ ही हैं।

स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वान् व्यंग्यार्थ जैसी वस्तु को खूब समझते हैं, चाहे वे इसकी अनुभूति के लिए अलग से शक्ति न मानते हों। काव्य में इस व्यंग्यार्थ की महत्ता को वे खूब समझते हैं। इसी सम्बन्ध में निबन्ध को समाप्त करते हुए अरस्तू के टीकाकार एमोनियस के शब्द उद्धृत कर सकते हैं:—"शब्द की दो स्थितियाँ होती हैं। एक उसके श्रोता की दृष्टि से, दूसरी उस वस्तु की दृष्टि से जिसका बोध वक्ता श्रोता को कराना चाहता है। श्रोता के सम्बन्ध की दृष्टि से, जिसके लिए शब्द अपना विशेष अर्थ रखता है, यह शब्द अलङ्कार-शास्त्र या काव्य के क्षेत्र से सम्बन्धित है, क्योंकि वे अधिक प्रभावशाली शब्दों को ढूँढा करते हैं, साधारण प्रयोग में आने वाले शब्दों को नहीं। किन्तु जहाँ तक शब्द का वस्तुओं से स्वयं से सम्बन्ध है, यह प्रमुखतः दार्शनिक के अध्ययन का क्षेत्र है, जिसके द्वारा वह मिथ्याज्ञान का खण्डन करता है तथा सत्य को प्रकट करता है।"

काव्य-समीक्षा में रहस्यवाद का युगोन्मेष

श्री लाल रमायदुपालसिंह एम० ए०, शास्त्री

घनसार-भरी घाटी का रहस्यवादी आलङ्कारिक आनन्दवर्द्धन, आज से कोई एक सहस्र वर्ष पूर्व, अपनी रजत तूलिका से शास्त्रीय नवचेतना का अमिताभ रूप अलङ्कार के पटल पर अङ्कित करने उठा था। काश्मीर की सौन्दर्य-सुधा का आनन्दवर्द्धन ने आकण्ठपान किया था और उसने देखा था कि सौन्दर्य अक्षय है, सुन्दर भले ही क्षण-भङ्गुर हो। पात्र की नीरसता से पेय की सरसता क्षार नहीं हो जाती।

सत्य यदि सत्य है तो वह शाश्वत होकर रहेगा, सौन्दर्य को सौन्दर्य कहलाने के लिए शाश्वत होना पड़ेगा। सच बात तो यह है कि एक पत्ता चाहे सूखकर गिर जाय—यही नहीं अरबों-पदमों गिर सकते हैं—पर क्या विश्व-रसरहित हो जायगा। राम-कृष्ण के भी मरने से मानवता नहीं नष्ट हो गयी।

कामनीयक के इसी शाश्वतत्व ने दसवीं शताब्दी विक्रमीय को साहित्य समीक्षा के राजकुमार के हृदय में एक नवीन चेतना, एक नूतन स्वप्न और एक अभिनव जागृति उँड़ेल दी। दर्शन में जो काम आत्मैक-सत्तावादी (अध्यात्मवादी) करता है वही आनन्दवर्द्धन ने साहित्य-समीक्षा में उन्मिषित किया। एक चिरन्तन रमणीयता की काव्यगत अनुभूति उस सरस सहृदय के हृदय में साकार हो उठी। 'इण्डियन आइडियलिज्म' में डा० दासगुप्त ने लिखा है:—

Idealism Consists in maintaining that all reality is spiritual.

(अध्यात्मवाद इसी की उपपादना में निहित है कि समग्र सत्ता चैतन्यात्मिका है।) यदि काव्य-मीमांसा में इसी अध्यात्मवाद की अवतारणा होगी तो ग्रन्थकार यही कहेगा कि रसध्वनि अर्थात् काव्य की आत्मा सचेतोगत है; दूसरे शब्दों में काव्यरस की सत्ता प्रमातृगत है प्रमेयगत नहीं। इससे स्पष्ट है कि ध्वनिवाद आलङ्कारिक अध्यात्मवाद था।

रहस्यवाद में त्रिकत्व जिस रूप में भी पाया जाता है ध्वनिवाद में वह यथातथ विद्यमान है। रहस्यवाद में साधक, साध्य और साधन का त्रिक होता है। साक्षात्कर्ता, साक्षात्कर्त्तव्य और प्रतीक की त्रयी सामने आती है। ध्वनिवाद में भी प्रमाता, प्रमेय और प्रमापक का त्रिक होता है; सहृदय व्यंग्य और व्यञ्जक की त्रयी होती है। इन्हें ध्वनिकार की निम्न प्रसिद्ध कारिकायें स्वतः स्पष्ट करती हैं—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥

रहस्यवादी उस सत्य साक्षात्कार की अवस्था को तुरीय बताता है; ध्वनिवादी भी ध्वनि को तुरीयकक्षाविनिविष्ट। रहस्यवादी जागृति, स्वप्न व निद्रा के बाद की ब्राह्मी अवस्था प्रक्लृप्त करता है। ध्वनिवादी अभिधा, लक्षणा, और तात्पर्य की कक्षाओं के पार व्यञ्जना की आस्थापना करता है।

रहस्यवादी की एक बहुत बड़ी विशेषता यह होती है कि वह उस साक्षात्कार की किसी साधक-विशेष को ही पात्रता प्रदान करता है। ध्वनिवादी भी इसे केवल सहृदय संवेद्य मानता है और सहृदय हैं—

"येषां विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।

ध्वनिकार के शब्दों में:—

शब्दार्थशासन ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

रहस्यवादी उस परम प्रमेय परमसत् को तथा उसके प्रमापक प्रतीक को यत्नतः प्रत्यभिज्ञेय मानता है। ठीक उसी तरह आचार्य आनन्दवर्द्धन भी कहते हैं:—

सोऽर्थस्तद्व्यक्ति सामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे॥

वह परमप्रमेय ध्वन्यर्थ और उसका प्रमापक व्यञ्जक ध्वनिवादी की दृष्टि में भी यत्नतः प्रत्यभिज्ञेय है। ये दोनों ही किसी कालिदास-जैसे महाकवि की कृतियों में ही उपलब्ध हो सकते हैं। रहस्यवादी भी 'अनलहक' की आवाज लगाने वाले किसी एक-दो बड़े साधक की ही दाद देता है। आज का लोकवादी युग कितना भी क्यों न चिल्ल-पों मचाये परन्तु यह शाश्वत और चिरन्तन सत्य है कि परम-सत् का साक्षात्कार किसी बिरले व्यक्ति ही को हो सका है, हो सकता है और हो सकेगा। ऐसा कृती एक समूचे युग का गौरव होता है। रूस का जन-मनः सम्मीलन में प्राप्त प्रतिष्ठ लेनिन व्याख्यावलित मार्क्सवाद कोटि-कोटि की तो बात ही क्या दो-चार भी कार्लमार्क्स और लेनिन या स्तालिन नहीं पैदा कर सका औ(इतर) उम्मीद है। अस्तु, चेतना का समुन्मेष कोई दैनन्दिन घटना न होकर युगों की चिन्तामणि है।

ऐसी ही प्रतिभा के उद्भेद की ओर इशारा करते हुए राजानक आनन्दवर्द्धन ने ऊपर की कारिका पर वृत्ति लिखते हुए ये शब्द उपनिबद्ध किये:—

"अस्मिन् अति विचित्र कवि परम्परा-वाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्राःपञ्चषो वा महाकवय इति गण्यन्ते।"

उपनिषद् का उपनिषत्त्व, आरण्यककी आरण्य-कता और वेदान्तरहस्य की गोपनीयता का रहस्य भी यही है। पात्रता पर भारतीय दर्शन जो इतना अधिक जोर देता है, उसका कारण भी अधिकाँश यही है। व्यक्ति की प्रवृत्ति के वैशिष्ट्य को आज के मैकडूगल के चेले मनोवैज्ञानिक भी मानने को विवश हैं। इस मनोगत प्रवृत्ति-वैशिष्ट्य के अध्ययन-चिन्तन ने ही दार्शनिक हृदय की परख की ओर हमारे शास्त्रकारों को उन्मुख किया। मनोयोग न देनेवाली सभा को ब्रह्मविद्या का पाठ देना अरण्य-रोदन के अतिरिक्त और क्या हो सकता।

काव्य-शास्त्र का रहस्यवादी भी यही कहेगा कि काव्यतत्त्व या ध्वनि केवल सहृदय-हृदयसंवेद्य है। किसी कवि के शब्दों में :—

इतरतापशतानि यदृच्छया
विलिखितानि सहे चतुरानन!
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥

भारत अपने नाम से ही दार्शनिक है; मैं कहूँ परमार्थप्रिय अध्यात्मवादी है। भा अर्थात् प्रकाश या ज्ञान में रत रहने—लगे रहने—वाला राष्ट्र यह है। इसीसे यहाँ का साहित्यचिन्तक भी एक अप्रतिम अध्यात्मवादी प्रवृत्ति लेकर उसकी रमणी-यता के यौवनमय प्रान्त काश्मीर के अञ्चल में दृष्टि-परिपाक प्राप्त करने में समर्थ हो सका।

आनन्दवर्द्धन की ऐसी आलोकसृष्टि का विस्तार-प्रसार आचार्य अभिनव गुप्तपाद की रस-विवेचना में पाया जा सकता है। एक शैवाद्वैती रहस्यवादी की लेखनी ने पूरी आध्यात्मिकता उस ध्वनिवाद की नस-नस में अनुस्यूत कर दी। फलतः अपनी समीक्षा के क्षितिज पर उस रसब्रह्मवाद का मिहिरमार्ग उद्भासित हो उठा जिसकी प्रकाशकिरण पाने के लिए आज का देशदेशान्तरवासी समीक्षक समानधर्मा लालायित है। उस मिहिर-मार्ग का उषआलोक आचार्य आनन्द वर्द्धन के साहित्य चिन्तन से प्रसूत हुआ। उस समीक्षाजगत् के सम्राट् के ज्योतिष्पथ पर ये शब्दसुमन विकीर्ण कर अपने को भाग्यशाली समझता हूँ; क्योंकि—

महतां संस्तव एव गौरवाय।

पद्मावत का रूपक

प्रि० हृदयनारायणसिंहजी एम० ए०

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित एक लेख में स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने यह प्रतिपादित किया था कि पद्मावत का रूपक कथा को विकृत करता है, और पद्मावत की कथा रूपक को विकृत करती है। कथा और रूपक एक दूसरे के नितान्त अनुपयुक्त हैं। यह मत डा० बड़थ्वाल का ही नहीं था, कुछ अन्य पाठकों और समालोचकों का भी है। प्रस्तुत लेख में इस मत के निराकरण की चेष्टा की जायगी।

पद्मावत की कथा समाप्त करते हुए उपसंहार में जायसी ने रूपक का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है।

'मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुप के घर माहीं॥
तन चित उर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पन्थ देखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ धन्धा।
बाँचा सोइ न यह चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउद्दीं सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥'

इस प्रकार सम्पूर्ण कथा को कवि ने रूपक सदृश बतलाया है। कथा में उल्लिखित विभिन्न पात्रों को उसने मनुष्य की विभिन्न मानसिक शक्तियों का प्रतीक अथवा प्रतिरूप माना है, और इस दार्शनिक मत की ओर संकेत किया है कि जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। उपर्युक्त वर्णन के अनुसार तन चित्तौर है, जहाँ के राजा रतनसेन ने पद्मावती को प्राप्त किया था। संकल्प विकल्पात्मक मन राजा रतनसेन है। रागात्मक हृदय सिंघल है, जहाँ की राजकुमारी पद्मावती थी। शुद्ध बुद्धि पद्मावती है। मार्ग-प्रदर्शक गुरु हीरामन तोता और रतनसेन की प्रथम राजमहिषी नागमती सांसारिक मोह है। राघव चेतन जिसने रतनसेन से विश्वासघात कर अलाउद्दीन को चित्तौर पर आक्रमण करने के लिए उकसाया जीवात्मा को पथभ्रष्ट करनेवाला शैतान है और अलाउद्दीन जीव को परमात्मा से विमुख करने वाली शक्ति माया का प्रतीक है।

जायसी ने कथा के लिए जो रूपक की कल्पना की है, उसमें समालोचकों को दो-तीन बातें खटकती हैं।

पहली तो यह कि कवि ने कथा के प्रकरणों में इस रूपक का एक समान निर्वाह नहीं किया है। अधिकतर पद्मावती को परमात्मा और राजा रतनसेन को साधक जीवात्मा का रूपक दिया गया है।

करवत तपा लेंहि होइ चुरु।
मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदुरु॥

और,

देवता हाथ-हाथ पगु लेहीं।
जहँ पगु धरैं शीश तहँ देहीं॥
माथे भाग कोउ अस पावा।
चरन कमल लेइ शीश चढ़ावा॥

इत्यादि पद्मावती के लिए और रतनसेन के लिए लिखा है।

तजा राज राजा भा जोगी।
औ किंगरी कर गहेउ बियोगी॥

संसार अनित्य है, और परमात्मा की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है।

किन्तु सदैव राजा ही साधक के रूप में और पद्मावती साध्य रूप में प्रदर्शित हों, ऐसा नहीं। एकाध स्थल पर पद्मावती स्वयं साधक हो जाती है, और जब अलाउद्दीन पद्मावती को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो वह भी जीवात्मा के रूप में दिखलाया गया है। जो परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्न-शील है।

उपसंहार में सिंहल को हृदय का प्रतिरूप माना है, किन्तु पार्वती महेश-खण्ड में सिंहलगढ़ को पिंड का रूपक दिया गया है।

नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा।
औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा॥
दसवँ दुवार गुपुत एक ताका।
अगम चढ़ाव बार सुठि बाँका॥

इत्यादि, यह बात पद्मावत के रूपक की समीक्षा के लिए अत्यन्त महत्त्व की है—कि अन्त में बतलाए गए रूपक का कथा के बीच में एक समान निर्वाह नहीं हुआ है।

दूसरी खटकने वाली बात यह है कि कुछ प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों में रूप गुण और प्रभाव का साम्य नहीं है। नागमती रतनसेन की प्रथम विवाहिता रानी थी। उसे दुनिया धन्धा और पद्मावती को बुद्धि बतलाना भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं विदित होता। नागमती पतिव्रता स्त्री थी और राजा की मृत्यु के बाद सती हो गयी। उसे दुनिया धन्धा कहना ठीक नहीं मालूम होता।

अलाउद्दीन और माया में भी विश्वसनीय साम्य नहीं दिखलाई पड़ता। जब नागमती को दुनिया धन्धा कह दिया तो पुनः अलाउद्दीन को माया कहना उसी रूपक को दुहराना है।

समालोचकों की दृष्टि से तीसरा दोष यह है कि अप्रस्तुतों के समवाय का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, और कार्य-व्यापार है वह प्रस्तुतों के पारस्परिक सम्बन्ध और कृत्यों को पूर्णतः नहीं प्रगट करता और न उनके अनुकूल है। जब रूपक बाँधा जाता है, तो यह विचार रखा जाता है कि प्रस्तुतों का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, और उनका जो कार्य व्यापार है उसी के समान अप्रस्तुतों का भी पारस्परिक सम्बन्ध और कार्य व्यापार हो।

राजा रतनसेन कथा के नायक है, पद्मावती नायिका है। नागमती उनकी प्रथम विवाहिता है चित्तौर उनकी राजधानी है और सिंहल उनकी प्रेमिका पद्मावती का जन्मस्थान है। हीरामन तोता ने रतनसेन को पद्मावती का और पद्मावती को रतनसेन का समाचार दिया था। रतनसेन के एक दरबारी राघवचेतन ने अलाउद्दीन को चित्तौर पर पद्मावती को हस्तगत करने के उद्देश्य से, चढ़ाई करने को उकसाया। देवपाल राजा का शत्रु था जिसने दूती द्वारा पद्मावती को राजा के बन्दी होने पर अपनी अंकशायिनी बनाना चाहा। इसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध अप्रस्तुतों में भी शरीर, मन, हृदय, बुद्धि, गुरु, दुनिया—धन्धा, शैतान, माया इत्यादि में होना चाहिए पर बात ऐसी नहीं है। कवि ने जब शरीर को चित्तौर कहा और पूर्व में जब यह संकेत किया कि चौदहों लोक मानव के शरीर में ही हैं तब सभी अप्रस्तुतों को शरीर के भीतर से ही चुनना चाहिए था। पर गुरु और शैतान, यदि माया को हम छोड़ देते हैं तो, मनुष्य के बाहर के तत्व हैं। फिर मन हृदय, बुद्धि इत्यादि में वही सम्बन्ध नहीं है जो रतनसेन, सिंहल और पद्मावती में था। सांसारिक जञ्जाल और माया का भी भेद स्पष्ट नहीं है और यदि दोनों में अन्तर भी स्थापित किया जा सकता है तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही नहीं होगा जैसा नागमती और अलाउद्दीन का है।

पद्मावत के रूपक के ये स्पष्ट दिखलाई पड़ने वाले दोष हैं। इसीलिए डा० पीताम्बरदत्त ने कहा कि पदमावत का रूपक कथा को विकृत करता है।

यदि हम उपसंहार में लिखे गये वाक्यों को ही पद्मावत का आधार और प्रेरक-भाव और कथा को

समझने की कुञ्जी समझ लें तो उपर्युक्त मत का प्रतिपादन नितांत स्वाभाविक हो जाता है। किन्तु अन्त के कथन का यह अर्थ लगाना समालोचना की एक बड़ी भूल है। वास्तव में जिस प्रकार अँग्रेज कवि स्पेंसर की 'फेअरी क्वीन' में सर वाल्टर रैले के नाम पत्र में दिया गया रूपक समस्त कथा का आधार और उसको समझने की कुञ्जी है उस प्रकार पद्मावत का उपर्युक्त संकेत नहीं। पद्मावत उस कोटि का रूपक काव्य नहीं है जिस कोटि के प्रबोध-चन्द्रोदय, फेअरी क्वीन या पिलग्रिम्स-प्रोग्रेस (गद्य में) हैं। इन ग्रन्थों में रूपक का निर्वाह प्रारम्भ से अन्त तक (फेअरी क्वीन अपूर्ण रचना है) किया गया है और रूपक के कारण उनका साहित्यिक सौन्दर्य बढ़ जाता है किन्तु पद्मावत में रूपक का ऐसा निर्वाह नहीं किया गया है।

रूपक काव्य में सभी प्रस्तुतों के लिए अप्रस्तुत नियोजित होते हैं किन्तु पद्मावत में ऐसा कहाँ किया गया है। देवपाल, कुमोदिनी कुटनी, गोरा-बादल गन्धर्वसेन इत्यादि के लिए उपमानों का कोई आयोजन नहीं है। यही नहीं, जैसा मैंने पहले लिखा है; एक ही अप्रस्तुत के लिए कभी एक प्रस्तुत और कभी दूसरे का प्रयोग हुआ है।

मेरे विचार से जायसी का उद्देश्य रूपक-काव्य लिखना नहीं था। यदि होता तो रूपक का निर्वाह करने में उन्होंने सावधानी और श्रम किया होता। वह तो मसनवी के ढङ्ग का एक प्रबन्ध काव्य लिखना चाहते थे और कथा कहने में ही वे रसमग्न दिखायी पड़ते हैं। पद्मावत की विशेषता रूपक का निर्वाह करने में नहीं है पर यत्र-तत्र अत्यन्त मनोहर रहस्यात्मक संकेत का विधान करने में है। ग्रन्थ के प्रारम्भ से ही उन्होंने सुन्दर आध्यात्मिक संकेत करना प्रारम्भ किया है :—

'सिंहल दीप कथा अब गावौं।
औ सो पदमिनि बरनि सुनावौं॥
निरमल दरपन भाँति बिसेखा।
जो जेहि रूप सो तैसइ देखा॥

और बीच-बीच में जीवन की असारता, जैसे—

'मुहमद जीवन-जल भरन, रहँट घरी कै रीति।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति॥'

सारे विश्व का परमात्मा के लिए प्रयत्नशील होना,

'सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहि लेइ।
पाँव छुवै मकु पावों, एहि मिस लहरहि लेइ॥

परमात्मा सारे जगत में व्याप्त है किन्तु पकड़ में नहीं आता, यथा—

'सरवर देख एक में सोई।
रहा पानि, पै पान न होई॥
सरग आइ धरती महँ धावा।
रहा धरति, पै धरत न आवा॥'

इत्यादि भावों की ओर संकेत करते चलते हैं। यह प्रवृत्ति पद्मावत की विशेषता है और इसी की परिणति उपसंहार में होती है। ग्रंथ के अन्त में कवि सारी कथा को एक दार्शनिक तथा आध्यात्मिक रूप देना चाहता है और कहता है—मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा। इत्यादि। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि कवि यह नहीं कहता कि कथा रूपक है और इसे समझने की यह विधि है पर वह कहता है कि पण्डित लोगों ने—मेरा अपना यह कथा-विधान नहीं—सारी सृष्टि को—केवल इसी कथा के प्रकरणों और घटनाओं को नहीं—मनुष्य के घट में अन्तर्निहित बतलाया है।

उपसंहार को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह नहीं विदित होता कि रूपक कवि की प्रबन्ध-रचना का आधार या आवश्यक अङ्ग है। जो कुछ जायसी ने अन्त में कहा है वह अपनी दार्शनिक आध्यात्मिक मनोवृत्ति के कारण।

यदि पद्मावत के रूपक पर प्रकाश डालने वाले कथन को एक विदग्धता पूर्ण आध्यात्मिक संकेत के

मृगनयनी

प्रो० देवीशरण रस्तोगी एम० ए०

'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी' और 'झाँसी की रानी' के उपरान्त वर्माजी का यह चौथा ऐतिहासिक उपन्यास है। अब तक के अपने उपन्यासों में उन्होंने बुन्देलखण्ड के अतुल शौर्य और त्याग का चित्रण किया, पर इससे उन्होंने ग्वालियर के मूक-पाषाणों को सवाक् कर दिया है।

राजा मानसिंह तोमर सन् १४८६ से १५१६ तक ग्वालियर का राजा रहा। नवयुवक होने पर भी इस बीच में उसे एक साथ सिकन्दर, गुजरात के महमूद बघेरा और मालवा के ग़यासुद्दीन खिल्जी की कुमन्त्रणाओं तथा आक्रमणों का सामना करना पड़ा। इतना सब कुछ होते हुए भी किस प्रकार वह अपने दाम्पत्य-जीवन का आनन्द पूर्वक उपभोग करता हुआ जन-सेवा और कला-सृजन करता रहा, यही सब कुछ दिखाना लेखक का उद्देश्य रहा है। पर जैसा कि उपन्यास के नाम से स्पष्ट है लेखक का ध्यान मानसिंह की प्रेरक शक्ति और प्रेयसी-पत्नी मृगनयनी के चरित्रचित्रण की ओर विशेष रूप से रहा है।

रूप में हम ग्रहण करें तो उपर्युक्त तीनों दोष स्वतः विलीयमान हो जाते हैं और ग्रन्थ का वास्तविक रूप और सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। पद्मावत का रूपक काव्य न सिद्ध होना कोई क्षति नहीं है। रूपक काव्य कोई उत्तम काव्य नहीं होता। उसमें कवि का कौशल अवश्य दर्शनीय होता है किन्तु उसी के साथ उसमें बहुत बौद्धिक व्यायाम भी होता है और काव्यगत प्रतीति को ठेस लगती है। पद्मावत एक अत्यन्त विदग्धता पूर्ण प्रबन्धकाव्य है। किन्तु वह रूपक भी है यह सिद्ध नहीं होता।

भूमिका में लेखक ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही है—'कुछ पाठक चाहेंगे कि मैं तत्कालीन आर्थिक स्थिति के समझाने के लिए आँकड़े दूँ, परन्तु अनेक पाठक कहानी चाहेंगे, इसलिए अब कहानी—बाक़ी फिर कभी।' अतएव उपन्यास का घटना-प्रधान होना स्वाभाविक है। वास्तव में उपन्यास है भी कथा साहित्य का अङ्ग ही। यह ठीक है कि आज 'भूतनाथ' और फसाने आजाद' वाली किस्सेबाजी का युग नहीं रहा, पर उपन्यास में धर्मोपदेशक या नेता की भाँति बड़े-बड़े भाषण देना अथवा मनोविश्लेषक बन कर कतिपय सिद्धान्तों के समर्थनार्थ अतिरञ्जित, एकाङ्गी तथा विकृतिपूर्ण कथानक गढ़ना बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता। ऐसा कौन पाठक है जो इन शुष्क वर्णनों से ऊब कर पृष्ठ पर पृष्ठ न छोड़ता चला जाता हो? 'मृगनयनी' में कहानी कहने के साथ-साथ लेखक को जो अवसर तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण के लिए मिले हैं, उसने उन्हीं से पर्याप्त लाभ उठा लिया है। इस प्रकार 'मृगनयनी' इस प्रकार की अतिरञ्जना से मुक्त है। इससे अधिक आँकड़े बाजी अथवा कला बाजी करने से उपन्यास का मूल्य तो क्या बढ़ता, कथानक अवश्य ही कई गुना शिथिल हो जाता। केवल अन्तिम अध्यायों में जहाँ ग्वालियर के किले तथा बैजू बावरे के गूजरी-टोड़ी और मङ्गलगूजरी राग निकालने का वर्णन आता है, वहाँ पर अवश्य ही सर्वसाधारण ऊबने लगता है।

प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से कथानक को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) लाखी-अटल तथा मानसिंह—मृगनयनी की प्रणय कथाएँ।

(२) विचित्र जीव बघेरा और नसीरुद्दीन।

(३) जासूसी ताना-बाना बुनने वाले इस नवयुवती-कथानक का अत्यधिक रोचक भाग है—बर्घरा। यह वर्णन 'मीराते-सिकन्दरी' पर आधारित होने के कारण ऐतिहासिक है पर इसके प्रस्तुत करने में जिस तत्परता का परिचय वर्मा जी ने दिया है, वह बे जोड़ है। आज के युग में जब खाने को हवा और पीने को पानी ही बचा है, तो इस बर्घरा का डील-डौल, खान-पान, बोल-चाल और भी अधिक आश्चर्य की बात बन जाती है। वर्माजी लिखते हैं—

'मूँछें इतनी लम्बी कि सिर पर उनकी गाँठ बाँधता था और दाढ़ी नाभि के नीचे तक फटकार मारती थी।'

'नौकर कलेवा ले आए—डेढ़ सौ पके केले, सेर भर शहद और सेर भर मक्खन।··· कलेवे के अलावा बर्घरा दिन भर में एक मन गुजराती वजन का भोजन करता था जो इस गए गुजरे जमाने में बीस सेर के बराबर होता है।'

इससे भी अधिक मनोरञ्जक है वर्माजी का उसकी आवाज का बताना। खाते २ विभिन्न लोगों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार से बात करते समय भावावेश के अनुसार उसकी आवाज के उतार-चढ़ाव को जैसे-जैसे विचित्र उपमानों से वर्माजी ने बताया है, वह एक ओर तो उनकी भाषा-शक्ति का परिचय देते हैं, और दूसरी ओर उनकी तीव्र श्रवण-शक्तिका।

'पेट पर हाथ फेरकर बर्घरा ने एक लम्बी डकार ली। जैसे बरसात में कोई कच्चा मकान गिरा हो।'

'रास्ता और घाट दिखाओ—बर्घरा ने कहा, मानो मोटी भीगी दरी को किसी ने फाड़ा हो।'

'बर्घरा ने मुलायम स्वर में कहा—फिर भी जान पड़ा जैसे कई फटे बाँस एक साथ बज पड़े हों।'

इससे भी अधिक विचित्र जीव है, अपने पिता गयासुद्दीन को विष द्वारा स्वर्ग-धाम पहुँचाकर सिंहासनारूढ़ होने वाला नसीरुद्दीन! पहिले दिन ही १५०० रानियाँ एकत्रित करने का प्रण किया। व्यवस्था के लिए बड़ी खाते बने। मर्दुमशुमारी के लिए आदमी अलग रखे गए। एक दिन कालिया-दह में नग्न स्त्रियां की लज्जा से खिलवाड़ करते हुए दुर्घटना हो गई। कुछ स्त्रियों का दम फूल गया। शोर मचा—बचाओ-बचाओ। नवाब साहब के मुँह से भी निकल पड़ा—बचाओ। पास वाले नौकरों ने आकर प्राण बचाए। इनाम की प्रतीक्षा थी। आज्ञा हुई कि बिना हुक्म के हरम में घुस आने के जुर्म में नौकरों को कत्ल कर दिया जाए। फिर बड़े गमगीन होकर अपने मुसाहिब ख्वाजा मटरू से बोले—'ख्वाजा मटरू! सब मजा किरकिरा हो गया। कोई और शगल सोचो।' थक कर रानियों के डूबने लग जाने के कारण जहाँपनाह का जल विहार जो बीच में रुक गया। उन्हें इसी का गम था। शेष जो कुछ हुआ, मानो उनके लिए न होने के बराबर था। विश्वास नहीं होता कि मानव (!) की कामुकता, शक्ति के मद में, कभी इस सीमा को भी पहुँच सकती है!

इन सामन्तों की बुद्धि का एक और नमूना देखिए। मृगनयनी को पाने के लिए गयासुद्दीन ग्वालियर पर तुरन्त आक्रमण करने की आज्ञा देता है। पता चला कि बरसात के कारण अभी आक्रमण नहीं हो सकता, बस फ[illegible]—'इस कमबख्त बरसात के लिए क्या किया जाए? यह जो और तेजी के साथ बरस पड़ा। जैसे आसमान में छेद हो गए हों! धर्म के नाम पर यह राज्य विस्तार तो खूब करते थे, पर अपना स्वार्थ सामने आने पर धर्म के रहनुमाओं का क्या मूल्य उनकी आँखों में रह जाता था, यह भी देखने की चीज है। यही गयासुद्दीन लाखी को प्राप्त करने के लिए मन्दिर नहीं बरबाद कराता जिस पर मुल्लाओं को आपत्ति होना स्वाभाविक था। गयासुद्दीन बिगड़ उठे—गधा है! बेवकूफ है!! नालायक है!!! जाहिल है वह मुल्ला!!! मुल्ला नहीं कठमुल्ला है।'

धार्मिक संकीर्णता क्या कुछ कर सकती है,

इसका एक मात्र हृदयद्रावक उदाहरण है—लाखी और अटल की जोड़ी। मृगनयनी का भाई अटल गूजर है। और लाखी अहीर। गाँव का बोधन महाराज भला दोनों को विवाह बन्धन में बाँधकर ऐसा अनहोना काम करके पाप कैसे कमाए। फलस्वरूप उन्होंने नटों के साथ मगरौनी पहुँचना पड़ा। स्वाभिमानी हिन्दू ने 'बिना कुछ कर दिखाए' बहनोई के घर जाना अनुचित समझा। वहाँ दो बार नटों के षड़यन्त्र से बचे। नट लाखी को गयासुद्दीन की वासना का आखेट बनाकर अटल को खत्म करना चाहते थे। बाद में ग्वालियर पहुँचने पर बड़ी रानी सुमन मोहिनी ने दोनों को आमंत्रित किया। मृगनयनी ने प्रथानुसार वधू—लाखी—से पहले—पहल थोड़ा-थोड़ा भोजन परोसवाने के लिए आग्रह किया। फलस्वरूप अपमानित होकर लौटना पड़ा। बाद में पता चला कि इस भोजन को खाने वाले कुत्ते तुरन्त मर गए। अन्त में सिकन्दर के आक्रमण से राई गढ़ी को बचाते हुए लाखी ने इन शब्दों के साथ प्राण दे दिए—

'ब्याह कर लेना""अपनी किसी जात-पाँत में।'

प्यासे अरमान समेटे, कर्त्तव्य की वेदी पर, इस प्रकार इस युगल जोड़ी का बलिदान हो जाना कुछ महत्त्व रखता है।

त्याग में मृगनयनी भी कम नहीं। बचपन में वह नाहर, सुअर और अरनों का शिकार करती थी। ग्वालियर में आकर उसने मानसिंह को ग्वालियर का क़िला जैसी कलात्मक वस्तु के निर्माण करने की प्रेरणा दी। बैजू बावरे से गान विद्या सीखी। पूरी तरह से मानसिंह उसके हाथ में था। ग्वालियर में लाखी तथा अटल को आमंत्रित करने के अवसर पर विषाक्त भोजन दिया गया, बैजू बावरे की शिष्या कला द्वारा मृगनयनी को निरसंतान करने का षड़यन्त्र रचा गया, फिर भी मृगनयनी ने स्वेच्छा से अपने दोनों पुत्रों को राज्याधिकार से वंचित करके बड़ी रानी के सुपुत्र को ही राज्य दिला दिया। कर्त्तव्य-पालन का इससे अधिक उदाहरण और क्या हो सकता है? मानसिंह का रात्री भर नगर में घूमना, मजदूर-मजदूरिन के साथ चक्की पीसना, जान-बूझ कर शरणागत जलाल को आश्रय देकर सिकन्दर का कोपभाजन बनना, उसके आदर्श चरित्र में चार चाँद लगा देते हैं। खटकने वाली बात केवल एक है—हिन्दू राजा होकर आठ रानियाँ रखना। पर यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, गले उतारना ही पड़ेगा।

वर्माजी के पूरे उपन्यास का वातावरण ग्राम्य-संस्कृति से सुवासित है। प्रारम्भ में ही होली-वर्णन है। ऐसा लगता है कि मानो वर्माजी ने अत्यधिक मनोयोग से इन अध्यायों को लिखा है। स्त्री पुरुषों का मिल-जुल कर होली खेलना, संध्या समय ग्राम मन्दिर में एक साथ रसिये गाना, फिर सहभोज होना—सभी बातें कथानक में एक अनोखी आत्मीयता भर देती हैं। नन्द-भावज, मृगनयनी—लाखी के मधुर पारस्परिक संलाप हर तीसरे या चौथे अध्याय के उपरान्त मिलेंगे जो मन को अपनी मधुर अल्हड़ता से भर देते हैं। ग्राम-संस्कृति में फूलने-फलने वाले निश्छल, निष्कपट, भोले चरित्र कितने प्यारे हो सकते हैं, वर्माजी ने इतिहास के सहारे यहाँ पर सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिखाया है। 'मृगनयनी' में किंवदन्तियों तथा रोमांस के सहारे इतिहास बोल उठा है।

इसमें मन को मोहित कर लेने वाली अछूती प्रणय-गाथाएँ मिलेंगी, उलझन में डाल देने वाले राजनीतिक दाँव पेच मिलेंगे, रोंगटे खड़े कर देने वाली अंध-काम-वासना की दुश्चेष्टाएँ मिलेंगी, साँस रोककर अत्यन्त व्यग्रतापूर्वक पढ़ने के लिए कुतूहल-वर्द्धक जासूसी उलट-फेर मिलेंगे और साथ ही मिलेंगे, आश्चर्य में डाल देने वाले, हँसा-हँसा कर पेट फुला डालने वाले असाधारण पात्र!

———

कुरुक्षेत्र

श्री रमाप्रकाश एम० ए०, सा० र०

कुरुक्षेत्र क्या है ?—कुरुक्षेत्र को गीता में धर्मक्षेत्र कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि कुरुक्षेत्र वास्तव में मनुष्य के उचित और अनुचित के निर्णय का क्षेत्र है। लेखक भी कुरुक्षेत्र में उचित और अनुचित की भावनाओं से प्रेरित है। उचित ही पुण्य और अनुचित ही पाप है। परन्तु इन पुण्य और पाप की भावनाओं पर केवल युद्ध प्रसङ्ग से ही विचार किया गया है। लेखक के दृष्टिकोण से व्यक्ति और समूह के धर्म में भी अन्तर है।

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनयभी त्यागभी।
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को॥

व्यक्ति के प्रश्न को तो लेखक ने इतना कह कर ही बन्द कर दिया है। समष्टि का धर्म ही उसके कुरुक्षेत्र का विषय है। व्यक्ति जहाँ कहीं आया भी है समष्टि का अङ्ग बनकर ही।

अपने इन विचारों को व्यक्त करने के लिये महाभारत युद्ध ही लेखक के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन हो सकता था; उसी को लेकर केवल दो पात्रों के विचार विमर्श द्वारा विषय को प्रस्तुत किया गया है। वे दोनों पात्र भीष्म और युधिष्ठिर हैं। इनमें युधिष्ठिर को विजयी होकर भी युद्ध से ग्लानि उत्पन्न होती है और भीष्म पराजित होकर भी युद्ध को आवश्यक और वृहत नर-संहार को उचित समझते हैं।

पुस्तक में सात सर्ग हैं जिनमें कथा केवल युद्धोपरान्त युधिष्ठिर के शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म तक जाने की है। उसके पश्चात् केवल उपर्युक्त समस्या पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। इसलिये सारी पुस्तक विचार-प्रधान है भाव-प्रधान नहीं। पद-पद पर बौद्धिक प्रयास पाठक के मन को काव्य के सहज गुण आनन्द से परिश्रान्ति के क्षेत्र में ला पटकता है। इसे तो लेखक ने स्वयं भी स्वीकार किया है।

शान्ति पर्व और कुरुक्षेत्र—दोनों ही ग्रन्थों का प्रारम्भ युधिष्ठिर को युद्ध से उत्पन्न ग्लानि से हुआ है। इस एक समानता को छोड़ कर दोनों ग्रन्थ दृष्टिकोण में एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। महाभारत के युधिष्ठिर की ग्लानि कर्ण की कथा तथा अर्जुन द्वारा उसके वध से उत्पन्न होती है और अपने ही द्वारा हत हुये बन्धु-बान्धवों के ध्यान से और भी बढ़ जाती है। अर्जुन आदि के सामने युधिष्ठिर ने इसे स्वीकार भी किया है।

"राज्य प्राप्त करने की इच्छा से अपने ही भाइयों की हत्या कर हम तो दुख में डूब गये।"

कुरुक्षेत्र में मानव-वध इस ग्लानि का प्रमुख कारण है और बन्धु-बान्धवों का वध गौण। कुरुक्षेत्र में देश की करोड़ों माताएँ और नारियाँ बन्धु-बान्धवों से अधिक महत्व रखती हैं।

पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से,
हो गया संहार पूरे देश का।
× × × ×
पुत्र पति हीना इसी से तो हुईं,
कोटि माताएँ करोड़ों नारियाँ।
× × × ×
और बैठ मानव की रक्त सरिता के तीर,
नियति के व्यंग भरे अर्थ गुनता है कौन?
कौन देखता है शव-दाह बन्धु-बान्धवों का,
उत्तरा का विलाप सुनता है कौन?

महाभारत के युधिष्ठिर को राज्य केवल इसीलिए अच्छा नहीं लगता कि उसे उन्होंने भाइयों

की हत्या कर प्राप्त किया है, परन्तु कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर की विमुखता का कारण वीरहीन पृथ्वी है।

अब वीर कहाँ जो विरोध करें,
विधवाओं पै राज्य करें सुख से।

महाभारत का युधिष्ठिर अपनी ग्लानि को अपने भाइयों, द्रौपदी तथा कृष्ण आदि पर ही प्रकट करता है और उसका निराकरण भीम, अर्जुन और द्रौपदी की भर्त्सना तथा कृष्ण, व्यास और नारद आदि के आदेशों द्वारा होता है। युद्ध के औचित्य पर उपर्युक्त सभी व्यक्ति एकमत हैं। इनमें भीम अर्जुन द्रौपदी तथा कृष्ण युद्ध से निकट सम्बन्ध रखने वाले हैं; व्यास उस समय के इतिहास कार है। सभी के दृष्टिकोण में कृत कर्म के औचित्य और स्वार्थ की सम्भावना हो सकती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ऐसा सोचना अनुचित नहीं कहा जा सकता। नारद को निष्पक्ष कहा तो जा सकता है परन्तु सम्भव है उनके सामने भी विजयी के यशो गान का प्रश्न सम्मुख हो।

कुरुक्षेत्र के लेखक ने कवि अधिकार के प्रयोग से इस सम्भावना को आने ही नहीं दिया। इसलिये उसने युधिष्ठिर के हृदय की शङ्का का समाधान ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया है जो उस समय का प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ-साथ उनका विपक्षी और इच्छा मृत्यु था और रण में हताहत होकर बाणों की शय्या पर उत्तरायण होने तक मृत्यु को टाल रहा था। अनुभव जन्य व्यापक ज्ञान उसके सामने था। उसके समाधान में सशक्त और विजयी के डर एवं उसके यशोगान की सम्भावना हो ही नहीं सकती।

परन्तु इसमें भी अन्तिम समय प्रतिशोध की भावना से विष फैलाने की सम्भावना हो सकती थी; लेखक ने इसका भी ध्यान रखा है। विजयी जब अपने विजयासन से उतर कर अपनी द्वेषगत भावनाओं को मानव बन कर विजित से स्वीकार कर लेता है तब विजित भी सत्य की इस पवित्र धारा में अपने अपमान को भूल कर मानव मात्र बन जाता है; प्रतिशोध की भावना गल कर बह जाती है। लेखक ने कुरुक्षेत्र में इसी मनोवैज्ञानिक सत्य से काम लिया है। युधिष्ठिर ने भीष्म से स्पष्ट मान लिया है :—

अपमान का शोध मृषा मिस था
सच में हम चाहते थे सुख पाना,
फिर एक सुदिव्य सभा गृह को
रचवा कुरुराज के जी को जलाना।

इस पर भीष्म भी अपनी और कौरवों की गलतियों को मानने में सङ्कोच नहीं करते—

सदा नहीं मानापमान की
बुद्धि उचित सुधि लेती···
बाँध उसी ने मुझे द्विधा में
बना दिया कायर था···
राजद्रोह की आग जलाकर
कहीं अभागा होता,
न्याय पक्ष लेकर दुर्योधन
को ललकारा होता॥

दुर्योधन के द्वेष को भी वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं।

पर दुर्योधन दुरग्नि
नङ्गी हो नाच रही थी
अपनी निर्लज्जता
देश का पौरुष जाँच रही थी॥

महाभारत के भीष्म और युधिष्ठिर के पारस्परिक सम्बन्ध से इसमें आकाश पाताल का अन्तर है। युधिष्ठिर वहाँ भीष्म के सामने जाने में भी डरते हैं। उन्हें भीष्म के शाप का भय है। अर्थात् महाभारत का युधिष्ठिर इतना दृढ़ नहीं है।

महाभारत कार ने एक पक्षीय समाधान तथा भीष्म द्वारा राज धर्म के आदेश से ही सन्तोष कर लिया है। परन्तु कुरुक्षेत्र के लेखक ने दोनों दलों के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों के विचार विमर्श द्वारा समाधान देने का प्रयास किया है। साथ ही साथ कुरुक्षेत्र के लेखक

ने राज धर्म के स्थान पर युद्ध के औचित्य एवं अनौचित्य को ही सिद्ध करने का प्रयास किया है।

कुरुक्षेत्र क्यों? साहित्य युग और देश दोनों का परिचायक और पथ प्रदर्शक होता है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि कुरुक्षेत्र उपर्युक्त कसौटी पर कहाँतक खरा उतरा है। द्वितीय महायुद्ध १६४५ में समाप्त हो चुका था और कुरुक्षेत्र १६४६ में प्रकाशित हुआ। लेखक के 'निवेदन' से यह ज्ञात नहीं होता कि लेखक ने इसे कब लिखना प्रारम्भ किया।

लेखन काल में देश की स्थिति—१६४६ तक देश पराधीनता और सम्पूर्ण देश युग महापुरुष महात्मा गांधी के दिखाए विलक्षण अहिंसा मार्ग का अनुसरण करता हुआ स्वतन्त्रता की ओर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहा था। विजय पल-पल पर वरण करने के लिए बढ़ती चली आ रही थी। देश के दूसरे राजनैतिक दल भी इसी एक उद्देश्य को लेकर भिन्न-भिन्न साधनों के द्वारा क्रियाशील थे, जिनमें हिन्दू-महासभा, मुस्लिम-लीग, राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ तथा समाजवादी दल प्रमुख थे। समाजवादी दल का गांधीजी के अहिंसा मार्ग पर पूरा विश्वास था। मतभेद केवल देश के आर्थिक निर्माण में था। और सभी दल संकुचित धार्मिक दृष्टिकोण लिए हुए थे। कुछ दलों में तो गांधीजी के मानवतावाद के विरुद्ध इतने उग्र और हिंसात्मक विचार भरे हुये थे कि उन्होंने उस युग महापुरुष को संसार से उठा दिया।

उधर विश्व महायुद्ध में भाग लेने वाले दोनों पक्षों पर दृष्टिपात करने से कोई भी निष्पक्ष मनुष्य निर्णय पूर्वक यह नहीं कह सकता कि धुरी राष्ट्र न्याय पथ पर थे अथवा मित्र-राष्ट्र। प्रतीत यही होता है कि दोनों ही अपने-अपने स्वार्थों से प्रभावित होकर एक दूसरे को अन्यायी ठहरा रहे थे। युद्ध में दोनों ही पक्ष दानवीय साधनों से लड़े और दोनों ने मानव रक्त की होली निर्दयता पूर्वक खेली। युद्ध में विजय के फलस्वरूप ही विजयी पक्ष को न्याय और मानवता का संस्थापक नहीं कहा जा सकता।

लेखक ने विश्व की वर्तमान साधारण राजनैतिक परिस्थितियों का अनुमान युद्ध से पहिले महाभारत काल में भी किया है—

परस्पर की कलह से, वैर से होकर विभाजित,
कर्म से दो दलों में हो रहे थे लोग सज्जित।
खड़े थे वे हृदय में प्रज्वलित अंगार लेकर,
धनुर्ज्या को चढ़ाकर म्यान में तलवार लेकर॥

इस दशा में वर्तमान के अनुभव के बल पर यह कैसे कहा जा सकता है कि महाभारत काल में भी कुरुक्षेत्र के अनुसार कोई दल न्याय पथ पर था। उपर्युक्त राजनैतिक परिस्थितियों में युद्ध का विस्फोट उत्पन्न करने के लिये जो विशेष कारण कुरुक्षेत्र के लेखक ने माने हैं उनमें अवश्य अन्याय के प्रतिकार की भावना मिलती है।

चुराता न्याय जो रण को बुलाता भी वही है।
युधिष्ठिर सत्य की अन्वेषणा पातक नहीं है॥

यही भावना युद्ध पर औचित्य की मोहर लगा देती है।

पाप हो सकता नहीं वह [illegible] है,
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

इस दृष्टिकोण से केवल पांच पाण्डवों और सौ कौरवों तक ही न्याय का अन्याय के प्रति संघर्ष कहा जा सकता है शेष में लेखक न्याय की भावना स्वयं भी नहीं मानता।

न केवल यह कुफल कुलवंश के संघर्ष का था,
विकट विस्फोट यह सम्पूर्ण भारतवर्ष का था।
कहीं उत्कर्ष ही नृप का नृपों को सालता था,
कहीं प्रतिशोध का कोई भुजङ्गम पालता था।

तब फिर लेखक कौरवों और पाण्डवों को छोड़ कर शेष बृहत मानव-रक्तपात को कहाँ तक न्यायोचित कह सकता है समझ में नहीं आता।

इसलिए देखना यह है कि कुरुक्षेत्र में कौन सी विचार-धारा काम कर रही है।

वास्तव में देश में गांधीजी के मानवतावाद के विरुद्ध कितने ही संगठित और संयुक्त मोर्चों का निर्माण हो चुका था जिनमें कुछ तो रूढ़िवादी थे जो किसी भी नये प्रयोग को शंका की दृष्टि से देखते थे। कुछ को सम्भावित स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर बहुत-सी (अवांछित) सुविधाओं से हाथ धोने का भय था। कुछ विदेशी राज्य को विधाता की इच्छा समझते थे तथा कुछ पाश्चात्य देशों के भिन्न-भिन्न वादों से प्रभावित थे। इन सभी व्यक्तियों का दृष्टिकोण निष्पक्ष नहीं था। जो मनुष्य भिन्न-भिन्न वादों से प्रभावित थे वे तो सभी अपने को उचित और यथार्थ मानवता का प्रतीक समझते थे; दूसरे को राक्षस। इसलिए वे सभी अपने वाद और उसके द्वारा प्रतिपादित मानवता की स्थापना के लिये दूसरे के विनाश को प्रत्येक समय प्रस्तुत थे (तथा अब भी हैं।)

दनुज क्या शिष्ट मानव को कभी पहिचानता है।
विनय की नीति कायर की सदा वह मानता है॥

उस युद्ध और विजय की आशा में उनके तर्क भी वैसे ही थे—

है मृषा [illegible] हृदय की जल्पना
युद्ध करना पुण्य है या पाप है।
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं,
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो॥

इन लोगों ने व्यक्ति और समुदाय को भी भिन्न ही माना है—

व्यक्ति का धर्म तप करुणा क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी।
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को॥

इन्हीं विचारों के प्रवाह में उनके सामने केवल एक ही पथ आया वह था युद्ध का और मानव रक्त पात का—

न्यायोचित अधिकार माँगने
से न मिलें तो लड़ के।
तेजस्वी छीनते समर को
जीत या कि खुद मरके॥

और न्यायोचित अधिकार की व्याख्या प्रत्येक दल के स्वार्थमय दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न-भिन्न थी और उसे सिद्ध करने के लिये स्वार्थ का कहीं भी अन्त नहीं था।

कुरुक्षेत्र ऐसी ही विचार धारा का फल है।

मानव सभ्यता के विकास में कुरुक्षेत्र और गाँधी वाद का स्थान—मनुष्य की उत्पत्ति और उसकी सभ्यता के विषय में डारविन का विकासवाद ही अब तक सबसे अधिक उपयुक्त वैज्ञानिक मत माना जाता है। उसके अनुसार जीव छोटे-छोटे जलजन्तुओं से विकसित होकर वानर आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पार कर मानव श्रेणी में आया है। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि उसकी सभ्यता का विकास भी पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर होना चाहिए, पशुत्व की ओर नहीं।

इस दृष्टि कोण से कुरुक्षेत्र बिल्कुल अवैज्ञानिक है। उसके मत से प्रारम्भिक मानव अधिक सभ्य था—

नर नर का प्रेमी था, मानव
मानव का विश्वासी।
उच्चनीच का भेद नहीं था
जन-जन में समता थी॥
था कुटुम्ब सा जन समाज
सब पर सबकी ममता थी॥

कुरुक्षेत्र के अनुसार इस मानवता का धीरे-धीरे ह्रास हो गया।

तब पैठा कलिभाव स्वार्थ बन,
कर मनुष्य के मन में।
लगा फैलने गरल लोभ का
छिपे छिपे जीवन में॥

परन्तु गांधीवाद विकास शृङ्खला में एक और कड़ी है। जहाँ मानव को धीरे प्रकृति के रहस्य

को जानकर अपने सुख और सुविधा के साधनों का विस्तार किया है। वहाँ वह पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर भी अग्रसर हुआ है। उसकी निजत्व की भावना का विस्तार कुटुम्ब से बढ़कर, गिरोह जाति और देश तक बढ़ा। आज तो देश की सीमा भी विश्व में विलीन होने की सम्भावना प्रतीत होती है। इसी भावना से प्रेरित होकर आज के विचार-शील पुरुष विश्व तन्त्र पर विचार कर रहे हैं।

परन्तु कुरुक्षेत्र का लेखक अभी इस भावना से बहुत पीछे है। उसके सामने तो अभी दलों का प्रश्न और सामुहिक युद्ध दोनों ही हैं। परन्तु वसुधैव कुटुम्बकं की भावना आने पर तो विपक्षी दल की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता, और दण्ड का विधान आन्तरिक शासन के समान अपराधी तक ही सीमित रह जाता है। मानव-रक्त तब व्यर्थ ही पानी बनकर नहीं बहता।

कुरुक्षेत्र के लेखक का विकास व्यक्ति में धर्म, तप, करुणा, क्षमा विनय और त्याग की उत्पत्ति तक ही सीमित है। समुदाय में उसमें अभी पशुत्व दानवता और रक्तपात की प्रवृत्ति अभी तक विद्यमान है। जिस मानवता को बुद्ध और ईसा ने व्यक्ति में स्थापित किया था उसे गांधीजी ने अहिंसात्मक युद्ध द्वारा समुदाय में सफलता पूर्वक स्थापित कर दिया है। इसलिये लेखक अभी अढ़ाई हजार वर्ष पीछे है।

दोनों का महान अन्तर—युद्ध में मानव रक्तपात की हीनता और उससे उत्पन्न पाप कुरुक्षेत्र के लेखक के हृदय में प्रवेश तो करता है।

सच है, मनुज बड़ा पापी है।
नरका वध करता है ॥

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है, कि जैसे वह उसे बरबस निकाल फैंकना चाहता है और अपने को ही धोखा देकर वह अपने कुकृत्य पर सुकृत्य की मोहर लगाना चाहता है।

पर भूलो मत मानव के हित।
मानव ही मरता है ॥

यहाँ यथार्थ को छिपाने का शब्द कौशल स्पष्ट है। पद से तो यह ध्वनि निकलती है, कि मनुष्य मनुष्य के हित के लिए ही अपना बलिदान करता है। परन्तु लेखक का तात्पर्य है कि मानव मानव का संहार मानव हित के लिये करता है। बलिदान होने और संहार करने की भावना में कितना महान अन्तर है।

संहार करने की भावना पशुत्व को प्रबल कर युद्ध का आवाहन करती है और बलिदान की भावना अत्याचारी में भी अपने बलिदान से मानवता की भावना का उदय करती है। एक मनुष्य को पशु और दूसरा मानव बनने का आदेश देता है।

पहिला पथ लेखक का है, और दूसरा गान्धीजी का। पहिली भावना आज की तृतीय महा युद्ध का आवाहन कर रही है, और दूसरी विश्व को प्रेम और शान्ति का सन्देश दे रही है। अच्छा होता लेखक ने इसी भावना को अपने किसी ग्रन्थ में प्रश्रय दिया होता।

पन्त : मार्क्स से अरविन्द की ओर

श्री चन्द्रदान चारण

बीसवीं सदी में विश्व की दो महान् विभूतियों ने संकट-ग्रस्त मानव जाति के त्राण के लिए दो अनूठे प्रयोग किये। प्रथम रूस में लेनिन द्वारा तथा द्वितीय भारत में महात्मा गांधी द्वारा। एक ने भौतिक जगत को महत्व प्रदान किया और उसी के अनुसार आर्थिक तथा राजनीतिक क्रान्ति को सर्वस्व मानकर समस्या का हल प्रस्तुत किया। द्वितीय ने रोटी कपड़े से भी उच्च आदर्श की ओर संकेत किया। यद्यपि दोनों ही मानव-जाति की कल्याण कामना करते थे पर साधन भिन्न थे एक की दृष्टि में साध्य ही मुख्य था, साधन चाहे जो हो पर दूसरे ने साधन की पवित्रता पर भी जोर दिया।

इन दो प्रबल व्यक्तियों में से पन्तजी पर सर्वप्रथम प्रभाव पड़ा लेनिन द्वारा गृहीत मार्क्सवादी विचार धारा का। 'छायावाद के मुक्त सूक्ष्म आकाश में कल्पना की उड़ान' भरने के बाद कवि 'हरी भरी ठोस जन पूर्ण धरती' पर आया और हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद का सर्वप्रथम नेतृत्व किया। उसकी कोमल-कान्त-पदावली और कल्पना पीछे छूट गई। उसके छन्दों के बन्ध खुल गये और उसकी वाणी 'अयास' बहने लगी। अलङ्कारों का महत्व भी उसकी दृष्टि में कुछ न रहा। केवल विचार ही सब कुछ रह गये। कवि ने 'वाणी' को सम्बोधन करते हुए लिखा—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलङ्कार!

पर पन्तजी की यह विचारधारा अधिक दूर तक सीधी न जा सकी। 'परिवर्तन' के कवि की काव्य-धारा में परिवर्तन हुआ और आज पन्तजी मार्क्स को नमस्कार करके अरविन्द के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चल रहे हैं। श्रमिकों की रोटी-वस्त्र के प्रश्न को महत्व प्रदान करने वाले कवि को जन्म लेती हुई नई मानवता की अन्तर्चेतना का प्रकाश प्राप्त हुआ और उसने अनुभव किया कि केवल आर्थिक क्रान्ति से ही विश्व सुखी नहीं हो सकता। मानव का जीवन के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आवश्यक है। पन्तजी ने युगवाणी की भूमिका में इस परिवर्तन की ओर संकेत करते हुए लिखा—"...........भविष्य में जब मानव जीवन विद्युत तथा अणुशक्ति की प्रबल टाँगों पर प्रलय वेग से आगे बढ़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका सञ्चालन करने में समर्थ नहीं हो सकेगी.... बाह्य-जीवन के साथ ही उसकी अन्तर्चेतना में भी युगान्तर होना अवश्यंभावी है।"

दीर्घ अस्वस्थता के बाद पन्तजी के तीन नवीन काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं—(१) स्वर्ण किरण (२) स्वर्णधूलि और (३) उत्तरा। कवि ने अपनी आँखों के सामने दो महान् युद्धों की विभीषिका देखी। कवि के मस्तिष्क में एक हलचल उत्पन्न हुई—विनाश का ताण्डव नृत्य क्या मानवता को जीवित न रहने देगा? अणुबम और उद्‌जन बम के ध्वंसात्मक प्रयोग की कल्पना कर कवि सिहर उठा। तभी कवि का परिचय अरविन्द के जीवन-दर्शन से हुआ और 'विश्व-कल्याण के लिए अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन' मान वह उसी मार्ग पर चल पड़ा। "........नवीन सांस्कृतिक संगठन की रूपरेखा तथा नवीन मान्यताओं का आधार क्या हो इस सम्बन्ध में मेरे मन में ऊहा-पोह चल ही रहा था कि इसी समय में श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन के संपर्क में आगया और मेरी ज्योत्स्ना-काल की चेतना एक नवीन युग प्रभात की व्यापक चेतना में प्रस्फुटित होने लगी जिसको मैंने

प्रतीकात्मक रूप से स्वर्ण-चेतना कहा है........"
(मैं और मेरी कला—पंत, 'संगम' २१ मई सन् १९५०) उपरोक्त विचार को 'श्री अरविन्द दर्शन' शीर्षक कविता में अङ्कित करते हुए पन्तजी ने लिखा—

"आज लोक संघर्षों से जब मानव जर्जर,
अति मानव बन तुम युग-संभव हुए धरा पर !
अन्न प्राण मन के त्रिदलों का कर रूपान्तर,
वसुधा पर नव स्वर्ग सँजोने आये सुन्दर !"

कवि का विश्वास है कि वर्तमान संघर्ष पूर्ण विश्व को यदि जीवित रहना है, विकास करना है तो उसे भारत की महान् विभूतियों—गांधी, अरविन्द आदि के जीवन-दर्शन को अपनाना चाहिए। मानव की चेतना में आज एक प्रकार की जड़ता आ गयी है। पाशवता ने उसके देवत्व को दबा लिया है। एक मनुष्य दूसरे का गला काटने को तैयार बैठा है। मानव का अन्तर्मन सुप्त पड़ा है और बहिरूप ने उसकी बुद्धि को कुण्ठित कर रक्खा है—

"बहिश्चेतना जाग्रत जग में,
अन्तर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित,
अन्तर्जीवन मूर्छित, मृत ॥"

कवि वर्तमान दशा से सन्तुष्ट नहीं है और वह इसमें परिवर्तन लाना चाहता है—

"बदलेंगे हम चिर विषण्ण वसुधा का आनन
विद्युत् गति से लावेंगे जग में परिवर्तन।"

यह परिवर्तन किस प्रकार सम्भव है ? अर्थ के समविभाजन से नहीं बल्कि जीवन के प्रति वर्तमान भौतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन ही इसका उपचार है। इसके लिए वर्तमान जीर्ण मन उपयोगी नहीं। अतः नवीन मन का सृजन करना पड़ेगा और कवि यही कहता है—

"सृजन करो नूतन मन।
प्रार्थी आज मनुज आत्मज मन
नव्य चेतना का भू पर
जिसकी स्वर्गिम आभा में
विकसित हो नव संस्कृत जीवन !"

वर्तमान यान्त्रिक युग ने हमारे भौतिक सुखों में वृद्धि अवश्य की है पर कवि की राय में वही सब कुछ नहीं। मानव की इच्छा पेट की ज्वाला शान्त करने तक ही नहीं, वह उससे भी आगे मन की तृष्णा भी शान्त करना चाहता है। यह तृष्णा बिना अन्तश्चेतना के शान्त नहीं हो सकती। कवि इसीलिए साँस्कृतिक क्रान्ति को विशेष महत्व देता है। आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति तो उसकी दृष्टि में साँस्कृतिक क्रान्ति के महान् लक्ष्य की सोपान कही जा सकती है। वह साँस्कृतिक क्रांति शीघ्र ही आने वाली है। उसे कोई रोक नहीं सकता, वर्तमान यान्त्रिक युग भी नहीं। कवि की राय में यह चिरन्तन 'सत्य' है—

"यान्त्रिक पशुबल से रोकोगे,
मानव का देवोत्तर विकास !"

कवि चाहता है कि मानव के सुप्त गुण जाग्रत हों—

"फिर श्रद्धा विश्वास प्रेम से
मानव अन्तर हो अन्तः स्मित।"

मार्क्स की लाल क्रान्ति कवि की राय में भारत के लिए अनावश्यक और अहितकर है। पन्तजी का विश्वास है कि विश्व में नवी मानवता निर्माण करने की, पथ निर्देश करने की क्षमता महात्मा गाँधी और अरविन्द के जीवन-दर्शन में है। और उनका यह जीवन-दर्शन ही पन्तजी की साँस्कृतिक क्रान्ति का आधार है।

यह माना जा सकता है कि अगर मानवता को वर्तमान विनाश से बचना है तो उसे ध्वंस के मार्ग, सृजन के पथ को अपनाना पड़ेगा। पर पन्तजी की यह साँस्कृतिक क्रान्ति कैसे हो ? कैसे मानव की अन्तर्चेतना जाग्रत हो ? क्या वर्तमान समाज व्यवस्था में यह सम्भव है ? नहीं। जब तक प्रत्येक मनुष्य को उसके श्रम का पूर्ण भाग नहीं मिलता तब तक साँस्कृतिक चेतना केवल कल्पना ही रहेगी और

इसी विचार को लेकर जब कुछ आलोचकों ने पन्तजी की इन नवीन रचनाओं की आलोचना की तो वे अत्यन्त क्षुब्ध हुए और उन आलोचकों को कम्युनिस्ट होने का फतवा दे दिया। "ये आलोचक अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्युनिस्ट भी हैं।" ('उत्तरा' की भूमिका)

'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' की रचनाएँ ही नहीं बल्कि नामकरण भी पन्त को प्रगति के पथ से हटाकर उस कल्पना लोक में ले जाता है जिससे बचपन से ही उनका परिचय है। पन्तजी की नवीन रचनाओं की आलोचना करते हुए 'श्री बच्चनजी' ने लिखा है—"मनुष्यता सदा से स्वप्न देखने की आदी रही है। उसे अच्छे स्वप्न देखना आता है, चाहे वे स्वप्न अन्त में झूठे ही क्यों न साबित हों। पन्तजी की स्वप्नमयी कल्पना ऐसे तमाम लोगों के लिये निमन्त्रण है।" (उत्तर पंत—बच्चन, संगम, २१ मई सन् १९५०)

सांस्कृतिक क्रान्ति आवश्यक है यह तो स्वीकार किया जा सकता है पर बिना आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति के वह किस प्रकार सफल हो सकती है इस पर विचार नहीं किया गया। पन्तजी वैज्ञानिक आविष्कारों के ध्वंसात्मक प्रयोग की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति ने मानव को अणुशक्ति [illegible] ही नहीं बल्कि उद्जन शक्ति से भी परिचित कराया है पर सृजन के लिये नहीं बल्कि संहार के लिए।" पर पन्तजी इस बात को भूल जाते हैं कि विज्ञान का संहारकारी प्रयोग वे मुट्ठी भर साम्राज्यवादी और पूँजीपति ही करते हैं जो अर्थ सत्ता को अपने अधिकार में रख कर करोड़ों व्यक्तियों का अधिकार और मुँह का कौर छीनना चाहते हैं। वैज्ञानिक उन्नति प्रतिगामी नहीं है, अन्तर व्यवहार में है। जहाँ राष्ट्रीयकरण है वहाँ वैज्ञानिक विकास व्यक्ति और समाज को अधिक से अधिक सुख और शान्ति प्रदान करता है। अशान्ति और दुःख का कारण तो वह तब बनता है जब कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का अधिकार छीन स्वयं तो कोठियों में रहते हैं और उत्पादन करने वालों को अपने श्रम का पूर्ण भाग प्राप्त न होने के कारण सर्दी, गर्मी और बरसात में खुले आकाश के नीचे जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अतः सांस्कृतिक क्रान्ति और सांस्कृतिक चेतना मानव के लिये कल्याणकारी होते हुए भी बिना आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति के असम्भव है। इसी सिद्धान्त को स्वीकार कर सम्भव है, पन्तजी ने लिखा है—"मेरे हृदय में यह बात गम्भीर रूप से अङ्कित हो गई कि नवीन सामाजिक संगठन राजनीतिक आर्थिक आधार पर होना चाहिए। यह धारणा सर्व प्रथम सन् १९४२ में मेरी 'लोकायन' की योजनाओं में और आगे चल कर 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है।" (मैं और मेरी कला)

महात्मा गाँधी और अरविन्द का जीवन व्यक्ति के लिए उपयोगी और आदर्श हो सकता है पर जहाँ समाज का प्रश्न आता है वहाँ यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीवन में तप और एकान्तवास का नहीं बल्कि कर्म का महत्व अधिक है। अहिंसा का सिद्धान्त और तपस्या व्यक्ति के लिए शोचनीय हो सकता है पर समाज और देश की समस्यायें इनसे नहीं सुलझ सकती। गाँधीवाद भी साँस्कृतिक विकास में अभी आगे नहीं बढ़ा है। स्वयं पन्तजी ने 'उत्तरा' की भूमिका में इसे स्वीकार किया है—"गाँधीवाद का साँस्कृतिक चरण अभी पंगु तथा निष्क्रिय ही पड़ा हुआ है।"

पन्तजी आजकल गद्य में नये प्रयोग कर रहे हैं और 'क्रमशः' नामक उपन्यास की रचना में संलग्न हैं। आशा है कि मानवता का यह कवि अपनी लेखनी से युगानुरूप सामाजिक चेतना को अङ्कित कर प्रगति का नव प्रकाश विकीर्ण करेगा।

———

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

(एक अध्ययन)

श्री दुर्गाचरण मिश्र

आचार्य हजारीप्रसादजी हिन्दी के उन इने-गिने चिन्तकों में से एक हैं जिनकी मूल निष्ठा प्राचीन भारतीय संस्कृति में है। लेकिन साथ ही साथ आप में नवीनता का एक अद्भुत एवं अपूर्व सामञ्जस्य पाया जाता है। आपने जीवन के प्रारम्भिक काल में गवर्नमेण्ट-संस्कृत-कालेज, काशी में संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की और साथ ही साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहचर्य्य से साहित्यिक प्रेरणा भी प्राप्त करते रहे। इस तरह एक प्रकार से आचार्य शुक्ल जी आचार्य हजारीप्रसादजी के साहित्यिक गुरु हैं। काशी के अतिरिक्त हजारीप्रसादजी शान्ति निकेतन में हिन्दी-भवन के अध्यक्ष भी रहे। शान्तिनिकेतन के रमणीय, सहज, आत्मीय एवं साहित्यिक वातावरण में रहकर आचार्य हजारीप्रसादजी को अपने पाण्डित्य का संस्कार करने का स्वर्ण अवसर मिला। वहाँ पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिमोहन सेन के सरल साहचर्य्य में आपने बँगला साहित्य का गम्भीर एवं व्यापक अध्ययन किया। साथ ही साथ इन महानुभावों के सरल एवं आत्मीय स्वभाव ने हजारीप्रसादजी को भी प्रकृति, पशु, पक्षियों, पौधौं आदि से आत्मीयता स्थापित करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार आचार्य हजारीप्रसादजी के साहित्यिक व्यक्तित्व निर्माण में एक ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हाथ है तो दूसरी ओर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिमोहन सेन का। इसी प्रकार अध्ययन में एक ओर संस्कृत के विशाल साहित्य-भण्डार का ज्ञान है जिसके अन्तर्गत भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य और विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों का गहन अध्ययन, उदाहरणार्थ जैन-धर्म बौद्ध-धर्म नाथ-सम्प्रदाय एवं सिद्ध सम्प्रदाय आदि और दूसरी ओर बँगला साहित्य का विस्तृत ज्ञान। इसके अतिरिक्त आपका अपभ्रंश-साहित्य का भी विशेष अध्ययन उल्लेखनीय है। आचार्य हजारीप्रसादजी हिन्दी साहित्य में निबन्धकार एवं आलोचक के रूप में विशेष विख्यात हैं।

निबन्धकार:—निबन्धकारों में यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो आचार्य शुक्लजी के पश्चात् आचार्य हजारीप्रसादजी का ही प्रमुख स्थान है। हम यह पहले कह आये हैं कि आचार्य शुक्लजी आचार्य हजारीप्रसादजी के साहित्यिक गुरु हैं। अतः शुक्लजी की निबन्ध-शैली का हजारीप्रसादजी की शैली पर स्पष्ट प्रभाव है। हजारीप्रसादजी के हमें चार प्रकार के निबन्ध प्राप्त होते हैं—

१—शुद्ध साहित्यिक निबन्ध।

२—साँस्कृतिक निबन्ध।

३—खोज सम्बन्धी निबन्ध।

४—शिक्षा विषयक निबन्ध।

शुद्ध साहित्यिक निबन्धों में 'बसन्त आ गया' 'एक तोता और एक [illegible]ना', 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है' आदि हैं, जिनमें आप की विद्वता एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। बसन्त आता है, हमारे आसपास का वातावरण, वनस्थली अनेक प्रकार के रङ्ग-बिरंगे पुष्पों से आच्छादित हो जाता है लेकिन हममें से बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उसे देखकर कुछ सोचते हैं। हजारीप्रसादजी उसे देखते हैं। उस पर विचार करते हैं और कहने के लिए बाध्य हो उठते हैं—"पढ़ा है हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमङ्ग नहीं इत्यादि-इत्यादि। इधर देखता हूँ पेड़-पौधे और भी बुरे हैं।.......बसन्त आता नहीं ले आया जाता है" (अशोक के फूल पृ० सं० १२

इन निबन्धों को पढ़कर पाठक कुछ सोचने के लिये बाध्य होता है।

सांस्कृतिक निबन्धों में 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या' 'भारतीय संस्कृति की देन' आदि प्रमुख हैं। जिनमें हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति के व्यापकता की एक झाँकी मिलती है। साथ ही साथ उसका संसार की अन्य प्राचीन संस्कृतियों से एक तुलनात्मक अध्ययन भी प्राप्त होता है। जो हमें हमारी संस्कृति की विशेषता और उसके व्यापक संसार का ज्ञान कराता है। संस्कृति के बारे में उनका अपना जो मत है वह यह है—"मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अङ्गीकृत नहीं हो सकी" (अशोक के फूल पृ० सं० ७३, भारतीय संस्कृति की देन) इस प्रकार ये सारे संसार की जातियों में साँस्कृतिक दृष्टि से एकता लाने का प्रयास करते हैं।

खोज सम्बन्धी निबन्धों के लिये तो हजारीप्रसादजी हिन्दी में एक हैं। इनके पहले इस प्रकार के निबन्धों का एक प्रकार से हिन्दी में बिल्कुल अभाव ही था। बौद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, जैन-साहित्य, अपभ्रंश-साहित्य आदि के व्यापक अध्ययन के बाद आपने इन सम्प्रदायों पर तथा उनके साहित्य पर जो निबन्ध लिखे वे हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' के अन्तर्गत आपके इसी प्रकार के निबन्धों का संकलन है। इन निबन्धों से हिन्दी साहित्य के वास्तविक इतिहास को समझने और परखने में विशेष सहायता मिली है। कबीर के ऊपर आपकी पुस्तक 'कबीर' हिन्दी-साहित्य को अनुपम और नवीन देन है।

शिक्षा-विषयक आपके बहुत कम निबन्ध हैं। लेकिन शिक्षा के बारे में आपका एक स्वस्थ दृष्टिकोण होने के कारण तद्विषयक निबन्धों में भी आपने शिक्षा को जनहित की दृष्टि से ढालने की एक नवीन दिशा सुझाई है, जिसका अनुसरण किया जाय तो राष्ट्र के उत्थान के एक आवश्यक अंग की पूर्ति हो सकती है।

निबन्धों की भाषा और शैली में भी हजारीप्रसादजी अपनी विशेषता रखते हैं। भाषा सरल एवं चुस्त है। शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास कितना सुन्दर है, इसका परिचय आपको केवल एक उदाहरण से मिल सकता है। जैसे "नीम है, जवान हैं। मसें भींगी हैं और आशा तो है ही" "मल्लिका बुरी तरह चुप है" (अशोक के फूल—पृ० सं० ११—बसन्त आ गया) गम्भीर भावों के लिये भी आपने अपनी एक ही प्रकार की सरल भाषा का प्रयोग इस विद्वता के साथ किया है, कि न भाषा में रूक्षता आने पाई है, और न भावों के व्यक्त होने में ओछापन ही आने पाया है। उर्दू एवं अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग का एक प्रकार से बहिष्कार ही है। संस्कृत उद्धरण अवश्य बीच-बीच में मिलते हैं। शैली प्रवाह युक्त है। बंगला-साहित्य और विशेषकर गुरुदेव के प्रभाव के कारण आपकी वर्णन-शैली में जो आत्मीयता बोधगम्यता एवं सरलता है वह हिन्दी के किसी भी निबन्धकार में नहीं पाई जाती। शुक्लजी की भाँति अपने मत को किसी के ऊपर बलपूर्वक लादने की इन्होंने कहीं भी कोशिश नहीं की है। कहीं व्यङ्ग भी किया है, तो बड़े आत्मीय-ढङ्ग से उदाहरण के लिये 'एक तोता और एक मैना' नामक निबन्ध में मैना के ऊपर यह व्यङ्ग देखिये—"भले मानस गोबर के टुकड़े तक ले आना नहीं भूलते।" यही कारण है कि लेखक की आत्मीयता पाठक के साथ बराबर बनी रहती है। पाठक को इनके आचार्यत्व का मान किसी प्रकार खटकता नहीं। लेखक के भावों का पाठक के भावों के साथ तादात्म्य होता चलता है। उसे निबन्ध में एक अपनापन सा अनुभव होता है। हाँ इनके निबन्धों में शुक्लजी की भाँति तारतम्य

आद्योपान्त एक ही नहीं रहता। इसका कारण यह है कि ये विषय से हटकर बहुत दूर चले जाते हैं, और फिर घूम-फिरकर उस पर आते हैं। उदाहरण के लिये 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध को ही लीजिये। उसमें द्विवेदीजी अशोक के फूल के बारे में सोचते-सोचते भारतीय संस्कृति और मानव-प्रवृत्ति तक चक्कर काट आते हैं। और फिर अन्त में विषय पर आते हैं। इसलिये इनके अनेक निबन्ध निबन्ध न रहकर 'लेख' की श्रेणी में आ जाते हैं। समझाने का ढङ्ग भी हजारीप्रसादजी का अच्छा है। विषय को समझाने के बाद पाठक को आप एक नाटकीय चरमसीमा पर लाकर छोड़ देते हैं कि वह कुछ सोचे। निबन्ध में आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि आप विषय के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर भी प्रकाश डालते चलते हैं। जिसके लिये आपको अनेक ऐसी बातें कहनी पड़ती हैं, जो विषय के बाहर की होती हैं। इससे पाठक का एक विषय के साथ-साथ अन्य अनेक विषयों का ज्ञान-भण्डार भी बढ़ता रहता है। पाठक की उत्सुकता बनी रहती है। वह एक के बाद दूसरे निबन्ध को पढ़ने की इच्छा करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हजारीप्रसादजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं।

आलोचक:—'वाद' से तटस्थ रहकर साहित्य की सच्ची परख करने वालों में आचार्य हजारीप्रसादजी का नाम अग्रगण्य हैं। द्विवेदीजी में आलोच्यकृति की आत्मा को मापने की अद्भुत क्षमता है। एक ओर संस्कृत काव्य शास्त्रों का गहन अध्ययन और दूसरी ओर रवीन्द्रनाथ की आलोचना शैली के प्रभाव से आपकी आलोचना की आधार-भूमि अत्यन्त ही दृढ़ है। उसमें न शुक्लजी की भाँति शास्त्र की रूक्षता है, और न शान्तिप्रिय द्विवेदी की भाँति कवि का बेसँभाल भावातिरेक। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय आपकी आलोचना में सभी स्थानों में प्रतिबिम्बित होता है। आज से कई वर्ष पूर्व आपकी आलोचनायें 'विशाल-भारत' में छपीं जिनमें आपने आधुनिक छायावादी काव्यों का विवेचन करते हुये आधुनिक-काव्य का विवेचन किया जो अपर्याप्त मात्रा में होते हुये भी अत्यन्त पुष्ट एवं आक्षेपरहित है। साथ ही साथ वह शास्त्रीय भी है। परन्तु हजारीप्रसादजी का ध्यान अब विशेष रूप से आलोचना की ओर न होने के कारण उनका आभार आलोचनात्मक साहित्य पर कम है।

आजकल हजारीप्रसादजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं, और हिन्दी-साहित्य की प्राचीन पुस्तकों की खोज तथा उसके प्रकाशन की ओर विशेष प्रवृत्त हैं। आशा है आप हिन्दी-साहित्य को अपनी अन्य खोजपूर्ण कृतियाँ देकर उसके भण्डार को भरेंगे।

आपकी कृतियाँ :—

१—विचार और वितर्क,
२—अशोक के फूल।
३—कबीर
४—बाणभट्ट की आत्म-कथा,
५—हिन्दी-साहित्य की भूमिका
६—नाथ-सम्प्रदाय।

नोट—उक्त पुस्तकें सा० र० भण्डार से प्राप्त हो सकती हैं।

'चिन्तामणि' के निबन्ध

श्री कुमार शम्भूसिंह भादवा एम० ए०

'चिन्तामणि' के निबन्धों की विशेषताओं का उल्लेख करने के पहले हमें निबन्ध-रचना तत्व पर विचार कर लेना चाहिये।

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' के अनुसार यदि गद्य कवियों की कसौटी है, तो निबन्ध को गद्य की कसौटी कहा जा सकता है। वस्तुतः निबन्ध शब्द का शाब्दिक अर्थ चाहे कुछ भी क्यों न हो—आज इसे अंग्रेजी के 'Essay' शब्द का ही पर्याय समझा जाता है। तथापि व्याख्या की दृष्टि से आचार्य रामकृष्ण शुक्ल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "निबन्ध एक ऐसी गद्य रचना है जिसमें किसी विषय से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञात और ज्ञातव्य तथ्यों का संकलन उसकी बौद्धिक प्रतिपत्ति के लिये किया जाता है।" यहाँ हम निबन्ध के अनिवार्य उपकरणों पर विचार करेंगे।

वस्तुतः निबन्ध में विचार और विचार-शीलता आवश्यक तत्व हैं। निबन्ध में साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा विचार तत्व का प्राधान्य होता है, एवं भाव तत्व गौण रहता है। भावना प्रवृत्ति-मूलक हैं, एवं विचार निवृत्ति-मूलक। निबन्ध में यह निवृत्ति प्रवृत्ति का ही नियमन करती है—तभी निवृत्ति प्रधान विचार भी हमारे लिये अतीव प्रयोजनीय हैं। अतः निबन्ध में विचार तत्व की प्रधानता आपेक्षिक दृष्टि से ही है—जो कि भावांश अथवा भाव तत्व को संयत रखते हैं। तद्विपरीत साहित्य के अन्य प्रचारों—उपन्यास, कहानी, आत्मकथा आदि में विचार तत्व की अपेक्षा भावांश प्रधान होता है। यों तो भाव और विचार प्रायः परस्पर संलग्न से रहते हैं, तथापि निबन्ध में आपेक्षिक दृष्टि से विचार तत्व की प्रधानता—इसका साहित्य की अन्य विधाओं से पार्थक्य सिद्ध करती है।

निबन्ध की अन्य प्रमुख विशेषताओं में—प्रयत्न-शीलता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता, स्वतन्त्रता आदि हैं। स्वतन्त्रता से हमारा आशय विचारों की उच्छृ-खल अभिव्यंजना से नहीं—प्रत्युत प्रतिपाद्य विषय पर अपने मौलिक ढङ्ग से सोचने, विचारने एवं उसे अपनी निजी अभिव्यञ्जना-प्रणाली से अभिव्यक्त करने में है—जिसे हम पारिभाषिक पदावली में 'शैली' कहते हैं। वस्तुतः निबन्ध में भावप्रेषणीयता नितान्त अनिवार्य है। भावप्रेषणीयता का अर्थ है, आत्मा-भिव्यञ्जन की सफलता और इसके लिये लेखक एवं पाठक में पूर्ण तादात्म्य की आवश्यकता है। इस तादात्म्य अथवा सम्पर्क-स्थापन का माध्यम है, शैली। अतः शैली निबन्ध का सर्वाधिक अनिवार्य गुण है, क्योंकि शैली के द्वारा ही लेखक अपने निबन्ध में वैयक्तिक तत्व (Personal element) और मानवीय तत्व (Human element) को अभिव्यक्त करता है। कहानी, उपन्यास आदि में शैली इतना प्रमुख तत्व नहीं क्योंकि उनमें तो भावांश की प्रधानता होने से लेखक का व्यक्तित्व अन्यथा भी पहचाना जा सकता है, किन्तु निबन्ध एक विचार प्रधान रचना होने से इसमें लेखक का व्यक्तित्व तलस्पर्शी रहता है, अतः निबन्ध में लेखक के भावना-त्मक पक्ष को प्रस्फुटित करने का शैली ही एक-मात्र साधन है।

निबन्ध के वैयक्तिक तत्व से हमारा आशय उस अंश से है, जिसके द्वारा हम लेखक के व्यक्तित्व को अर्थात् उसके भावात्मक पक्ष को सरलता से देख सकते हैं। अतः निबन्ध का वह तत्व जिसके द्वारा हम लेखक के साथ एक प्रकार के भावात्मक साहचर्य का अनुभव करते हैं—वैयक्तिक तत्व कहलाता है। तद्विपरीत मानवीय तत्व के सहारे लेखक अपने वर्ण्य

विषय को सबकी पठनीय वस्तु बनाता है, क्योंकि मानवीय तत्व सभी का समान रूप से अनुभूति का विषय होता है। निबन्ध के ये दो अतीव अनिवार्य तत्व हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि निबन्ध अपनी विचारशीलता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता एवं शैली के कारण साहित्य के अन्य प्रकारों से सर्वथा एक विशिष्ट विधा है। उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में और निबन्ध में जो मौलिक अन्तर है, वह इन्हीं गुणों के कारण—जो शैली के द्वारा प्रकट होते हैं। शैली के इस प्राधान्य के कारण ही कहा जाता है—'Style is the man.'

निबन्ध के उपर्युक्त तत्वों के आधार पर अब हम 'चिन्तामणि' के निबन्धों पर विचार करेंगे। वस्तुतः 'चिन्तामणि' में संगृहीत निबन्धों के हम स्पष्ट ही दो प्रकारों अथवा श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) एक श्रेणी में तो मनोविकारों अथवा मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये निबन्ध आते हैं। जिनमें 'श्रद्धा-भक्ति', 'लज्जा और ग्लानि' 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'ईर्ष्या', 'भय', 'क्रोध', आदि हैं।

(२) दूसरी श्रेणी में हम विवेचनात्मक अथवा समीक्षात्मक निबन्धों को रख सकते हैं। इन समीक्षात्मक निबन्धों के भी स्पष्ट ही दो विभेद लक्षित होते हैं—

१—सैद्धान्तिक समीक्षा—जैसे 'कविता क्या है', 'काव्य में लोकमङ्गल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद', 'मानस की धर्म भूमि'।

२—व्यक्ति विषयक समीक्षा—'भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र', 'तुलसी का भक्ति मार्ग'।

इस प्रकार 'चिन्तामणि' में स्पष्ट ही तीन प्रकार के—मनोवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी अथवा समीक्षात्मक, एवं व्यक्ति विषयक निबन्ध मिलते हैं। इन सब निबन्धों के आधार पर हम शुक्लजी की कुछ निबन्ध-गत विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—

१—मनोवैज्ञानिक निबन्धों का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध.—आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में सर्वप्रथम इस विषय पर उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध तो लिखे ही साथ ही इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उन्होंने इन मानवीय भावों अथवा मनोविकारों—प्रेम, लोभ, ईर्ष्या, करुणा, भय, क्रोध आदि वृत्तियों को शुद्ध मनः शास्त्र के चश्मे से न देखकर साहित्य के स्थायी भावों के रूप में देखा है। एवं साहित्य का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है। फलतः इन निबन्धों को लिखते समय उनकी दृष्टि बराबर जीवन पर ही केन्द्रित रही—मनोविज्ञान के ग्रन्थों पर नहीं। उन्होंने इन वृत्तियों का अपने प्रत्यक्ष जीवन में ही अनुभव किया। एवं उसी अनुभव के आधार पर इनकी मीमांसा की है। दूसरे शब्दों में उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर ही इन वृत्तियों की मीमांसा कर जीवन को समझने का प्रयास किया है। यही कारण है कि इनमें हमें अन्तः निरीक्षण, एवं वाह्य निरीक्षण का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनके मनोभावों अथवा मनोविकारों का उद्गम स्थान मनः शास्त्र के विस्तृत ग्रन्थ नहीं—प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन का कर्मक्षेत्र है। एवं जीवन के इसी विशाल वाङ्मय में कर्म सौन्दर्य के बीच बिखरे हुये सूक्ष्म भाव-तन्तुओं को लेकर उन्होंने जीवन के ही समष्टि रूप कलेवर को समझने का प्रयास किया है। यही कारण है कि हम इनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों को एकान्ततः मनःशास्त्र की वस्तु कहकर टाल नहीं सकते। ये मनोशास्त्र को शुष्क सिद्धान्तजाल में गुम्फित एवं समाच्छन्न नहीं प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन की ही अनुभूतियों के स्पन्दन से अनुप्राणित हैं। शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों की यह एक बड़ी भारी विशेषता है। जो इनके निबन्धत्व को कभी संदिग्ध नहीं होने देगी।

(२) भारतीय शास्त्र के प्रति अनन्य आस्था—

वस्तुतः शुक्लजी के निबन्ध उनके गम्भीर अध्ययन, गहन मनन एवं मौलिक आत्म चिन्तन के परिणाम हैं। उन्होंने अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से ही विविध विषयों की मीमांसा की है। तथापि उनके सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी निबन्धों की—जिनमें उन्होंने काव्य शास्त्र की दृष्टि से विचार किया है—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि उन्होंने इन निबन्धों में जो आदर्श प्रतिष्ठित किया है वह सर्वथा भारतीय शास्त्र से सम्मत एवं भारतीय आदर्श भावना पर निर्धारित है। भारतीय शास्त्र के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा रही है। फलतः उनके समीक्षात्मक निबन्धों—'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में लोक मङ्गल की साधनावस्था', 'मानस की धर्म-भूमि' आदि में जो उन्होंने अपना मत अभिव्यक्त किया है, आदर्श स्थापित किया है—उसका सम्बन्ध सीधा भारतीय शास्त्र से ही है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर अपने प्रतिपाद्य विषयों का आधुनिक ढङ्ग से नवीन रूप में प्रतिपादन कर आचार्य ने समीक्षा पद्धति के क्षेत्र में एक पथ-प्रदर्शक अथवा नियामक का कार्य किया है। इनके ये निबन्ध मौलिक विवेचन एवं गहन आत्म चिन्तन से प्रसूत अवश्य हैं—तथापि शुक्ल जी की विचार-धारा की मूल पृष्ठभूमि भारतीय होने से इनके निबन्धों की आधार शिला भी यही है। उनकी उत्कट लोकादर्श भावना इसी का परिचायक है।

(३) विषय तथा व्यक्ति का अपूर्व सामञ्जस्य:—शुक्ल जी ने 'चिन्तामणि' की भूमिका में ही कहा है "इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय प्रधान हैं अथवा व्यक्ति प्रधान?" वस्तुतः इस कथन से उन्होंने हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है कि इन निबन्धों में विषय एवं व्यक्ति के अपूर्व सामञ्जस्य का प्रकाश किया गया है। दूसरे शब्दों में इनके निबन्ध विवेचनात्मक अथवा समीक्षात्मक होने के कारण विषय प्रधान तो हैं ही साथ ही इनमें व्यक्तित्व की भी अप्रधानता नहीं है। उनके निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप है अन्यथा उनके मनोवैज्ञानिक लेख मनोविज्ञान के विषय होने से केवल विषय प्रधान कहलाते किन्तु शुक्ल जी ने उनमें यत्र तत्र अपने व्यक्तित्व की अतीव सुन्दर झलक दिखाकर विषय और व्यक्ति का अनूठा सामञ्जस्य स्थापित किया है। विषय के झीने अवगुण्ठन में से उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलक रहा है। इसीलिये न तो वे एकान्ततः विषय प्रधान ही कहे जा सकते हैं और न एकान्ततः व्यक्ति प्रधान ही—बल्कि वे दोनों का सुन्दर समन्वय हैं।

(४) एक प्रकार की प्रबल प्रेरक शक्ति अथवा भाव-प्रेषणीयता :—यद्यपि शुक्ल जी के निबन्ध—जैसा कि हम कह आये हैं—इनके गहन अध्ययन मनन एवं चिन्तन के परिणाम हैं—किन्तु इनकी सर्वाधिक विशिष्टता अपने संचित ज्ञान को एक अत्यन्त प्रभावशाली शैली द्वारा अभिव्यक्त करने में है। क्योंकि यों तो हमें शुक्ल जी से कहीं अधिक सूक्ष्मदर्शी एवं मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण करने वाले लेखक हिन्दी साहित्य में मिल सकते हैं—तथापि उनकी सी समर्थ अभिव्यञ्जना शक्ति हमें परवर्ती निबन्ध लेखकों में नहीं मिलती। उसमें एक ऐसी प्रेरक शक्ति है कि हम उनके सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिये सहसा प्रवृत्त हो जाते हैं—और इसी में निबन्धकार की सफलता है। अपने मनोवैज्ञानिक निबन्धों को भी अपनी अपूर्व व्यञ्जना शैली द्वारा उन्होंने अत्यन्त सरल, सुबोध एवं सहज ग्राह्य बना दिया है। दुरूह विषयों की विवेचना करते समय उन्होंने बहुत छोटे एवं सारगर्भित सूक्ति-वाक्यों का प्रयोग किया है। जैसे—

'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।"

'बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"

अतः भाव प्रेषणीयता की दृष्टि से इन निबन्धों की शैली अत्यन्त सफल है। इनकी इसी प्रेरणा शक्ति

के कारण इनका स्थान निबन्ध साहित्य में सर्वोपरि रहेगा। उनकी शैली अत्यन्त प्रभावशाली (Impressive) एवं विश्वसनीय (Convincing) तो है ही—साथ ही उसमें एक प्रकार की अशेष शालीनता (Grandeur) भी है।

(४) वैयक्तिक तत्व एवं मानवीय तत्वः—निबन्ध के ये दो अतीव महत्वपूर्ण तत्व हैं जो निबन्धकार की शैली द्वारा प्रकट होते हैं। वैयक्तिक तत्व (Human element) का सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व के भावात्मक अंश से है एवं मानवीय तत्व (Human element) के अन्तर्गत वह सब कुछ आ जाता है जो सबका समान रूप से अनुभूति का विषय (Matter of Common Experience) बन सकता है।

चिन्तामणि के निबन्धों में ये दोनों तत्व मिलते हैं। साहित्य के स्थायी भावों अथवा व्यक्ति मात्र की शाश्वत वृत्तियों (लोभ, प्रेम, क्रोध, प्रीति आदि) को वर्ण्य विषय मानकर चलने के कारण इनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों में मानवीय तत्व तो हैं ही पर बीच-बीच में वैयक्तिक तत्व (Personal touch) के भी यत्र तत्र अतीव सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार विचारों के शुष्क तन्तुवाय के भीतर से हम लेखक के विशुभ्र, कोमल, भावात्मक स्वरूप का साक्षात्कार कर सकते हैं। ऐसे वैयक्तिक तत्व के उदाहरणों में शुक्लजी के व्यंग्य बड़े मार्मिक हैं। दो एक उदाहरण लीजिए—

(१) मोटे आदमियो ! तुम अगर जरा सा दुबला हो जाते—अपने अन्देशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।

(२) हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी पर ये लोग (स्वार्थी एवं ढोंगी देशोद्धारक) बाघ की बोली भी बोल लेते हैं।

(३) संगीत के पेंच पांच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।

चिन्तामणि के निबन्धों की इन कतिपय विशेषताओं का अवलोकन कर हम कह सकते हैं कि हिन्दी निबन्ध-साहित्य में क्या ऐतिहासिक एवं क्या गवेषणात्मक दोनों दृष्टियों से आचार्य शुक्ल का स्थान अद्वितीय है। चिन्तामणि में संगृहीत इन निबन्धों में हमें निबन्ध के सभी अनिवार्य तत्व—विचारशीलता, संक्षिप्तता, वैयक्तिकता, प्रभाव प्रेषणीयता आदि मिल जाते हैं। हाँ, एक 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध अवश्य अपनी परिमिति का अतिक्रमण करता सा प्रतीत होता है—अन्यथा शेष सभी निबंध प्रायः संक्षेप में ही हैं।

वस्तुतः आचार्य शुक्ल अपने निबन्धक्षेत्र के एकमात्र अधिपति हैं। यों हिन्दी साहित्य में इन्हीं विषयों को लेकर चाहे कितनी ही सूक्ष्म विवेचना—कितना ही गहन विश्लेषण [illegible] न किया जाय, तथापि इससे आचार्य शुक्ल के निबन्धों का महत्व कभी कम नहीं हो सकता। कारण उनमें शुक्लजी का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व ही संनिहित है—एवं साहित्य में व्यक्तित्व का स्थानापन्न होना कदाचित् संभव नहीं।

वीर सतसई : एक दृष्टि

श्री कुमार शम्भूसिंह भादवा, एम० ए०

वीर सतसई राजस्थान के अमर कवि सूर्यमल्ल की अमर कृति है। जिस समय बूँदी का यह बाल-रवि अपनी प्रतिभा की प्रखर किरणों से, वीरत्व की तीक्ष्ण मयूखों से साहित्य के वाङ्मय को प्रलोकित कर रहा था—वह समय देश का महान् संक्रमण काल था विदेशियों की सार्वभौम सत्ता की उन्मुक्त कादम्बिनी भारतीय व्योम में विस्तरित होकर एक ओर सकल ऐश्वर्य की शीतल वृष्टि कर रही थी तो दूसरी ओर स्वतन्त्रता-सूर्य की ज्योति को सदा के लिए आवृत्त! इसीलिये तो समस्त भारत में प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम की उद्दाम ज्वाला फूट पड़ी। यह इतिहास प्रसिद्ध सन्, ५७ का तथाकथित विद्रोह था। ऐसे ही विपद्‌काल में सतसई के रचयिता ने अपनी वीर भावना से उद्वेलित होकर देश की सुप्त वीरता को उद्‌बुद्ध करने का बीड़ा उठाया। सतसई के दोहों में कवि ने जागरण का यही महामन्त्र फूँका है जिसका प्रत्येक स्वर कवि की इसी प्रबुद्ध कण्ठ-ध्वनि से निनादित है। सतसई का प्रारम्भ ही इसकी ओर संकेत करता है—

बीकम बरसां बीतियो गुण चौ चन्द गुणीस।
बिसहर तिथि गुरु जेठ वदि समय पलट्टी सीस॥

समय के इस परिवर्तन को कवि ने भली भाँति समझा और तभी तो उसने देश के तत्कालीन सैनिक वीर राजपूतों का बड़ी ही ओजस्वी वाणी में आह्वान किया। क्योंकि कवि को सदैव ही मातृभूमि की रक्षा के निमित्त पद पद पर न्यौछावर होने वाले, शौर्य के साक्षात् प्रतीक एवं वीरता के वरेण्य दूत इन राजपुत्रों पर बड़ा गर्व था—बड़ी आशा थी। किन्तु उस समय ये नर-सिंह अपने अभिजात्य पौरुष एवं पराक्रम को भूल कर विलासिता में लवलीन हो रहे थे। उनकी इस मोह-निद्रा को भङ्ग करना परम वांछनीय था। इसलिये कवि ने उनको अपने उज्ज्वल अतीत के विस्मृत गौरव का स्मरण दिला-कर उनके समक्ष एक ऐसे आदर्श वीर समाज का चित्र प्रस्तुत किया जो उन गहन निराशा में उद्‌भ्रान्त क्षत्रियों को किसी अक्षय आलोक-स्तम्भ के समान अपने गंतव्य की ओर प्रेरित कर सके। सतसई में चित्रित उस आदर्श वीर समाज का सबसे उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट अङ्ग है—वीर नारी! वह नारी जो स्वयं वीरता का मूर्त विग्रह है, त्याग की सजीव प्रतिमा है, उत्सर्ग का ज्वलन्त दृष्टांत है।

सतसई में इस तेजोमयी नारी को हम मुख्यतः दो रूपों में देखते हैं—वीर माता एवं वीर पत्नी। कवि जानता था कि वीर माता ही वीर पुत्र उत्पन्न कर सकती है। सिंहनी की कोख से ही सिंह-शावक जन्म लेते हैं। इसीलिये उसने वीरत्व की साक्षात् प्रतिमूर्ति वीर माता का अत्यन्त हृदय ग्राही वर्णन किया है। वीर माता को यदि किसी बात का सबसे अधिक ध्यान है तो वह है अपने दूध की लाज का। उसकी एकमात्र यही साध है कि उसका वीर पुत्र या तो अपने अतुल शौर्य एवं उद्भट पराक्रम से समर में जूझकर शत्रुओं पर विजय लाभ करे अन्यथा वह धारा तीर्थ में स्नान करता हुआ अपने प्राणों का विसर्जन। इनसे पृथक् अपने पुत्र का युद्धभूमि से जीवित पलायन वह कदापि नहीं देख सकती। देखिये उस वीर माता को अपने दूध की लाज का कितना ध्यान है—

सहणी सबरी हूँ सखी दो उर उलटी दाह।
दूध लजाणे पूत सम, वलय लजाणे नाह॥

वह दूध नहीं वरन् तीव्र हलाहल है जिसका पान कर उस वीराङ्गना का पुत्र कभी रणक्षेत्र से

पराजित होकर नहीं लौट सकता। ऐसा ही था उन वीर माताओं का दूध जिसे पीकर उन वीरों को अपने देश की रक्षा के लिए हँसते-हँसते उत्सर्ग हो जाने की महत्प्रेरणा मिलती थी।

साथ ही कवि को अजस्र प्रेरणा दायिनी वीर नारी का पत्नी रूप भी बहुत प्रिय है। जिस प्रकार वीर माता को अपने स्तन्य की लाज का ध्यान है उसी प्रकार वीर पत्नी को अपने चूड़े का। यही कारण है कि अपने पति के युद्धार्थ अभियान करते समय वह इन मार्मिक शब्दों में अपने स्वामी को विदा करती है—"हे नाथ! गज मुक्ताओं से मैंने आपकी पूजा की है, मुझ जैसी वीर बाला का आपने पाणि-पीड़न किया है एवं आप पर खूब चँवर डुला-कर मैंने आपकी अथक सेवा की है, अब युद्ध भूमि में भी मेरे इस चूड़े की लाज रखने का ध्यान आपको शक्ति देगा"—

पूजाणौ गज मोतियाँ, मीडाणौ कर मूझ।
वीजाणौ घण चामरां है चूड़ो बल तूझ॥

कितनी प्रेरणा-प्रद पंक्तियाँ हैं!

यदि उस वीराङ्गना का पति समर में विजय लाभ कर लौटता है तो वह वीर बाला अत्यन्त उल्लास पूर्वक अपने विजयी पति की नीराजना करती है—आरती उतारती है। इसके विपरीत यदि कदा-चित् वह योद्धा युद्ध में धराशायी होकर वीर गति को प्राप्त होता है तो वह वीर पत्नी सम्भवतः उससे भी द्विगुणित उमंग से अपने दिवङ्गत पति के साथ सती होने का उपक्रम करती है। कैसी अपूर्व आकांक्षा है! एक ओर सहमरण की अनुरागिनी वीराङ्गना को सती होने का चाव लग रहा है तो दूसरी ओर उसके युवा पति को धारा तीर्थ में स्नान करने का। वृद्धा सास अपने पुत्र और पुत्र-वधू की यह मरण-उमङ्ग देख कर दङ्ग रह जाती है—

आज घरै सासू कहै, हरख अचाणक काय।
बहू बलेवा हूलसै, पूत मरेवा जाय॥

धन्य राजस्थान! तुम्हारे सिवा शायद ही कहीं मृत्यु का यों जय-जय कार किया जाता हो। मरण-महोत्सव का इतना स्वागत! कवि ने सती प्रथा को वीरत्व का ही एक अभिन्न अङ्ग माना है—सर्वथा उज्ज्वल एवं अनुपम। क्योंकि यह सहमरण नारी-हृदय की वियोग-जन्य दुर्बलता का परिणाम नहीं वरन् सती की उस अनुपम निष्ठा एवं अविचल आस्था का प्रतीक है जो इस पार्थिव जगत् के क्षणिक सम्बन्ध से परे—उस अमरलोक में प्राप्य शाश्वत संयोग को ही अपने जीवन का एकमात्र ध्येय समझती है। उन वीर पत्नियों को अनन्य विश्वास था कि जब वे सोलह शृङ्गार से सुसज्जित होकर अपने पति के शव को गोद में लिए हुये चिता पर आरोहण करेंगी तभी तो उनका अपने पति के साथ चिरकाल के लिए मिलन होगा, वह मिलन जो कभी टूट नहीं सकता और इसी नित्य-संयोग की मङ्गल कामना से प्रेरित होकर वे अपने अनित्य शरीर की तनिक भी ममता न रख सहर्ष ज्वलन्त-वसंत में क्रीड़ा करती थी। उधर उन वीर योद्धाओं को विश्वास था कि युद्ध में वीर गति को प्राप्त होने पर वे सीधे स्वर्ग जावेंगे जहाँ स्वर्ग की वे अनिंद्य रूपवती अप्सरायें उनको अपने सुकुमार हाथों से आसव पिलायेंगी। इस प्रकार देश के युवक और युवतियों में मरण की सार्थकता का अमोघ मन्त्र फूँक-फूँक कर कवि ने उन्हें देश रक्षा के लिए उत्सर्ग होने को आह्वान किया। सतसई के दोहों में मर मिटने की उत्कट भावना है, देश पर उत्सर्ग होने की महत् प्रेरणा है, हृदय को वीरत्व से उद्वेलित करने की अतुल शक्ति है एवं मृत्यु द्वारा ही गौरवपूर्ण जीवन निर्वाह करने का अमिट सन्देश है। कवि ने अपने इसी सन्देश को अत्यन्त वर्चस्वित वाणी में व्यंजित किया है।

सतसई का काव्य सौष्ठव इस बात में है कि कवि ने वीरता के प्रतीक किन्हीं दो चार उपकरणों द्वारा ही वीर रस का मूर्तिमान् स्वरूप चित्रित किया है। देखिये ऐसे भूमि के अधिपतियों के रहते हुये

कौन उनकी भूमि का अपहरण कर सकता है—जिनके—

घर घोड़ां ढालां पटल भालां थंभ बणाय।
जे ठाकुर भोगै जसी, और किसा अपणाय॥

भला ऐसे शूरवीर अपनी मातृभूमि के लिए क्यों न न्यौछावर होंगे जिनको पालने में झुलाते हुये भी माँ ने लोरी गागा कर यही सिखाया था—

इला न देणी आपणी हालरिया हुलराय।
पूत सिखावै पालणै मरण बड़ाई पाय॥

वीर पुत्र ही क्यों अवसर पड़ने पर वीरबाला भी शत्रु से लोहा ले सकती है—

सिंहण जाई सिंहणी लीधी तेग उठाय।

इस प्रकार वीर सतसई में वीर रस से उद्वेलित करने वाले अत्यन्त सजीव चित्र मिलते हैं। वीर नारी के तेजोपम स्वरूप का दर्शन हम कर चुके—इसके अतिरिक्त योद्धाओं की स्वामि-भक्ति, धरती-प्रेम, प्रतिशोध-भावना इत्यादि का भी कवि ने अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। वीर स्वामी वह नहीं जो अपने उद्भट पराक्रम से शत्रु के सैन्य-समूह को चीरता चला जाता है—बल्कि वह है जिसकी रक्षा के लिये उसके निज के ही सैनिक अहमहमिका से अपने प्राण दे देते हैं एवं स्वामी के घायल होकर गिर पड़ने पर जब चील्ह उसकी आँखों का भक्षण करने के लिये उस ओर [illegible]ती है तो उस समय भी वे वीर अपने कलेजे के टुकड़े-टुकड़े काट कर उनकी ओर फेंककर अपने स्वामी के नेत्रों की रक्षा करते हैं—

भड़ सो ही पहलां पड़ै चील्ह विलग्गा चैंक।
नैण बचावै नाह रा, आप कलेजो फैंक॥

ऐसे स्वामि-भक्त योद्धाओं के घावों को भरने के लिये यदि रानियाँ स्वयं अपने हाथों से नीम पीसती थीं तो इसमें आश्चर्य ही क्या? ऐसे वीरों के साधारण झोंपड़ों पर राजाओं के रम्य रत्न-सौध भी न्यौछावर हैं जो विवाह के अवसर पर भी समर दुन्दुभि का घोष सुनकर तुरन्त रण के लिये प्रस्थान कर देते हैं—

बंब सुणायो बींद नूँ पैसन्ता घर आय।
चञ्चल साम्है चालियो अञ्चल बंध छुड़ाय॥

वरण से भी अधिक मरण को महत्ता देने वाले इन शूरवीरों का रक्त-दान देश के लिये परम गौरव एवं गर्व की वस्तु है—इनका जन्म और मरण दोनों ही धन्य हैं। जन्म लेकर इन्होंने जननी के भाल को उज्ज्वल किया एवं अपने को उत्सर्ग कर इतिहास को अमरत्व का अक्षय वरदान दिया है।

इस भाँति सतसई के इन दोहों में एक आदर्श वीर समाज का चित्रण कर कवि ने तत्कालीन क्षत्रिय समाज को उद्बोधित करना चाहा ताकि उनका सुप्त वीरत्व उद्वेलित होकर देश-रक्षा के लिये समष्टि रूप में खड़ा हो सके। किन्तु आह! कवि द्वारा उत्तेजित किये जाने पर भी विलासी क्षत्रियों की मोह निद्रा भङ्ग नहीं हुई। ऐसी निराशाजनक स्थिति में कवि का मानस एक अतीव करुणा-जनक अवसाद से समाहित हो गया। वीरत्व का स्रोत अवरुद्ध हो गया एवं निराशा की उस गहन तमिस्रा में वीरत्व की तरल विद्युच्छटा को अपने अन्तर्पट में छिपाये ही कवि की वाणी ने भी अकस्मात् मौन धारण कर लिया। देश पर पराधीनता की घनघोर घटा छा गई। ऐसी विषम परिस्थिति में कवि के मानस से केवल यही विषाद भरी उक्ति निकली—

जिण बन भूल न जावता गैंद गवय गिड़राज।
तिण बन जम्बुक ताखड़ा ऊधम मँडै आज॥

इस प्रकार वीर सतसई में काव्य सौष्ठव के साथ साथ तत्कालीन परिस्थिति की ओर भी संकेत है। वस्तुतः "वीर सतसई भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम का काव्यमय उद्गार है।" हाय! जहाँ भूलकर भी गीदड़ पैर नहीं रखते थे आज वहीं वे निश्शङ्क होकर विचरण कर रहे हैं। जो कभी सिंह शावकों का रम्य क्रीड़ा-हर्म्य था आज वहीं शूकर समूह विध्वंस का

कुटिल ताण्डव कर रहा है एवं जहाँ जाते हुए मदोन्मत्त गजयूथ भी थर्राते थे आज वहीं वे उच्छृंखल होकर उत्पात मचा रहे हैं—

डोहै गिड़ बन बाडियां द्रह ऊँडा गज दीह।
सींहण नेह सकैक तो सहल मुलाणो सीह॥

इन पंक्तियों में कितने गम्भीर विषाद की छाया है। आप तनिक सोचिये कि कवि को अपनी वाणी की विफलता पर कितना असह्य दुःख—कितनी तीव्र वेदना हुई होगी जब उसने देखा कि इस पुण्य भूमि भारत में जहाँ शान्ति और सौख्य का अटल साम्राज्य था एवं स्वतन्त्रता का बाल सूर्य जहाँ अपनी समुज्ज्वल कान्ति विकीर्ण करता हुआ दिग-दिगन्त को उद्भासित करता था—वही आज विदेशी आक्रान्ताओं की सघन मेघमाला से आच्छादित होकर यों अस्तमित हो रहा है! दैव की यह निर्मम विडम्बना कवि को सहन न हो सकी और वहीं उस स्वतन्त्रता के अमर पुजारी एवं वाणी के वरद पुत्र ने अपने वीर हृदय से निसृत उस सिन्धु-गर्जना को सदा के लिये अपने मौन में ही अव्यक्त रख कर काव्य-जगत से विदा ली—तथापि उसकी यह अधूरी रागिनी युग-युग तक भारतीय वाङ्मय को निनादित करती हुई देश-प्रेम की भव्य भावना का मङ्गल उद्घोष करती रहेगी—इसमें कोई सन्देह नहीं।

(पृष्ठ ६० का शेष)

प्रान्तों में उनके बीच शिक्षा के अभाव ने उन्हें इस सामाग्य के उपभोग से भी वञ्चित रहने को विवश किया है। जिन महिलाओं ने इस दिशा में थोड़ी बहुत भी चेष्टा की है, वे निर्विवाद रूप से प्रस्तुत अनुष्ठान में सफल हुई हैं, यह मानने के पर्याप्त कारण हैं। होमवती के 'निसर्ग' तथा 'धरोहर' शीर्षक कहानी-संग्रहों को पढ़कर तथा सौनरिक्शा के 'आदम खोर' को देखने से मैं अपनी मान्यताओं के समर्थन में विशेष बल का अनुभव करने लगा हूँ। उषा देवी मित्रा की कहानियों में से भी यही सिद्ध होता है। 'अतीत के चलचित्र' में महादेवी के संस्मरणों को जिन्होंने गौर से पढ़ा है, उनकी राय संभवतः मुझसे मिलती-जुलती होगी। इसे आप दुराग्रह समझने का भ्रम न करें।

जब मैं प्रस्तुत तर्कों को सामने रखकर हिन्दी-साहित्य पर विचार करता हूँ, तो मेरा मस्तक गुप्तजी के चरणों पर श्रद्धा से झुक जाता है। जिन्होंने प्रतिकूल परिस्थितियों के रहते हुए भी अपने लोक-प्रिय महाकाव्य 'साकेत' में 'पारिवारिक रस' का पूर्ण परिपाक किया है।

पारिवारिक कथा-साहित्य : (डायरी के पन्ने)

प्रो० बैजनाथप्रसाद खेतान, एम० ए०

मार्च सन् ५१ की ८ तारीख। मैंने विभूति-भूषण वद्योपाध्याय की 'सान्त्वना' शीर्षक अनूदित कहानी (प्रतीकः वर्ष ३, संख्या २, फरवरी १६५१) आज समाप्त की और अनायास ही सोचने लगा— क्या हिन्दी में पारिवारिक कहानियाँ नहीं लिखी जा सकतीं? बहुत सोच-समझ कर और अत्यधिक तर्क-वितर्क के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि वर्तमान समय में इसके लिये अनुकूल परिस्थिति नहीं है। हिन्दी-भाषी प्रान्तों में परिवार होते ही कहाँ हैं? घूँघट और मर्यादा के बाह्याडंबर में हम मिले-जुले रह कर भी अपनी सर्वथा स्वतन्त्र इयत्ता बनाये हुए हैं। इसी की यह स्वाभाविक परिणति है कि हमें चिन्तन का तो अवसर मिलता है, परिहास का नहीं। अतः हिन्दी वाले दार्शनिक अधिक होते हैं, व्यावहारिक कम। यह उनकी प्राकृतिक विशेषता है।

इसी प्रसंग में मुझे दो-एक बातें और भी सूझीं। बंगाल के मध्यवर्गीय घरों में सङ्गीत है, उनकी महिलाओं के बीच थोड़ी-बहुत शिक्षा का भी प्रचार है, इसकी तुलना में हिन्दी-भाषी तथा कथित सभ्य परिवारों में कलह है, उनकी स्त्रियाँ अनपढ़ हैं। इन परिस्थितियों को देखते हुए आप कलाकारों की मनःस्थिति का अनुमान कीजिए। बंगाल का कथाकार कृतिनिर्माण के सिलसिले में अपनी पत्नी से सहयोग की आशा करता है, लेकिन हिन्दी के कथाकार को तो उनके सामने लिखते हुए झुँझलाहट होती है। वे इस लायक भी नहीं कि प्रेस भेजने के लिये रचनाओं की प्रतिलिपि तक कर सकें। इस वातावरण में हिन्दी के कथाकारों से पारिवारिक कहानियों की उम्मीद करना दिवा-स्वप्न नहीं तो और क्या है? हमें इसके लिए उस शुभ-घड़ी की प्रतीक्षा करनी होगी जब कि रवीन्द्र सङ्गीत की तरह हिन्दी-भाषी-परिवारों में निराला-सङ्गीत मुखरित होने लगेगा।

बङ्ग-प्रदेश में उत्तराधिकार के जो नियम हैं, उनसे घर-बार में शान्ति बनी रहती है, यह कानून का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। दायभाग-सम्प्रदाय के अनुसार पैतृक सम्पत्ति पर व्यक्ति का जन्मना अधिकार नहीं होता, बल्कि पिता की मृत्यु के बाद ही वह बँटवारे की माँग कर सकता है। अतः वहाँ लड़के कभी भी पिता से झगड़ने का दुस्साहस नहीं कर सकते, अन्यथा उन्हें सम्पत्ति से वंचित रह जाना पड़ेगा। हिन्दी-भाषी प्रान्तों में इसके ठीक विपरीत परिस्थिति है। वे मीताक्षर-सम्प्रदाय से अनुशासित होते हैं, जिसमें सम्पत्ति पर व्यक्ति का जन्मना अधिकार मान लिया गया है। यही कारण है कि हम आये दिन सुना करते हैं, कि पिता-पुत्र में, भाई-भाई में बँटवारे के लिये खून-खराबी तक हुई। इस गृह-कलह के वातावरण में पारिवारिक कथा-साहित्य की समृद्धि नहीं हो सकती, यह मानी हुई बात है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि पारिवारिक कहानियों का सम्बन्ध केवल अमन-चैन से ही क्यों जोड़ा जाय, गृह-कलह को भी तो केन्द्र मानकर रचनाएँ लिखी जा सकती हैं? माना कि आपका सवाल अपनी जगह ठीक है, लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि कोई भी कलाकार यह नहीं चाहेगा कि उसके प्रशंसक यह समझने लगें कि लेखक का घर एक ऐसे विषैले धुएँ से भरा हुआ है जिसमें प्रतिभा का भी दम घुटने लगता है।

मनोविज्ञान का अध्येता करुणा का अंश प्रबल रहने के कारण नारी-जाति से यह आशा रख सकता है कि वे पारिवारिक कथा-साहित्य को स्वस्थ बनाने का बीड़ा उठावें, लेकिन हिन्दी-भाषी

(शेष पृष्ठ ८६ पर)

आलोचना

आधुनिक साहित्य—लेखक-श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक-भारती-भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ ४१६, मूल्य ७)

हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर क्रम-बद्ध रूप में बहुत कम लिखा गया है क्योंकि हम उसके बहुत निकट हैं। इतिहासकार साहित्य के साथ कदम मिला कर नहीं चल सकता। उसको समय चाहिए। उसको सोचने समझने और व्यापक दृष्टिकोण बनाने के लिए समय अपेक्षित है। इसीलिए विद्वद्वर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने स्फुट निबन्धों को 'निर्माण की पगडण्डियाँ' कहा है किन्तु ये पगडण्डियाँ काफी चौड़ी हैं ऐसी ही पगडण्डियों पर रोलर फेर कर इतिहास का राज मार्ग बनाया जा सकता है। ये निबन्ध इतिहास नहीं हैं किन्तु इतिहासकारों के लिए मूल्यवान सामग्री अवश्य उपस्थित करते हैं। वास्तव में जो चीज इतिहास के निकट आती हो वह इसकी भूमिका और नई कविता शीर्षक निबन्ध है, उसमें बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर अर्द्धशताब्दी के अन्त तक के साहित्य का प्रवृत्तिगत सिंहावलोकन किया गया है। उसी भविष्य में बनने वाले राजमार्ग के रमणीय विराम स्थलों की जैसे साकेत, कामायनी, कृष्णायन, कुरुक्षेत्र, प्रयोगवादी कविता के तारसप्तक, गोदान, त्यागपत्र आदि की झाँकी भी दिखा दी गई है। इन ग्रन्थों के आलोचनात्मक परिचय देने में लेखक ने बड़ी सुरुचि और संतुलन से काम लिया है, गुण और दोष दोनों ही लेखक के दृष्टिकोण से सामने लाये गये हैं। दृष्टिकोण में पूर्ण निरपेक्षता बहुत कठिन है। लेखक का प्रयोगवादी और प्रगतिवादी कविताओं की अपेक्षा छायावाद की ओर अधिक झुकाव प्रतीत होता है किन्तु वे उसके अन्धप्रशंसक नहीं हैं। उसके सूक्ष्म सौन्दर्यबोध भाषा की लाक्षणिकता के हिमायती होते हुए भी वे उसके सामूहिक चेतना के अभाव को स्वीकार करते हैं। वाजपेयीजी अच्छी कविताओं के मूल में वे उलझी हुई संवेदनाओं और मानसिक कुण्ठाओं को स्थान नहीं देते हैं। उपन्यासों में भी लोक प्रतिष्ठित नैतिक भावनाओं का तिरस्कार करने वाले जैनेन्द्रजी के वैयक्तिक मनोविज्ञान के वे पक्षपाती नहीं हैं। प्रेमचन्द के प्रशंसक होते हुए भी उन्होंने गोदान को इतना महत्व नहीं दिया है जितना देना चाहिए। वे उसमें किसी व्यापक सङ्घर्ष को नहीं देखते हैं। वास्तव में गोदान का सङ्घर्ष व्यञ्जित अधिक है। साकेत, कामायनी आदि की आलोचना में उन्होंने शुक्लजी की भ्रान्ति कुछ काव्य सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है जिनमें उन्होंने महाकाव्यों के प्राचीन मानदण्डों में परिवर्तन का अनुभव किया है।

इस ग्रन्थ में कहानी नाटक आदि के शिल्प विधान पर भी प्रकाश डाला है। नाटक के तत्वों में पश्चिमी और पूर्वी सिद्धान्तों को छोड़ दिया गया है। उनके समन्वय और पारस्परिक समावेश का प्रयत्न नहीं किया गया है। नाटकों के सम्बन्ध में कुछ अवस्थाओं अर्थ-प्रकृतिओं और संधियों के ऊपर नया प्रकाश डाला गया है। कुछ साहित्यिक समस्याओं पर, जैसे स्वच्छन्दता और परम्परा Romanticism and Classicism तथा यथार्थ और आदर्श का विवेचन किया गया है। रस और ध्वनि के सम्बन्ध में कोई नवीन बात नहीं कही गई है। क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद के सम्बन्ध में वाजपेयी ने शुक्लजी की अपेक्षा अधिक सहानुभूति से काम लिया है। यद्यपि इस पुस्तक की सैद्धान्तिक आलोचनाएँ उतनी पुष्ट और मौलिक नहीं है जितनी कि व्यावहारिक आलोचनाएँ तथापि इस ग्रन्थ में वाजपेयीजी के साहित्यिक अध्ययन का फल हमको एकत्रित मिल जाता है और हमको उनकी कठिन साधना से लाभ उठाना चाहिए।

सुमित्रानन्दन पन्त—काव्यकला और जीवन दर्शन—सम्पादिका—श्रीमती शचीरानी गुर्टू, एम० ए०, प्रकाशक—सर्व श्री आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ३०२, मूल्य ६)

प्रस्तुत पुस्तक श्री सुमित्रा नन्दन पन्त पर अधिकारी विद्वान द्वारा लिखे हुए निबन्धों का संग्रह है। किन्तु ये निबन्ध इस प्रकार सजाये गये हैं कि उनसे पन्तजी के व्यक्तित्व, कवित्व और उनकी भावधारा तथा अभिव्यञ्जना शैली का पूर्ण आभास मिल जाता है। निबन्धों के आरम्भ में सम्पादिका का एक छोटा सा प्राक्कथन भी है जिसमें कवि प्रतिभा का क्रमबद्ध एक संक्षिप्त विकास क्रम दिया हुआ है। लेखिका का मत है कि आलोचकों के मत पर उनकी प्रतिभा झुकी है और वे स्वयं भी अपनी प्रतिभा का विश्लेषण नहीं कर सके हैं। उनके आत्मविश्लेषण में भी आलोचकों के मत की प्रतिध्वनि है। यद्यपि यह ठीक है कि कवि की प्रतिभा कुछ अंश में आलोचकों के मत से प्रभावित होती है तथापि कवि उनके ऊपर भी रहता है कवि को आत्म-प्रकाश और आत्म-बोध का श्रेय न देना उनके साथ अन्याय है। पन्तजी के आत्मविश्लेषण में उन परिस्थितियों और प्रभावों का वर्णन मिलता है जिन्होंने उनकी प्रतिभा को गति दी हैं—किस प्रकार उनकी प्रतिभा प्रकृति प्रेम रहस्यमयी जिज्ञासा में परिवर्तित हुई, फिर वह वस्तुवाद की ओर गई और उसने आध्यात्म से समन्वय किया और अन्त में उसका सांस्कृतिक रूप निखरा। पन्तजी के व्यक्तित्व पर दो लेख हैं एक शिवचन्द्र नागर का, दूसरा बच्चनजी का। बच्चनजी का लेख बहुत कवित्व पूर्ण है। इन लेखों द्वारा पता चलता है कि पन्तजी को लोग जैसा आत्मलीन और असामाजिक समझते हैं वैसे वे नहीं हैं वे बड़े वाग्विदग्ध हैं। वे भावुक होते हुए भी संसार का ज्ञान रखते हैं—चिकित्सा शास्त्र की उनको अच्छी जानकारी है। वे पूजा नहीं वरन् प्रकृति और सर्वात्मा से साम्य भावना प्राप्त करने के लिए थोड़ी देर के लिए ध्यानमग्न भी होते हैं।

लेख सभी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं छायावादी दृष्टिकोण से और प्रगतिवादी दृष्टिकोण से भी। डाक्टर रामविलास जी ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से पन्तजी के स्वर्ण साहित्य की आलोचना की है। वे पन्तजी जो 'ग्राम्या' में प्रगतिवादियों के आदर्श कवि और गर्व के कवि थे आज उनकी निगाहों से गिर गये हैं। जो कुछ भी हो पन्तजी में पूँजीवाद के साथ समन्वय की गन्ध पाना प्रगतिवादी भावाक्रान्ततर का फल है। यह सब पन्तजी की सौन्दायानुभूति का फल है जो चारों ओर सोना ही सोना देखती है। सोना पूँजीवाद का ही प्रतीक नहीं है वरन् सौन्दर्य का भी। अन्त में एक विनोद की बात कह देना चाहता हूँ जहाँ डाक्टर रामविलास शर्मा ने स्वर्ण किरण में 'चिर' के बाहुल्य की शिकायत की है वे भूल जाते हैं कि उस पुस्तक में 'चिर' गाँव के सन्त

का स्तवन भी है। पुस्तक का संग्रह सुरुचि पूर्ण और एक प्रकार से क्रमबद्ध भी है। भूमिका में भी यदि सब निबन्धों को यथा स्थान बैठा दिया जाता तो सोने में सुगन्ध की बात हो जाती। —गुलाबराय

मीरां, एक अध्ययन—लेखिका–सुश्री पद्मावती 'शबनम' प्रकाशक–लोक-सेवक-प्रकाशन, बनारस। पृ० सं० २६४; मूल्य ३॥)

प्रस्तुत पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है—१–विषय प्रवेश, २–जीवन खण्ड, ३–उपासना खण्ड ४–आलोचना खण्ड और ५–परिशिष्ट। सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान श्री परशुरामजी चतुर्वेदी के 'वक्तव्य' से पुस्तक का प्रारम्भ हुआ है। इस ग्रन्थ के पढ़ने पर लेखिका की शोध-दृष्टि की छाप पाठक पर पड़े बिना नहीं रहती। मीरांबाई के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक सामान्य धारणाओं पर लेखिका ने युक्ति और प्रमाणों का सहारा लेते हुए प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिये हैं। अध्ययनशील पाठक निश्चय ही अपने अपने ढङ्ग से इन प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे और इस प्रकार मीरां सम्बन्धी अध्ययन को एक गति मिलेगी जिसकी वास्तव में अत्यन्त आवश्यता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लेखिका मताग्रहित्य से अपने आपको बचा सकी है; ज्ञान के क्षेत्र को वह उन्मुक्त रखना चाहती है और वस्तुतः यही सच्ची शोध दृष्टि भी है। लेखिका ने एक पुस्तक लिख कर हिन्दी संसार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। 'चन्द्रसखी' और उसके भजनों पर भी यदि कोई शोधपूर्ण पुस्तक लेखिका प्रस्तुत कर सके तो एक बड़े अभाव की पूर्ति हो। स्व० पुरोहित हरिनारायणजी मीरांबाई की चर्चा चलने पर अत्यन्त उल्लसित हो उठते थे। इस सम्बन्ध में करीब एक हजार भजनों का संग्रह उन्होंने मुझे दिखलाया था। 'मीरां एक अध्ययन' जैसी कृतियों से पुरोहितजी की स्वर्गस्थ आत्मा को भी शान्ति मिलती होगी।

—कन्हैयालाल सहल

काव्य

निराधार—लेखक व प्रकाशक–श्री विश्वम्भर 'मानव' एम० ए०, बनवटा, मुरादाबाद। पृष्ठ ९६, मूल्य १)

'निराधार' मानवजी द्वारा लिखित ९ गद्य-गीतों का संग्रह है। लेखक ने ये गद्य गीत नारी जीवन के विभिन्न अङ्गों को छूते हुये लिखे हैं, जिसमें कहीं-कहीं देश की आर्थिक हीन अवस्था तथा साम्प्रदायिक भावनाओं का चित्र उपस्थित हो जाता है। प्रथम गद्य गीत 'भाभी' में जात पाँत और वात्सल्य प्रेम का एक सजीव द्वन्द्व है। 'चन्दा' और 'मीरा' दोनों में ही बालिका के सरल और निष्कपट हृदय का चित्रण है। 'नरगिस' में देश में फैली हुई साम्प्रदायिक भावनाओं की ओर लेखक का लक्ष्य है। 'महामाया' 'श्यामा' तथा 'सुषमा' में लेखक ने नारी हृदय की सरलता, प्रेम और बन्धनों की कहानी को रखा है। अन्तिम गीत 'आरती' में दार्शनिकता और काव्य की कसौटी पर नारी को परखने की चेष्टा की है।

लेखक ने अपने गद्य गीतों में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की अपेक्षा अपने भावुक हृदय को अधिक महत्व दिया है। जीवन की वास्तविकता से गीतों के पात्र दूर ही दिखाई पड़ते और लेखनी द्वारा ही सञ्चालित प्रतीत होते हैं। गीतों में प्रवाह है, भावुकता है, किन्तु सजीवता नहीं। सामाजिक बन्धनों और परिस्थितियों से उत्पन्न वेदना और निराशा तो है किन्तु कहीं भी जीवन से समझौता नहीं है।

—दयाशङ्कर शर्मा

उपन्यास

अछूत—ले०–श्री मुल्कराज आनन्द, अनुवादक 'निष्काम' प्रकाशक (निष्काम प्रकाशन, मेरठ)। पृष्ठ १९५, मूल्य १॥)

इस छोटे से उपन्यास में भङ्गी-जीवन की सच्ची झाँकी देखने को मिलेगी। सवर्ण-हिन्दुओं का

भङ्गियों के साथ कैसा अमानुषिक और क्रूर व्यवहार भारतवर्ष में रहा है यह सब भी। इसका नायक है बक्खा जो आधुनिक काल के भङ्गियों का प्रतिनिधि होकर आया है। उसमें जातीय गुण अधिक हैं, वैयक्तिक कम। उसके जीवन के उतार-चढ़ाव में मानवोचित सभी आशाओं-आकांक्षाओं का सञ्चार होता है पर रहता है वह समाज से बहिष्कृत ही। अन्त में गाँधीजी के व्याख्यान से प्रभावित होता दिखाया गया है। यह उपन्यास लेखक के अन्य उन्यासों जितना रुचिकर नहीं बन पाया। मल-मूत्र के वर्णनों की भरमार से वीभत्सता आ गई है और पाठक भी जैसे उसमें तन्मय होकर अपनी सवर्णता भूल नहीं पाता। इसे पढ़ कर पुरानी बात में बहुत कुछ तथ्य लगा कि चाहे जो कोई काव्य का नायक हो जाय तो साधारणीकरण नहीं हो पाता। वैसे अनुवाद अच्छा हुआ है।

भावी समाज की भूमिका—लेखक–श्री बलभद्र ठाकुर साहित्याचार्य, प्रकाशक–शक्ति पब्लिकेशन्स फीरोजपुर शहर। पृष्ठ ४१८, मूल्य ४।।।≥)

'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का लेखक ने स्वयं अपने प्राक्कथन में तिरस्कार किया है। कला का वे नैतिक मानदण्ड मानते [illegible]नुष्य को, समाज को सुधारना है कला का काम, बिगाड़ना नहीं। उपन्यास में वही नैतिक, आदर्शवादी दृष्टिकोण सामने आया है। 'अपने घूमन्तू जीवन में बहुत कुछ देखा, भीतर और बाहर की आँखों से' लेखक ने उन्हीं यथार्थवादी चीजों को कथा-सूत्र में पिरोया है। प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद में लेखक का विश्वास है। यह उपन्यास पढ़ते समय बार बार आरम्भिक कृति सा लगता है पर लेखक की सूझ-बूझ को देखते हुए लगता है कि आगे जाकर वे साहित्य को अधिक सुगठित उपन्यास दे सकेंगे।

मृगजल—ले०–श्री अनन्तगोपाल शेवड़े, प्रकाशक–नीलाम प्रकाशन गृह ५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद। पृ० ३३५, सजिल्द मूल्य ५)

मराठी भाषा ने हिन्दी को दो यशस्वी लेखक दिये हैं—आलोचक माचवे और कहानीकार शेवड़े। शेवड़े के दो उपन्यास 'निशागीत' और 'पूर्णिमा' पहले प्रकाशित हो चुके हैं। इस उपन्यास का नायक है चित्रकार अशोक। कला की साधना में तन्मय रहने वाला अशोक मायादेवी, मरियम और अरुणा के क्रमिक प्रभाव में आता है। मायादेवी पूरी मायाविनी और धूर्त्त है—निर्लज्ज होकर वह अशोक से प्रेम की भीख माँगती है। नग्न चित्र खिंचवा कर उसे अपनी साधना से स्खलित भी करती है। मायादेवी से उलझ-उलझ कर भी वह सुलझ जाता है। फिर मिलता है उसको मरियम का सहज, अकृत्रिम प्रणय। मरियम के गर्भ रहजाता है। अशोक का आगे जाकर विवाह हो जाता है आधुनिक रमणी अरुणा से, पर उनका गार्हस्थ जीवन सुखी नहीं रहता। अविवाहित गर्भिणी मरियम के पुत्रोत्पत्ति होती है। पुत्र को लेकर वह सब तरह के लाँछन सहती है। मायादेवी अशोक को फिर फँसाना चाहती है पर अशोक को निर्लिप्त देखकर वह स्वयं अपने को बदल लेती है; बुरी से एक दम भली बन जाती है। अरुणा अशोक को छोड़ कर चली जाती है और मायादेवी मरियम और अशोक को मिलती है। मरियम की मृत्यु हो जाती है। माया का आकस्मिक परिवर्तन खटकने वाला है क्योंकि चित्रकार अशोक इतने 'उज्ज्वल' नहीं कि वे माया की 'कालिमा' को पोंछ सकें। इन तीनों स्त्रियों में मरियम अविवाहित स्थिति में गर्भवती होने पर भी सर्वश्रेष्ठ चित्रित की गई है। वह हार्डी के टेस की याद दिलाती है। पूरा उपन्यास मेरीडिथ के Egoist का स्मरण दिलाता है वहाँ भी Sir Willoughby patlerne के इर्द-गिर्द तीन स्त्रियाँ हैं। वाध्य होकर उसे तिरस्कृता Laetitia Dale को अन्ततोगत्वा अङ्गीकार करना पड़ता है। उपन्यास रुचिकर और संग्रहणीय है।

आखिरी दाँव—ले०-श्री भगवतीचरण वर्मा, प्रकाशक-भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। पृ० सं० २७३, सजिल्द मूल्य ३॥)

ससुराल वालों के बर्ताव से तङ्ग आकर एक हिन्दू स्त्री चमेली घर से बाहर निकल जाती है और कई ठोकरें खाने के बाद उपन्यास के नायक रामेश्वर के पास रहने लगती है। अपनी सारी सम्पत्ति खोकर रामेश्वर गरीबी का जीवन बिता रहा है पर आत्मसम्मान के साथ। न चाहते हुए भी चमेली को वह स्टूडियो में काम करने देता है। वहाँ सेठ शिवकुमार तथा सेठ शीतलप्रसाद आदि उसे कई तरह से फँसाने की चेष्टा करते हैं। रामेश्वर से अपमानित होकर शीतलप्रसाद उससे बदला लेने पर उतारू है चमेली रामेश्वर को सचेत भी करती है, रामेश्वर को और अपने को बचाने के लिए शीतलप्रसाद की हत्या भी कर देती है पर रामेश्वर जूआ खेलने में इतना तन्मय है कि वह चमेली की बात सुनी अनसुनी कर देता है जिसके परिणामस्वरूप वह गिरफ्तार भी होता है यह कह कर "ले चलिये सार्जेण्ट साहब—आज मैं जिन्दगी का आखिरी दाँव हार चुका हूँ, ले चलिये !" यह उपन्यास का अन्तिम वाक्य है और यही है इसके शीर्षक की सार्थकता। स्टूडियो में काम करने वालों का बड़ा तथ्यपूर्ण चित्र इसमें हुआ है और अप्रत्यक्षरूप से जूए की हानियों का दिग्दर्शन भी जिसके कारण रामेश्वर जैसे दृढ़ एवं कर्मठ व्यक्ति को भी नीचा देखना पड़ता है। उपन्यास रुचिकर, सुगठित एवं सुपाठ्य है।

सौभाग्य—ले०-श्री जानकीप्रसाद पुरोहित और 'प्रेरणा' प्रकाशक-नवजीवन पुस्तक माला मल्हारगञ्ज, इन्दौर। पृष्ठ ११२, मूल्य १॥)

यह 'एक था राजा जिनके न था कोई लड़का' के ढङ्ग की बूढ़ी दादी—नानी के मुँह से कही जाने वाली कहानी सी है। राजा के योगी के आशीर्वाद से लड़का हो जाता है—उधर दूसरे राजा के लड़की दोनों जङ्गल जाते हैं—वहाँ लड़की अरुणा कुमार अरुण के कुष्ठका दैवी उपचार सफलतापूर्वक करती है और दोनों का विवाह हो जाता है और पिताओं के राज्यों पर अधिकार कर लेते हैं। शैली प्रौढ़ है अन्यथा बच्चों के लायक कहानी अच्छी है। उपन्यास का संज्ञा इसे बेकार दी गई है।

मुक्ति के बन्धन—लेखक-श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, प्रकाशक-भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ संख्या ३४६, सजिल्द मूल्य ४)

देश की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं कुमार और लक्ष्मी। दोनों चाहते थे अविवाहित रहना पर अन्त में दोनों परिणय के सूत्र में ग्रथित होते हैं। यही हैं मुक्ति के बन्धन। इस उपन्यास में कुमार के विकास-दर्शन के साथ साथ अनेक प्रश्नों की चर्चा हुई है। कच्ची-पक्की रसोई, ज्योतिष, अन्धविश्वास, आश्रम-जीवन, सत्याग्रह, उसका सरकार द्वारा दमन आदि आदि। कुमार का गायब हो जाना 'नेताजी' के जीवन की याद दिलाता है। उपन्यास में कई जगह अनावश्यक विस्तार है तथा सुगठितता का कहीं-कहीं अभाव सा है। उपन्यास सर्वत्र एकसा रुचिकर भी नहीं है। लेखक औपन्यासिकता को भूलकर अनेक जगह नैतिक-धार्मिक प्रश्नों के वितण्डा में पड़ गये से दीखते हैं जिससे कथा का प्रवाह मन्द पड़ गया है। फिर भी आजकल के नवीन-प्राचीन का संघर्ष इसमें ठीक प्रतिफलित हुआ है। पुराने लोगों के आचार-विचार और उनकी मान्यताएँ आधुनिक युग में कहाँ तक मान्य हैं इनकी चर्चा अधिकतर हुई है।

—प्रो० नागरमल सहल एम० ए०

शिक्षा-विज्ञान

शिक्षण प्रविधि—लेखक-श्री विश्वनाथ सहाय तथा शची माथुर, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ७६, मूल्य १॥)

पुस्तक एक सुन्दर, सरल एवं मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से शिक्षकों को एक विशेष प्रकार का ज्ञान प्रदान करने में सहायक होगी। लेखकों ने बड़ी

सावधानी से तथा बहुत ही संक्षेप में उन सब वृहद अनुभवों का निचोड़ संग्रह कर दिया है, जिनका जानना हर अध्यापक के लिये नितान्त आवश्यक है।

लेखकों ने नवीन शिक्षा प्रणालियों पर बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से प्रकाश डाला है। इस युग के शिक्षा प्रेमियों के लिए इस पुस्तक में प्रस्तुत किये हुये ढङ्ग बहुत हितकर सिद्ध होंगे। ये नवीन योजनाएँ उन अध्यापकों के सामने नया रूप प्रदर्शित करेंगी। जिनका उन्हें अभी तक भास भी न था। इस पुस्तक में बताई गई नीति द्वारा शिक्षक अपनी कक्षा के बालकों के लिये बहुत उपयोगी बन सकेगा।

—जे० पी० गुप्ता एम० ए०, एल० टी०

धर्म और दर्शन

गीता-रस —लेखक-श्री कृष्णस्वरूप विद्यालङ्कार 'गीतामर्मज्ञ', प्रकाशक—साहित्य निकेतन कानपुर और बरेली। पृष्ठ संख्या ६१५, मूल्य ७)

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थों में बहुत ऊँचा स्थान रखती है। इसकी अनेकों टीकाएँ हुई हैं और प्रत्येक टीकाकार ने अपने-अपने मत के अनुकूल अर्थ लगाये हैं। प्रस्तुत टीका आर्य-समाजी दृष्टिकोण से लिखी गई है। इसमें गीता के निष्काम कर्म को मान्यता देते हुए अन्य सिद्धान्तों को आर्य समाज की मान्यताओं के अविरुद्ध बताने का प्रयत्न किया गया है। इसमें अवतारवाद, सगुणोपासना, मूर्तिपूजा आदि को आश्रय नहीं दिया गया है। गीता के एकात्मवाद को भी पूरी तौर से नहीं माना गया है वरन् प्रकृति को परमात्मा से स्वतन्त्र ही माना गया है। गीता को आर्य समाज की मान्यताओं के अनुकूल बनाने में अर्थ में काफी खींचतान करनी पड़ी है। भगवान कृष्ण को विष्णु का अवतार नहीं माना है वरन् योगेश्वर ही माना गया है, इसीलिए चतुर्भुज शब्द का चारभुजाओं वाला अर्थ नहीं माना है। वैसे तो गीता है अनेकार्थ और लोगों ने अर्थ भी लगाये हैं किन्तु वे लोग साधारणतया मान्य अर्थों को भी मान्यता देते हैं। इसमें बुद्धिवाद को अधिक स्थान देते हुए भी पर्याप्त उदार दृष्टिकोण रखा गया है।

भारतीय धर्म और दर्शन—लेखक-मिश्रबन्धु प्रकाशक—राष्ट्रभाषा प्रकाशन, चौक बाजार, मथुरा। पृष्ठ संख्या १६०, मूल्य १॥)

डाक्टर शुकदेव बिहारी मिश्र मूलतः इतिहासज्ञ हैं। इस ग्रन्थ में भारतीय धर्म और दर्शन का पूर्व वैदिककाल से लगा कर बीसवीं शताब्दी तक संक्षेप में परन्तु क्रम बद्ध रूप से परिचयात्मक और कुछ आलोचनात्मक भी इतिहास उपस्थित किया गया है। इस इतिहास का आधार यद्यपि शास्त्रीय है तथापि इसके निर्णय पाश्चात्य विद्वानों के मत के अनुकूल अधिक हैं। लेखक की इतनी ही ईमानदारी है कि इन निर्णयों को उसने अन्तिम नहीं बतलाया है वरन् उनको दिशा निर्देश मात्र कहा है। पाश्चात्य पण्डितों के अनुकूल ही लेखक ने माना है कि भारत में कोल द्रविड़ सभ्यता आर्य सभ्यता के पूर्व की है और वैदिक काल में इन दोनों सभ्यताओं में संघर्ष रहा है।

वैदिक काल से लगा कर रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक वेदान्त तक लेखक ने आठ युग माने हैं। लेखक ने भारतीय धर्म और विज्ञान को यथा-सम्भव वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया है। वास्तव में वर्तमान विज्ञान बहुत कुछ आध्यात्मवादी नहीं तो प्रत्ययवादी (Idealistic) अवश्य बनता जाता है और वह वेदान्त के निकट आगया है। फिर भी उसमें भौतिकता का प्राधान्य है। लेखक ने वेदान्त को अधिकांश में उपनिषदों के आधार पर ही माना है। शाङ्कर मत का यत्र-तत्र ही उल्लेख किया गया है। वास्तव में एकात्मवाद के लिये मायावाद आवश्यक नहीं है। इस पुस्तक की सब मान्यताओं से हम चाहे सहमत न हो सकें किन्तु यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इस पुस्तक से शास्त्रों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बढ़ जाती है।

Shahitya Shandesh, Agra.
AUGUST. 1951.
REGD. NO. A. 233.
Licence No. 16.
Licensed to Post without Prepayment

साहित्य सन्देश

[वर्ष १३] आगरा—सितम्बर १९५१ [अङ्क ३

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी.
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा,

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

हिन्दी का नया प्रकाशन

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

साहित्य समीक्षा—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार २॥)
सूरदास की वार्ता—प्रभूदयाल मीतल १॥)
साहित्य और सौन्दर्य—डा० फतहसिंह १॥।≈)
पिंगल प्रबोध—रसिकेन्दु ॥)
सुमित्रानन्दन पन्त—रामरतन भटनागर २॥)
प्रसाद के नाटक— " " ५)
महादेवी वर्मा— " " ४)
कलाकार प्रेमचन्द्र— " " ५)
साहित्यक लेख—दत्त विद्यावाचस्पतिजी ।≈)

कविता

ग्रामीण—गिरजाशङ्कर पान्डेय ।।)
पथ के गीत—श्री दशरथ मिश्र =)
सुधापान—रसिकेन्दु ।=)

उपन्यास

इन्सान—श्रीयज्ञदत्त शर्मा ४)
पथ की खोज—श्री देवराज ४॥)

कहानी

विधाता की भूल—श्री पन्नालाल गर्ग एम. ए. ३)
हृदय मंथन—सीताचरण दीक्षित
गंगा किनारे—श्री हरिवल्लभ एम. ए. १)
काश्मीर पर हमला—कृष्ण मेहता १॥)
२॥)

अर्थ शास्त्र

आधुनिक अर्थ-शास्त्र—श्री केदारनाथ एम. ए. १०)

संगीत

संगीत परिचय—श्री रामावतार वीर १॥)

धार्मिक

हिन्दुओं का जीवन दर्शन—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् १॥)
भागवत धर्म—हरिभाऊ उपाध्याय ६॥)

हास्यरस

कवि की पत्नी—देवीदास शर्मा निर्भय २)

राजनीति

बापू की सीख— ॥)
सर्वोदय तत्व दर्शन—गोपीनाथ धावन ७)

निबन्ध

राजनीति से दूर—पं० जवाहरलाल नेहरू २)

सभी प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मंगाने का पता—**साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।**

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। वार्षिक मूल्य ४) है।

२—महीने की १० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अंक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें।

वर्ष १३] आगरा—सितम्बर १९५१ [अङ्क ३

हमारा नया विशेषाङ्क—

अन्य वर्षों की भाँति इस वर्ष भी हम साहित्य-सन्देश का एक महत्वपूर्ण विशेषाङ्क निकालने का आयोजन कर रहे हैं। हमारा पत्र आरम्भ से ही आलोचना प्रधान रहा है। इस वर्ष हम आलोचना सम्बन्धी विशेषाङ्क निकाल रहे हैं। यह अङ्क अक्टूबर और नवम्बर का संयुक्ताङ्क होगा। अतः पाठकगण अक्टूबर अङ्क की प्रतीक्षा न करें। इसमें हम निम्न विषयों पर अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे हुए लेखों को देना चाहते हैं—

१—आलोचक में अपेक्षित गुण।
२—कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा (अर्थात कवि और आलोचक की प्रतिभा)
३—भारतीय आलोचना पद्धति की विशेषताएँ।
४—आलोचना के पाश्चात्य मानदण्ड।
५—पाश्चात्य मानदण्ड के अनुकूल हिन्दी आलोचना का मूल्याङ्कन।
६—हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना।
७—राजशेखर और आलोचना।
८—भारतीय और पाश्चात्य काव्यादर्श।
१०—मनोविश्लेषण और आलोचना।
११—प्रगतिवादी आलोचना।
१२—आर्थिक, नैतिक, सौन्दर्यगत और आध्यात्मिक मूल्य।
१३—अंग्रेजी भाषा के प्रमुख आलोचना शास्त्री।
१४—बङ्गाली भाषा का आलोचना साहित्य।
१५—मराठी भाषा का आलोचना साहित्य।
१६—गुजराती भाषा का आलोचना साहित्य।
१७—दक्षिणी भाषाओं में आलोचना साहित्य।
१८—उर्दू में आलोचना साहित्य।
१९—हिन्दी के प्रमुख आलोचक।
२०—हिन्दी में आलोचना साहित्य।
२१—हिन्दी में आलोचना का विकास।
२२—हिन्दी में आलोचना के मान का प्रश्न।
२३—हिन्दी आलोचना की न्यूनताएँ।
२४—हिन्दी आलोचना का भविष्य।
२५—आलोचना क्षेत्र में साहित्य-सन्देश का स्थान (विविध विद्वानों और पाठकों के मतानुसार)

आशा है कि हमारे उदार लेखक उपर्युक्त तथा उनसे सम्बन्धित विषयों पर लेख भेज कर

रुग्ण कवि की सहायता—

अमरीका में श्री केंथेन पैचन नाम के एक प्रसिद्ध कवि हैं। इनकी लिखी 'डार्क किंगडम' और 'विफोर दि ग्रेव' आदि पुस्तकों का वहाँ बड़ा आदर है। अभी आपकी आयु केवल ३६ वर्ष की ही है। ३ वर्ष से आप गठिया रोग से पीड़ित हैं। आपके कष्ट में सक्रिय सहानुभूति प्रकट करने के लिए वहाँ के सात प्रसिद्ध लेखकों ने एक फण्ड खोला है जिसमें स्वयं भी बड़ी सहायता की है। कई लेखकों ने अपनी फिल्म प्रदर्शन की पूरी आय इस कोष में दे दी है। ये लेखक इस कोष में १० हजार डालर इकट्ठा करना चाहते हैं।

हिन्दी के गरीब लेखकों की दशा किसे विदित नहीं है? इनकी सहायता के लिए भी ऐसे ही कोष और प्रबन्ध की आवश्यकता है।

आलोचना या अवज्ञा—

हाल ही में हिन्दी के दो पत्रों में डा० श्रीनाथ सिंह जी ने दो लेख लिखे हैं जिन में हिन्दी के गौरव, स्वनाम धन्य श्री मैथिलीशरणजी गुप्त की कुछ पुस्तकों की भी आलोचना है। किसी भी व्यक्ति की आलोचना करना बुरा नहीं है। सब को अधिकार है—जैसा उसकी समझ में आवे लिखे। परन्तु उस लिखने में शालीनता और सज्जनता को भुला देना और जिस व्यक्ति की आलोचना की जा रही है उसे भूल जाना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। जिन दो लेखों की हम चर्चा कर रहे हैं, वे इस दृष्टि से बहुत ही निम्न श्रेणी के हैं। ठाकुर साहब इतने नीचे गिर कर लिखेंगे—यह हम आशा नहीं करते थे। उससे भी अधिक आश्चर्य इस बात का है कि ऐसे लेखों को हिन्दी के प्रतिष्ठित पत्रों में स्थान कैसे मिल गया। हमें इन लेखों में गुप्तजी की आलोचना नहीं—स्पष्टतः उनकी अवज्ञा मिली, जिसे हिन्दी-संसार आज किसी भी तरह बर्दाश्त नहीं कर सकता। इन लेखों को महत्त्व न देने के ही कारण [illegible]

प्रभुत्व के लिए झगड़े—

कांग्रेस में आज प्रभुत्व के लिए सज्जनता और शालीनता की जो छीछा-लेदर हो रही है—वह किसी से छुपी नहीं है। प्रभुता की यही लड़ाई कई वर्ष से हिन्दी साहित्य सम्मेलन में चल रही है। अब तो यह लड़ाई इस सीमा तक पहुँच चुकी है कि अदालत का दर्वाजा भी खटखटाया जा चुका है। प्रधान श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने मन्त्रियों के सब अधिकार अपने हाथ में कर लिए हैं। और आगे क्या होगा—भगवान जाने।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रधान कार्यालय वर्धा में अलग झगड़े चल रहे हैं। वे भी यहाँ तक बढ़ गये हैं कि एक दो सज्जन उसके लिए भूख हड़ताल कर रहे हैं। वहाँ भी परिस्थिति दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है।

साहित्यिक संस्थाएँ जो शुद्ध सेवा की भावना से खोली गई थीं आज लोगों की पद लोलुपता और स्वार्थ साधन के लिए अखाड़ा बन गई हैं। ऐसी परिस्थिति में निस्वार्थ सेवी सज्जन यदि इन संस्थाओं से किनारा करें तो क्या आश्चर्य?—पर आवश्यकता आज इस बात की है कि सारी शक्ति लगा कर इन संस्थाओं से ऐसे लोगों को हटाया जाय जो इस प्रकार की दलबन्दी की जड़ में हैं।

भारतीय हिन्दी परिषद्—

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी की अध्यक्षता में दिल्ली में उक्त नाम से एक नवीन अखिल भारतीय संस्था का जन्म गतवर्ष हुआ है। संस्था का उद्देश्य है—"परिषद का काम सब लोगों को मिलाकर, जिस तरह बहुत-सी नदियाँ मिलकर संगम होकर आगे बढ़ती हैं, उसी तरह हिन्दी को देश भर की सर्वमान्य भाषा बनाकर बढ़ाना है।" इस संस्था के प्रधान मन्त्री संसद के सदस्य दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा के कर्मठ प्रधानमन्त्री श्री सत्यनारायणजी हैं। यह परिषद शीघ्र ही हिन्दी की कुछ परीक्षाएँ प्रारम्भ

करेगी जिनमें सर्वोच्च परीक्षा का नाम होगा 'हिन्दी पारङ्गत परीक्षा'। परिषद एक केन्द्रीय विद्यालय की स्थापना करने का भी विचार कर रही है जहाँ इस परीक्षा की तैयारी कराई जायगी। इसका उद्देश्य है भारत के अहिन्दी भाषी प्रान्तों में काम करने के लिए योग्य प्रचारक कार्यकर्ता और अध्यापक तैयार करना। परिषद को संसद के अधिकांश सदस्यों का सहयोग प्राप्त है और आशा है कि सरकार का भी आश्रय उसे प्राप्त होगा। परिषद की सफलता के लिये हमारी शुभ कामनाएँ हैं। और हमारा यह सुझाव है कि केन्द्रीय सरकार के शिक्षामन्त्री मान० मौ० आजाद जिस परिषद की स्थापना कर रहे हैं वह परिषद और यह परिषद या तो एक ही हों और अगर अलग ही बने तो उसका काम देश की अन्य सब इस तरह की संस्थाओं को एक सूत्र में बाँधकर व्यवस्थित रूप से काम करना हो। हम प्रयत्नों के बाहुल्य में शक्ति और धन का अपव्यय नहीं चाहते। इस समय प्रयत्नों के एकीकरण की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में कई प्रयत्न हुए—कुछ निजी और कुछ सरकारी। हिन्दी का हित अग्रसर करने के लिए जितने प्रयत्न हों उनमें एक सूत्रता लाने का आयोजन किया जाय। सरकार विभिन्न विचारों के लोगों को एकत्रित करे और शब्द-कोषों आदि के जो अथक प्रयत्न हो रहे हैं उनमें प्रामाणीकरण का प्रयत्न किया जाय।

सत्रह लाख की योजना—

संसद में के एक प्रश्न के उत्तर में शिक्षामन्त्री मौलाना अबुलकलाम आजाद ने बताया कि सरकार ने हिन्दी के प्रचार के लिए एक मंत्रणा-बोर्ड की नियुक्ति का निर्णय किया है और सरकार द्वारा निर्धारित योजना के अनुसार मंत्रणा-बोर्ड की नियुक्ति की जाने वाली है। उन्होंने बताया कि पाँच वर्षों में इस योजना पर १७ लाख रुपया खर्च होगा।

इस पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न कार्य किये जावेंगे:—

(१) हिन्दी में वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शब्दों के कोष का निर्माण।

(२) एक केन्द्रीय हिन्दी सङ्गठन तथा चार प्रादेशिक बोर्डों की स्थापना।

(३) अहिन्दी भाषा भाषी क्षेत्रों में हिन्दी प्रचार कार्य में लगे हिन्दी सङ्गठनों को अनुदान देना।

(४) मंत्रालय में एक नया हिन्दी विभाग खोलना।

(५) केन्द्र में हिन्दी पुस्तकों के एक पुस्तकालय की स्थापना।

(६) हिन्दी से प्रादेशिक भाषाओं तथा प्रादेशिक भाषाओं से हिन्दी में शब्द-कोषों का निर्माण।

(७) अन्य भाषाओं की चुनी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद।

(८) अन्य भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद।

(९) हिन्दी की मौलिक कृतियों पर पुरस्कार देना।

(१०) हिन्दी पुस्तकों, चार्टों आदि की प्रदर्शनियाँ करना।

(११) द्विभाषीय पुस्तकों को तैयार करना।

(१२) हिन्दी के आधारभूत शब्दों का कोष निर्माण।

(१३) हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के मिलते-जुलते शब्दों के एक कोष का निर्माण।

लोक प्रिय हिन्दी—

नई दिल्ली लोदी कोलोनी की हिन्दी-सभा में अभी एक भाषण हुआ उसमें वक्ता महोदय ने बताया कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर लोक का बल ही प्रतिष्ठित कर सकता है। हमें आवश्यक है कि हम अहिन्दी क्षेत्र के लोगों में अपने सम्पर्क से विश्वास पैदा करें। उनके साहित्य की चर्चा उनके द्वारा अपनी गोष्ठियों में करायें। उनके साहित्य का अध्ययन कर उनकी भाषा की समृद्धि को अपनी भाषा में उतारें। बिना इस पारस्परिक आदान-प्रदान

यह है कि हिन्दी की अपनी एक संस्कृति को पुष्ट करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

हम वक्ता महोदय के अभिप्राय से पूर्ण सहमत हैं। साहित्य-सन्देश निरन्तर अपनी विचारधारा में इसको व्यक्त करता रहा है। आज तो हमारी एक और माँग है। वह यह है कि हिन्दी के कुछ विद्वान् सङ्कल्प पूर्वक नियमित रूप से हिन्दी के साहित्य की चर्चा किसी न किसी रूप में अँगरेजी में तथा भारत की अहिन्दी प्रान्त की भाषाओं के पत्रों में निरन्तर करते रहें। अन्तर्प्रान्तीय सांस्कृतिक पारस्परिक संपर्क इतना सरल नहीं। किन्तु यह आयोजन उसकी अपेक्षा कहीं सुविधाजनक और अधिक फलप्रद होगा।

हिन्दी भाषा और हमारे मन्त्रिगण—

अभी दो उदाहरण ऐसे उपस्थित हुए हैं जिनमें हमें केन्द्रीय मन्त्रियों की हिन्दी के प्रति उपेक्षा-भावना का परिचय मिलता है। वैसे तो वे दोनों ही महानुभाव (श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी तथा श्री नृसिंह विष्णु गाडगिल) हिन्दी के प्रेमी और समर्थक हैं। मुन्शीजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रह चुके है और गाडगिल महोदय ब्रज-साहित्य-मण्डल का उद्घाटन कार्य सम्पन्न कर सके हैं। किन्तु स्वयं हिन्दी भाषा को व्यवहारिक प्रयोग का विषय बनाने में हिचकिचाहट करते प्रतीत होते हैं। मुन्शीजी ने हिन्दी में प्रश्न किये जाने पर भी संसद में उत्तर अङ्गरेजी में ही दिये और गाडगिल महोदय ने इस भय से हिन्दी भाषण नहीं दिया कि कहीं उसका कोई भ्रामक-अनुवाद न करदे। इसी को कहते हैं 'जुआँ के भय से कथरी को छोड़ना।' जब प्रधान मन्त्री के दिये हुए भाषणों का अनुवाद संसार में प्रसारित किया जा सकता है तो गाडगिल महोदय को ही क्यों विशेष भय होना चाहिए। वे तो हिन्दी में लिखते भी अच्छा हैं और संस्कृत के भी विद्वान है। भ्रामक अनुवादों के भय का भी निराकरण हो सकता है। संवाददाताओं से कह दिया जाय कि वे रिपोर्ट को प्रकाशित कराने से पूर्व दिखालें। हमारे हिन्दी जानने वाले मन्त्रियों को राष्ट्रभाषा का गौरव रखने के लिए साहस से काम लेना चाहिए। जब मुंशीजी और गाडगिल महोदय हिन्दी में भाषण देने से हिचकिचायँगे तब इतर लोग तो कभी आगे पग नहीं रक्खेंगे। हमारे मन्त्रियों को केवल अँगरेजी के अखबारों का ही न ख्याल करना चाहिए वरन् हिन्दी के अखबारों का भी ध्यान रखना चाहिए। हिन्दी के पत्र उनके ही शब्दों को जनता के कानों तक पहुचा सकते हैं।

बी० ए० की परीक्षा में हिन्दी में उत्तर—

हमें यह जान कर प्रसन्नता हुई कि सन १९५२ से आगरा तथा प्रयाग विश्वविद्यालय ने बी० ए० के विद्यार्थियों को दर्शन शास्त्र, अर्थ शास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि के प्रश्न पत्रों का हिन्दी में उत्तर देने की छूट दे दी है। यदि यह कार्य केवल विद्यार्थियों की सूझ-बूझ पर छोड़ा जाता है तो इसमें अधिक उन्नति होने की आशा नहीं। इस छूट से लाभ उठाने के लिए हमारे अध्यापकों और लेखकों को विद्यार्थियों की सहायता के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। वे अँग्रेजी की चिर-अभ्यस्त भाषा में पढ़ाने का मोह छोड़ कर हिन्दी में पढ़ाना आरम्भ कर दें। उपर्युक्त विषयों में हिन्दी पुस्तकों का वाहुल्य नहीं तो अभाव भी नहीं है। अध्यापक लोग अपने विद्यार्थियों के हाथ में अच्छी और प्रामाणिक पुस्तकें देने का प्रयत्न करें और उनको नोट भी हिन्दी में ही लिखाएँ। हम उक्त विश्व-विद्यालयों को इस उदार निर्णय के लिए धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि हमारे तृतीय वर्ष के विद्यार्थी इस छूट से लाभ उठाने के लिए अभी से प्रयत्नशील रहेंगे और हमारे अध्यापकगण इस पुण्य कार्य में पूरे मनोयोग से सहायता देंगे।

भारत और भाषाशास्त्र

प्रो० भोलाशङ्कर व्यास एम० ए०, शास्त्री

सभ्यता के उषःकाल से ही भारत विभिन्न जातियों, सभ्यताओं तथा भाषाओं का मिलन-केन्द्र रहा है। भाषा की दृष्टि से भारत का विश्व-पटल पर एक विशेष महत्त्व है। यहाँ विविध परिवारों से सम्बन्धित भाषाओं का आज भी व्यवहार हो रहा है। उत्तरी भारत की प्रायः समस्त भाषाएँ विश्व के महान् भाषा परिवार आर्य-भाषा-समूह से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से इनके सम्बन्धी भाषातत्व सुदूर पश्चिम की आइसलैंडिक या अँग्रेजी तक में पाये जाते हैं। आर्य भाषाओं के अतिरिक्त भारत के दक्षिणी भाग में द्रविड़ परिवार की भाषाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध विद्वान् मध्यएशिया तथा एशिया-माइनर की अनार्य भाषाओं तथा यूराल-अल्ताई परिवार की भाषाओं से जोड़ते हैं, जो द्रविड़ परिवार की भाषाओं की भाँति ही प्रत्यय-प्रधान भाषाएँ हैं। भारत का तीसरा भाषा-समूह 'मुण्डा' बोलियाँ हैं, जिसे भारत के आदिम निवासी आज भी मध्य-प्रदेश के वनों में बोलते हैं। ये भाषाएँ हिन्द-चीन मलाया तथा प्रशान्तसागरीय द्वीपों की भाषाओं से सम्बन्धित हैं। आसाम के प्रदेश तथा सिकिम आदि में कुछ ऐसी भी भाषाएँ बोली जाती हैं जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध एकाक्षर परिवार से स्थापित किया जा सकता है। भारत आरम्भ से ही आक्रमित देश रहा है। विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले लोगों के यहाँ आक्रमण होते रहे हैं। यवन, हूण, तुरुष्क, पुर्तगाली, फ्रेञ्च एवं अँग्रेजों ने इस देश को अपनी जिगीषा तथा स्वर्णलिप्सा का लक्ष्य बनाया है। इन लोगों के सम्पर्क में आकर भी भारत की भाषाओं में शब्दावली के आदान-प्रदान के कारण कई विदेशी तत्वों का समावेश हो गया है। फिर भी ये भाषाएँ अपनी निजी विशेषता को नहीं छोड़ सकी हैं। वस्तुतः कोई भी भाषा कभी भी अपनी निजी विशेषता को नहीं छोड़ती। भाषा किसी देश या जाति के सामाजिक एवं मानसिक विकास की परिचायिका है। अतः उसका अध्ययन भी मानव के अध्ययन के एक महान् अङ्ग की पूर्ति करता है।

भाषाशास्त्र अथवा भाषा-विज्ञान का अध्ययन प्राचीन भारत का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। यास्क का निरुक्त, वैदिक प्रातिशाख्य तथा शिक्षा-ग्रन्थ प्राचीन भारतीय मनीषियों की इस दशा में की हुई गवेषणा के आज भी ज्वलन्त प्रमाण हैं। वेद के प्रसिद्ध छः अङ्गों में शिक्षा, व्याकरण तथा निरुक्त इन तीन अङ्गों का प्रधान स्थान रहा है। ये तीन अङ्ग आज के भाषा-विज्ञान के फोनिटिक्स, मॉरफोलोजी तथा एटमोलोजी इन तीन अङ्गों के प्रतिरूप थे। भाषा-शास्त्र का यह अध्ययन हमारे यहाँ शुद्ध वैज्ञानिक रूप में होता था। आगे चलकर यह अवश्य हुआ कि भाषाशास्त्र व्याकरण के अन्तर्गत समाहित हो गया, जहाँ भाषाध्ययन का एक मात्र ध्येय भाषा के शुद्ध तथा अशुद्ध रूप के ज्ञान तक ही सीमित रह गया। यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि व्याकरण विज्ञान न हो कर कला है, भाषा के वास्तविक रूप का तात्त्विक अध्ययन न कर भाषा कैसी होनी चाहिए इस आधार पर वह भाषा का सुचारु तथा प्रौढ़ रूप देने की चेष्टा करता है। भाषावैज्ञानिक "भाषा कैसी होनी चाहिए" इस विषय की उलझन में न पड़ कर "भाषा कैसी है" इसका अध्ययन करता है। भाषा के वास्तविक तत्वों का निरीक्षण ही उसका प्रधान लक्ष्य है। प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं में भाषा के इसी वास्तविक रूप का उच्चारण सम्बन्धी अथवा ध्वनि-शास्त्र सम्बन्धी विवेचन पाया जाता है। जहाँ हम व्याकरण

तथा भाषाशास्त्र के बीच भेदक रेखा खींचते हैं, वहाँ हमारा तात्पर्य यह नहीं कि संस्कृत के तथाकथित वैयाकरण भाषाशास्त्री नहीं थे। संस्कृत के समस्त महान् वैयाकरणों का भाषाशास्त्र तथा व्याकरण दोनों पर समान अधिकार था। किन्तु बाद में आकर संस्कृत वैयाकरण भाषाशास्त्र से कुछ दूर चले जाते जान पड़ते हैं। जहाँ तक महर्षि पाणिनि का प्रश्न है, वे विश्व के सबसे बड़े भाषाशास्त्री तथा वैयाकरण थे, जिनकी पश्चिम के विद्वान् भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते देखे जाते हैं। पश्चिम के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड ने एक स्थान पर लिखा है:—

"भारोपीय तुलनात्मक व्याकरण में भाषा का केवल एक ही पूर्ण विवरण पाया जाता है—वह पाणिनि का व्याकरण है। समस्त अन्य भारोपीय भाषाओं में ग्रीक तथा लैटिन की परम्परागत व्याकरण पाई जाती है, जो अत्यधिक अपूर्ण तथा अव्यवस्थित है। × × × क्योंकि अतीत की किसी भाषा का हमारे पास ऐसा विवरण नहीं है, जिसकी तुलना हम पाणिनि की मातृभाषा के विवरण से कर सकें। न ऐसा ही सम्भव है कि भविष्य में हम किसी आधुनिक भाषा का ऐसा पूर्ण विवरण दे सकें।" (पृ० २७)

भाषाशास्त्र के अध्येता के लिए इसलिए पाणिनि का अध्ययन आवश्यक है, विशेषतः भारोपीय भाषाओं के विद्वान् के लिए। किन्तु पाणिनि का अध्ययन करना इतना सरल नहीं। यद्यपि पाणिनि का अध्ययन भारत की विशेषता रही है, फिर भी ऐसे विद्वान् कम ही होंगे, जो वैज्ञानिक रूप में पाणिनि को समझ पाये हों। ब्लूमफील्ड ने ठीक कहा है:—'यद्यपि पाणिनि के सूत्रों पर हमें कई व्याख्याएँ उपलब्ध हैं...... फिर भी पाणिनि के ऊपर जीवन का अत्यधिक समय व्यतीत करना होगा, इसके पूर्व कि हम उस भाषा का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकें, जिसका विवरण पाणिनि ने सदा के लिए किया था।"

इस दृष्टि से हम देखते हैं कि संस्कृत का अध्ययन भाषाविज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। संस्कृत भाषा-वैज्ञानिक जिज्ञासा की जननी है, जैसा कि हम आगामी पँक्तियों में देखेंगे। बड़ा खेद है भारत में विद्वानों का भी बहुमत संस्कृत को प्रायः हाथ में पञ्चपात्र लिये तथा बगल में रुद्री या दुर्गा की पोथी दबाये हुए इधर उधर अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मणों की वह मृत भाषा समझता है, जिसके साथ धार्मिक कर्मकाण्ड का अन्धविश्वास अनुस्यूत समझा जाता है। यह धारणा बड़े बड़े असंस्कृत विद्वानों में पाई जाती है। जनता ही नहीं, राज्य की भी संस्कृत के प्रति कुछ ऐसी ही उपेक्षा देखी जाती है। भाषणों में संस्कृत की महत्ता की डिण्डिमध्वनि की तो जाती है, किन्तु उसके उत्थान के लिए, उसके वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कुछ भी कार्य नहीं किया जाता। पश्चिम में ग्रीक तथा लैटिन का जो महत्व है, उससे बढ़कर संस्कृत का महत्व भारत में होना चाहिए। पश्चिम के विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में ग्रीक तथा लैटिन का अध्ययन विशेष स्थान रखता है। इङ्गलैंड जैसे देशों में, जहाँ भाषातत्व की दृष्टि से बोली जाने वाली भाषा का ग्रीक तथा लैटिन से उससे कम ही सम्बन्ध है, जो कि भारतीय भाषाओं का संस्कृत से—इन भाषाओं का महत्व मौखिक रूप में ही नहीं, सक्रिय रूप में स्वीकृत किया गया है। ग्रीक व लैटिन ही नहीं, संस्कृत का महत्व भी कई पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में, भारत के कई विश्वविद्यालयों की अपेक्षा अधिक है। जब इन पँक्तियों का लेखक संस्कृत की महत्ता का प्रतिपादन करता है, तो पहले संस्कृत के प्रतिवादी यह समझलें कि लेखक इसलिए इस भाषा की महत्ता नहीं मानता है कि इसमें आप लोगों को दुःख तथा ग्रहों की क्रूर दृष्टि से बचाने वाले नवग्रह मन्त्र हैं, अपितु इसलिए कि संस्कृत भाषा-तत्व की दृष्टि से विश्व की भाषाओं में मूर्धन्य है।

भाषाशास्त्र या भाषाविज्ञान की उद्भूति—

(यदि यहाँ पुनरुद्भूति शब्द का प्रयोग किया जाय तो ठीक होगा)—में संस्कृत का प्रधान हाथ रहा है। सर विलियम जॉन्स ने संस्कृत का सर्वप्रथम अध्ययन कर भारत व पश्चिम का ही नहीं समस्त विश्व का उपकार किया है। इसी महानुभाव ने सर्वप्रथम पश्चिम को "सोलोमन की अँधेरी गुफा" में दबे पड़े ज्वलन्त रत्नों का संकेत दिया, जिसके अभाव में आज का पाश्चात्य भाषाशास्त्र उद्भूत ही नहीं हो सकता था। लन्दन विश्वविद्यालय के भाषाशास्त्र के प्राध्यापक प्रो० फर्थ ने अपने 'ध्वनिशास्त्रियों का आँग्ल सम्प्रदाय" नामक निबन्ध में ठीक कहा है :—"भारतीय वैयाकरणों तथा ध्वनिशास्त्रियों के अभाव में, जिनका परिचय हमें उसने (सर जॉन्स ने) कराया, १९ वीं सदी के ध्वनिशास्त्रीय सम्प्रदाय की कल्पना करना कठिन है।" (ट्रान्जेक्शन्स ऑव् फाइलोलोजिकल सोसाइटी, १९४६, पृ० ९२) भारत के पूर्वाचार्यों का पाश्चात्य भाषाशास्त्र जितना ऋणी है, उतना अरस्तू, सिसरो या क्विंतीलियन का नहीं। भाषाशास्त्र का जो जाज्वल्यमान प्रदीप किसी समय इसी सप्तसिन्धु प्रदेश में अनवरत जलता रहा था, आज पश्चिम के हाथों चला गया है। किन्तु इससे उसकी भारतीयता लुप्त नहीं हुई है, मूल में आज भी वह शुद्ध भारतीय ही है। अतः भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र को विदेशी प्रणाली मानकर तिरस्कृत करना या उसकी अवहेलना करना ठीक न होगा। सभ्यताएँ उदय तथा ह्रास को प्राप्त होती रहती हैं। प्राचीन शिक्षाकारों, निरुक्तकारों तथा पाणिनि जैसे वैयाकरणों के नाममात्र वंशजों के अयोग्य होने पर उनके परम्परागत यूरोपीय शिष्यों ने उनकी वैज्ञानिक गवेषणा को अनुसरण रखते हुए अग्रसर किया इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। इस सम्बन्ध में मैक्समूलर, व्हिटनी, बीम्स, ह्वीट, हॉर्नली, ट्रम्प, ग्रियर्सन, ब्लॉख, टर्नर आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

भारत में भाषाशास्त्र के अध्ययन का श्रेय डॉ० भण्डारकर तथा इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों को है। किन्तु इस दिशा में उन्नीसवीं सदी के भारतीय भाषाशास्त्रियों में केवल डॉ० भण्डारकर का ही नाम लिया जा सकता है, जिनके "भारतीय भाषाओं" पर दिये गये सात व्याख्यान बड़े महत्वपूर्ण हैं। डॉ० भण्डारकर के "विल्सन्स फाइलोलोजिकल लेक्चर्स" भारत में भाषाशास्त्रीय अध्ययन के पुनरुत्थान के सूचक हैं। इसके बाद इस क्षेत्र में भारतीय भाषाओं पर काम करने वाले पाश्चात्य विद्वान् ही अधिक पाये जाते हैं। सर ग्रियर्सन ने सन् १९०३ के बाद "लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इण्डिया" में प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं का विवरणात्मक अध्ययन प्रकाशित किया। यद्यपि भाषाशास्त्र की शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से आज का विद्यार्थी ग्रियर्सन के कई विवरणों को मान्य नहीं समझे, फिर भी इससे भारतीय भाषाओं के अध्ययन के इतिहास में ग्रियर्सन का महत्व किंचित्मात्र भी लुप्त नहीं होता। ग्रियर्सन के बाद इस क्षेत्र में शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से ब्लॉख तथा प्रो० टर्नर के नाम लिये जा सकते हैं। ब्लॉख ने मराठी भाषा का शुद्ध शास्त्रीय अध्ययन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "ल फार्मेशाँ द ल लैंग मराथे" के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित किया, जो भारतीय भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से दीपस्तम्भ माना जायगा। वैसे ब्लॉख ने "ल इन्दो—आर्यां" आदि ग्रन्थों में भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक विवरण दिया है। प्रो० टर्नर ने गुजराती भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन "गुजराती फनोलोजी" के नाम से उपस्थित किया जो रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित हुआ। इससे भी बढ़कर उनका महत्वपूर्णग्रन्थ "नेपाली भाषा का नैरुक्तिक कोष" है। इसी सम्बन्ध में इतेलियन विद्वान् तेस्सितोरी का उल्लेख कर दिया जाय, जिन्होंने तुलनात्मक भाषाध्ययन की दृष्टि से प्राचीन पश्चिमीय राजस्थानी का व्याकरण दिया जो अत्यधिक महत्वपूर्ण है। डॉ० तेस्सितोरी की शीघ्र

मृत्यु ने इस क्षेत्र को बहुत हानि पहुँचाई यह कहना अतिशयोक्ति नहीं।

फिर भी भारत निर्बीज नहीं। डॉ० तारापुरेवाला, डॉ० चाटुर्ज्या, डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा आदि भारतीय विद्वानों के नाम इस सम्बन्ध में लिये जा सकते हैं। डॉ० तारापुरेवाला ने जहाँ हमें भाषाशास्त्र के सैद्धान्तिक अंश का विवरण दिया, वहाँ डॉ० चाटुर्ज्या ने "बङ्गाली भाषा की उत्पत्ति एवं विकास" नामक बृहत् प्रबन्ध में हमें बंगाली जैसी एक प्रमुख भारतीय भाषा का वैज्ञानिक विवरण दिया। इस दृष्टि से डॉ० चाटुर्ज्या का यह निबन्ध ब्लाख के "ल फार्मेशाँ द ल लैंज मरा थे" से किसी भी दशा में कम महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। चाटुर्ज्या का यह प्रबन्ध भारत में भाषाशास्त्रीय अध्ययन के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। ब्लॉख तथा टर्नर की भाँति डॉ० चाटुर्ज्या ने भी भाषाशास्त्र को अपना प्रमुख विषय बनाया है और अब तक वे हमें बङ्गाली भाषा के अतिरिक्त हिन्दी आदि का भी विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन दे चुके हैं। डॉ० चाटुर्ज्या के चरणों में बैठकर कई भारतीयों ने इस विज्ञान को भारत में पुनर्जीवित करने की चेष्टा की है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने इसी वैज्ञानिक शैली पर दरदी भाषाओं का अध्ययन किया है। यही नहीं उन्होंने प्राचीन भारतीय वैयाकरणों की ध्वनिशास्त्रीय खोजों पर भी एक गम्भीर प्रबन्ध लिखा है। इन विद्वानों के अतिरिक्त डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० बनारसीदास जैन, डॉ० वेनीकान्त काकती आदि विद्वानों के नाम लिये जा सकते हैं, जिन्होंने हमें अवधी, व्रजभाषा, पञ्जाबी, आसामी आदि के वैज्ञानिक अध्ययन दिये। इसी के साथ डॉ० कादरी के हैदराबादी हिन्दुस्तानी (दक्खिनी) के अध्ययन का भी उल्लेख किया जा सकता है। इतना होने पर भी इन अध्ययनों में से अधिकतर अध्ययन "तुलनात्मक व्याकरण" से ही हैं। यदि अँगरेजी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो हम कहेंगे ये अध्ययन प्रायः 'फाइलोलोजिकल' हैं, "लिंग्विस्टिक" नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनमें "लिंग्विस्टिक" तत्वों का सर्वथा अभाव है। सक्सेना, कादरी तथा जैन के निबन्धों में इन तत्वों का भी समावेश हुआ है। शुद्ध लिंग्विस्टिक दृष्टि से ये ग्रन्थ इतने महत्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते, किन्तु फिर भी ये सर्वथा महत्वहीन नहीं। डॉ० चाटुर्ज्या ने 'लिंग्विस्टिक' महत्व की दृष्टि से भी कार्य किया है। इस सम्बन्ध में हम उनकी "बङ्गाली फ्योनिटिक रीडर" का उल्लेख कर सकते हैं।

भारत की नवीन पीढ़ी में, ऐसा जान पड़ता है, भाषाशास्त्र का अध्ययन कुछ कम ही हो रहा है। डॉ० चाटुर्ज्या तथा डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा जैसे लोगों के उत्तराधिकारी बनने के चिह्न इन नये खेवे के लोगों में कहीं दिखाई नहीं पड़ते। वैसे डॉ० प्रसाद जैसे लोगों ने 'भोजपुरी' आदि का वैज्ञानिक अध्ययन दिया तो है, पर फिर भी इस क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो रहा है। नवीन विद्यार्थी भारत में इस विज्ञान का अध्ययन उस उत्तेजना तथा स्फूर्ति के साथ नहीं करते देखे जाते, जितने कि पश्चिम में। इसके दो कारण हो सकते हैं—प्रथम तो कलकत्ता विश्वविद्यालय को छोड़कर (जहाँतक में जानता हूँ) किसी विद्यालय में भाषाशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं पाया जाता। संस्कृत या हिन्दी या किसी भी अन्य भाषा को उच्चतर उपाधि का विषय लेकर पढ़ने वाले लोग एक पत्र भाषाविज्ञान का लेकर भाषाशास्त्र के ज्ञाता नहीं बन सकते। साथ ही भाषाशास्त्र की आपातरूक्षता का अनुभव करके विद्यार्थी स्वयं ही इस गम्भीर विषय से ऊब सा जाता है। इसके साथ ही यह भी कहना अनुचित नहीं है, तथा आक्षेपपूर्ण नहीं समझा जायगा कि भारत में डा० चाटुर्ज्या जैसे एक दो ही विद्वान् ऐसे देखे जाते हैं, जिनके श्रीचरणों में बैठकर विद्यार्थी भाषाशास्त्र का अध्ययन कर सकता है। पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में भाषाशास्त्र का अध्य-

यन एक विशेष स्फूर्ति के साथ किया जाता है तथा वहाँ के प्रत्येक विश्वविद्यालय में इसके विशेषज्ञ विद्यमान हैं। यही नहीं कई नये विद्वान् भी उदित हो रहे हैं। तोखारी, हित्ताइत जैसी सर्वथा मृत भाषाओं तक के विशेषज्ञ इन विश्वविद्यालयों में पाये जाते हैं। भाषाशास्त्र को वहाँ केवल यूरोपीय भाषाओं के अध्ययन तक ही सीमिति रक्खा गया हो, यह नहीं। वहाँ अपूर्व उत्तेजन के साथ सुदूर पूर्व की तथा अफ्रीका एवं अमेरिका की भाषाओं तक का अध्ययन किया जा रहा है। किन्तु भारत में कई विद्वान् तक यह नहीं जानते कि क्या राजस्थानी जैसी कोई भाषा भी है। लन्दन विश्वविद्यालय के स्कूल आव् ऑरियन्टल स्टडीज ने जब मुझे राजस्थानी भाषा में गवेषणा कार्य में सहायता देने के लिए निमन्त्रित किया तो मुझे याद है एक अच्छे पठित (विद्वान् ?) व्यक्ति ने इस विषय पर आश्चर्य प्रकट किया था कि क्या राजस्थानी जैसी कोई भाषा हो सकती है ? ऐसी दशा में भाषाशास्त्र के निरर्थक विषय के अध्ययन में कौन अपना बहुमूल्य समय नष्ट करेगा।

किन्तु भारतीय विश्वविद्यालयों में भाषाशास्त्र का प्रौढ़ अध्ययन नहीं होता इसके लिए भारत के विद्वान् उत्तरदायी नहीं हो कर वे शक्तियाँ उत्तरदायिनी हैं, जिनके हाथों में इन कालेजों तथा विश्वविद्यालयों का प्रबन्ध है। यह तो मैं मानता हूँ कि भाषाशास्त्र के अध्यापन तथा गवेषणा कार्य के किसी व्यक्ति को पाश्चात्य सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक पद्धतियों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। किन्तु यह परिचय बिना किसी संस्था की सहायता के प्राप्त नहीं हो सकता। यूनिवर्सिटियों को चाहिए कि अपने व्याख्याताओं को कम से कम एक वर्ष के लिए लन्दन या पेरिस जैसे स्थान पर इसकी विशद शिक्षा प्राप्त करने को भेजें। वह यहाँ रहें तथा भाषाशास्त्र की विभिन्न प्रक्रियाओं से परिचय प्राप्त करें। उसके बाद वापस आकर अध्यापन तथा गवेषणा में उसी पद्धति का आश्रय लें। पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की प्रणाली पाई जाती है, जहाँ वे अपने व्यख्याताओं को अन्य देशों में गवेषणा सम्बन्धी ज्ञान के लिए हर चौथे वर्ष एक वर्ष के लिए भेजते पाये जाते हैं। किन्तु इसके लिए उनकी सरकार उन्हें प्रचुर धन देती है। भारत की भाषाओं पर आज भी कई विदेशी विद्वान् काम करते पाये जाते हैं। यदि भारतीयों को आवश्यक शिक्षा, समय तथा धन मिले तो इस सम्बन्ध में वे इन विदेशी विद्वानों से कहीं अधिक तथा वैज्ञानिक भाषातत्वों की खोज कर सकते हैं। एक बार आपस की बातचीत में मुझे प्रो० फ़र्थ ने बताया था कि "जो काम हम लोग भारतीय भाषाओं पर कर सकते हैं, उससे कहीं बढ़ कर काम आप लोग कर सकते हैं, क्योंकि हमें वह वातावरण उपलब्ध नहीं हो सकता जो आप लोगों को।" भारत में ऐसे स्फूर्तिशाली नवयुवकों का सर्वथा अभाव नहीं, किन्तु इस मिथ्या प्रचार के युग में, उचित परिस्थिति एवं प्रोत्साहन न मिलने से, ऐसे ऐसे कई तेल-दीपक, जो जलना चाहते हैं, समाज तथा सरकार से स्नेह प्राप्त न होने से किसी कोने में बुझ जाते हैं।

(पृष्ठ १०८ का शेष)

से पृथक है। वैदग्ध के विषय में यह अत्यत विवाद पूर्ण है कि वैदग्ध की सत्ता आलम्बन में है या आश्रय में। अभी तक विद्वान लोग इस पर एक मत नहीं हो पा रहे हैं। वैदग्ध का उपयोग शब्द और अर्थ दोनों से ही होता है। अतः अलङ्कार की तरह इसमें भी शब्द वैदग्ध और अर्थ वैदग्ध ये दो भेद किये जा सकते हैं।

भारतीय साहित्य में नाटक की नर्म्न वृत्ति के अन्तर्गत वैदग्ध की सत्ता पर विचार किया गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वैदग्ध को विचार की मितव्ययी कहा गया है।

हास्य के भेद

श्री रामेश्वर शर्मा साहित्य-रत्न

आत्माभिव्यक्ति की समस्या मानव जीवन के प्रारम्भ से चली आ रही है किन्तु इसी समस्या से जुड़ी हुई एक समस्या और है और वह है परबोध की। इसी परबोध की समस्या के कारण मनुष्य अभिव्यक्ति के एक साधन मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो पाता और फलतः उसे अभिव्यञ्जना के नए-नए प्रकारों से जूझना पड़ता है। आत्म के समाजीकरण के लिए यह आवश्यक भी है। अपनी बात को अधिकाधिक मार्मिकता तथा प्रभविष्णुता प्रदान करने के लिये लेखक प्रक्रिया के विभिन्न प्रकारों को खोज निकालता है। मूल भावना चाहे एक ही हो किन्तु दृष्टिकोण का अन्तर ही कलागत भेद का मूल कारण है।

हास्य की भावना भी मूलरूप में एक ही है किन्तु दृष्टिकोण के भेद से ही हम उसे पहिचान सकते हैं। उदाहरण के लिए एक नव युवती की मुस्कान तथा एक दार्शनिक की हँसी की तुलना करें तो प्रतीत होगा कि युवती की मुस्कान में जहाँ कुछ संकोच की मिश्रित छाप रहती है वहाँ दार्शनिक की मुस्कान निर्वेद की मनोभावना से पूर्ण रहती है। किसी नराधिप की विजय दर्प मिश्रित हँसी तथा शिशु की स्वाभाविक हँसी में कितना विराट अन्तर है। इन दोनों प्रकार की हँसी की प्रेरक शक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

पश्चिम में भी हास्य के भेद किये गये हैं:—वे इन्हीं प्रेरक शक्तियों के आधार पर। किन्तु भारतीय साहित्य में हास्य के जो विभाग किये गए हैं वे अत्यन्त स्थूल तथा शारीरिक आधार पर किये गए हैं। प्रेरक मनोवृत्तियों के अनुरूप हास्य की भावना का विश्लेषण हमारे साहित्य में नहीं किया गया। अतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में विदूषक ही हास्य का आलम्बन रहा और वह भी किन्हीं आन्तरिक अन्तर्विरोधों के कारण नहीं वरन् गंजे सिर, विकृत वेषभूषा, भोजन भट्ट होने आदि के कारण। इसी कारण हास्य की भावना एक बौद्धिक धरातल पर खड़ी न हो सकी। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि भारतीय साहित्य में उच्च हास्य रस बिलकुल नहीं है। पर हाँ, दिखाई देता है उसका केवल स्थूल रूप ही। पश्चिम में जो हास्य का विभाजन हुआ है वह गुण, उद्देश्य तथा उपकरण पर आधारित है जबकि हमारे यहाँ के विभाजन का आधार शारीरिक प्रक्रियाएँ मात्र हैं। देखिए दशरूपककार हास्य के भेद इस प्रकार बतलाते हैं—

विकृताकृति वाग्विशेषैर आत्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात् परिपोषो स्य हास्य त्रि प्रकृतिः स्मृतः॥
स्मितं इह विकास नयनम्, किञ्चित् लक्ष्यं द्विजं-
तु हासितं स्यात्।
मधुर स्वरं विहसितं, स शिरः कम्पं इदं
उपहासितं॥
अपहासितम् सा स्राचं, विक्षिप्तांग भवति
अतिहासितं।
द्वे द्वे हासितं चैषाम् ज्येष्ठे मध्ये घने क्रमशः॥

इनमें हास्य के ६ भेद किए गए हैं। तथा उनके अनुरूप होने वाली शारीरिक क्रियाएँ भी बताई गई हैं जो इस प्रकार हैं—

१—स्मिति—नेत्रों का विकास होना।

२—हसित—कुछ दातों का भी दिखाई देना।

३—विहसित—कुछ मधुर ध्वनि का होना।

४—उपहसित—इसमें कुछ सिर भी हिलने लगता है।

५—अपहसित—इसमें हँसते-हँसते आँसू भी आ जाते हैं।

६—अतिहसित—इसमें सारा शरीर हिलने लगता है।

इनका भी पात्र तथा स्थिति के अनुसार विभाजन किया गया है। पात्रों की दृष्टि स्मिति और हसित उत्तम श्रेणी के पात्रों के अनुभाव हैं। विहसित और उपहसित मध्यम तथा अपहसित और अतिहसित अधम श्रेणी के पात्रों के अनुभाव हैं। स्थिति की दृष्टि से दो भेद किये गये हैं (१) आत्मस्थ, अर्थात् अपनी स्वयम् की विकृतियों, असंगतियों से उद्भूत अर्थात् इसमें आश्रय और आलम्बन एक ही रहते हैं। आश्रय, स्वयम् की विकृतियाँ ही इसमें विभाव बन जाती हैं। स्मिति, विहसित और अपहसित इस भेद के अन्तर्गत आते हैं। (२) परस्थ, अर्थात् इसके विभाव अन्य व्यक्ति होते हैं। इसके अन्तर्गत हसित, उपहसित तथा अतिहसित आते हैं। किन्तु आत्मस्थ परस्थ की इस व्याख्या को पण्डितराज जगन्नाथ स्वीकार करते दिखाई नहीं देते। उनके ... से आत्मस्थ परस्थ ये दो भेद तो किन्तु उन... आशय दशरूपककार से भिन्न है। उनका कहना है कि आत्मस्थ में जो हास्य रहता है वह विभाव के देखने मात्र से उत्पन्न होता है। किन्तु परस्थ हास्य परकीय चेष्टाजन्य ही रहता है। दोनों में तात्विक अन्तर केवल यही है कि आत्मस्थ में आश्रय के हृदय का भी योग रहता है, जब कि पूर्णतः चेष्टाकृत है।

आत्मस्थः परसंस्थश्चैतस्यस्यभेद द्वयं मतं।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणम् मात्रः॥
हसतं सपरं दृष्ट्वा विभाश्चोप जायते।
यो सौ हास्य रसतज्ञै परस्यः परिकीर्तितः।
उत्तमानाम् मध्यमानाम् नीचानामप्य सौभवेत्।
आस्थः कथितस्तस्य षटभेदाः सन्ति चापराः॥

दशरूपककार द्वारा विभाजित ६ भेद तथा उनका पात्रानुरूप विभाजन पंडितराज ने पूर्णतया अपरिवर्तित रूप में स्वीकार कर लिया।

हमारे साहित्य में रस का विवेचन अभिनय की दृष्टि से किया गया है। हास्य के विभाजन का जो आधार हम शारीरिक पाते हैं उसका मूल कारण नाट्य-शास्त्र के नियम ही हैं, जिनमें अभिनय को सदैव ही प्रमुखता दी जाती है। संक्षेप में हास्य रस के भेदों का यह भारतीय विवेचन है जिसका आधार शारीरिक है। आगे गुण उद्देश्य तथा उपकरण के आधार पर विभाजित पाश्चात्य सिद्धान्तों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डाल ली जावे।

पश्चिम के विवेचन का आधार अभिनय नहीं है। और न हास्य का विवेचन ही नाट्यशास्त्र के नियमों पर किया गया है। विशिष्ट प्रेरक शक्तियों के कारण हास्य के दो रूपों में जैसा कि पहिले कहा गया एक विराट अन्तर उत्पन्न हो जाता है। और इसी आधार पर यह विभाजन किया गया है। उदाहरण के लिये जिस हास्य का सम्बन्ध चरित्र, कार्य व घटना से होता है वह अपनी विशेषताओं के कारण उपहास अथवा वाग्वैदग्ध्य से साधारणतया ही पृथक दिखाई देता है। इस दृष्टि से हास्य के चार भेद किये गये हैं।

१—हास्य।
२—उपहास।
३—व्यंग।
४—वाग्वैदग्ध्य।

हास्य—हास्य में आलम्बन के प्रति सहानुभूति का एक सूक्ष्म तार रहता है, जो उसके सुधार की कामना करता है। इसीलिए यह व्यक्ति के प्रकार का न होकर उदारता का प्रदर्शन करता है। हँसने वाले के मन में प्रहसनीय के प्रति सहानुभूति की जो धारा बहती है वह मन से उसके सुधार की भावना रखती है, किन्तु सुधार की इस भावना का रूप सदैव ही मनोमय तथा गौण रहता है जिसे हँसने वाला स्वयम् भी नहीं पहिचान पाता। हास्य की आवश्यकता पर विचार करते हुए जार्ज मेरिडथ ने लिखा है—

If you laugh all round him, trouble him, roll him about, deal him

a smakle and drop a tear on him, own his likeness to you and yours to your neighbour, spare him as like as you shun, pity him as much as you expose, it is a spririt of humour that is moving you...............

The stroke of the great humourist is world wide with lights of tragedy in his laughter."

उद्धरण का अन्तिम अंश महत्वपूर्ण तथा विचारणीय है। भारतीय शास्त्रकारों ने रसमैत्री के प्रकरण का विवेचन करते हुए करुणरस को हास्य रस का शत्रु बतलाया है। जब कि हास्य की भावना में जार्ज मेरिडिथ करुणा की झलक पाते हैं। साहित्य दर्पणकार का कथन है—

आद्यः करुण वीभत्सरौद्रौ वीर भयानकै।
भयानकेन कराणे नापि हास्यो विरोधभाक्॥

इसके अनुसार करुण रस के साथ हास्य का प्रयोग पूर्ण रूप से असफल तथा निर्जीव होगा। एक अन्य स्थल पर जार्ज मैरिडिथ कहते हैं—

'You may estimate your capacity for comic perception by being able to detect the redicule of then you love without being loving them less."

हँसने के लिए प्रेम को कम करना पड़ता हो ऐसा तो मनोविज्ञान कभी नहीं कहता। हास्य की मनोवृति सामाजिकता तथा प्रेम भावना लिए हुये है। फिर प्रेम पात्र से हँसने पर प्रेम कम हो और वही हास्य शक्ति का मापक हो, यह कदापि संङ्गत नहीं लगता। फिर शरीर वैज्ञानिक तो हास्य को बढ़ती हुई प्रेम की शक्ति का ही परिवर्तित रूप मानते हैं।

भ्रान्त—भ्रान्त में खासतौर पर ऐसे पुरुषों का मजाक उड़ाया जाता है जो समाज विरोधी है। हास्य के विपरीत भ्रान्त में हास्यास्पद पात्र को अपने हास्यास्पद होने का ज्ञान न होना चाहिए। ए० निकाल ने इस विषय में लिखा है।

"The absurd on the other hand is purely unconscious. We laugh at 'e' etourdi but he himself is quite innocent of the sense of our merriment. The absured character puts all his follies unconsciously to the world.''

भ्रान्त का प्रयोग लेखक प्रायः तीन प्रकार से करते हैं। १—वस्तु का अतिरंजित चित्र करके। कल्पना के पङ्ख लगाकर वस्तु को यथार्थ से दूर करने पर। इस प्रकार भ्रान्त का प्रथम प्रयोग होता है। २—अत्युक्ति के कारण रूप परिवर्त्तन द्वारा। ३—वस्तु का आकार अत्यन्त विकृत करके उपस्थित किया जाता है। हिन्दी में जी० पी० श्रीवास्तव, बद्रीनाथ भट्ट चोंच, तथा वेढबजी ने इसके अच्छे प्रयोग किये हैं।

उपहासः—उपहास की भावना हास्य के ठीक विपरीत है। पहले कहा जा चुका है कि हास्य में हँसने वाले के मन में सहानुभूति की अन्तरधारा प्रवाहित रहती है किन्तु उपहास में घृणा आदि सहानुभूति विरोधी भावों का प्राबल्य रहता है। हास्य का उद्देश्य जहाँ हँसी उत्पन्न करके मनोरञ्जन करना मात्र रहता है उपहास का उद्देश्य घृणा का प्रकाशन है। हम समाज विरोधी व्यक्ति को हास्यास्पद बनाकर मनोरञ्जन करते हैं, उपहास में समाज तथा उसकी रूढ़ि रीतियाँ हमारे उपहास का आधार बनतीं हैं। समाज की दुर्बलताओं पर लेखक इसके माध्यम से तीखा मार्मिक और कटु प्रहार करता है कि पाठक तिलमिला उठता है।

वाग्वैदग्धः—वस्तुतः वैदग्ध न तो हास्य का कोई प्रकार विशेष है और न गुण ही। इसकी अपनी शैली पूर्णतः हास्य से पृथक है। साथ ही इसकी हास्योत्पादन की शक्ति भी हास्य के किसी अन्यभेद

(शेष पृष्ठ १०५ पर)

रीति-परम्परा का आरम्भ

श्री किशोरीलाल करुणेश 'साहित्य-रत्न'

रीतिकाल, जिसे इतिहासज्ञों ने अलंकृत काल या श्रृङ्गार काल कहा है, सामान्यतया संवत् १७०० के आस-पास से आरम्भ माना जाता है। कुछ गम्भीरता से विचार करने पर अवगत हो जाता है कि इसका प्रवाह भक्ति-काल से ही घूमता हुआ आगे बढ़ा है। शुद्ध एवं स्वतन्त्र रूप से इसका आरम्भ कम से कम सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। संवत् १५६८ ई० में कृपाराम ने हिततरङ्गिणी नामक पुस्तक लिख डाली थी। इसमें उन्होंने दोहों में श्रृङ्गार-रस का निरूपण किया है। इस एक ही ग्रंथ से भली भाँति मालूम हो जाता है कि रीति-परम्परा का स्फुरण बहुत पूर्व हो चुका था। 'रीतिकाल' या श्रृङ्गार-काल मानने से यह निश्चित करना अत्या-वश्यक हो जाता है कि रीति-बद्ध रचनाओं की अखण्ड परम्परा कब से प्रारम्भ हुई। रीति रचनाओं के सिलसिले में हितरंगिणीकार का नाम सर्व प्रथम लिया जाता है; लेकिन यदि कृपाराम के आदर्शों की बात मानी जाय तो इसी समय मोहनलाल मिश्र ने उसी आदर्श पर 'श्रृङ्गार-सागर' नामक एक ग्रन्थ श्रृङ्गार-सम्बन्धी लिखा। अकबर के दरबारी कवि 'करनैस' कवि ने भी 'कर्णाभरण', 'श्रुति-भूषण' एवं 'भूप-भूषण' नामक ग्रन्थों का वही आदर्श अपनाया।

इन ग्रन्थों के आधारभूत ग्रन्थ थे जयदेव का चन्द्रालोक एवं अप्पय दीक्षित का कुवलयानन्द।

जिस प्रकार अलङ्कार निरूपण के लिए संस्कृत के जयदेव एवं अप्पय दीक्षित के ग्रन्थ थे उसी प्रकार रस-निरूपण के लिए भानुदत्त की 'रसतरङ्गिणी' एवं नायिका भेद के लिए उन्हीं के द्वारा प्रणीत 'रस-मञ्जरी'। आचार्य शुक्ल की दृष्टि से—"रस-निरूपण एवं अलङ्कार-शास्त्र के विवेचन के सूत्रपात के पश्चात् रीति काव्य की अखण्ड परम्परा का प्रवाह केशवदास की 'कविप्रिया' के पचास वर्षोंपरान्त हुआ। लेकिन वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्शों पर नहीं। केशवदास .... काव्य में अलङ्कारों का स्थान प्रधान समझने वाले चमत्कारवादी कवि थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक विचित्र संयोग घटित हुआ। संस्कृत-साहित्य शास्त्र के विकास क्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गयी। साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढ़ते-बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गयी थी उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होंने हिन्दी पाठकों को काव्याङ्ग निरूपण से उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह और उद्भट के समय में थी, उस उत्तर दशा का नहीं जो आनन्दवर्धनाचार्य्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई। भामह और उद्भट के समय में 'अलङ्कार' और 'अलङ्कार्य' का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था; रस, रीति, अलङ्कार सबके लिए 'अलङ्कार' शब्द का व्यवहार होता था। यही बात हम केशव की 'कविप्रिया' में पाते हैं।" लेकिन केशवदास की कवि प्रिया को सामने रख कर कहना कि वह अलङ्कार वादी वामन-दण्डी आदि आचार्यों के ग्रन्थों के आदर्श पर निर्मित हुई है; ठीक नहीं प्रतीत होता। वामन और दण्डी रीतिवादी एवं आलङ्कारिक थे, चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव तो उनसे भी बढ़कर विशुद्ध अलङ्कारवादी थे उनके दृष्टि-कोण से—"अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावन लंकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥" इस प्रकार उन्हें 'मम्मट के विचारों के खंडन के लिए लिखना पड़ा। मम्मटाचार्य ने काव्य—लक्षण पर विचार करते हुए लिखा है कि—"तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" (देखें काव्य

प्रकाश)। वामन ने भी इसी तरह की बात कही थी उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि सौन्दर्य ही के कारण काव्य ग्राह्य है तथा सौन्दर्य ही अलङ्कार है। (काव्यं-ग्राह्यमलंकारात एवं सौन्दर्यमलङ्कार:)। तात्पर्य यह है कि रसों एवं भावों को भी अलङ्कार मान कर वे लोग चले।

केशवदासजी ने कवि प्रिया को शुद्ध आलङ्कारिक दृष्टि कोण से ही नहीं प्रस्तुत किया है वरन् रस-वादियों के दृष्टिकोणों को भी लेते हुए। यद्यपि उन्होंने काव्य की सारी सामग्री को 'अलङ्कार' कह कर वर्ण्य विषय एवं वर्णन प्रणाली का भेद अवश्य दिखलाया है लेकिन रस दृष्टि उन्होंने छोड़ दी है, ऐसा नहीं मालूम होता। वह केवल दण्डी के काव्यादर्श पर ही अवलम्बित नहीं हैं। वह केवल अलङ्कार की दृष्टि से नहीं रची गयी है, वह वस्तुतः कवि शिक्षा की पुस्तक है। उसके अध्ययन से भली भाँति प्रतीत होता है कि उसकी अधिक सामग्री 'कवि कल्प लतावृत्ति' से उठा कर रक्खी गयी है। यद्यपि इसके मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं कि वे चमत्कारवादी कवि थे। लेकिन अलङ्कार के सम्बन्ध में उन्होंने कभी नहीं कहा जो भी कहा सब अलङ्कार ही हैं। यदि ऐसा होता तो नग्नत्व दोष उन्होंने स्वीकार ही न किया होता—देखें नग्नत्व दोष के लिए उनका यह छन्द—

"तोरि-तनी टकटोरि कपोलनि
जोरि रहे कर त्यों न रहौंगी।
पान खवाय सुधाधर पान के,
पाँय गहे तस हौं न गहौंगी॥
केशव चूक सबै सहिहौं,
मुख चूम चले यह पै न सहौंगी।
कै सुख चूमन पै फिरि मोहि कि,
आपनि धाय सों जाय कहौंगी॥

यही नहीं वल्कि उन्होंने 'हीन' रस को भी दोषों के अन्तर्गत गणना की है। कविता में रस होना अनिवार्य है; जहाँ वे इस सिद्धान्त का प्रतिपोषण करते हैं कि—"भूषण बिन न विराजई कविता बनिता मित्त" वहाँ यह भी कहते हैं—जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।' यहाँ 'सुरस' शब्द से सुस्पष्ट विदित होता है कि केशवदासजी रसवादी भी थे। रसिकप्रिया उनके इस दृष्टि कोण, का ज्वलन्त उदाहरण है। रसिक प्रिया की रचना इन्होंने साहित्य-दर्पण, और शृङ्गार प्रकाशक के आधार पर की है। अस्तु इस कारण केशव दास को कोरा अलङ्कारवादी कहना उचित नहीं मालूम होता।

अब कृपाराम को रीतिकाल की सूचना देने वाला आचार्य एवं कवि मानने में क्या कठिनाई है। उनकी हिततरंगिणी तो रसतरंगिणी का आधार लेकर चली जिसके आधार पर हिन्दी के परवर्त्ती सैकड़ों कवियों ने ग्रन्थ-रचना की।

अब अखण्ड परम्परा की बात रही। विचार-पूर्वक देखने से यह परम्परा कृपाराम से भी पूर्व प्रारम्भ हो चुकी थी, लेकिन वे रीति-निरूपण करने वाले पूर्ववर्त्ती कवि एवं आचार्य कौन हैं। इतिहास इस सम्बन्ध में मौन है। उसके पास पर्याप्त एवं प्रचुर सामग्री का प्रायः अभाव है। किन्तु कृपाराम से लेकर सम्वत् १७०० तक रीति-परम्परा की अखंड धारा प्रवाहित होती रही। इन रीति-ग्रन्थों से इतिहास मुखरित है। देखें—

सं० (रचना-काल)	कवि	रचना
१५९८	कृपाराम	हिततरंगिणी
१६१६	गंग	कोई ग्रंथ नहीं, स्फुट छन्द
१६१६	मोहनलाल	शृङ्गार-सागर
१६२०	मनोहर	स्फुट छन्द
१६२०	गङ्गाप्रसाद	(कोई रीति-ग्रन्थ बनाया जिसका नाम ज्ञात नहीं)
१६३७	करनेस	करनाभरण, श्रुति-भूषण, भूप-भूषण
१६४०	बलभद्र मिश्र	नख-शिख

१६४०	रहीम	बरवै, नायिका-भेद
१६५०	केशवदास	कविप्रिया, रसिक प्रिया
१६५०	मोहनदास	बारहमासा
१६५१	हरीराम	छन्द रत्नावली
१६५७	बालकृष्ण	रसचन्द्रिका (पिंगल)
१६६०	मुबारक	अलक-शतक, तिलक शतक
१६७६	लीलाधर	नख-शिख
१६८८	सुन्दर	सुन्दर शृङ्गार
१७००	सेनापति	षट्ऋतु वर्णन ।

हिन्दी-रीतिग्रंथों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से आरम्भ हुई। उन्होंने संवत १७०० के आस पास काव्य-प्रकाश, कवि-कुल-कल्पतरु एवं काव्य-विवेक जैसे रीति-ग्रन्थों का प्रणयन किया। इसके उपरान्त तो लक्षण-ग्रन्थों की बाढ़ सी आगई, कवियों ने यह एक प्रणाली बनाली कि पहले एक दोहे में अलंकार या रस का लक्षण देना फिर कवित्त एवं सवैयों में उसका उदाहरण।

यह पहले कहा जा चुका है कि रीति-परम्परा का प्रवाह भक्ति-काल से होते हुए प्रवाहित हुआ। अस्तु; भक्ति काल के रीति-ग्रंथकारों में भी दो वर्ग बन चुके थे। एक शृङ्गारी, दूसरा भक्त। शृङ्गारी कवि अधिकतर दरबारी थे। लेकिन भक्त कवियों का सम्बन्ध दरबारों से न था। उनकी रचनाओं का विकास उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं वैयक्तिक अनुभूतियों के अनुकूल हुआ। अकबर के दरबार में कई ऐसे शृङ्गार वर्ग के कवि थे जो शृङ्गार सम्बन्धी रचनाएँ करते थे। उनके सम्बन्ध में निम्नलिखित सवैया देखिये—

"पाय प्रसिद्ध पुरन्दर ब्रह्म,
सुधारस अमृत अमृतबानी,
गोकुल गोप गोपाल गनेस गुनी
गुनसागर गंग सुज्ञानी।
जोध जगन्न जगे जगदीस
जगामग जैत जगत्त है जानी,
कोरे अकब्बर सों न कथी
इतने मिलि कै कविता जु बखानी॥"

शृङ्गार-काल की अधिकांश रीतिबद्ध रचनाएँ दरबारों में ही बनीं। रीति मुक्त रचनाकारों में से बहुतों (रसखान, घनानन्द, बोधा आदि) का सम्बन्ध दरबारों से जरूर था लेकिन वे स्वच्छन्द प्रवृत्ति के होने के कारण ज्यादा समय तक दरबारों में टिक न सके।

इस प्रकार इस काल का आरम्भ १६०० के आस-पास से मानना उचित प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में १६०० से १७०० तक की यह अवधि इस काल की प्रस्तावना ही मानी जा सकती है। शृङ्गार-काल जिसे दूसरे शब्दों में रीति-काल कह सकते हैं—की सरिता के वेग में प्रखरत्व सं० १७०० के बाद ही आया।

———

कबीर का महत्व

श्री ऐस० टी० नरसिंहाचारी, एम० ए०

कबीर की प्रशंसा औरों से जितनी हुई है, हिन्दी-भाषा-भाषियों से उतनी नहीं। हिन्दी साहित्य में कबीर को समुचित स्थान नहीं मिला। कबीर की गणना विश्व के श्रेष्ठ कवियों में होनी चाहिए। कबीर के पदों का रवि बाबू का अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका के रूप में उनकी श्रद्धाञ्जलि, तथा विदेशी साहित्य महारथियों द्वारा उसकी प्रशंसा इस बात की साक्षी है। इस विश्व-कवि की जिसकी प्रतिभा अनन्य सामान्य थी, हिन्दी में उपेक्षा ही हुई। हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है।

शुक्लजी के मतानुसार (१) कबीर तथा अन्य निर्गुण-पन्थियों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं मान सकते। उपदेश और धर्म की नीरस-चर्चा तथा उलटी बासियों से भरे रहना ही इसका कारण है। निर्गुण पन्थ के कवियों की रचनाओं में सुनी सुनाई बातों का पिष्ट पोषण तथा हठ-योग की बातों के कुछ मद्दे रूपकों को छोड़ कर और कुछ नहीं है। अतः भक्तिरस में मग्न करने वाली सरसता बहुत कम पाई जाती है। (२) कबीर तथा इस वर्ग के अन्य कवियों में शृङ्खलाबद्ध, सुव्यवस्थित, दार्शनिक विचारधारा भी नहीं है। इसीलिए कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ी चक्र की, कहीं सूफियों के प्रेम-तत्व की, कहीं पैगम्बर कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसा वाद की। अर्थात् विचारधारा में गड़बड़ी है और विषय का प्रतिपादन ठीक नहीं हो पाया। (३) भाषा और शैली भी अधिकतर अव्यवस्थित है। सभी बोलियों को मिलाकर, व्याकरण की अवहेलना कर दी। फिर भी अन्त में शुक्लजी को मानना पड़ा कि कबीर की प्रतिमा बड़ी प्रखर थी, इसमें सन्देह नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि कबीर में ऐसी भी उक्तियाँ हैं जिनमें कविता के दर्शन नहीं होते—और ऐसे पद्य कम नहीं हैं—किन्तु उनके कारण कबीर के वास्तविक काव्य का महत्व कम नहीं हो सकता, जो अत्यन्त उच्चकोटि का है। तत्व ज्ञान की शुष्कता और अपरिमार्जित भाषा पर ही दृष्टि अधिकतर डालने के कारण कबीर का उचित मूल्याङ्कन नहीं हो सका।

कबीर का स्थान—यदि हम साहित्य की कुछ उपादेयता स्वीकार करें तो जीवन की मूल समस्याओं पर मौलिक रुप से विचार करने की प्रेरणा ही साहित्य की सबसे बड़ी देन होगी। ऐसी महान् प्रतिभा विरले ही कवियों में हम देखते हैं। शेक्सपियर, इब्सन, बर्नार्ड शा आदि इसी श्रेणी के लेखक है। उनमें कुछ प्रबल शक्ति है कि वे हमारी विचारधारा को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जा सकते हैं। हमारा ध्यान सामयिक समस्याओं पर भी केन्द्रित किया जाता है जैसे बर्नार्ड शा के नाटकों में, और जीवन की शाश्वत समस्याओं पर भी जैसे शेक्सपियर के नाटकों में। शेक्सपियर के दुःखांत नाटकों में व्यक्तिगत सुख दुःख के धरातल से ऊपर उठकर सार्वभौमिक दृष्टिकोण से विचार हुआ है। उनके अध्ययन से जीवन समस्या की एक गम्भीर छाया मन को आवृत करती है। जीवन के सत् और असत् पक्षों का यह संघर्ष और अन्त में जा कर सबका महानाश, नाटक समाप्ति पर एक विषाद की भावना मनमें व्याप्त करती है। लेकिन उस विषाद में निश्चलता है, गम्भीरता है। विध्वंस के इस महायज्ञ को देखते हुए सत्-असत् पक्षों के जीवन संघर्ष की मूल समस्या पर विचार होता है।

यद्यपि कबीर का दृष्टिकोण भिन्न है, उनमें कुछ ऐसी ही शक्ति है जहाँ पाश्चात्य लेखक जीवन संघर्ष

की वास्तविकता पर ही दृष्टि रखते हैं, कबीर भारतीय परम्परा के अनुरूप आदर्श और उसकी साधना में तत्पर हैं। समाज में धन, पद और महत्वाकांक्षा के कारण एक दूसरे से ईर्ष्या, राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू मुसलिम संघर्ष, धर्म के क्षेत्र में जाति-पाँति के भेद-भाव, जीवन के हर एक क्षेत्र में यह सङ्घर्ष और विषमता देखकर एक महान् आत्मा सच्चे सुख और शान्ति के अन्वेषण में संलग्न हुई। पहले पहल वैदिक काल के ऋषियों ने सङ्घर्षमय इस भौतिक संसार से ऊपर उठकर सत्य को पाने की चेष्टा की थी। फिर बुद्ध भगवान ने इस सांसारिक दुख को दूर करने का प्रयत्न किया। भारतीय चिंतन परम्परा में महात्मा बुद्ध के बाद कबीर का ही प्रमुख स्थान है। दार्शनिक अनेक महात्मा हुए लेकिन प्रत्यक्ष जीवन में व्याप्त इस विषमता को दूर कर शान्ति देने वाले कोई नहीं। कबीर की प्रेरणा सत्य की साधना से है न कि सामाजिक या और किसी दृष्टि से सब लोगों को मिलाने से; जैसा लोग प्रायः भ्रम वश समझते हैं। संसार की अनेकता में मानवता की एकता का सूत्र मिल गया। जब एकता की पहचान हुई, सब समान हैं। जो अपने को भिन्न मानते थे, समझते थे कबीर ने एकता का सत्य स्वरुप दिखाते हुए, उनका खण्डन किया। व्यङ्ग के साथ धर्म के बाह्य आडम्बर के खण्डन-मण्डन से, जिन्हीं के कारण यह सब भेद भाव फैला हुआ है, हमारा ध्यान उधर आकृष्ट होता है और हम उसी विषय के सम्बन्ध में सोचने लगते हैं। इस विषमता, आडम्बर और भेद भाव के विरोध में सरल प्रेममय जीवन कर कवि हमें उसे अपनाने को विवश करता है।

इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में कबीर का क्या स्थान होगा? हिन्दी साहित्य की प्रधान दो धाराएँ हैं। सूरदास तथा अन्य सगुण भक्त कवियों ने रसार्द्र साहित्य का सृजन किया जिसकी तन्मयता अनन्य-सामान्य थी। रीतिकाल के कवियों ने रस को न छोड़ते हुए भी अलङ्कारों और कला की बारीकियों को प्रधानता दी। आधुनिक साहित्य पर दृष्टि डालते हैं तो हरिश्चन्द्र युग तथा द्विवेदी युग के कवि रसवादी ही हैं चाहे आधुनिक तर्क, युक्ति और अविश्वास के कारण उनकी कविता में भक्तिकालीन तन्मयता न हो। छायावादी कवि कलावादी हैं यद्यपि उनका कुछ भिन्न मार्ग है। रस के बदले भावना को मानते हुए भी, अलङ्कारों और कला की बारीकियों की अपेक्षा ध्वन्यार्थक व्यञ्जना और चित्रोपम अङ्कनकला पर अधिक दृष्टि रखते हैं। वीर गाथा काल के कवि भी रसवादी ही हैं पर रस तन्मयता से अनुभूति की तीव्रता और ओज की मात्रा कुछ अधिक देखते हैं।

अब गोस्वामी तुलसीदास और कबीर तथा अन्य निर्गुण पन्थ के कवि रह गये। इन कवियों में रसार्द्रता के साथ-सबलता भी देखते हैं। इन महाकवियों ने शक्तिशाली साहित्य का सृजन किया जिसका मन पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। साहित्य की दृष्टि से तुलसी और सूर, विषय के महत्व की दृष्टि से तुलसी और कबीर हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं। तुलसी में अपने आदर्श के कारण जहाँ शक्ति, बल और उत्साह मिलता है, कबीर में जीवन की प्रधान समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो चिन्तन की प्रेरणा मिलती है। यहाँ कबीर अपने उच्च आसन पर अकेले विराजमान हैं।

कबीर की सार्वजनीनता और महत्व—कबीर विश्व कवि हैं। सूर और प्रसाद के समान अपने साहित्यक महत्व के कारण नहीं, तुलसी की तरह अपनी सार्वजनीनता के बल पर। रस ग्राहियों और कला पिपासियों से कबीर का विशेष सम्मान कभी नहीं हुआ। पर जनता ने उनकी रचनाओं को अपनाया।

ईश्वर पूजा की उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर जिनके कारण धर्म में भेद-भाव फैला हुआ था, कबीर शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे। धर्मों के नाम पर अत्याचार से उत्पन्न मूक वेदना से ही कबीर की प्रेरणा है। ऐसी स्थिति में नाक सिकोड़ने की आव-

श्यकता नहीं कि कबीर में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ीचक्र की, कहीं सूफियों के प्रेमतत्व की, कहीं पैगम्बर कट्टर खुदावाद की और कहीं वैष्णव अहिंसावाद की। सैद्धान्तिक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति ग्रहण करने से कभी-कभी इस तरह का अनर्थ हो जाता है। इसीलिए लेखक की भाव-धारा उसकी प्रेरणा और मूल प्रवृत्ति पर ध्यान देना परम आवश्यक हो जाता है। कबीर की दृष्टि सदा सामञ्जस्य पर थी, इसलिए उन्होंने सब सम्प्रदायों से उत्तम बातें ग्रहण कीं। लेकिन कबीर पहुँचे हुये महात्मा थे, एकता के मार्ग को प्राप्त, सत्य स्वरूप को पहचानने वाले। अतएव सच्चा सुख और शान्ति जिससे सम्भव है, उसी पथ को सामान्य जनता के सामने उपस्थित किया।

ईश्वर सान्निध्य की प्राप्ति विविध सम्प्रदायों के अनुसरण से, उनकी दार्शनिक विचारधारा से अवगत होने से या उनके वाह्य विधि-विधान के आचरण से नहीं, आन्तरिक प्रेरणा और अनुभूति से ही सम्भव है। यही कबीर पंथ है, उसकी प्रधान विशेषता है। इसीलिए धार्मिक सङ्कीर्णता, रूखी दार्शनिकता और वाह्य-आडम्बर का कबीर ने घोर विरोध किया। सरलता और प्रत्यक्ष अनुभव पर जोर दिया। प्रेम और आन्तरिक साधना ये ही मुख्य विषय हैं। प्रेम के द्वारा परमात्मा से मिलन ही कबीर का लक्ष्य है। परमात्मा के साथ आत्मा के प्रेम का यह सम्बन्ध बहुत ही आन्तरिक और व्यक्तिगत सीमा तक पहुँच गया है। रहस्यवाद की उस स्थिति में कबीर की वाणी में अद्वितीय माधुर्य देखते हैं।

प्रायः लोग कबीर की खण्डनात्मक उक्तियों पर आपत्ति प्रकट करते हैं। लेकिन वे समय अनुकूल ही हैं। लोग पूजा पाठ, श्राद्ध, एकादशी, तीर्थव्रत, रोजा, नमाज आदि को ही सब कुछ मानकर घोर अन्ध विश्वास में फँसे हुये थे। उन्हें उन्मुक्त करना था। पण्डित और मुल्ला लोग जनता के अन्ध-विश्वासों से अनुचित लाभ उठाकर धर्म के नाम पर पाखण्ड बढ़ाते थे। कबीर रूखी दार्शनिकता और धर्म के वाह्य विधि-विधानों में अन्ध विश्वासों का ही नहीं संस्था सम्बन्धी (Institutional) धर्म का भी तीव्र विरोध करते हैं। पण्डितों और मुल्लाओं की प्रधानता और उनकी संकुचित विचारधारा का कबीर ने चुभती भाषा में खण्डन किया। जाति-पाँति छूत-अछूत के प्रचलित उन विधि-नियमों पर भी कबीर ने घोर आपत्ति प्रकट की।

यही कबीर को सार्व-भौमिक बना देती है। मातृ-भावना और समता की यह दृष्टि कबीर के पहले और कहीं नहीं दिखायी देती। भक्ति के क्षेत्र में सबकी समानता का भाव बहुत पहले रामानुज ने ही स्वीकार किया था, और तब से वह सब आचार्यों को मान्य हुआ। लेकिन भक्ति के क्षेत्र के बाहर वे जाति पाँति के भेदों को मानते थे, और तत्सम्बन्धी आदेशों का पालन करते थे। लेकिन 'हम सब ईश्वर की सन्तान हैं, मनुष्य-मनुष्य सब समान हैं, जाति या धर्म का कोई भेद नहीं है।' इस तरह की घोषणा करने वाले सर्व-प्रथम कबीर ही हुए। स्थान स्थान पर इस तरह कहना कितने साहस का काम है, हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। इस तरह कबीर मानवता के प्रथम कवि हैं। सबकी समता स्वतन्त्रता और भ्रातृ-भावना का प्रचार करने वाले सार्व-जनीन विश्व-कवि हैं।

कबीर की वाणी में ओज है, शक्ति है। हृदय की सचाई और आत्मबल के कारण कबीर की वाणी में वह अद्भुत बल आ गया है। सत्य के स्वरूप की जब पहचान होती है, तब कहने की पद्धति कुछ और ही होती है। जो कुछ कहते हैं पूरे आत्म-विश्वास के साथ कहते हैं। सत्य और एकता की उस पृष्ठ-भूमि में ही उनकी शक्ति और विशेषता का अनुभव कर सकेंगे।

कबीर की प्रतिभा बड़ी प्रखर है, जिससे उनकी बात बड़ी चुटीली और व्यङ्ग की हो जाती है। उस

व्यङ्ग से हृदय तिलमिला उठता है। कबीर के कहने का जबरदस्त प्रभाव पड़ता है—

पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजू पहार।
ताते या चाकी भली पीस खाय संसार॥

भाव सुकुमारता में भी कबीर किसी भी कवि से कम नहीं हैं। प्रेम का यह कैसा एकाधिकार है—

नैनों अन्तर आव तू नैन झाँपि तोहि लेंव।
ना मैं देखूँ और को ना तोहि देखन देंव॥

प्रेम की यह अनन्यता है। नैनों में लेने की कल्पना कितनी सुन्दर है, सुकुमार है। कला की बारीकियाँ, दूर की सूझ जो विहारी तथा अन्य रीतिकालीन कवियों में देखते हैं, कबीर में नहीं मिलेंगी। दूर की उस कल्पना से कबीर की यह भाव-योजना कितनी स्वाभाविक है, कोमल है, हृदय स्पर्शी है।

कबीर के रहस्यवाद सम्बन्धी पद-साहित्य के किसी भी उत्कृष्ट कवि के पदों से कम नहीं हैं। विरह-मिलन, आशा-निराशा, अभिलाषा-वेदना के ये पद हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय हैं। उन पदों में कुछ विशेष सरसता है, आडम्बर, अस्वाभाविकता या प्रयत्न ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। आधुनिक-काल में रहस्यवादी कवि बहुत हो गये हैं। लेकिन उनमें से किसी की कविता में भी कबीर की-सी अनुभूति की तीव्रता, वेदना की पुकार, असीम व्याकुलता नहीं देखते। कला की प्रौढ़ता से मन को तृप्ति हो सकती है, हृदय को नहीं। कुछ कवियों में कला की प्रौढ़ता होती है, कुछ में रसार्द्रता और कुछ कवियों की कविता में उनकी ही आत्मा को देखते हैं। आत्मा की ही पुकार उनकी वाणी का रूप धारण करती है। इसलिये उनको पढ़ने में हमारी आत्मा को, हृदय को जो विशेष तृप्ति होती है, शान्ति मिलती है, वह अन्य कवियों की रचनाओं से नहीं। ऐसी प्रतिभा हिन्दी में केवल कबीर और तुलसी में देखते हैं। सारे संसार को सीताराम-मय देखने से तुलसी की भक्ति में, उनके आराध्य राम के शील सौन्दर्य और शक्ति के वर्णन में यह विशेषता आ गई है। भक्ति की चरम सीमा दीनता में है और परम विश्वास हो जाने पर आराध्य की शक्ति असीम मालूम होती है, उसके लिये कुछ असाध्य नहीं होता। प्रथम में आत्मा की पुकार सुनते हैं, दूसरे में में शक्ति-स्वरूप। परमात्मा से मिलने की अभिलाषा और वेदना कबीर के जीवन से अभिन्न अङ्ग नहीं, जीवन-मात्र सब कुछ हो जाने से कबीर की वाणी में वह व्याकुलता देखते हैं, आत्मा की पुकार सुनते हैं, जो आधुनिक काल के किसी रहस्यवादी कवि में सम्भव नहीं है। रहस्यवाद सम्बन्धी पदों से दो-एक उदाहरण—

हरि मेरा पीव माइ हरि मेरा पीव।
हरि बिन रह न सकै मेरा जीव॥
हरि मेरा पीव हउ हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटकि लहुरिया॥
किया सिंगार मिलन के ताईं......

× × ×

दुइ दुइ लोचन देखा।
हउ हरि बिन अउरु न देखा।
नैन रहे रंगु लाई
अब बे गल कहनु न जाई॥

इन पदों में न अलङ्कार है, और न कला की प्रौढ़ता। केवल इतना ही है—हरि मेरा प्रिय है और मैं उसके बिना अत्यन्त व्याकुल हूँ। हरि को देखने पर और कुछ नहीं है। न सुनने के लिये, न कहने के लिये और न देखने के लिये। भावों की यह सरलता कबीर की अपनी विशेषता है। आत्मा की विरह वेदना और व्याकुलता जिस मार्मिकता से कबीर में प्रकट हुई है, वह हिन्दी साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं। गम्भीर रहस्यमय अनुभूतियाँ, हर्षातिरेक, विरह व्याकुलता, शान्त-निश्चलता की स्थिति, आत्म समर्पण की उत्कण्ठा और भक्ति, आन्तरिक प्रेम के क्षण—परमात्मा के साथ मिलन की साधना में विरहिणी आत्मा की विविध स्थितियों

और भावों का बड़ा ही कोमल हृदय-स्पर्शी वर्णन हुआ है।

कबीर में रूपक और अन्योक्तियाँ अधिक मात्रा में मिलती हैं। रहस्यमय अनुभूतियों को स्पष्ट करने के लिए रूपकों, प्रतीकों और संकेतों का ग्रहण करना एक तरह से अनिवार्य ही है। लेकिन वे रूपक और अन्योक्तियाँ हैं अत्यन्त सरस। वे उपमा और रूपक हिन्दू और मुसलमानों के घरेलू विषय हैं। कल्पना का आधार सामान्य मानव जीवन है जिससे वह हर एक की अनुभूति का हो सके। वर-वधू, गुरु-शिष्य, यात्री, किसान आदि सरल रूपकों से ही हृदय की अभिलाषाएँ, भावातिरेक और रहस्यमय अनुभूतियों को प्रकट किया गया है। दीपावली का उत्सव, मन्दिर की घंटायें, विवाह, सती, यात्रा, षटऋतु आदि की उपमाओं से कबीर के पद बहुत ही सरस लगते हैं। औद्यानिक यात्रा में सांसारिक जीवन की नश्वरता का कितना प्रभावशाली आभास नीचे लिखे दोहे में है—

मालो को आवत देखि कै कलियाँ कहें पुकार।
फूले फूले चुनि लिये कालिह हमारि बार॥

नीति की दृष्टि से भी उनके दोहे गहरी अनुभूति लिये हुये हैं।

भाषा-शैली—कबीर की भाषा पर बहुत आक्षेप किये गये हैं। उनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित है। हिन्दी की सभी बोलियों का (मुख्यतया राजस्थानी, पञ्जाबी, खड़ी बोली और ब्रज) का सम्मिलन (जिससे चिढ़ कर शुक्लजी ने सधुक्कड़ी संज्ञा दी) व्याकरण के नियमों के विरुद्ध बराबर प्रयोग और शब्दों को तोड़-मरोड़ने की प्रवृत्ति स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। इस तरह का दोषान्वेषण कबीर की भाषा के सम्बन्ध में बहुत हुआ है लेकिन उनका भाषा पर अधिकार, शब्द-शक्ति, भावाभिव्यक्ति का सरलता और स्वाभाविकता भाषा-सौंदय पर शायद ही किसी की दृष्टि गई है। व्याकरण की दृष्टि से कबीर में बहुत सी अशुद्धियाँ हैं, यह तो ठीक है, पर साथ ही हमें साहित्य को साहित्य की दृष्टि से भी देखना है। तभी भाषा सौन्दर्य का ठीक मूल्याङ्कन हो सकेगा। भाषा भावों को प्रकट करने का माध्यम है। इस लिए सहज ही पहले यह प्रश्न उठता है कि कवि अपने भावों को स्पष्ट प्रकट करने में सफल हुआ है या नहीं। और फिर वह भाषा किस हद तक सजीव है। भावों को प्रकट करने में अधिक प्रयत्न या कृत्रिमता तो नहीं है।

इस दृष्टि से देखें तो कबीर को जितनी सफलता मिली है, उतनी हिन्दी के कम कवियों को। चाहे दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना हो, चाहे योग की चर्चा चलानी पड़े, और चाहे रहस्यमय अनुभूतियों को प्रकट करना हो, कबीर की भाषा में अस्पष्टता कहीं नहीं देखते। भाषा भावों को प्रकट करने में सर्वथा समर्थ है। इतना ही नहीं कबीर की भाषा में ओज है, बल है, शक्ति है। उनकी प्रतिभा बड़ी ही प्रखर है—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

दर्शन मात्र से तन्मयता की स्थिति का कितना सजीव वर्णन है। चारों ओर ईश्वर की दीप्ति की छटा है। अरुणिमा फैली हुई है। अरुणिमा में सब वस्तु लाल दिखायी देती है, जिस पर अरुणिमा पड़ती है लाल हो जाती है। रंग में रँग जाती है। और भाषा की स्वाभाविकता को भी देखिये। कृत्रिमता या प्रयत्न कहीं भी नहीं मालूम होता। 'लाल' शब्द का इतना अधिक प्रयोग हुआ है, फिर भी हमारी दृष्टि उस ओर नहीं जाती। भाव तन्मयता और भाषा सौंदर्य पर ही हमारा ध्यान केन्द्रित रहता है। और कवि अनुप्रास, यमक आदि के लिए बहुत प्रयत्न करते हैं, प्रयोग करते हैं, ध्वनि माधुर्य से आकर्षित होते हैं; पर अर्थ पिछड़ जाता है। कबीर में हम यह कभी नहीं देखते।

(शेष पृष्ठ १२१ पर,)

कृष्णकाव्य में राधिका के व्यक्तित्व का विकास

श्री अम्बाप्रसाद शुक्ल एम० ए०, साहित्य-रत्न

अनेक विद्वानों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव ईसा की चौथी शताब्दी के पूर्व हो चुका था। श्रीकृष्ण का दूसरा नाम वासुदेव भी है। श्री पाणिनि के व्याकरण में वासुदेव और अर्जुन देवयुग्म हैं। प्रसिद्ध मैगस्थिनीज ने भी लिखा है कि ईसा के ३०० वर्ष पूर्व कृष्ण की पूजा मथुरा में होती थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि कृष्ण की पूजा का प्रारम्भ 'उपनिषदों' के साथ ही हुआ, क्योंकि 'महानारायण उपनिषद' में विष्णु का पर्यायवाची शब्द वासुदेव है। कृष्ण वासुदेव का ही पर्यायवाची शब्द है, अतः कृष्ण ही विष्णु का सूचक हुआ।

इस प्रकार वासुदेव का प्रथम रूप नारायण था, बाद में विष्णु और अन्त में गोपाल कृष्ण हुआ।

जब हम महाभारत में कृष्ण के व्यक्तित्व का दर्शन करते हैं तो वे केवल मनुष्य रूप में ही नहीं देव रूप में भी स्थापित हुये हैं। वहाँ कृष्ण की भावना परब्रह्मस्वरूप में है, गोपाल कृष्ण के रूप में नहीं। गोपाल कृष्ण की भावना का विकास 'हरिवंश पुराण' में हुआ है। उसमें कृष्ण अपने पिता नन्द से गोवर्द्धन-पूजा की प्रार्थना के समय अपने को पशुपालक कहते हैं और अपना वैभव गोधन से ही मानते हैं। उनका प्रारम्भिक जीवन प्रकृति की गोद में ही विकसित हुआ था। जिस समय उन्होंने अपने अलौकिक कृत्य से ब्रज की जनता का रक्षण किया। उस समय उन्होंने अपने ईश्वरत्व का आभास कराया। इससे हमें यह कहने में संकोच न होना चाहिए कि कृष्ण का ईश्वरीय रूप में विकास उनके गोपाल जीवन से ही प्रारम्भ हुआ था।

जिस प्रकार रामानन्द ने श्रीरामानुजाचार्य से प्रभावित होकर तथा विष्णु और राम का रूपान्तर कर राम भक्ति का प्रचार किया उसी प्रकार निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी के आदर्शों को सामने रख कर उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। यह भक्ति भागवतपुराण से ली जाने के कारण उसमें ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का महत्व अधिक है, आत्मचिन्तन की अपेक्षा आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य है। श्री वल्लभाचार्यजी ने ईसा की १५ वीं शताब्दि में कृष्ण-भक्ति का अत्यधिक प्रचार किया। उन्होंने दार्शनिक पक्ष में शुद्धाद्वैत की स्थापना की और भक्ति के पक्ष में पुष्टिमार्ग की। इस प्रकार दोनों के योग से सत्, चित् और आनन्द स्वरूप ब्रह्म की कल्पना की, और कृष्ण को इसी ब्रह्म स्वरूप माना। इनके सम्प्रदाय में अनेक वैष्णव कवि हुए जिन्होंने कृष्ण भक्ति का बहुत ही प्रचार अपनी उत्कृष्ट रचना द्वारा किया।

यहाँ तक श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव और कृष्णभक्ति के प्रचार की बात हुई। अब राधा के जीवन के इतिहास के बारे में विचार करने की चेष्टा करूँगा। श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव और कृष्णभक्ति के प्रचार की बात इसलिए हुई कि गोपाल कृष्ण के साथ ही राधा का स्थान है।

महाभारत में श्रीकृष्ण के गोपजीवन का थोड़ा सा वर्णन होने से वहाँ राधा के चित्रण का अभाव है। इस ग्रन्थ में विशेष बात यह है कि एक गोपी जो कृष्ण के साथ एकान्त में विचरण करती थी उसका उल्लेख है।—अन्य गोपियाँ उसे इस प्रकार कृष्ण के साथ देखकर उसका मान करतीं और सोचती थीं कि शायद इसने अगले जन्म में कृष्ण की आराधना की हो।

माध्व-सम्प्रदाय जो 'भागवत-पुराण' के आधार पर पहला सम्प्रदाय है जिसमें कृष्णोपासना पर

ज्यादा जोर दिया गया है उसमें राधा को स्थान नहीं दिया गया है। 'भागवत-पुराण' के आधार पर जिन अन्य पुराणों का निर्माण हुआ है उनमें राधा को स्थान दिया गया है। 'भागवत पुराण' में जिस विशेष गोपी का उल्लेख है वह अपनी आराधना के कारण कृष्ण को प्रिय है। इससे यह प्रतीत होता है कि इसी 'आराधना' शब्द से 'राधा' शब्द की उत्पत्ति हुई हो। 'राधा' शब्द संस्कृत धातु 'राध' से बना है जिसका अर्थ सेवा करना या प्रसन्न करना है। वह 'विशेष गोपिका' श्रीकृष्ण की सेवा करती होगी और उनको अपनी सेवा द्वारा प्रसन्न करती होगी, शायद 'राधा' शब्द का उसके लिए प्रयोग हुआ हो तो निरर्थक नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है कि जिसमें 'राधा' का पहले पहल इस अर्थ में प्रयोग हुआ हो। लेकिन जो ग्रन्थ प्राप्त हैं जिसमें 'राधा' का पहले पहल उल्लेख मिला है, वह 'गोपालतापनी उपनिषद' है जिसमें राधा कृष्ण की प्रेयसी के रूप में चित्रित की गई है।

विष्णु-स्वामी और निम्बार्क सम्प्रदाय में भी, जो माध्व सम्प्रदाय के बाद हुए और जिन्होंने कृष्ण का ब्रह्मत्व स्वीकार किया है, राधा का निर्देश नहीं है। निम्बार्क सम्प्रदाय के जयदेव कवि ने राधा-कृष्ण के विहार की रचना की। ऐसा माना जाता है कि राधा की उपासना वृन्दावन में सन् ११०० के लगभग 'भागवत पुराण' के आधार पर हुई होगी और वहीं से बंगाल तथा अन्य स्थानों में पहुँची होगी। बङ्गाल में चैतन्य महाप्रभु ने और वृन्दावन में श्रीवल्लभाचार्यजी ने राधा को विशिष्ट स्थान दिया। श्रीवल्लभाचार्य की राधा की उपासना से प्रभावित होकर महाकवि सूरदास ने अपनी कवित्व-शक्ति और भक्ति-भावना से राधा-कृष्ण की उपासना में अनेक मधुर और मादक गेय पद बनाए; तथा जयदेव से प्रभावित होकर मैथिल कोकिल महाकवि विद्यापति ने भक्त-हृदय की भावना के आवरण में राधा की उपासना में लौकिक शृङ्गार का दर्शन कराने वाले गेय पदों की रचना की। इस प्रकार श्री राधा को श्रीकृष्ण के साथ उपास्य के रूप में महाकवि सूरदास और विद्यापति की रचनाओं में महत्व पूर्ण स्थान मिला।

कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ हिन्दी में तो महाकवि विद्यापति से माना जाता है किन्तु विद्यापति जयदेव से प्रभावित होने के कारण कृष्ण-काव्य का सूत्रपात जयदेव से ही मानना चाहिए।

जयदेव का 'गीतगोविन्द' मधुर, मादक और सरस है। इसमें आध्यात्मिक पक्ष की अपेक्षा लौकिक शृङ्गार का अधिक दर्शन कराया है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में लिखते हैं—"उसमें कामसूत्र के संकेतों के आधार पर राधा-कृष्ण परिरंभन है, विलास है, क्रीड़ा है। भक्ति-भावना का बिलकुल अभाव है। शृङ्गार ही काव्य की शोभा है, शृङ्गार ही काव्य का रस है, रतिभाव ही काव्य का मुख्य भाव है।" इस से प्रतीत होता है कि राधा का चित्रण एक साधारण नायिका के रूप में है और कृष्ण का एक साधारण नायक के रूप में।

महाकवि विद्यापति इसी शृङ्गार-मय रचना से प्रभावित हुए। अतः उनकी 'पदावली' भी वैसी ही शृङ्गार भावना से पूर्ण हुई है जैसे 'गीत. गोविन्द'। उन्होंने राधा-कृष्ण का वर्णन बड़ी सुन्दर एवं सजीव शैली में किया है। मैथिली की कोमलता में राधा के अंगों की कोमलता को व्यक्त करने की उन्होंने सुन्दर प्रयत्न किया है तथा संयोग और विप्रलंभ को उत्कृष्ट बनाने की अलौकिक चेष्टा की है। भक्त हृदय के आवरण में राधा-कृष्ण के जीवन के प्रसङ्गों को सङ्गीत की लहरों में लहराने का प्रयत्न उन्होंने किया, किन्तु उसमें वे असफल रहे, कारण यह कि उनकी कविता राज दरबार के लिए थी। अतः राधा-कृष्ण केवल कामुक नायक नायिका के रूप में चित्रित हुए। अपनी कोमल कान्त 'पदावली'

'पदा'

सन्धि' का जो वियोग है वह उनकी अपनी एवं मौलिक कल्पना है, जयदेव में यह प्रसंग नहीं है। जयदेव की राधा केलि-चतुरा, यौवन-प्राप्त नायिका है जो छल से नायक कृष्ण को प्राप्त करना चाहती है। विद्यापति की राधा में शैशव-यौवन का उसके शरीर पर युद्ध है। बाहर और भीतर दोनों में संघर्ष है। यह अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। राधा के यौवन के विकास के साथ मनोभावों का विकास भी कवि ने सुन्दर रूप से कराया है। नेत्र दीर्घ होते हैं, वचन में चातुरी आती है, मुक्त हास्य गुप्त हुआ, कुच निकल आए। अवः—

चरन चपल गति लोचन पाव।
लोचनक धैरज पदतल जाव॥

इस प्रकार कामदेव उसके शरीर पर अधिकार कर लेता है। राधा के प्रत्येक अङ्ग का रूप बदल जाता है और काम पीड़ा देने लगता है। राधा समझती है कि कामदेव भगवान कैलाशपति का शत्रु है और मुझमें महादेव के चिह्न देख कर पीड़ा देता है, इसलिए वह काम से प्रार्थना करती है:—

कत न बेदन मोहि देसि मदना।
हर नहि बला मोहि जुवति जना॥

वह अपने में केवल एक दोष देखती है:—

एक पए दूखन नाम मोरा बामा।

अर्थात् मेरा नाम 'बामा' (रमणी) है जो महादेव के 'वामदेव' के नाम से मिलता-जुलता है।

इस प्रकार देखा गया कि विद्यापति की रचना में भक्ति-भावना का अभाव है। उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में उनके भक्त-हृदय का रूप छिप जाता है। कविता में कलामात्र है, भक्ति-भावना-मय व्यक्तित्व नहीं। राधा इसलिए प्रेम करती है कि अन्य स्त्रियाँ प्रेम करना जानती हैं, कृष्ण से इसलिए प्रेम करती है कि सौन्दर्य से प्रेम किया जाता है।

अत्यधिक शृङ्गार का कारण उनकी कविता राजदरबार के लिये थी। उनका ध्यान 'राजा सिवसिंघ रूप नरायन लखिमा देइ रमाने' की ओर विशेष था। विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदय-ग्राही वर्णन नहीं किया जितना बाह्य-जगत का। वह केवल सौन्दर्योपासक थे। सौंदर्य की वस्तु हमेशा आनन्ददायिनी होती है।

इससे यह निश्चित होता है कि राधा का चरित्र चित्रण एक कामिनि नायिका के रूपमें हुआ है। ईश्वरत्व का दिग्दर्शन करने वाले श्रीकृष्ण के लिए ऐसी राधा योग्य नहीं है। विद्यापति की इस कमी को वैष्णव सम्प्रदाय के अन्य कवियों और सूरदास, नन्ददास जैसे महाकवियों ने दूर करने की कोशिश की है और राधा को अपनी उपासना की साधना बनाकर एक विशेष प्रकार का स्थान व्रज-भाषा काव्य में दिया है। विद्यापति के बाद राधा-कृष्ण की भावना महाकवि सूरदास के 'सूरसागर' में उपस्थित हुई [illegible] अनेक भक्तकवियों द्वारा अपने सच्चे हृदय के प्रेममय जल से सिंचित हुई। स्व० रामचन्द्र शुक्लजी के शब्दों में—"जयदेव की देव-वाणी स्निग्ध पियूषधारा, जो काल की कोठरी में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक भाषा की सर-सता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चलकर करील कुञ्जों के बीच फैले मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अन्धे कवि सूरदास की वीणा की थी।" इस प्रकार सूरदास की वीणा में से राधा-कृष्ण की उपासना की झनकार निकलने लगी जो अनेक भावों में विभक्त होकर 'सूर सागर' को भरने लगी। सूरदास ने वात्सल्य और शृङ्गार का विशेष और सुन्दर रूप से वर्णन किया है जिसमें ऐसे भावों को व्यक्त किया है जिनका नामकरण भी अभी तक नहीं हुआ है। कवियों की सच्ची पहुँच यही है।

सूर की बाल क्रीड़ा में कृष्ण और गोपियों के बीच प्रेम की चेष्टाओं का प्रारम्भ होता है जिनके

द्वारा प्रेम का सर्जन होता है और इसी प्रेम की नवीन सृष्टि में रूप लिप्सा और साहचर्य्य का योग है। कृष्ण-गोपियों का प्रेमबन्धन ऐसा है जो किसी समय पर नहीं छूट सकता। गोपियाँ और कृष्ण का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा तथा ईश्वर और जीव का अमर सबन्ध है। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं:—

"लरिकाई को प्रेम कहौ, अली कैसे छूटे।"

राधा की भी यही स्थिति है। वह कृष्ण के प्रेम में पागल है। बचपन यौवन में परिणत हो जाता है। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही है। राधा कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सबने रूप के आकर्षण द्वारा ही कही है। कृष्ण राधा को देखते ही उसके रूप में अन्धे बन जाते हैं। देखिए:—

खेलन हरि निकसे व्रज-खोरी।
गए स्याम रवि-तनया के तट,
अङ्ग लसति चन्दन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा,
नैन विशाल, भाल लिए रोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे,
नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

और यह राधा-कृष्ण का संवाद:—

"बूझत स्याम कौन तू गोरी!
कहाँ रहति, काकी तू बेटी?
देखी नाहि कहूँ ब्रज खोरी॥
काहे को हम ब्रज तन आवत?
खेलति रहति आपनी पोरी।
सुनति रहति नन्द-ढोटा करत-
रहत माखन-दधि-चोरी।
तुम्हरी कहा चोरी हम लै हैं?
खेलन चलौ सङ्ग मिलि जोरी।
'सूरदास' प्रभु रसिक-सिरोमनि
बातन भुरर राधिका भोरी॥"

इस प्रकार प्रेम उभय पक्ष में उत्पन्न होता है। दोनों एक दूसरे को मिलने के लिए आतुर रहते है। शुक्लजी के शब्दों में सूर का संयोग वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-सङ्गीत मय जीवन की एक गहरी चलती धारा है जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई पड़ता है.... । राधा और कृष्ण बन में गाय चराते समय एक दूसरे से मिलते हैं और इस प्रकार वे दोनों एक दूसरे के घर पर आने-जाने लगते हैं। कभी-कभी आपस में झगड़े भी होते हैं। जैसे:—

(क) करि ल्यो न्यारी, हरि आपनि गैयाँ।
नहिं न बसात लात कछु तुमसौं,
सबै ग्वाल इकठैयाँ॥
(ख) तुम पै कौन दुहावै गैयाँ।
इत चितवत, उत धार चलावत,
एहि सिखयो है मैया?

इस प्रेम में न विलास की मादकता है, न छल कपट और न बाह्य शृङ्गार द्वारा नायक को आकर्षित करने की रीति जो जयदेव और विद्यापति की राधा में पायी जाती है। इसमें विशुद्ध प्रेम की धारा है, भोला व्यक्तित्व है और उस व्यक्तित्व के प्रति सच्चे भक्त हृदय की उपासना है। सूरदास का विप्रलम्भ शृङ्गार एक उत्कृष्ट रचना है। कृष्ण के विरह में राधा और अन्य गोपियाँ व्यथित हैं। उस समय उद्धव राधा को कृष्ण की पत्री देते हैं और राधा उसे:—

निरखत अङ्क स्याम सुन्दर के
बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलिकै
ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥

सूरदास ने 'अङ्क' और 'स्याम' के श्लेष द्वारा उत्कृष्ट प्रेम की व्यञ्जना की है। राधा का व्यक्तित्व सूर के काव्य में एक सच्ची प्रेयसी के रूप में विकसित होता है जो भक्त हृदय की शुद्ध भावना का प्रतिविम्ब है।

अष्टछाप के कवियों ने राधा के महत्व को और भी बढ़ा दिया है और यहाँ तक कि श्री हितहरिवंश जी 'राधावल्लभीय सम्प्रदाय' के प्रवर्तक भी हुए। श्री हितजी ने स्वप्न में राधिकाजी से मन्त्र ग्रहण किया था और उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। आपका

'हित चौरासी' बड़ा अनूठा ग्रन्थ है जिसे पढ़ते-पढ़ते कवि कोकिल जयदेव का स्मरण हो आता है। श्री हित जी ने आध्यात्मिक पक्ष के अर्थानुसार श्रीराधा कृष्ण के विशुद्ध शृङ्गार का वर्णन किया है। यहाँ भावों की कोमलता, भाषा की सुन्दरता एवं मधुरता तथा सजीव अभिव्यञ्जन शक्ति की सरसता में राधा का जो वर्णन हुआ है उसमें सच्चे भक्त हृदय की भक्ति-भावना का विमल स्रोत बहता है।

श्री हरिराम व्यासजी, जो हितजी के शिष्य थे श्रीराधा की अलौकिकता के बारे में लिखते हैं:—

परम धन राधे नाम अधार।
जाहि स्याम मुरली में टेरत, सुमिरत बारम्बार॥
जंत्र-मंत्र और वेद-तंत्र में, सबै तार कौ तार।
श्रीसुक प्रकट कियौ नाहिं यातें, जानि सार कौ सार॥
कोटिन रूप धरे नँद-नन्दन तऊ न पायौ पार।
'व्यास दास' अब प्रगट बखानत, डारि भार में भार॥

व्यासदासजी की श्री राधिका के प्रति अनन्य भक्ति भावना का द्योतक यह पद है जो बहुत ही सुन्दर एवं सजीव है।

इस प्रकार शनैः शनैः राधा कृष्ण की भावना भक्तिकाल में भक्त हृदय में प्रवाहित हो कर रीतिकाल में शृङ्गारिक भावना में सम्मिलित हुई और वहाँ राधा-कृष्ण उपास्य न रह कर एक नायक-नायिका के रूप में जनता के सामने आये। राधा कृष्ण की इस भावना में केवल बाह्य शृङ्गार, रूप लिप्सा तथा कामुकता ही रही जिसके द्वारा जनता की अभिरुचि तृप्त होती थी। इसका कारण यह था कि वह शृङ्गार की अभिरुचि का युग था, जिसमें जनता केवल बिलास और भोग की तृप्ति के सिवा और कुछ चाहती न थी। धर्म की भावना नष्ट प्रायः हो गई थी। अन्त में राधा-कृष्ण की भावना आज उस स्थान तक सीमित रही जहाँ वैष्णव धर्म का प्रचार है। राधा-कृष्ण की जीवन कहानी जनता के आदर्श के रूप में ही रही।

(पृष्ठ ११६ का शेष)

कबीर की भाषा की सबसे प्रधान विशेषता है उसकी सरलता। उनको जो कुछ कहना है सीधे-सादे शब्दों में सरल ढंग से कह लेते हैं। लेकिन उस कहने की पद्धति में एक बहाव है। बात उनके मुख से सुगमता से निकलती है, कहीं बीच में नहीं रुकती। इसलिये कबीर की वाणी में एक स्वाभाविक धारा प्रवाह देखते हैं—

मरिये, तो मर जाइये, छूटि परै जंजार।
ऐसा मरना को मरै दिन में सौ-सौ बार॥

कैसी विडम्बना है। अकाम करते हैं और लज्जा के मारे मर जाते हैं। न जाने कितने बार ऐसा होता है। इसकी अपेक्षा सदा के लिए मर जाते तो कितना अच्छा होता। कबीर की भाषा इतनी सरल और कहने की पद्धति इतनी सीधी होती है कि हृदय पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है, उनकी वाणी हृदय को स्पर्श करने वाली होती है।

कबीर जिनहु किछू जानिआ नहीं,
तिन सुख नींद बिहाई।
हमहु जु बूझा बूझना,
पूरी परी बलाई॥

कबीर की भाषा में रूपक और अन्योक्तियाँ बहुत अधिक हैं। फिर भी कहीं आडम्बर या अलंकारिता का अनुभव नहीं होता। अलंकार रहे और उसका अनुभव न हो; कवि की प्रतिभा, उसकी वाणी की स्वाभाविकता का यही सबसे अधिक परिचायक है—

कबिरा एक अचंभउ देखिओ हीरा हाट बिकाइ।
बनजन हारे बाहरा, कउडी बदले जाइ॥

उलटी बासियों का अर्थ लगाना बहुत कठिन हो सकता है, लेकिन कबीर की भाषा में कहीं भी क्लिष्टता नहीं है। बिहारी या रीतिकाल के कवियों की रचनाओं के अन्वय में जो कठिनाई का अनुभव करते हैं, वह कबीर में नहीं। प्रायः भाव सरल होते हैं और कहने की पद्धति भी सीधी होती है। जहाँ कहीं सावयवरूपक मिलते हैं वहाँ भी प्रसाद गुण देखते हैं—

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय॥

महादेवी की रहस्य भावना

श्री कौशलकिशोर बी० ए०, डिप्-इन-इड्

काव्य में अजर-अमर परमात्मा की सत्ता, महत्ता एवं महानता का मंजुल उद्घोष एवं अभिव्यञ्जना ही रहस्यवाद की सत्ता पाता आ रहा है। सच तो यह है कि हिन्दी काव्य में कबीर आदि सन्त कवियों की पुनीत वाणी में हम सर्व-प्रथम ईश्वरीय विभूति का पावन, सुन्दर एवं अभिनव गुण-गान पाते हैं। "सुन सखि पिउ मँह जिउ बसै, जिउ मँह बसै कि पिउ"—कहकर इन संत कवियों ने अपने तपः-पूत शरीर को 'पिउ' के चरणों में न्योछावर कर दिया। पर इनकी पुनीत एवं लोकोपकारी भावनाएँ अपने तक ही सीमित न रह सकीं। इनकी खंजरी के सुमधुर स्वर के साथ-साथ इनकी वाणी का स्वर भी आर्यावर्त के घर-घर में गूँज उठा और निखिल भारतीय सन्तान अपने हृदय में बैठे 'पिउ' के लिए व्यग्र हो उठीं। आगे चलकर इनकी पीयूष-वर्षी वाणी 'मीरा' के कोमल कानों में गूँज उठी। और वह अपने 'मोर मुकुट' वाले 'बैद सँवलिया' के लिए तड़प उठीं। सारा राजमहल थर्रा उठा, पर मीरा—'दरद दिवाणी' मीरा—अपने प्रेम की पीर की एक-मात्र दवा 'वैद सँवलिया' के लिए पुकार मचाती ही रही। विश्व की कोई भी शक्ति उसे अपने मार्ग से विचलित न कर सकी। और, महादेवी—मीरा का आधुनिक संस्करण—भी उसी अगोचर एवं चिर-सुन्दर के लिए तड़पती रहती हैं, वही इनका एक-मात्र आराध्य है, वही इनका एक-मात्र 'वैद सँवलिया' है।

महादेवी नवयुग की साधिका हैं। इनकी अर्चन-पूजन पद्धति अपनी है। मन्दिरों में जाकर प्रस्तर-खण्डों के समक्ष आरती दिखाना शायद इन्हें अच्छा नहीं लगता। इनकी नवीन अर्चन-वन्दन पद्धति देखिये। सारा शरीर ही एक पवित्र देवालय है, एक पुनीत देव-मन्दिर है—

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर
मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करतीं रहतीं
नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पद रज को धोने उमड़े आते
लोचन से जल कण रे !
अक्षत पुलकित रोम मधुर
मेरी पीड़ा कर चन्दन रे !
स्नेह भरा जलता है झिलमिल
मेरा यह दीपक मन रे !
मेरे दृग के तारक में
जब उत्पल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते रहते हैं
प्रति पल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल
देता पलकों का नर्तन रे !

साधकों का संसार ईश्वर से अपने सम्बन्ध की कल्पना भिन्न-भिन्न रूपों में करता आया है। 'कबीर' ने अपने को 'राम की बहुरिया' 'पिउ हिरदय मँह भेंट न होई' 'कोरे मिलाव कहौं केहि होई'—की पुकार मचाने वाले जायसी ने ईश्वर की कल्पना स्त्री रूप में की और साधकों को पुरुष रूप में उसकी प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित एवं व्यथित बताया। मीरा ने 'जा के सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई' कह कर माधुर्य भाव की उपासना की। महादेवी भी 'मीरा' की तरह अपने ईश्वर को प्रियतम रूप में देखती हैं। वह कहती हैं—

प्रिय चिरन्तन है सजनि
और वह स्वयं—
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं।

ऐसा देखा जाता है कि ज्यों-ज्यों साधक अपनी साधना में लीन होता जाता है त्यों-त्यों वह कृत्रिम अलङ्कार के अनावश्यक बोझ से दूर होता जाता है, पर वह अलङ्कार का सर्वथा त्याग नहीं कर पाता—कर पाता है तब जब उसके 'अहं' का 'इदं' के साथ समन्वय हो जाता है। लेकिन जैसे २ साधक कृत्रिम अलङ्कारों को छोड़ कर प्राकृतिक अलंकारों की ओर बढ़ता जाता है, अथवा यों कहिये कि ज्यों ज्यों वह स्थूलता का त्याग कर सूक्ष्मता की ओर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी साधना, आराधना एवं उपासना मधुर से मधुरतर होती जाती है। और, महादेवी ने भी सच्चे साधकों की तरह प्राकृतिक उपकरण ही अपनाया है। अपने प्रियतम को रिझाने के लिए प्राकृतिक उपकरण ही महादेवी को प्रिय हैं—

रञ्जित करदे यह शिथिल चरण,
ले नव अशोक का मधुर राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला
रजनी-गंधा का पराग।

सन्त कबीर की आत्मा—'विरहिन आत्मा' जब अपने प्रियतम से मिलने के लिए उत्कंठित हो उठी थी तो उसने पुकार मचायी थी—

ये अखियाँ अलसानी हो, पिय सेज चलो।

महादेवी की आत्मा भी अपने प्रियतम के लिए तड़पती है, पर फिर भी 'प्रिय क्या आता इस पार नहीं' का व्यवधान समाप्त नहीं हो पाता। वह सच्चे साधकों की तरह अपने प्रियतम की मधुर ध्वनि सुनती है, पर उसके निकट पहुँच नहीं पाती।

प्रियतम के मिलन में त्याग की भावना होनी चाहिए। हम अपने को जितना पीड़ित करेंगे, वह 'छलनामय' प्रभु हमारे निकट आता जाएगा। उत्सर्ग की चरम परिणति चरम मिलन में ही होगी। महादेवी भी ऐसा ही समझती हैं। वह कहती हैं कि जब तक हम अपने को क्षय नहीं करते, तब तक वह महाप्रभु दूर रहता है। वह मिलेगा तब ही जब हम—

तू जल जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय।
मधुर मिलन में मिट जाता तू,
उसके उज्वल स्मित में घुल-मिल ॥

—के रहस्य को समझ सकेंगे। सम्भवतः इसी लिए सिद्धों, नाथ-पंथियों एवं सन्तों ने अपने शरीर को भिन्न रूपों में पीड़ित करने का भिन्न-भिन्न साधन बना रक्खा था।

साधक कबीर को अपना 'नैहरवा' नहीं भाता था—

नैहरवा हमका नहिं भावै।

वह तो—

साँई की नगरी परम अति सुन्दर,
जहँ कोई न जाय न आवै।

—के लिए अनवरत उत्कंठित रहा करते थे। और कभी-कभी इसी पुलक में उनकी आत्मा उल्लसित हो कह भी उठती थी—

पिय ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।

हमें तो लगता है कि महादेवी को भी यह संसार अच्छा नहीं लगता। वह कहती हैं—

सखे! यह है माया का देश,
क्षणिक है मेरा तेरा संग।
यहाँ मिलता काँटों में बन्धु,
सजीला-सा फूलों का रंग।
तुम्हें करना विच्छेद सहन,
न भूलो हे प्यारे जीवन।

यह संसार के प्रति अनास्था नहीं तो और क्या है? पर कभी-कभी कबीर की आत्मा की तरह इनकी आत्मा भी उल्लसित हो कहती भी है—

जाने क्यों कहता है कोई,
मैं तमकी उलझन में खोई?
मैं कण-कण में ढाल रही अलि,
आँसू के मिस प्यार किसी का।

मैं पलकों में पाल रही हूँ,
यह सपना सुकुमार किसी का ॥

विरहिणी आत्माएँ अपनी 'सूनी सेज' पर तड़पती रहती हैं। उनका यह तड़पना भौतिक नहीं, आध्यात्मिक रहता है। 'दादू' की आत्मा की यह पुकार देखिये—

वाला सेज हमारी रे तूँ आव,
हौं वारी रे, दासी तुम्हारी रे।
तेरा पंथ निहारूँ रे, सुंदर सेज सँवारू रे,
जियरा तुम पर वारूँ रे।

महादेवी भी अपनी भौतिक नहीं, आध्यात्मिक सेज शून्य देख रो पड़ती हैं। वह कहती हैं—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर।

'बादल' संतों की तरह महादेवी का पथ दुर्गम पथ है, तलवार की धार है। साधक ज्यों-ज्यों अपनी साधना में क्षिप्रता से आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे अपने प्रियतम के आगमन की ध्वनि पा चकित होना पड़ता है। आध्यात्मिक यात्रा की यह प्रगति अभिनन्दनीय है। महादेवी भी अपनी आध्यात्मिक यात्रा के दुर्गम मार्ग में जाती हुई यह प्रश्न कर बैठती है—

मुस्काता संकेत भरा नभ,
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?

और, तभी उसकी आत्मा में एक नया स्पन्दन होता है—

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय
आज हो रही कैसी उलझन ?
रोम रोम में होती री सखि
एक नया का सा स्पन्दन।

निर्गुण सम्प्रदाय के संतों ने 'नाम-सुमिरन' का महत्व बतलाया है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपनी पुस्तक The Nirguna School of Hindi poetry में एक स्थल पर इसी के सम्बन्ध में लिखा है—"नाम सुमिरन को संसार के सभी धर्मों ने एक विशेष स्थान दिया है।" महादेवी भी नाम के महत्व को स्वीकार करती सी जान पड़ती हैं। सम्भवतः वह इसे साधना के लिए उत्तम समझती हैं—

प्राण-पिक, प्रिय नाम रे कह !
मैं मिटी निस्सीम प्रिय में,
बँध गया वह लघु हृदय में,
अब विरह की रात को तू,
चिर-मिलन का प्रात रे कह !

आत्मा की साधना का प्रतिफलन परमात्मा के मिलन में सन्निहित है। महादेवी की आत्मा पुकारती है—

जो तुम आ जाते एक बार !

इस 'एक बार' में कितनी उत्कण्ठा है। और तब—

कितनी करुणा कितने सन्देश,
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार तार,
अनुराग भरा उन्माद राग,
आँसू पद लेते वे पखार !

भ्रमवश ऐसा आलोचक कहा करते हैं कि महादेवी के गीतों में आँसू के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। मैं कहता हूँ—आँसू हैं अवश्य हैं, पर यह विरह-जन्य आँसू नहीं है—यह हैं आध्यात्मिक विरह-जन्य आँसू और ऐसे ही गीतों के लिए कहा गया है

Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts.

ऐसे आँसुओं की बूँदों का साधारण मूल्य न होता जिनकी आत्मा अपने 'बालम' के लिए दिन-रात तड़पती रहती हैं, उनकी वियोगिनी आँखों से ही ऐसे अविरल अश्रु-धार चलते हैं। यह साधकों की बड़ी ही उच्च स्थिति है। महादेवी के गीत अगर आँसुओं से गीले हैं, तो उनका आध्यात्मिक महत्व है, आध्यात्मिक मूल्य है। महादेवी ने इसी उच्च भाव भूमि पर पहुँच कर ऐसा कहा है—

मैं नीर भरी दुख की बदली।
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते,
पलकों में निर्झरिणी मचली।

'पलकों में निर्झरिणी मचलना' साधकों की बहुत बड़ी उच्च स्थिति है।

और यह प्रेम बहुत ही मधुर समझा जाता है, उसी स्थिति में जब कि वह अश्रु-सिक्त हो—

And love is the loveliest when enbalmed in tears.

आचार्यों ने बतलाया है विरहिणियों को वियोग दशा में अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, प्रभृति दशाओं में गुज़रना पड़ता है। हमारा तो ख्याल है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में विरहिणी आत्माओं को भी ऐसी मनोदशाओं से गुजरना होता है। महादेवी की एक अभिलाषा देखिये—

तुम्हें बाँध पाती सपने में,
तो चिर-जीवन प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में।

इस प्रकार इनके गीतों में और-और मनोदशाएँ भी देखी जा सकती हैं।

महादेवी का प्रिय उस पार है। वह उसे इस पार लाना चाहती है। वह तो हैरान है—

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं?

उसने उसे लुभाने के लिए प्रसाधन भी ठीक कर दिया है—

शशि के दर्पण में देख-देख,
मैंने सुलझाये तिमिर केश,
गूँथे चुन तारक पारिजात,
अवगुंठन कर फिर ये अशेष,
क्यों आज रिझा पाया उसको,
मेरा अभिनव शृङ्गार नहीं?

दिवानी 'मीरां' ने अपने 'वैद-सँवलिया' के लिए अभिसार किया था—

गली तो चारों बन्द हुई मैं
हरिसूँ मिलूँ कैसे जाइ।
ऊँची नीची राह रपटीली
पाँव नहीं ठहराइ।

सन्तों ने कहा है कि ईश्वर विश्व के रग रग में, कण-कण में परिव्याप्त है—

खालिक खलिक, खलिक में खालिक,
सब घट रहा समाई।

और, वही ईश्वर 'मेरे पास' में भी है। महादेवी भी ऐसा ही समझती हैं। 'उसे' अपने हृदय में पा कुतूहल होता है। वह पूछ बैठती हैं—

कौन तुम मेरे हृदय में!
कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलसित,
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर भरता अपरिचित,
स्वर्ण-स्वप्नों को चितेरा,
नींद के सूने निलय में,
कौन तुम मेरे हृदय में!

हमारा विश्वास है कि महादेवी की भावनाएँ धीरे धीरे मधुर से मधुरतर होती जा रही हैं। वे अपना सम्बन्ध अपने प्रियतम से इस प्रकार बतलाती है—

चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर-सङ्गम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया—छाया में रहस्य!
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या?

अपने प्रियतम की 'अमर सुहागभरी' और 'अनंत अनुराग भरी' साधिका अब धीरे-धीरे अपने प्रिय-मिलन के सपने देखने लगी हैं।

प्रसाद और प्रेमचन्द

प्रो० गोपीनाथ तिवारी, एम० ए०

एक ही समय, एक ही सरोवर में दो कमनीय कमल मुस्कराए। दोनों ने मुक्तहस्त पराग बखेरा। हिन्दी संसार सुरभित हो उठा। एक ने उपन्यास क्षेत्र पर आसन जमाया तो दूसरे ने नाटक-मञ्च पर अधिकार किया। ये दोनों यशस्वी कलाकार थे—श्री प्रेमचन्द एवं प्रसाद। वैसे तो प्रेमचन्दजी ने नाटक लिख कर नाटककार कहलाने का भी असफल प्रयास किया और उधर प्रसादजी ने भी उपन्यास भवन के निर्माण में दो तीन ईंटियाँ लगाई पर क्षेत्र दोनों का भिन्न ही रहा। उपन्यासकार प्रेमचन्द तथा उपन्यासकार प्रसाद में बहुत सी समानताएँ मिल जायँ तो आश्चर्य न होगा। उसी प्रकार नाटककार प्रसाद एवं प्रेमचन्द के नाटकों में भी कुछ समान प्रवृत्तियाँ मिल ही जायेंगी। कारण स्पष्ट है। दोनों एक ही मार्ग के यात्री हैं, किन्तु कैसी विचित्र बात है कि नाटककार प्रसाद एवं उपन्यासकार प्रेमचन्द में बहुत साम्य प्राप्त होता है। इसका बहुत कुछ कारण तो यह है कि दोनों ने एक ही आकाश के नीचे डेरा लगाया, एक ही युग के वातावरण को पिया तथा एक ही प्रान्त, नहीं नहीं एक ही नगर से नाता बनाए रक्खा।

दोनों कलाकारों का लक्ष्य एक ही है—मानव जीवन को ऊपर उठाना। अतः दोनों ही आदर्शवादी कलाकार हैं। दोनों के दिलों में एक ही धड़कन थी, एक ही गति। दोनों अपने देश का उत्थान चाहते थे। अतः दोनों ने देशभक्ति की सुरसरी धारा प्रबल वेग से प्रवाहित की। हाँ, मार्ग दोनों के दो थे। प्रसाद ने अतीत के गौरव-चित्रों का स्मरण कराया, "अरुण यह मधुमय देश हमारा (चन्द्रगुप्त)" "हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार (स्कन्दगुप्त)" एवं "हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती (चन्द्रगुप्त)" का शंख घोष कर भारतीयों के हृदयों में देश प्रेम का सागर उद्वेलित किया और पूछा "वसुन्धरा का हृदय भारत किस मूर्ख को प्यारा नहीं"। उनकी 'अलका' राष्ट्रीय ध्वज लेकर स्वयं सेवक सैनिकों के आगे कूच करती है। उधर प्रेमचन्द ने प्रसिद्धि ही पाई है, राजनीतिक उपन्यासकार के रूप में। श्री रामदास गौड़ के शब्दों में 'प्रेमाश्रम' भारत का पहिला राजनीतिक उपन्यास है। तब प्रेमचन्दजी भी प्रथम राजनीतिक उपन्यासकार सिद्ध हुए। उनके उपन्यासों में गुलाम भारत की आत्मा का करुण क्रन्दन है। उनके उपन्यास गांधीवाद के प्रतिनिधि हैं। उनमें अहिंसात्मक आन्दोलन है तो सत्याग्रह संग्राम भी। साथ ही इस राष्ट्रीयता के रूप में भी अपूर्व साम्य है दोनों की लेखनी में। दोनों देश प्रेमियों ने महाकवि रवीन्द्र अथवा नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय की राष्ट्रीयता को नहीं स्वीकार किया है, वरन् अपनाया गांधीजी के राष्ट्र प्रेम को जिसमें मेरा देश मेरा है। मैं पहिले इसका ध्यान रक्खूँगा, पीछे अन्य देशों का। राष्ट्र मेरे लिए सर्वोपरि है, यह अन्य देशों से श्रेष्ठतर है।

कथा निर्वाचन शैली में भी दोनों ने अनोखी समानता दिखाई है। दोनों को कथा विस्तार से मोह था। अतः दोनों कलाकारों की कृतियों में कथानक की विशालता, सघनता एवं जटिलता मिलेगी। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में अधिकांशतः एक मुख्य कथा-प्रवाह न होकर कई कथाओं एवं घटनाओं का घटाटोप भरा रहता है। रङ्गभूमि में काशी, पांडेपुर एवं जसवन्त नगर भिन्न-भिन्न कथाओं को लपेटे हुए एक सामञ्जस्य उपस्थित करते हैं। इस उपन्यास में २ हिन्दू परिवार, १ मुस्लिम परिवार तथा १ ईसाई परिवार के सदस्य जीवन-नाटक में अभिनय करते हैं। इसमें ५ कथाएँ हैं:—१ विनय

सोफिया की, २—सूरदास की, ३—ताहिर अली की ४—राजामहेन्द्रसिंह एवं इन्दु की, ५—ईसाई परिवार की। 'कायाकल्प' में ३ जन्मों की ५ प्रेम गाथाएँ हैं (१) ठाकुर हरिसेवक एवं लौंगी की (२)विशालसिंह एवं रोहिणी की (३) मनोरमा एवं विशालसिंह की (४) मनोरमा एवं चक्रधर की (५) देवप्रिया एवं महेन्द्रसिंह की। इसी भाँति प्रेमाश्रम में गोरखपुर, काशी, लखनऊ एवं महेन्द्रसिंह की। इसी भाँति प्रेमाश्रम में गोरखपुर, काशी, लखनऊ एवं लखनपुर—इन चार घटनास्थलों की कथाएँ आगे बढ़ती हैं।

उधर प्रसादजी ने भी कथा-विस्तार में पराजय नहीं मानी है। उन्होंने अपने नाटकों में घटनाओं की भीड़ लगादी है। 'अजात शत्रु' में तीन राज्यों को, मगध और कोशल की मुख्य घटनाओं की शृङ्खला में ६ कहानियाँ पिरोई गई हैं। स्कन्दगुप्त में ६ कथाएँ हैं तो चन्द्रगुप्त में ८।

इस कथा सुरसा की भीड़ भड़प्पा में कहीं कोई अङ्ग रसौली बनगया है, तो कोई फील-पाँव। अनावश्यक घटनाएँ आगई हैं जिनसे कथा प्रवाह में कोई सहायता नहीं पहुँचती। प्रेमचन्दजी ने व्यर्थ ही भोले तेज शङ्कर एवं पद्मशङ्कर की प्रेमाश्रम में बलि दी। गोदान में ३२ वें अध्याय की वेश्याओं से घटना-प्रवाह को क्या बल मिला? प्रसादजी ने स्कन्दगुप्त में श्रमण एवं ब्राह्मण विवाद क्यों कराया? उससे कथानक-विकास में क्या सहायता मिली? सिकन्दर एवं दाण्ड्यायन भेंट से कथा की क्या अङ्गपुष्टि हुई? वास्तव में बात यह है कि कथाकार किसी न किसी रूप में अपने व्यक्तिगत विचारों के प्रदर्शन के लिये दृश्य, परिच्छेद वा घटना की योजना कर देता है जो पैवंद की भाँति ऊपर से चिपक गया है।

कथा विस्तार के कारण पात्रों की संख्या भी कलि-पातकों की नाईं बढ़ गई है। वह यहाँ तक बढ़ी कि उनका समेटना कठिन हो गया। परिणामतः आत्महत्याओं द्वारा उन्हें जीवन-रङ्गमञ्च से हटाया गया। आत्महत्या का प्रचुर प्रयोग कलाकार की असमर्थता का ही द्योतक है। जो लेखक पात्रों को सँभाल नहीं पाता, वही इस साधन को काम में लाता है। स्कन्दगुप्त नाटक में कुमारामात्य, पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार एवं महादण्ड नायक आत्मघात करते हैं। चन्द्रगुप्त में मालविका, कल्याणी, अलका एवं पर्वतेश्वर का प्रयत्न इसी दिशा में हुआ। हमारे प्रेमचन्द जी ने भी प्रेमाश्रम में विद्या, ज्ञानशङ्कर, गायत्री, पद्मशङ्कर और तेजशङ्कर द्वारा आत्मवध कराया है। गबन में जौहरा एवं रतन भी वही कार्य करते हैं।

दोनों चित्रकारों ने वर्गगत पात्रों का निर्माण किया है। दोनों कलाकारों के पात्र भिन्न भिन्न कृतियों में प्रायः एक से हैं। केवल दो ही अमर पात्र अपने अतुल व्यक्तित्व से सदा स्मृति पटल पर अङ्कित रहेंगे। रङ्गभूमि में प्रेमचन्दजी का सूरदास अपनी सत्ता सब से अलग रखता है। उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है। साधारण व्यक्ति होते हुए भी वह हिमालय की भाँति उच्च एवं दृढ़ है। ऐसा ही एक कमनीय कुसुम है प्रसाद का। वह स्वर्गीय पुष्प अपनी सुधा-सुगन्ध सदा हिन्दी संसार में वितरित करेगा। वह कोमल, मृदुल, भोली एवं त्यागमयी देवसेना है।

प्रसाद के वर्गगत पात्रों में सब से पहिले हमारा ध्यान वे पात्र आकृष्ट करते हैं जो बाहर से बहुत कर्मशील हैं किन्तु अन्दर से विरक्ति की भव्य-भावना से आक्रान्त हैं। ये आदर्श पात्र सदा सत्य का पक्ष ग्रहण करते हैं। 'विशाख' का प्रेमानन्द, 'राज्यश्री' का दिवाकर, 'नागयज्ञ' का वेदव्यास, 'अजात' का बुद्ध एवं 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य—सब इसी कोटि के पात्र हैं। इसके विपरीत एक वर्ग उन पात्रों का भी है जो बाहर से विरक्त हैं किन्तु हृदय में आसक्ति एवं वासना की आँधी छिपाये हैं जैसे 'विशाख' के महन्त सत्यशील अजात के समुद्रदत्त एवं 'नागयज्ञ' के काश्यप। एक एक श्रेणी है 'विशाख' के भिक्षु, 'राज्यश्री' के शान्ति भिक्षु, 'अजात' के विरुद्धक, 'स्कन्द' के भट्टार्क और 'चन्द्रगुप्त' के राक्षस पात्रों की। ये सब पात्र जीवन में बड़ा वेग भरे हैं। साथ ही हैं बड़े निर्भीक एवं

साहसी। इनमें दिखलाई पड़ता है आवेग एवं स्पन्दन। इनके बिम्बसार, विशाख एवं स्कन्द—तीनों नायक एक विचित्र दार्शनिक उदासीनता से भरे डोलते हैं मानों जीवन का बोझ अब उतार कर फेंक देंगे।

कथाकार प्रेमचन्दजी ने भी बाजी जीती। इनके उपन्यासों में पिताओं का एक वर्ग है। ये पिता पहिले तो पुत्रों को क्रोध में त्याग देते हैं किन्तु पुनः ग्रहण कर लेते हैं। सेवासदन में मदनसिंह अपने पुत्र 'सदन' को शान्ता के कारण त्याग कर पुनः अपना लेते हैं। प्रेमाश्रम में प्रभाशङ्कर भी यही व्यवहार करते हैं अपने पुत्र दयाशङ्कर के प्रति। 'कायाकल्प' के बज्रधर अपने पुत्र चक्रधर को अहिल्या के कारण छोड़ देते हैं परन्तु बाद में अहिल्या साथ आया देख दौड़ पड़ते हैं और कहते हैं—एक पंक्ति ही लिख कर डाल देते तो क्या बिगड़ जाता। कर्मभूमि के समरकान्त भी अपने प्रिय पुत्र अमरकान्त से पहले तन कर फिर झुक जाते हैं। इसी प्रकार प्रेमाश्रम के प्रेमशङ्कर, कर्मभूमि के अमरकान्त एवं कायाकल्प के चक्रधर एक ही कोटि के साधुपुरुष हैं। उनके कादिर मियाँ (प्रेमाश्रम) एवं ख्वाजा महमूद (कायाकल्प) में एक रूपता है।

दोनों कलाकारों ने विचारों की समानता भी प्रदर्शित की है। स्त्री का क्षेत्र क्या हो इस पर दोनों के विचार एक से हैं। दोनों के मत से स्त्री, गृह एवं हृदय स्वामिनी बनी रहे, इसी में गौरव है। उसका आधिपत्य घर में ही रहे, न कि बाहर। प्रसाद अपने नाटक अजातशत्रु में व्यक्त करते हैं "विश्व भर में सब कर्म सब के लिए नहीं हैं। इसमें कुछ विभाजन है अवश्य। मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है जो उसके जीवन का परम ध्येय है। उसका एक शीतल विश्राम है और वह स्नेह-सेवा-करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय वरद हस्त का आश्रय, मानव समाज की सारी वृत्तियों की कुञ्जी, विश्व-शासन की एक-मात्र अधिकारिणी प्रकृति स्वरूपा स्त्रियों के सदाचार पूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट कर इस दौड़ धूप में क्यों पड़ती हो देवि!" ऐसा ही विचार गोदान में डा० मेहता के शब्दों में प्रेमचन्दजी प्रकट करते हैं। "देवियो! मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुष के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ अगर हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव मन्दिर से हिंसा और कलह के दानव क्षेत्र में आना चाहती हैं तो उसमें समाज का कल्याण न होगा।"

विवाह हिन्दू-समाज का एक अत्यावश्यक अंग माना गया है। किन्तु क्या प्रणय का अन्त विवाह ही हो सकता है? दोनों का उत्तर है, नहीं। एक मार्ग और भी है। वह इससे श्रेष्ठतर है। हाँ, वह मार्ग सर्वसाधारण के लिये नहीं। उसे तो दृढ़ पुरुष और सबल अबला ही अपना सकती हैं। उसे तो देवसेना जैसी स्वर्गीय आत्मा और मिस मालती (प्रेमचन्द का गोदान) जैसी विदुषी स्त्री ही ग्रहण कर सकती हैं। स्कन्द की प्रेम याचना का उत्तर देवसेना देती है—आपको अकर्मण्य बनाने के लिये देवसेना जीवित रहेगी! सम्राट् क्षमा हो। "वह कामना के भँवर में न स्वयं फँसती है न स्कन्द को फँसने देती है। देश को स्कन्द की आवश्यकता है। वह उसे कैसे एक कोने में छिपाये रक्खे। यही मालती ने कहा—अभी तक तुम्हारा जीवन यज्ञ था, जिसमें स्वार्थ के लिये बहुत थोड़ा स्थान था, मैं उसको नीचे की ओर न ले जाऊँगी।" इसके बाद डा० मेहता एवं मिस मालती प्राणों की मौन-भाषा में आसक्ति का तार भेजते हुए भी कौमार व्रत ले केवल जीवन साथी के रूप में एक दूसरे के सहायक बनते हैं, देशोद्धार के लिये, पर सेवार्थ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों महान कलाकारों में बड़ा भारी सादृश्य है, यद्यपि हैं ये भिन्न भिन्न मार्ग के पथिक। दोनों आदर्शवादी कलाकार हमारे हिन्दी गगन के सूर्य चन्द्र हैं जिन पर हमें गर्व है।

आलोचना

हिन्दी कविता में युगान्तर—लेखक-श्री सुधीन्द्र एम० ए०, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ ५२२, मूल्य ८)

द्विवेदी युग चाहे अपनी इतिवृत्तात्मकता और विषय प्रधानता के लिए बदनाम रहा है किन्तु वह कविता के लिए नवोत्थान और समृद्धि का काल था। भारतेन्दु युग में परिवर्तन के अंकुर दिखाई देनें लगे थे किन्तु वह पूर्णतया रीतिकालीन प्रभावों से मुक्त न हो सका था। द्विवेदी काल में वास्तव में युगान्तर उपस्थित हुआ। प्रो० सुधीन्द्रजी ने इस काल को अपने विशेष अध्ययन का विषय बनाया है और उस काल के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रभावों के आधार पर उस काल की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए बतलाया है किस प्रकार वह इतिवृत्तात्मकता को पार करते हुए भाव जगत में पहुँचा और वहाँ से आगे बढ़ कर छायावाद, रहस्यवाद के प्रतीक लोक में प्रविष्ट हुआ। सुधीन्द्रजी जीवन की पृष्ठभूमि शीर्षक अध्याय में सभी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और भाषा-सम्बन्धी परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराया है जिन्होंने कि वर्तमान कविता को प्रभावित किया है। उन्होंने ऐतिहासिक आलोचना का अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है। इस पुस्तक में प्रवृत्तियों के वर्गीकरण और उनके नामाङ्कित करने तथा उन चौखटों में विभिन्न कवियों की कविताओं को जमाने की ओर अधिक रुचि है। यह प्रवृत्ति बुरी नहीं है क्योंकि वर्गीकरण व्याख्या में सहायक होता है। कविताओं के कलागत सौन्दर्य का उद्घाटन भी अच्छा हुआ है किन्तु उसके अनुरूप भावगत सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं हुआ है। एक पुस्तक में हम सभी बातों की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं। द्विवेदी युग की कविता के स्रोतों के अध्ययन के लिए यह पुस्तक बड़ी उपादेय सामग्री उपस्थित करती है। —गुलाबराय

कविता

भावों की भीख—लेखक-श्री रामनिवास जाजू, प्रकाशक-पिण्डार्स लिमिटेड, ७ लोअर राउडन स्ट्रीट कलकत्ता २०। पृष्ठ ६१, मूल्य १॥)

पुस्तक में २७ कवितायें हैं जो लगभग सभी जीवन की अनुभूति को भावपूर्ण शब्दों में व्यक्त करती हैं। कवि की लेखनी क्रान्ति का आवाहन तो करती है—

> पहिले आज मिटा लो उनको
> जो वैभव के हैं अधिकारी

परन्तु उसके साधन उत्कृष्ट और मानवीय हैं—

> कृषक हमारी हों बन्दूकें।
> जिनसे निकलें श्रम की गोली॥

अधिकांश वर्तमान-कवियों की बाढ़ पर कवि ने सरल भाषा में सुन्दर व्यङ्ग किया है—

चाहते कवि बन सकें सब,
शब्द माला घोंट कर ही।
कौन सन्यासी बना पर,
भस्म में बस लोट कर ही॥

कवि का विश्वास कर्म में है और उसका सन्देश कर्तव्य है। भगवान की लीला का नाम लेकर अकर्मण्यता की दुहाई देने वाले भाग्यवादी लोगों से वह पूछ बैठता है—

जिन्दगी के यह थपेड़े, क्या मनुज सहता रहेगा।
भाग्य ओ! भगवान की अविरल कथा कहता रहेगा॥

श्री रामनिवासजी के प्रथम प्रयास में ही हमें एक प्रौढ़ कवि का आभास मिलता है। भाषा मँजी और सशक्त है। —दयाप्रकाश एम० ए० साहित्यरत्न

कबीर बीजक—सम्पादक श्री हंसलाल शास्त्री तथा श्री महावीरप्रसादजी, प्रकाशक—कबीर ग्रन्थ प्रकाशन समिति, हरक (बाराबङ्की)। पृष्ठ ३३५, सजिल्द, मूल्य ५॥)

कबीर ग्रन्थों का प्रकाशन करने के लिए हरक में एक समिति स्थापित हुई है उसने यह पुस्तक छाप कर हिन्दी का बड़ा हित किया है। इसमें कबीर साहब के बीजक, रमैनी और शब्द सभी मूल रूप में १२४ पृष्ठ में दिये गये हैं। इनका सम्पादन कबीरपन्थी विद्वानों ने किया है और सम्पादन में कई प्राचीन प्रतियों से भी मदद ली गई है जिससे आशा है पाठ शुद्धि का पूरा ध्यान रक्खा गया होगा। १३६ पृष्ठों में मूल पुस्तक में प्रयुक्त शब्दों का एक कोष संग्रह किया गया है जिसमें मूल शब्द, व्याकरण, शब्द का शुद्ध रूप, अर्थ आदि दिए हैं। अन्तर्गत कथाएँ तथा उनका परिचय भी इसमें है। संस्थावादी शब्द तथा योग सम्बन्धी शब्द उनकी व्याख्या सहित ३७ पृष्ठों में दिये गये हैं। इस प्रकार इस पुस्तक में कबीर के अध्ययन की पूरी सामग्री एकत्रित की गई है। ऐसी सुन्दर पुस्तक प्रकाशित करने के लिए हम समिति को बधाई देते हैं और यह विश्वास करते हैं कि यह समिति इसी प्रकार और ग्रन्थों को भी प्रकाशित करेगी। —म

उपन्यास

पथ की खोज (विश्वास और निराशा)—ले०-डा० देवराज, प्रकाशक—बुद्धिवादी प्रकाशगृह लखनऊ। पृ० ४१२, मूल्य ४॥)

'फ्रैंच उपन्यासकार मार्सेल प्रू के "अतीत की स्मृतियाँ" की भाँति पथ की खोज एक उपन्यास न होकर उपन्यासों की माला है जिसका प्रत्येक खंड अपने में पूर्ण है।' हर भाषा के प्रारम्भिक उपन्यासों में कथावस्तु प्रधान हुआ करती थी—अधिकतर रोमाञ्चक, कुतूहलपूर्ण और औत्सुक्यवर्द्धक। उन उपन्यासों में कथानक और पात्र का कार्यकारण सम्बन्ध निभ नहीं पाता था। हिन्दी के उपन्यास भी कहानी बहुत कह चुके हैं। अब पाश्चात्य उपन्यासों की तरह कथा से पात्र के मनोविश्लेषण की तरह प्रगति हो रही है हिन्दी के उपन्यासों में भी। इस दिशा में डा० देवराज का यह प्रयत्न अभिनन्दनीय है। इसमें कहानी जरा सी है। नायक चन्द्रनाथ एम० ए० का साधारण शिक्षा-प्राप्त सुशीला से विवाह हुआ है। सुशीला की एक सखी है साधना जो बी० ए० में पढ़ती है। चन्द्रनाथ साधना की तरफ आकृष्ट होता है, उनका पत्र व्यवहार चलता है। भाई बहिन का सा ही सम्बन्ध नहीं रह पाता। चन्द्रनाथ अपनी पत्नी से कुछ असन्तुष्ट सा रहने लगता है—कारण है साधना की साध पर उसका एक धनी युवक से विवाह हो जाता है। विवाह भी चन्द्रनाथ के प्रयत्न से ही होता है। चन्द्रनाथ को कोई नौकरी नहीं मिलती। साहित्यिक कार्यों से पेट नहीं भरता। सुशीला के बच्चा होता है पर वह खुद मर जाती है। कहानीकार हरिशङ्कर, वीरेन्द्र आदि चन्द्रनाथ के मित्र हैं। आशा और प्रेमलता भी क्लब की सदस्याएँ हैं। इन्हीं सब की बातचीत

के जरिये गांधीवाद, मार्क्सवाद, छायावाद, प्रगतिवाद आदि के सम्बन्धी राजनीतिक-सामाजिक-साहित्यिक चर्चाएँ चलती रहती हैं। यह उपन्यास इस तरह भारतवर्ष के सक्रान्ति-युग की सांस्कृतिक हलचल का सजीव और मार्मिक चित्र उपस्थित करता है। शैली शिष्ट, संयत, गम्भीर और साहित्यिक है। उपन्यास विचारोत्तेजक और पठनीय है।

राख की दुलहिन—लेखक-श्री रघुवीरशरण 'मित्र', प्रकाशक-अ० भा० राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशक परिषद् सदर, मेरठ। पृष्ठ ४०४, सजिल्द, मूल्य ६)

यह है तो सामाजिक उपन्यास पर इसमें अध्यात्म, वेदान्त, अतिप्राकृतिक, Miracle. Morality के ढङ्ग के नाटकीय तत्व आदि सभी समाविष्ट हैं। इसमें दुलहिनें कई हैं और सब राख की हैं—वैसे भी सब की राख होती दिखाई गई है। पर नायक-नायिका के हिसाब से दुलहिन है प्रेरणा (विकास की पत्नी) जो सर्प दंश से अपनी इह लीला समाप्त करती है। कवि प्रभात करुणा की मृत्यु से दुःखी है; स्कूल की विधवा अध्यापिका शकुन से प्रेम करने लगती है, साथ ही 'राख की दुलहिन' प्रेरणा को भी अपनी प्रेयसी के रूप में देखना चाहता है। शकुन को फँसाये रखना चाहता है चौधरी धूमसिंह। प्रभात को बाधक समझ उसकी पिटाई करवाता है गुण्डों से। इस पुराणपन्थी जर्जर समाज में आमूल परिवर्तन सुधार की अपेक्षा है इसी का निर्देश इस उपन्यास में हुआ है। विकास की जाति का पता नहीं पर उसकी योग्यता है कारण समाज से अपमानित हो कर भी बड़े सेठ धन्नोमल अपनी पुत्री प्रेरणा का विवाह विकास के साथ कर देते हैं। इसी तरह हरिजन लड़की आमना के विवाह के लिए पूर्णिमा-प्रसाद योग्य ठहराया जाता है। विकास, प्रेरणा, ज्योति, कामिनी आदि सब मिल कर स्वतन्त्र पाठशाला- आश्रम खोलते हैं। समाज सेवा के लिए जेल जाते हैं, अनेक कष्ट सहते हैं। प्रभात, शकुन, ज्योति, कामिनी, सुमति आदि सब समाप्त हो जाते हैं, केवल विकास जीवन का सत्य खोजने में प्रयत्नशील रहता है। वास्तविक जगत की घटनाओं के बीच अमूर्त भाव मूर्त बन कर बोलने लगते हैं—वे चाहें छवि तो, या माया, क्रोध, मृत्यु, आदि। यह उपन्यास की अवास्तविकता की ओर हठात् ध्यान दिला देता है जिससे Willing suspension of disbelief रहती नहीं पाता। कथा में एकसूत्रता और अन्विति का सन्तोषप्रद निर्वाह नहीं हुआ है। उपन्यास कई टेढ़ी मेढ़ी गलियों में अध्यात्म और तर्क का हार्श करता हुआ चलने का प्रयत्न करता है, पर पूरा चल नहीं पाता। लेखक के पास भावों की कमी नहीं, भाषा की भी नहीं पर उपन्यास का सा साज सँवार अभी पूरा नहीं उतर पाया। उसमें थोड़ी कसर है। आशा है भविष्य में वह पूरी हो सकेगी।

—प्रो० नागरमल सहल एम० ए०

कहानी

ग्रहण के बाद—लेखक-श्री नरेन्द्र, प्रकाशक-मानस मन्दिर, जबलपुर। पृष्ठ ११६, मूल्य २)

आधुनिक कहानीकार के निकट घटनाचक्र का महत्व अधिक नहीं रह गया है। कहानी के पात्र उसे अधिक प्रिय हैं। उन पात्रों के मन वैज्ञानिक-विश्लेषण में उसकी प्रवृत्ति मुख्यतः रमती है। नरेन्द्रजी की पन्द्रह कहानियों का यह संग्रह उन्हें इसी कोटि का कहानीकार सिद्ध करता है। इन कहानियों में कथावस्तु का अभाव और मनोवैज्ञानिक चित्रण का प्राधान्य है।

कहानियों की घटनायें साधारण हैं, चरित्र साधारण हैं। आन्तरिक भावों को स्पष्ट करने का लेखक ने प्रयास किया है। आन्तरिक गुत्थियों और उलझनों को प्रकाश में लाने के लिये 'अन्तर्द्वन्द्व' का आश्रय लिया जाता है। 'इन्सान की माँ' में उस्मान एक हिन्दू युवती से बलात्कार करने जाता है परन्तु उस में 'माँ' के दर्शन करके 'माँ माँ' चीख

उठत है। इस परिवर्तन को प्रस्तुत करने के लिये पर्याप्त मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण की आवश्यकता है, लेखक ने इस पर पूरा ध्यान नहीं दिया है। परिवर्तन नाटकीय होकर रह गया है।

अधिकांश कहानियों में विभिन्न चरित्रों का कुछ परिस्थितियों में चित्रण किया गया है। चित्रण सुन्दर हुए हैं। 'कुमुम', 'पुन्ना की दुकान' और 'बहुत अच्छा आदमी' जीते-जागते पात्र हैं।

नील अंगार—लेखक-श्री ब्रह्मदेव, प्रकाशक-सुजाता प्रकाशन, मैगरा, गया। पृष्ठ ४४, मूल्य ।।)

आठ कहानियों के इस सकलन में लेखक ने विभिन्न आदर्शों को कलात्मक रूप से प्रविष्ट कराने का प्रयास किया है। वह 'प्रसाद' जी से अधिक प्रभावित मालूम होता है परन्तु 'प्रसाद' जी की इस होड़ का कोई अच्छा फल नहीं हुआ जान पड़ता है। कहानियों में कोरे शब्द-जञ्जाल, उलझे हुए—अस्पष्ट दृष्टिकोण तथा असन्तुलित भावुकता की भरमार है, सरलता, सरसता, और सजीवता का अभाव है।

इन्हें कहानियाँ न कह कर गद्य-काव्य के नाम से पुकारना लेखक के प्रति न्याय बर्तना ही होगा।

लेखक के कथनानुसार कहानियों में वासना की फेनिल मदिरा अवश्य न मिलेगी। उनमें स्वस्थ विचारधारायें व्याप्त हैं। परन्तु सफल कहानियों में और भी तो कुछ चाहिए। —शशिभूषण सिंहल

टीलों की चमक—लेखक-श्री जयनाथ 'नलिन' प्रकाशक-गौतम बुक डिपो, दिल्ली। पृष्ठ १४४, मू० १।।)

हास्य जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बिना हास्य का जीवन धीरे-धीरे मृत्यु का आवाहन करता है। हास्य रस उस हल्के भार के समान है जिसका काम सन्तुलन के द्वारा जीवन के भार को वहन करता है। हास्यरस कितनी ही प्रकार से उत्पन्न किया जा सकता है कभी शब्द जाल से कभी परिस्थिति से, कभी व्यक्ति के हाव भाव और विचित्र वेशभूषा से तथा कभी विचित्र कल्पना से।

टीलों की चमक में नलिनजी ने शब्द जाल और परिस्थिति से हास्य उत्पन्न किया है। शब्द जाल का हास्य वार्तालाप में विभिन्न और विचित्र उक्तियों से उत्पन्न हुआ है जो तर्क का पुट मिलने से और भी निखर उठा है।

परिस्थिति से उत्पन्न हास्य दो रूप में उत्पन्न होता है। पहिला शुद्ध हास्य के रूप में जिसमें हास्य को उत्पन्न कर परिस्थिति अपने प्रभाव को पाठक पर नहीं छोड़ती, हास्य ही प्रमुख रहता है। उदित के प्रेम से धारा की खिलवाड़, भक्तों की दीनता, प्राइवेट पत्र आदि ऐसी ही हास्य की सुन्दर कहानियाँ है।

दूसरे रूप में परिस्थिति हास्य को करुणा के पुट से उत्पन्न करती है। टीलों की चमक में ऐसी भी कहानियाँ हैं। यदि करुणा ने पाठक को अधिक आकृष्ट कर लिया तो हास्य उत्तम कोटि का नहीं रह जाता। टीलों की चमक में भी कहीं-कहीं करुणा प्रधान हो गई है। आज के राशनकाल में मेहमान द्वारा रत्नदेव और रामा की दयनीय दशा में हास्य का उतना अनुभव नहीं होता जितना प्रतिदिन की कठिनाइयों को देखते हुये करुणा का।

लेखक ने कुछ कहानियों में व्यङ्ग का भी आधार लिया है। "नानी ने कहा" में वर्तमान मन्त्रियों पर अच्छा व्यङ्ग है। इस प्रकार टीलों की चमक में १४ हास्यात्मक कहानियाँ हैं जो जीवन के अन्धकार मय क्षणों में कुछ देर के लिए हास्य की किरण अवश्य उत्पन्न कर देंगी। —दयाप्रकाश एम० ए०

नाटक

कल और आज—लेखक तथा प्रकाशक-स्नेह एम० ए०, नवीन प्रेस, दिल्ली। पृष्ठ ५५, मूल्य ।।।)

यह हिन्दू कोडबिल से सम्बन्धित नाटक है। हिन्दू कोडबिल पास होने से पूर्व पति, सासु, तथा भाई स्त्री के साथ कैसा दुर्व्यवहार करते हैं, और बिल के पास होते ही उनके व्यवहार में तुरन्त कैसा मधुर परिवर्तन हो जाता है, यह लेखक ने दिखाया

है। पितृगृह तथा श्वसुरालय दोनों की स्थिति का चित्र इसमें है। आधुनिक शिक्षा-प्राप्त स्त्री के साहस और विद्रोह का भी चित्रण किया गया है। अत्यन्त साधारण नाटक है।

अन्ध कवि—(नाटक) लेखक-श्रीनारायण चक्रवर्ती। प्रकाशक-कृष्ण ब्रादर्स, कचहरी रोड, अजमेर। पृ० सं० ७८, मूल्य १)

इसमें लेखक के दो नाटक हैं: एक सूरदास सम्बन्धी, दूसरा तुलसीदास सम्बन्धी। नाटकों में ऐतिहासिक प्रामाणिकता तो इसलिए नहीं है कि 'घटना नाटकीय' है। इतना ही नाटककार ने देखा है। तभी ब्रज के सूर को बिल्व मङ्गल से मिला दिया गया है और तुलसी के दुस्साहस को सूर के साथ चिपका दिया है। लेखक का यह कथन मिथ्या प्रतीत होता है कि "मैंने ये दोनों एकाङ्की लिखने में उपलब्ध समस्त पुस्तकें तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास आदि का अध्ययन किया है। यह भी स्पष्ट है कि लेखक यह भी नहीं समझता कि ऐतिहासिक वृत्त को नाटककार कितने परिवर्तन-परिवर्द्धन से ग्रहण कर सकता है। दोनों नाटक दरिद्र हैं। लेखक को कला का मर्म समझना चाहिये, तब नाटक लिखने चाहिये। ऐसे प्रयत्नों से हिन्दी को क्षति हो सकती है।

जौहर—(एकांकी) ले०-श्रीनारायण चक्रवर्ती, प्रकाशक-इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। पृ० सं० ४२, मूल्य ।=)

यह नाटक चित्तौड़ की रानी पद्मिनी तथा अलाउद्दीन के ऐतिहासिक वृत्त से सम्बन्धित है। नाटक में न तो नाटकीय सौष्ठव है, न विचारों का सौन्दर्य। इन्डियन प्रेस ने इसे प्रकाशित किया है, इससे अवश्य ही यह छोटी बड़ी किसी कक्षा के पाठ्य क्रम में कभी न कभी रखा जा सकता है। हम यह सोचते हैं इससे क्या तो बालकों की भाव-भूमि प्रस्तुत होगी और क्या विचारों में उत्कर्ष आयेगा। लेखक को अभी कुछ और अभ्यास की आवश्यकता है। उसे उच्चकोटि के साहित्यकारों के नाटकों का भली प्रकार मर्म समझ कर लेखनी चलानी चाहिये।

न्याय तथा समस्या—लेखिका-श्रीमती विमला रैना, प्रकाशक-गङ्गाशरण एण्ड सन्स लिमिटेड, अलीगढ़। पृष्ठ १०८

इस पुस्तक में २ पृष्ठों में डा० अमरनाथ झा के 'दो शब्द' हैं, ६ पृष्ठों में 'मेरा साहस' शीर्षक से लेखिका ने अपना वक्तव्य दिया है, ५४ पृष्ठों में 'न्याय' नामक नाटक है और शेष ४६ में 'समस्या' नाटक। मूल्य दिया नहीं गया है।

'न्याय' का वास्तविक सम्बन्ध देवकी उसके पुत्र किशोर तथा चन्द्रमोहन से है। चन्द्रमोहन का देवकी से सम्बन्ध हुआ, विवाह भी। पहले परिस्थितियों के कारण इसी विवाह को उसने ढोंग बताया। अब उसी को वह सत्य स्वीकार करता है। वह धनवान था और देवकी का परित्याग कर देश-विदेश घूमा। देवकी को पुत्र मिला। घर से दरिद्र और निराश्रित हो उसने 'किशोर' के लिए वकील साहब के नौकरी स्वीकार की। वकील साहब इतने सज्जन और आदर्श पुरुष हैं कि वे उसे आश्रय देकर नौकर नहीं मानते। चन्द्रमोहन की मौसी के लड़के हैं। 'न्याय' 'एकांकी नाटक' 'वकील साहब' के घर के एक चौड़े कमरे में ही दृश्यान्वित होता है। 'देवकी' के सम्बन्ध में संदिग्ध बातों से दृश्य आरम्भ होता है - वेष वैधव्य द्योतक, माँग में हलका सिन्दूर सौभाग्य द्योतक। तभी चन्द्रमोहन आते हैं—किशोर की उन जैसी आकृति के आधार से चलकर देवकी के मिलने तक यह निश्चय हो जाता है कि चन्द्रमोहन देवकी के पति हैं। चन्द्रमोहन किशोर को अपने साथ ले जाना चाहते हैं देवकी यह देखकर कि किशोर उससे छिन ही जायगा और चन्द्रमोहन के मन के यथार्थ परिवर्तन को न समझ कर विष खा लेती है। 'एकाङ्की' दुःख और दुःख के अन्त दुःख में समाप्त होता है।

'एकाङ्की' नाटक के लिए जिस कला की अपेक्षा है, वह लेखिका में प्रचुर है। पात्र सभी स्वाभाविक गति-वाले हैं, सजीव और यथार्थ हैं। वकील साहब उनकी स्त्री, उनकी पुत्री सुधा और मित्र-पुत्र भीरु, यहाँ तक कि ताई और जीजी का उपयोग भी मुख्य वस्तु के लिए बहुत सुन्दर ढङ्ग से हुआ है, और स्वमेव भी यह वृत्त भव्य भावोद्रेक के लिए अपना निजी महत्व रखता है। संवाद रोचक, पात्रों के व्यक्तित्व को प्रकट करने वाले तथा मर्म को स्पष्ट करने वाले हैं। कथावस्तु सुगठित है। नाटक सर्वथा अभिनेय है। भाषा में परिमार्जन की अवश्य आवयकता है वह न तो घरेलू ही हो पायी है, न साहित्यिक ही। कुछ घरेलू भाषा की झलक लाने की चेष्टा की गयी है किन्तु पूर्ण निर्वाह नहीं हो सका।

'समस्या' में दो दृश्य हैं। कैलाश विवाह नहीं करना चाहते इसलिए पिताने उन्हें अपनी सम्पत्ति से वञ्चित कर रखा है। अब आय वकील हैं और पास में पैसे नहीं—विल हजारों के बिलबिलाते हैं। उनके मित्र दिनेश के कौशल से समस्या हल हो जाती है, सरिता और कैलाश विवाह सम्बन्ध में बँधते हैं, पिता उसे पूरा धन देते हैं और आशीय भोला नौकर विदूषक है, कैलाश जैसे मुफलिस स्वामी के पास फक्कड़ विदूषक ही टिक सकता है। मछली और पाँच रुपये के नोट के चारे का परिहास अच्छा है; सरिता को बड़े अच्छे अवसर पर सामने लाया गया है; और नाटककार की कुशलता इसमें है कि उसने दिनेश के कौशल से सरिता और कैलाश के पूर्ववर्ती पारस्परिक आकर्षण को दैवयोग के सहारे प्रणय के रूप में अनायास ही सिद्ध चित्रित कर दिया है—प्रेम कहानी में इतनी भव्यता कम कलाकार ही ला पाते हैं, फिर यह नाटक तो हास्य से भी युक्त है। लेखिका का एक बड़ा गुण यह है कि यह दलित, पीड़ित तथा वंचित का यथार्थ चित्र अङ्कित करती है और उसके लिए विषम पृष्ठभूमि की भी अवतारणा करती है। इस लेखिका के यह प्रथम प्रयत्न ही उत्साह-वर्द्धक हैं, हिन्दी इनसे और अच्छे योगदा[न की] आशा कर सकती है।

—[...]

गीति-नाट्य—कवि लेखक-श्री सिद्धनाथ [...] प्रकाशक-सम्भवतः लेखक स्वयं। पृ० ५४, मूल्य [...]

गीति-नाट्य आजकल कुछ कम लिखे जा[ते हैं] फिर भी उनका एक विशेष महत्व है। उनके [...] में एक विशेष प्रवाह और गतिमयता आ जाती [है।] इस गीति-नाट्य का विषय स्वयं कवि ही है। [...] उसका गठबन्धन कल्पना से जो उसको 'कोल[ाहल] अवनी' से दूर एक स्वर्ग लोक में ले जाती [है] लेकिन उसको एक कलामय रूप से जीवन के [...] हल और हाहाकार की ओर आकर्षित किया [...] है। जब उसके एक काँटा लग जाता है तब [...] दूसरों का भी कोलाहल सुनाई पड़ने लग जाता [है।] उसकी चिरसङ्गिनी कल्पना उसको जीवन की [ओर] ले जाती है। नाटक का दृष्टिकोण समन्वयात्म[क है] इसलिए स्वागत-योग्य है।

—गुला[ब]

निबन्ध

प्रबन्ध पारिजात—सम्पादक का नाम [...] प्रकाशक-कपूर संस, १५८० लाजपतराय [...] दिल्ली। पृष्ठ २२२, मूल्य २)

पुस्तक में ५१ निबन्धों का संग्रह है सभी [...] हायर सैकण्ड्री स्कूलों के योग्य अध्यापकों द्वारा [...] गये हैं जिन्होंने परीक्षाओं के मापदण्ड और [...] र्थियों की योग्यता का पूरा ध्यान रखा है। [...] निबन्धों के १२ विभाग किये गये हैं जिनमें [...] पुरुष, प्रमुख कवि, सदाचार और आदर्श, विज्ञान, प्रकृति, राजनीति और साहित्य आदि [...] विषय आगये हैं।

प्रवन्ध किस प्रकार प्रारम्भ करना [...] विचार धारा को किस प्रकार व्यवस्थित [...] चाहिये तथा किस प्रकार विकसित कर समाप्त [...] चाहिये आदि बातों को ध्यान में रखकर कुछ [...] हरण निबन्ध होने चाहिये ये। तथा कुछ

विषय लेकर विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए केवल आउट लाइन्स देकर छोड़ देना चाहिए था। साथ-साथ "निबन्ध में व्यक्तित्व की छाप" को अच्छी प्रकार समझाने के लिये तीन चार प्रबन्धों में से प्रत्येक को अलग-अलग तीन-चार लेखकों से लिखवा कर देना चाहिये था। —दयाप्रकाश एम० ए०

जीवनी

सूरदास की वार्ता (गो० श्री हरिरायजी कृत)—सम्पादक-श्री प्रभूदयाल मीतल, प्रकाशक-अग्रवाल प्रेस, मथुरा। पृष्ठ ९४, मूल्य १॥)

सूरदासजी का जीवन वृत्त हम को गोस्वामी गोकुलनाथजी चौरासी वैष्णवों की वार्ताओं में मिलता है। हरिरायजी गोकुलनाथजी के पौत्र थे। उन्होंने वार्ताओं की मौखिक साहित्य के आधार पर भाव प्रकाश नाम की टीका में विस्तार दिया है। इससे जिन वार्तों पर वार्ता से प्रकाश नहीं पड़ता है जैसे सूरदासजी के सारस्वत ब्राह्मण होने की बात उन पर प्रकाश पड़ता है। सम्पादन बड़ी सावधानी से हुआ है। बीच में आये हुए नामों आदि पर उपयोगी पद टिप्पणियाँ हैं। जो प्रसङ्ग वार्ता से अतिरिक्त हैं उनकी ओर भी संकेत कर दिया गया है। मूल में जिन पदों की केवल एक पंक्ति देकर संकेत किया गया है उनको पूर्ण रूप में लिख दिया गया है। अन्त में परिशिष्ट रूप से सूरदासजी की संस्कृत की वार्ता दीगई है और एक निबन्ध ब्रजभाषा गद्य पर दिया गया है उसके विकास और ह्रास दोनों की ही कथा कही गई है। यह अंश नितान्त मौलिक तो नहीं कहा जा सकता किन्तु इसमें बहुत सी नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। —गुलाबराय

जीवन जौहरी—लेखक-श्री रिषभदास राङ्कर प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल, वर्धा। पृष्ठ १६७, मूल्य १।)

उक्त पुस्तक में लेखक ने बापू के दायें अङ्ग जमनालालजी की जीवन-झाँकी का ... खींच जीवनी साहित्य की आंशिक पूर्ति की ... साथ ही साथ पुस्तक को जीवन-जौहरी शीर्षक ... सेठजी के बिखरे जीवन मोतियों को एक सूत्र ... सुन्दरता के साथ पिरो दिया है। जहाँ नेता ... कथा में देश की कथा भी आ गई है। पुस्तक ... अध्ययन के समय देश की स्वतन्त्रता का ऐति... सिक युद्ध का चित्र स्वतः नेत्र पटल पर चल-चि... सा चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। प्रस्तुत पुस्... में गाँधीजी के मौन आचरण का प्रभाव पारम... सदृश्य सभी पृष्ठों पर पाते हैं, बापू के अहि... सिद्धान्त का मूर्ति रूप जमनालालजी में देखते हैं...

श्री जमनालालजी की जो सेवा तथा अहि... सेवा कर्मयोगी गीता मूर्ति को पुनः धरातल पर ... लाती है। तथा उनकी व्यवहारिक जीवन-व्यो... की कार्य कुशलता एक आदर्श सूत्र छोड़ ... है। मनोवैज्ञानिक विहंगम दृष्टि डालने पर ... होता है, कि लेखक ने साहित्य के जिस अङ्ग... ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया है उस ... उसकी शुभ सफलता का पूर्ण विराम भी यदा-... उसके गहन, गम्भीर अध्ययन की पूरी पूरी ... छोड़ स्वतः प्रकाश में आ गया है।

सत्यतः सेठजी ने जीवन की विविध परीक्ष... में अविचलित रह निष्काम कर्म-योग की सा... को भक्त का वरदान बना दिया है, तथा अ... अहं को समिष्टि में मिला शेष सृष्टि के साथ ता... का अनुभव कर बापू के सच्चे पथगामी बन गये ...

—गङ्गाप्रसाद कमठान बी०...

धर्म

ईश्वर मीमांसा—लेखक-पूज्य श्री १०५ क्षु... नित्तानन्दजी महाराज (पूर्व नाम स्वामी कर्मा... प्रकाशक-भारत-वर्षीय दिगम्बर जैन संघ चौरा... मथुरा। पृष्ठ ८०८ + शुद्धि पत्र ३६, मूल्य ६)

प्रस्तुत पुस्तक में जैन दृष्टिकोण से ईश्वर मीमांसा की गई है। लेखक महोदय पहले ... हैं। इससे आपको वैदिक सा...

का निकट से ज्ञान है, किन्तु इस पुस्तक में वैदिक मन्त्रों के वे अर्थ नहीं हैं, जो आर्य समाजी करते हैं। आपने इस पुस्तक में वैदिक देवताओं का विद्वत्ता पूर्ण अध्ययन उपस्थित कर यह सिद्ध किया है, कि सब देवता प्रायः एकसा ही कार्य करते थे, इस आधार पर भक्तों द्वारा एक ईश्वर की कल्पना करली गई। ये देवता ईश्वर की शक्तियां नहीं हैं। क्योंकि शक्तियों के मान लेने पर ईश्वर को उन पर आश्रित होना पड़ता है। शक्तियाँ न मानकर भी हम उनको एक ही ईश्वर की शक्ति के विभिन्न रूप मान सकते हैं। क्षुल्लकजी ने सृष्टिक्रम को अनादि माना है, आर्य-समाज की अमैथुनी सृष्टि का खण्डन किया है। अमैथुनी सृष्टि में वैज्ञानिक कठिनाइयाँ अवश्य हैं, और जीवन का तारतम्य मानना ही ठीक है, किन्तु सृष्टि की अनेकता में एकता स्थापन करने वाले एक चेतन सूत्र की आवश्यकता प्रतीत होती है। अनेकता विच्छिन्न हो सकती है। और यह मत-भेद की बात है। पुस्तक पाण्डित्य-पूर्ण ढङ्ग से लिखी गई है। इसमें दूसरों के मत के उद्धरण कुछ अधिक हैं। वे उद्धरण ऐसे हैं, जो लेखक के मत की पुष्टि करते हैं। विरुद्ध उद्धरण भी मिल सकते थे। उनको भी कार्य में लाया गया, किन्तु केवल खण्डन के लिए।

हिन्दुओं का जीवन-दर्शन—लेखक-डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, अनुवादक-श्री कृष्णकिंकरसिंह, प्रकाशक—वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स लिमिटेड बम्बई। पृष्ठ १३२, मूल्य १॥)

डा० राधाकृष्णन् उन विचारकों में से हैं जिन पर भारत उचित रूप से गर्व कर सकता है। उन्होंने अपनी 'हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ' ऑक्सफोर्ड के मेन्चेस्टर कालेज में दिये हुए व्याख्यानों का संग्रह किया है। अपनी दार्शनिक पैठ और सूझ-बूझ के साथ हिन्दू जीवन-दर्शन की बुद्धिपरक व्याख्या की है। हिन्दुओं का धर्म-दर्शन लेखक के मत से श्रद्धा-विश्वास पूर्ण होते हुए भी बुद्धि-परक और गतिशील है। इसी कारण वह इतना उदार और समन्वयात्मक है। वह भेद में अभेद को देखता है। उसमें केवल अपनी ही बात सत्य कहने का कट्टरपन नहीं है। हिन्दू धर्म में विचार स्वातन्त्र्य है किसी रूढ़िगत संकुचित आचार से नहीं वरन् आचार के व्यापक नियमों से है। विचार में हिन्दू दृष्टिकोण एक आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास करता है किन्तु उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उदार है। वह किसी एक रूप पर आग्रह नहीं करता है—सतत् प्रवाहित होने वाला यह जगत सब कुछ नहीं है। इसका नियम के अधीन रहना तथा पूर्णता प्राप्ति के लिए उन्मुख होना यह बताता है कि यह आध्यात्मिक तत्व पर आधारित है जो तत्व किसी विशेष वस्तु या वस्तु समूह में समाप्त नहीं होता।'

इस पुस्तक में कर्मवाद और कर्म स्वातन्त्र्य की समस्या पर भी प्रकाश डाला गया है और बतलाया गया है कि हमारा जीवन क्रम पूर्व कर्मों से निर्धारित होता हुआ भी स्वातन्त्र्य हीन नहीं है।

हिन्दू जीवन के दृष्टि को समझने में यह पुस्तक बड़ी सहायक होगी यद्यपि सब लोग इसकी सब बातों से सहमत न हों। श्री कृष्णकिंकरजी ने ऐसी सुन्दर पुस्तक का हिन्दी अनुवाद कर हिन्दी जनता को आधुनिककाल के उच्च विचारक के सम्पर्क में लाये हैं। पुस्तक का गाम्भीर्य और काठिन्य देखते हुए अनुवाद बड़ा सफल हुआ है। जितनी प्रवाहमय मूल भाषा होती है उतनी ही वह अनुवाद की पकड़ में कम आती है द्विवेदीजी के शब्दों में कृष्णकिंकरजी ने विचार की रक्षा करते हुए भी मूल लेखक की धारावाहिकता को भी यथा सम्भव अनुण्ण रक्खा है।

—गुलाबराय

साहित्य-सन्देश का अगला अंक

आलोचना विशेषांक

होगा ! जिसमें अधिकारी विद्वानों के लेख होंगे । यह विशेषांक हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की

मध्यमा और उत्तमा

तथा हिन्दी की अन्य एम० ए० तक की परीक्षाओं के लिये बड़ा उपयोगी होगा । इस अङ्क का मूल्य १) होगा, लेकिन ।

साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को मुफ्त दिया जायगा ।

जो सज्जन साहित्य-सन्देश के ग्राहक नहीं हैं, वे आज ही ४) वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से भेजकर इसके ग्राहक बन जाँय ।

साहित्य-सन्देश कार्यालय, आगरा ।

बालोपयोगी (पहेली संग्रह)

बालकों के ज्ञान को बढ़ाने के लिये हमारे बाल साहित्य का सूची पत्र मंगा कर पढ़ें।

विक्रेताओं को भरपूर कमीशन दिया जाता है।

साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा।

परीक्षोपयोगी

साहित्य सन्देश आगरा के

१२ वें वर्ष की

जुलाई १६५० से जून १६५१ तक की पूरी फाइल

जिसमें

भारतेन्दु विशेषाङ्क भी सम्मिलित है।

इस फाइल में १०३ निबन्ध हैं जो प्रथमा मध्यमा-उत्तमा; विदुषी-सरस्वती, रत्न-भूषण-प्रभाकर, प्रवेशिका-भूषण-साहित्यालङ्कार, विद्यालङ्कार, इण्टर, बी० ए० तथा एम० ए० आदि के परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न सम्पादकीय विचारधाराएँ पुस्तकों की आलोचनाएँ तथा पूरे वर्ष में प्रकाशित नवीन पुस्तकों की सूची भी इस फाइल में आपको मिलेगी जिससे आपको विविध ज्ञान प्राप्त होगा।

फाइल के सम्बन्ध में हम इतना निवेदन और करदें कि इसमें अन्य विषयों के अतिरिक्त ५०० पृष्ठ तो ठोस सामिग्री के हैं जिनको यदि पुस्तकाकार में छपवाए जायँ तो १००० पृष्ठ से अधिक की मोटी पुस्तक हो जाय। जिसका मूल्य औसत दर्जे १०) और ठाट-बाट के साथ छापने पर १५)-२०) हो जाता है। परन्तु साहित्य सन्देश अपने ग्राहकों से केवल चार रुपया वार्षिक लेता है। इस फाइल में मोटी बसली की जिल्द लगा कर उसके ऊपर कवर तथा विषय सूची छाप कर इसका मूल्य ५) रखा है।

यह फाइल थोड़ी बनी हैं और सदा की भाँति शीघ्र बिक जाने की आशा है। अतः आप आज ही अपनी फाइल मँगालें।

विषय सूची मुफ्त मँगायें। सजिल्द ५) पोस्टेज पृथक।

मिलने का पता:—**साहित्य सन्देश कार्यालय**, ४, गांधी मार्ग, आगरा।

Shahitya Shandesh, Agra.
SEPTEMBER, 1951.

REGD. NO. A. 263.
Licence No. 16.
Licensed to Post without Prepayment

[भाग] १३] आगरा—दिसम्बर १९५१ [अङ्क ६

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
[सत्ये]न्द्र एम. ए., पी-एच. डी.
महेन्द्र

प्रकाशक
[साहि]त्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

मुद्रक
[सा]हित्य-प्रेस, आगरा।

[वार्षिक] मूल्य ४), एक अङ्क का ।≈)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के अन्तिम सप्ताह में निकलता है ।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है । नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है ।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी ।

४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जबावी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए । बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है ।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा ।

हिन्दी का नया प्रकाशन : अक्टूबर, नवम्बर १६५१

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं ।

आलोचना

दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ—प्रो० कपिल ३।।)

हमारे साहित्य में हास्य रस—कृष्णकुमार श्रीवास्तव ३)

मूल्याङ्कन—श्री हरिशङ्कर उपाध्याय ।।)

मुक्ति का रहस्य—श्री उत्तमचन्द्र जैन गोयल ।।)

आ० हिन्दी काव्य में नारी भावना—शैलकुमारी ७)

अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन—कपिलदेव द्विवेदी १२)

अलङ्कार सार संग्रह—श्री धर्मपाल वार्ष्णेय ।।)

हिन्दी कहानी और कहानीकार—प्रो० वासुदेव एम० ए० ३।।)

काव्याङ्ग प्रकाश—शुकदेव दुबे १।)

मानस मन्दाकिनी—शम्भुप्रसाद बहुगुणा ४।।)

कविता

अन्तिम ज्योति—श्री तख्तसिंह भटनागर ।।।≡)

नीरिका—सुरेन्द्र १)

कुटज—महमूद

अगूरी—"नन्द" १)

कन्यादान—भागीरथ 'भास्कर' २)

सवेरा और साया—अरुण

कहानियाँ

कथा मञ्जरी—कर्णवीर नागेश्वर राव १।।)

रेल का टिकट—भदन्त आनन्द कौशल्यायन २।।)

हमारे गाँव—शान्ति टोंगी २।।)

आहुति और अन्य कहानियाँ—प्रफुल्लचन्द्र ओझा "मुक्त" ।।।)

उपन्यास

'इन्दु"—बृजबिहारी शरण एम० ए० २)

प्रगति की राह—गोविन्द बल्लभ पन्त ४।।)

नाटक

युग सन्देश—श्री मेदिनीप्रसाद आर्य १)

पाँच एकाङ्की—से० पि० आर० श्रीनिवास शास्त्री ।।।)

शपथ—श्री हरिकृष्ण प्रेमी २।।)

ध्रुवतारिका—रामकुमार वर्मा १)

सभी प्रकार की हिन्दी की पुस्तकें मँगाने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा ।

हमारी कुछ अपनी प्रकाशित पुस्तकें
साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को रियायत
पौने मूल्य में

आलोचना

ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन—डा० सत्येन्द्र एम० ए०। इसमें लोकवार्ता का वैज्ञानिक अध्ययन और इतिहास, लोकवार्ता और लोकसाहित्य, लोकवार्ता और साहित्यिक संग्रह, व्रज के लोक साहित्य का सङ्कलन विस्तार प्रणाली के साथ दिया गया है। यह लेखक का पी-एच० डी० उपाधि के लिए लिखा गया ग्रन्थ है। मूल्य ६)

कला, कल्पना और साहित्य—डा० सत्येन्द्र। इस पुस्तक में लेखक के २९ आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह किया है जिनमें साहित्य के विविध युगों के निर्माताओं की विविध विषयों पर सैद्धान्तिक मीमांसा की गई है। पुस्तक में विद्यार्थियों की उपयोगिता के विषयों पर अधिक महत्व डाला गया है। इस नवीन रचना में लेखक की मौलिकता और विद्वत्ता, विस्तृत अध्ययन, ऐतिहासिक प्रज्ञा और सभी आलोचनात्मक अङ्गों का गम्भीर अध्ययन मिलता है। निबन्ध एम० ए०, बी० ए०, मध्यमा, उत्तमा, विदुषी, प्रभाकर तथा भूषण, साहित्यालङ्कार के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी और महत्व पूर्ण हैं। मूल्य ४।)

साहित्य की झाँकी—डा० सत्येन्द्रजी की यह प्रसिद्ध पुस्तक है, जिसमें हिन्दी साहित्य के प्रमुख कलाकारों और समस्याओं पर लेखक ने गम्भीरता से विचार किया है और हिन्दी साहित्य में कई नई उद्‌भावनाएँ की हैं। पुस्तक का चतुर्थ संस्करण अभी हुआ है। मूल्य १।।)

रसज्ञ-रञ्जन—ले० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। इस ग्रन्थ में आचार्य श्री के महत्व-पूर्ण साहित्यिक लेख संग्रहीत हैं, जिससे उन विषयों पर आचार्य द्विवेदीजी के उपयोगी विचार ज्ञात होते हैं। मूल्य १।)

कालिदास और उनका रघुवंश—ले० प्रो० रामप्रसाद एम० ए०। कवि-कुल-गुरु महाकवि कालिदास के जीवन पर ऐतिहासिक आलोक डालने के साथ ही इस पुस्तक में उनके ग्रन्थों का भी मूल्यांकन व परिचय कराया गया है। कालिदास को समझने के लिये पुस्तक आवश्यक है। मूल्य १)

प्रसादजी की ध्रुवस्वामिनी—ले० श्री कृष्णकुमार सिन्हा। प्रसादजी के अन्तिम नाटक ध्रुवस्वामिनी का इसमें सुबोध शैली में मूल्याङ्कन और अध्ययन है। मूल्य १)

परीक्षार्थी-प्रबोध भाग १, २ व ३—परीक्षार्थी प्रबोध हिन्दी-साहित्य के परीक्षार्थियों की सामयिक सहायता के लिए तयार की गयी है। प्रथमा-मध्यमा-उत्तमा, विदुषी-सरस्वती, रत्न-भूषण-प्रभाकर, प्रवेशिका-भूषण-साहित्यालङ्कार, इण्टर-बी० ए०-एम० ए० आदि परीक्षार्थियों के लिए चुने हुए उपयोगी विषयों पर इसमें प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री दी गई है। प्रत्येक भाग की पृष्ठ संख्या ३०० है और प्रत्येक भाग का मूल्य ३) है।

प्रेमचन्द : उनकी कहानी कला—डा० सत्येन्द्र—लेखक के संकल्प पर लिखी गई तुलनात्मक अध्ययन सम्बन्धी प्रेमचन्द साहित्य पर एक सुन्दर और विस्तृत पुस्तक है। प्रेमचन्द परिचय, कहानी की परिभाषा का विकास, कहानियों का विविध वर्गीकरण, आदि विषयों पर एक-मात्र उपयोगी आलोचनात्मक पुस्तक है। मूल्य ३)

भाषा-भूषण—लेखक जसवन्तसिंह—(बा० गुलाबराय जी द्वारा लिखी गई भूमिका सहित) अनुपम, अनूठा ग्रन्थ जिसमें अलङ्कार के उदाहरण, लक्षण, पद्य रूप में लिखे गये हैं। कंठस्थ करने में बहुत उपयोगी पुस्तक है। मूल्य १)

साहित्य-वातायन—श्री शिवनन्दनप्रसाद एम० ए०—"राम झरोके बैठिकें सबको मुजरा लेय, जैसी जाकी चाकरी तैसे ताकों देय" उक्त पुस्तक में लेखक ने ऐसे ही ऊँचे झरोके से झाँक कर साहित्यकारों और उनकी कृतियों का मूल्याङ्कन किया है। इसमें १४ आलोचनात्मक लेख हैं। मूल्य १।)

हिन्दी गीत काव्य—श्री ओमप्रकाश अग्रवाल एम० ए०—यह पुस्तक विशेषकर हिन्दी गीत-काव्य के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए लिखी गई है। इसमें हिन्दी के गीति-काव्य तथा कवियों का परिचय निष्पक्ष रूप से दिया गया है। २२ प्रमुख गीत-काव्य के कवियों का आलोचनात्मक विश्लेषण है। मूल्य ३)

काव्य

अवकाश के क्षण—(काव्य) शकुन्तला वर्मा—इस पुस्तक में ३३ कविताओं का संग्रह है। छपाई तथा गेटअप देखते हुए पुस्तक सस्ती है। मूल्य ।॥)

रघुवंश—(पद्यानुवाद)—महाकवि कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य का पद्य-बद्ध हिन्दी अनुवाद है। २४८ पेज की पुस्तक केवल १॥) में।

पूजा—श्री रामप्रसाद विद्यार्थी—इसमें गद्य-गीत के गुणों का यथेष्ट परिचय है, जिसमें साधक की अनवरत आकांक्षा सांसारिक परिस्थितियों को सुलझाकर प्रियतम का सामीप्य प्राप्त करना चाहती हैं। उल्लास अथवा आँसू की असीम छाप इस पुस्तक के प्रत्येक पद्य में मिलेगी। मूल्य १)

शुभ्रा—यह पुस्तक भी श्री रामप्रसाद विद्यार्थी के गद्यगीतों के संग्रह रूप में है। बड़ी भावना पूर्ण पुस्तक है। मूल्य ।।।)

संक्षिप्त गीतावली—महाकवि गो० तुलसीदास लिखित सं० गीतावली। भूमिका व टीका लेखक-बा० गुलाबराय हैं। मूल्य ।।।)

तुलसीदास (नाटक)—लेखक श्री बद्रीनाथ भट्ट मूल्य १।।)

चुङ्गी की उम्मेदवारी—यह भी श्री बद्रीनाथ भट्ट का ही एक प्रहसन है। चुनाव में जो चकल्लस होती है वह इसमें पढ़िये। मू० ।≈)

न नर न नारी—हास्य सैक्स जीवन के आश्चर्य-जनक किन्तु सत्य वृत्तान्त कहानी रूप में संगृहीत हैं। मनोरञ्जन के लिये अनुपम पुस्तक है। मूल्य ।।।)

ग्रामोपयोगी

निम्न ग्रामोपयोगी साहित्य जिसमें एक मात्र शुद्ध ग्राम-साहित्य और उससे सम्बन्धित विषयों पर सुन्दर तथा उपयोगी प्रकाश डाला गया है।

ढोरों का इलाज—	।।≈)	गाँव का जीवन—	।।)
घरेलू इलाज—	।।)	गाँव की कहानियाँ—	।।)
गाँव के गीत (पुरुषों के)	।।)	खेती व घरेलू धन्धे—	।।)
गाँव के गीत (स्त्रियों के)	।।)	संयोगिनी का डोला—	।।)
गाँव की सेहत—	।।)		

गृहदेवी—लेखक सूरजभान वकील। लेखक ने स्त्रियों की अवस्था का सच्चा वर्णन करने और सुधार का उपाय बताने में आशातीत सफलता प्राप्त की है। पुस्तक स्त्रियोपयोगी है। मू० ।।≈)

तीन कथाएँ— १—शील कथा ।।) २—दान कथा ।।) ३—दर्शन-कथा ।।)

बालोपयोगी

बुद्धि परीक्षा (दो भाग)—लेखक श्री राममूर्ति मेहरोत्रा एम० ए०। बच्चों के मनोरञ्जन तथा बुद्धि-विकास के लिए एक मात्र पुस्तक है। प्रत्येक का भाग मू० ।≈)

समझ के खेल (दो भाग)—लेखक श्री राममूर्ति मेहरोत्रा एम० ए०। बच्चों के आपस के चमत्कारपूर्ण प्रश्न और उनके उत्तर, जो पढ़ते ही हँसी आये बिना नहीं रहती। पुस्तक की भाषा सरल है। बड़ी ज्ञान वर्द्धक है, प्रत्येक भाग का मू० ।≈)

बच्चों के बापू—लेखक डा० सत्येन्द्र एम० ए० पी० एच० डी०। महात्मा गाँधी के जीवन पर जो सैकड़ों पुस्तकें निकली है—बच्चों की दृष्टि से यह पुस्तक उनमें विशेष स्थान रखती है। मू० ।।)

सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का प्रमुख स्थान—

साहित्य-रत्न-भण्डार, ४ महात्मा गांधी रोड, आगरा।
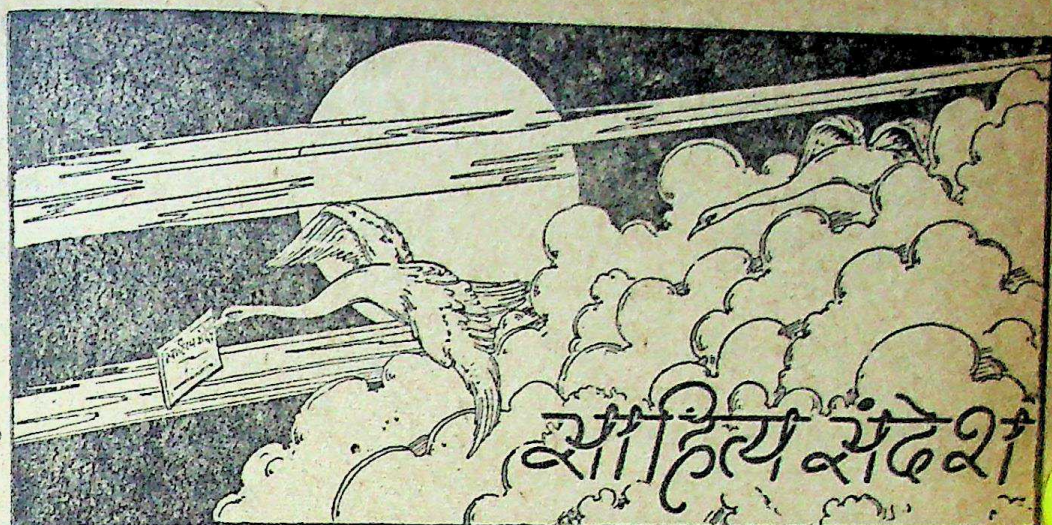
वर्ष १३] आगरा—दिसम्बर १९५१ [अङ्क ६

हमारी विचार-धारा

वैज्ञानिक-साहित्य—

हिन्दी के लेखकों के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न अपनी भाषा के साहित्य को समृद्ध करने का है। रायकृष्णदास के ये शब्द मिथ्या नहीं हैं कि "हाँ, शिकायत करने वालों की इस शिकायत में अवश्य दम्भ है कि आधुनिक ज्ञान-पिपासा को शान्त करने योग्य साहित्य की हिन्दी में कमी है" 'ज्ञान पिपासा' शब्द विशेष दृष्टव्य है। हिन्दी के दासत्व-युग में ही विश्व ने वैज्ञानिक सभ्यता का विकास किया और भौतिक ज्ञान का भाण्डार नित्य नवीन आविष्कारों से समृद्ध हुआ। यही कारण है कि हिन्दी क्या देश की कोई भी भाषा इस ज्ञान-पिपासा को पूर्णतः शान्त करने में समर्थ नहीं। इसके लिए महती प्रयत्नों की आवश्यकता है। वे प्रयत्न सरकार द्वारा भी किये जाने चाहिए और स्वतन्त्र प्रकाशकों, लेखकों तथा विविध संस्थाओं के द्वारा भी होने चाहिए। सभी प्रकार के वैज्ञानिक साहित्य का अनुवाद होना चाहिए, विदेशी प्रामाणिक ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त उनके आधा[र] पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे जाने चाहिए। किन्तु इससे भ[ी] आवश्यक एक और उद्योग है, जो होना चाहिए।

अनुभवस्यूत साहित्य—

आज प्रायः सभी क्षेत्रों में भारतीय काम क[र] रहे हैं—क्या भौतिक रसायनिक क्षेत्र में, क्या भूग[र्भ] क्षेत्र में, क्या खगोलीय क्षेत्र में, क्या यन्त्र निर्मा[ण] क्षेत्र में, क्या वास्तु कला के क्षेत्र में—और भी आधु[]निक युगीन जितने भी ज्ञान विज्ञान [] के क्षे[त्र] हैं सभी में प्रतिभाशाली भारतीय लगे हुए हैं। उ[न] क्षेत्रों में काम करते हुए उन्हें निजी अनुभव हुए [हैं]। वे अनुभव यथार्थतः उस उपार्जित ज्ञान से भी क[हीं] अधिक मूल्यवान हैं जो उन्होंने विदेशी-देशी पुस्त[कों] को पढ़कर प्राप्त किया है। किसी भी देश के मौलि[क] साहित्य की समृद्धि इसी अनुभव के आधार [पर] होती है। आज हमारे प्रत्येक ऐसे विशेषज्ञ का प्रथ[म] और प्रथम धर्म है कि वह अपने अनुभवों को लि[खे] और उन्हें पुस्तक का रूप प्रदान करे। ऐसा विशेष[]

अपने अनुभवों को हिन्दी में प्रस्तुत करे वह इसे अपना नियम बनाले। स्वर्गीय पुरातत्व वेत्ता गौरी-शङ्कर हीराचन्द ओझाजी का आदर्श हमारे सामने रहना चाहिए। 'भारतीय लिपि' की भाँति हमारे प्रत्येक अनुभवी विशेषज्ञ अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करके हिन्दी भारती का भाण्डार परिपूर्ण करे।

खपाने की समस्या—

किन्तु अनुभवों को पुस्तकाकार रूप देने से ही समस्या का हल नहीं हो जाता। इनका सम्मान भी होना आवश्यक है। इनकी माँग भी होनी चाहिए, इनके प्रकाशन के साथ इन्हें खपाने का भी उद्योग होना चाहिए। बिना उसके यह समस्त निर्माण एक भयङ्कर राष्ट्रीय हानिका स्वरूप ग्रहण कर सकता है। इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि समस्त विश्वविद्यालयों और शिक्षण संस्थाओं में—विशेषतः हिन्दी क्षेत्र की संस्थाओं में हिन्दी का माध्यम अनिवार्य कर दिया जाय। इससे स्वयमेव ग्रंथ प्रस्तुत होंगे, माँग बढ़ेगी और खपाने की समस्या का एक हल निकल आयेगा। दूसरे प्रकाशकों को प्रकाशन का स्तर इतना ऊँचा करना होगा कि पुस्तकें ग्राहकों को विवश होकर खरीदना पड़े। तीसरे निरक्षरता का भी निवारण होना चाहिए। साक्षरता का विस्तार हो और प्रत्येक मजदूर किसान पढ़ा-लिखा हो।

समान शब्दावली : टावर ऑफ़ बेबीलोन—

ऊँची कक्षाओं में वैज्ञानिक विषय हिन्दी में पढ़ाने के प्रयत्न होने लगे हैं। यद्यपि अभी ये प्रयत्न ऐसे नहीं हैं जिन्हें अभिनन्दनीय कहा जा सके, फिर भी प्रयत्न होना शुभ लक्षण ही है। हमतो यह मानते हैं कि अध्यापक यदि चाहे तो वह तुरन्त अपने भाषण का माध्यम हिन्दी बना सकता है। कितना ही शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषय क्यों न हो उसमें साधारण शब्दावली की प्रचुरता रहती है, यह साधारण शब्दावली ही भाषण को भाषण बनाती है, पारिभाषिक अथवा वैज्ञानिक शब्द तो शब्द भर होते हैं। अतः वैज्ञानिक शब्दों को छोड़कर शेष समस्त भाषण प्राध्यापक हिन्दी में दे सकता है। हिन्दी में भाषण देने के संकल्प के पश्चात् शेष वैज्ञानिक शब्द भी धीरे-धीरे प्रस्तुत हो जायँगे। पहले कुछ काम चलाऊ शब्द सामने आयेंगे, वे अनगढ़ गढ़े हुये से भी आरम्भ में प्रतीत हो सकते हैं। बाद में वे ही मँजकर, घुट-पिस कर अथवा किसी अन्य सुन्दर शब्द को स्थान देकर लुप्त हो जायँगे। किन्तु हर दशा में एक सावधानी का आवश्यकता है, जो इस समय व्यवहार में नहीं पड़ रही। इस ओर हमारा ध्यान विज्ञान के एक प्रसिद्ध प्राध्यापक महोदय ने आकर्षित किया है। विज्ञान की पुस्तकें बन रही हैं। इन पुस्तकों के लिखने वाले अपने मनोनुकूल चाहे जैसे शब्द रख लेते हैं, अतः प्रत्येक लेखक के शब्द अलग-अलग हैं। यह बात चिन्ताजनक है। टावर ऑव बेबीलोन की जैसी दशा हो जाने से निर्माण की अपेक्षा ध्वंस ही होगा। फलतः एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता आज प्रतीत होने लगी है, जो इन समस्त भिन्न उद्योगों में सामञ्जस्य प्रस्तुत कर सके। इस संस्था का कार्य यह होगा कि वह विज्ञान पर निकलने वाले समस्त ग्रन्थों तथा लेखों में आने वाले शब्दों की सूची प्रतिमाह या प्रति सप्ताह प्रस्तुत करे, और उसमें एक ही अर्थ रखने वाले जितने भी शब्द हैं उन्हें पर्यायवाची की भाँति संकलित करे—साथ में उनकी सार्थकता और औचित्य पर तुलनात्मक दृष्टि से अपने विचार भी प्रस्तुत करे।

हम समझते हैं कि 'विज्ञान' नामक पत्र इस कार्य में सहायता दे सकता है, वह प्रतिमास कुछ पृष्ठ इसी उपयोगी कार्य के लिए दे सकता है।

एक 'पर्याय' नामक अलग मासिक या त्रैमासिक पत्र भी चलाया जा सकता है। ऐसा पत्र सरकार ही निकाले तो और भी अच्छा रहे।

ऐसे उद्योगों से वैज्ञानिक शब्दावली का स्वरूप धीरे-धीरे स्थिर हो जायगा।

साहित्य-प्रकाशन में स्थायित्व—

'राष्ट्र-भारती' के दिसम्बर के अङ्क में राहुल-सांस्कृत्यायन ने यह स्पष्ट किया है कि 'हमारी साहित्यिक प्रगति में एक और बड़ी बाधा है, साहित्यिक प्रचार और प्रकाशन का काम जिन व्यक्तियों और संस्थाओं के हाथ में है, उनमें स्थायित्व नहीं देखा जाता।' राहुल जी का यह मत समीचीन है। साहित्य के प्रचार-प्रकाश में जब तक स्थायित्व नहीं आता साहित्य की प्रगति नहीं हो सकती। हिन्दी के प्रचार-प्रकाश से सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओं को स्थायित्व के लिए किसी सुनिश्चित वैज्ञानिक प्रणाली का उपयोग करना होगा।

नये लेखकों की समस्या—

'प्रतीक' के सम्पादकीय का अन्तिम पैराग्राफ इस वाक्य से आरम्भ हुआ है :—'इस प्रकार नये लेखकों की समस्या मूल रूप में यह है। सामाजिक यथार्थ को समझाने का किताबी गुरु जानते हुए भी वे क्यों नहीं अपने साहित्य में वह शक्ति, वह मानवीय संवेदना ला रहे हैं जिसके बिना साहित्य का सामाजिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा—साहित्य का अस्त्र उस भोथरे छुरे की तरह हो जायगा, जिससे नाक भी नहीं कट सकती?' प्रश्न महत्व-पूर्ण है, उसका जो उत्तर 'प्रतीक' सम्पादक ने दिया है उसे तो वहीं देखा जा सकता है, पर हम जो कारण समझते हैं वह यह है कि पहले तो नया लेखक यह सब मानने के लिए तैयार ही नहीं, इसीलिए वह साहित्य में शक्ति नहीं ला पाता। आज का भी लेखक बीस-वर्ष पूर्व के 'अहंवादी' साहित्यकार के आतङ्क में है; वह अभी अपने को ही नहीं पहचान पाया, सामाजिक प्रयोजन को समझना तो और भी टेढ़ी खीर है। दूसरे, इसी कारण वह प्रत्येक बात का समाधान अपने इस अहं के खोल में से ही पाता है। उसकी मानसिक दासता इतनी प्रबल है कि वह सब कुछ अपने से बाहर से लेता है पर आँख बचाकर, और उसमें दंभ इतना बढ़ा हुआ है कि वह उसे अपनी स्वानुभूति अपने अहं की सृष्टि घोषित करता है। फलतः सर्वत्र नैतिक साहस का अभाव है। फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि नए साहित्य में शक्ति आये। नए लेखकों की समस्या यथार्थ में बहुत गम्भीर है।

साहित्य का उत्तराधिकार—

नए लेखक की समस्या के साथ ही साहित्य के उत्तराधिकार का प्रश्न है। श्री शिवदानसिंह चौहान ने एक स्थान पर लिखा है कि 'प्रत्येक देश की जनता को विश्व के अन्यान्य देशों का प्राचीन साहित्य एक सामान्य विरासत के रूप में मिला है।' इस कथन में तो कुछ भी अमान्य नहीं हो सकता, पर नए लेखक की समस्या है कि वह अहं के खोल से निकल इस साहित्य के उत्तराधिकार की चिन्ता ही कब करता है! आज के नए लेखक से पूछा जाय कि उसने कितना अपने देश का प्राचीन साहित्य पढ़ा है, और कितना दूसरे देशों का। उसने पढ़ा ही कम है तो उसको मथकर उससे मक्खन निकालने और उससे अपनी कला को उन्नत करने की बात ही कहाँ आती है। स्वतन्त्र-भारत के हिन्दी के नए लेखक को बहुत अध्यवसायी, बहुत अध्ययनशील, बहुत मननशील होना चाहिए। लेखन-कार्य को व्यवसाय के रूप में ग्रहण करने और उसे अर्थ लाभ के दृष्टिकोण को प्राधान्य देने के हम विरोधी नहीं, किन्तु हम इसके विरोधी हैं कि इस व्यवसाय के लिए प्रस्तुत की गयी वस्तु का स्तर नीचा किया जाय। रूप रङ्ग का नहीं, वरन् यथार्थ प्रेषणीय वस्तु के स्तर की उन्नति तथा साहित्य के 'कंटेण्ट' की समृद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके लिए उसे अपने ज्ञान की गहरायी और विस्तार दोनों ही बढ़ाने होंगे, और तब प्रत्यक्ष अनुभव की ईमानदारी बर्तनी होगी। तभी साहित्य के कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

विषय-कोष—

पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयीजी ने एक उपयोगी बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने

लिखा है—"अब तक मैंने कोष निर्माण के सिलसिले में केवल शब्दकोष निर्माण की चर्चा की है। परन्तु कुछ अन्य प्रकार के कोष भी होते हैं जिन्हें हम विषय कोष, ज्ञानकोष, अथवा विश्वकोष कह सकते हैं। विषय कोष से मेरा अभिप्राय किसी एक प्राचीन या नवीन विषय से सम्बन्धित समस्त ज्ञातव्य सामग्री को एक स्थान पर एकत्र कर देने से है।" आपका मत है कि भारत के विश्वकोष का निर्माण का समय तभी आयेगा जब ऐसे विषय-कोष या ज्ञान-कोष बन चुकेंगे। सभी भाषाओं के अपने विश्व-कोष हैं। अँग्रेजी में एन साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स आदि बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं ही, छोटे-छोटे विषय-कोष तथा ज्ञान-कोष भी हैं। भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित अनेकानेक छोटे-बड़े ग्रन्थ भी अंग्रेजी में विषय-कोष तथा ज्ञान-कोष के रूप में उपलब्ध हैं—उदाहरणार्थ, बिहार पेजैण्ट लाइफ, कस्टम्स, ट्राइब्स ऐटसेटरा ऑफ यू० पी०, ए क्लासिकल डिक्शनरी ऑफ हिन्दू माइथालाजी एण्ड रिलीजन, ज्याग्राफी, हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर आदि। हिन्दी में पहली अवस्था में इनके अनुवाद या इनको भारतीय दृष्टि से संशोधित करके हिन्दी में रूपान्तर प्रकाशित किये जा सकते हैं। भारतीय संस्कृति का स्वरूप विश्व के 'इण्डोलाजिस्टों' भारत तत्व-विदों ने विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है, भले ही वह विकृत हो। अतः हम यह मानने को तय्यार नहीं कि विश्व-कोष के निर्माण का समय अभी देर से आयेगा। हमें यथार्थ में इधर लग जाना है। भारतीय विषय तथा ज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ भी देश-विदेशों में कहा गया है, उसे सङ्कलित करके उसे भारतीय दृष्टि से संशोधित करके विश्व-कोष प्रकाशित किया जा सकता है। किन्तु ऐसे सभी कोष तभी तैयार हो सकते हैं जबकि हिन्दी में क्रय-शक्ति बढ़े और ऐसे अध्यवसायी विद्वान हों जो लगन से कोष के कार्य में अनवरत लगे रहें।

यादवेन्दुजी का निधन—

आगरे के श्री रामनरायण यादवेन्दु हिन्दी के प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित लेखक थे। अभी २५ सितम्बर को क्षय रोग में उनका निधन हो गया। श्री यादवेन्दुजी का शरीर इतना अच्छा था और वे इतने स्वस्थ थे कि क्षयरोग में उनका अचानक निधन हो जायगा—इसकी कल्पना भी कोई नहीं कर सकता था। अपनी छोटी आयु में आपने हिन्दी में दसियों ऐसी पुस्तकें लिखी हैं जिनके कारण उनका नाम बहुत दिन तक भूलना कठिन है। राजनीति और नागरिक शास्त्र पर आपकी लेखनी अधिकार पूर्वक चलती थी। यों आपने पुस्तकें तो और भी अनेक विषयों पर लिखीं और अच्छी पुस्तकें लिखीं। उनके निधन से हिन्दी का एक अच्छा सेवक, एक कर्मठ लेखक उठ गया।

श्रीमती वर्मा की दक्षिण यात्रा—

श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री दिनकर, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री गङ्गाप्रसाद पाँडे का एक शिष्ट मण्डल अक्टूबर के महीने में १५ दिन तक दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों में घूमा और वहाँ की भाषा, संस्कृति और साहित्य का अध्ययन किया। श्रीमती वर्मा ने इस यात्रा से लौट कर जो वक्तव्य दिया है उसका एक अंश हम यहाँ देते हैं—

"क्या प्रकृति क्या कला और साहित्य और क्या जीवन सभी दृष्टियों से दक्षिण समृद्ध है, पर अभी तक उत्तर ने उसे वह आत्मीयतापूर्ण आदर नहीं दिया जो उसका प्राप्य है। आज यह अनिवार्य हो उठा है कि उत्तर के विद्यार्थी और लेखक दक्षिण की एक भाषा अवश्य सीखें और उस भाषा के महत्व-पूर्ण साहित्य को हिन्दी के पाठकों तक पहुँचाएँ। उत्तर के साहित्यकारों, कलाकारों, चिन्तकों आदि की दक्षिण-यात्रा और दक्षिण के साहित्यकारों, दार्शनिकों की उत्तर-यात्रा भी विचारों के आदान-प्रदान में सहायक होगी।"

साहित्य के मूलाधार

(भाव, विचार और कल्पना)

श्री रतनलाल परमार 'पत्रकार'

साहित्य का शाब्दिक अर्थ होता है—सामग्री। 'सामग्री' अनेक वस्तुओं की राशि का नाम है। जिस प्रकार से सामग्री अनेक वस्तुओं का अम्बार है उसी प्रकार से साहित्य का सर्जन सब प्रकार की शक्तियों के आधार पर होता है; अतः सृष्टि के मूल तत्वों को लोकोपयोगी बनाने के लिये उनका सम्मिश्रण आवश्यक रूप से कर लिया गया है। शब्द, अर्थ, रस, ध्वनि, लय, गति, छन्द, व्याकरण और अलङ्कार आदि—नाना प्रकार के साधन प्रसाधन प्रचुरता से साहित्य-संसार में भी तदर्थ ही उपलब्ध कर दिये गये हैं।

सृष्टि, असंख्य दृश्य अदृश्य वस्तुओं का समवेत स्वरूप है; किन्तु उसके मूल तत्व (मूलाधार) तो केवल पाँच (पृथ्वी, आकाश, जल, वायु और तेज) ही हैं जिनके आधार पर संसार का निर्माण हुआ है। साहित्य की भी अनेक शक्तियाँ हैं, किन्तु त्रिगुणों की भाँति (सत्, रज् और तम) उसके भी मूल तत्व केवल तीन ही हैं। साहित्य के मूलाधार (मूल तत्व) हैं—भाव, विचार और कल्पना। साहित्य का क्षेत्र संसार से भी अधिक विस्तृत एवं महान् है, किन्तु भाव, विचार और कल्पना की भूमिका (आधार) पर ही उसका संसार अवस्थित है।

मनुष्य ईश्वर का एक संक्षिप्त संस्करण है—'ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः (गीता, अ० १५ श्लोक ७) मनुष्य अपने इस लघु जीवन में जो कुछ क्रिया-कलाप करता है—कल्पना की जा सकती है कि ईश्वर भी बहुत कुछ वैसे ही काम करता होगा। मनुष्य ने साहित्य की सृष्टि-(संसार का भावरूप) भाव, विचार, और कल्पना के आधार पर की है, अतः ईश्वर ने भी अपनी सृष्टि की रचना करने के पूर्व भाव, विचार और कल्पनाओं की मनोभूमिका तैयार की होगी। यदि वेद अपौरुषेय हों, और वे ईश्वर-कृत भी मान लिये जाँय तो उनके लिये भी यह कहा जा सकता है कि वेदों की भूमिका (आधार) भाव, विचार और कल्पना ही रही होगी। वेदों की सृष्टि और साहित्य की सृष्टि का तो समान आधार मान ही लिया जाना चाहिये; किन्तु गहन और विस्तृत दृष्टि से सोचा जाय तो सभी प्रकार की सृष्टियों (भाव-रूप) का भी मूलाधार (मूलतत्व) भाव, विचार और कल्पना ही रहेगी।

साहित्य के अनेक स्वरूप हो सकते हैं; किन्तु उनको हम तत्वों (भाव, विचार और कल्पना) के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। वे तीन विभाग होंगे :—

१—भाव-प्रधान साहित्य,
२—विचार-प्रधान साहित्य,
३—कल्पना-प्रधान साहित्य।

(क) भावना-प्रधान साहित्य में गद्यगीत, कविता-काव्य, नाटक, शब्द-चित्र (रूपक) आदि का समावेश होगा।

(ख) विचार-प्रधान साहित्य में विज्ञान, दर्शन, नीति आदि के ग्रन्थों की गणना की जाती है।

(ग) कल्पना-प्रधान साहित्य में गल्प, उपन्यास आदि को सन्निहित माना जाता है।

साहित्य के उपर्युक्त (भाव, विचार और कल्पना) तीनों मूलाधार आत्मा की तीन प्रधान शक्तियों से परिचालित तथा संचालित होते हैं। भावों की अनुभूति हृदय से होती है तो विचारों की अनुभूति बुद्धि

से और कल्पनाओं की अनुभूति मस्तिष्क से होती है।

हृदयगम्य अनुभूतियाँ (भाव) अपेक्षाकृत सरस, रागात्मक तथा सहज-सरल होती हैं। अतएव वे अधिकांश प्राणी जगत का रञ्जन करती हैं। बुद्धिगम्य अनुभूतियाँ (विचार) उन्हीं सज्जनों को प्रसन्न कर पाती हैं जो बुद्धिजीवी हों अथवा चिन्तन-मनन करना जिन्होंने अपना व्यवसाय बना लिया हो। तीसरे प्रकार की अनुभूतियाँ (कल्पना) केवल उन प्राणियों को सन्तोष दे पाती हैं अथवा उन व्यक्तियों के लिए उपयोगी सिद्ध हो पाती हैं जो या तो विचित्र प्रकृति के हों अथवा जो मस्तिष्क का व्यायाम करना रुचि-कारक मानते हों।

मनुष्य, अनेक प्रकार की आदतों की एक गठरी मानी गई हैं; किन्तु उसमें जो गुण सबसे प्रधान होता है—उसी के आधार पर मानव के प्रकार का नामकरण किया जाता है। साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं महान् होते हुए भी वह प्रधानतः मनुष्य-समाज पर ही निर्भर है। मनुष्य की प्रधान शक्तियाँ तीन हैं जिनके आधार पर उसने अपने संसार का विस्तार किया है। मनुष्य की वे तीन प्रधान शक्तियाँ हैं :—

१—हृदय, २—बुद्धि और ३—मस्तिष्क।

संसार के सभी प्राणियों में और मनुष्यों में उक्त प्रकार की तीनों शक्तियाँ किसी न किसी अनुपात में अन्तर्हित रहती है। जिस मानव में जिस शक्ति का प्राधान्य होगा वह मनुष्य उसी प्रकार का कहलायेगा। जैसे—१ भावुक, २ विचारशील और ३ कल्पना-प्रधान।

मानव की तीन प्रधान शक्तियों के (हृदय, बुद्धि और मस्तिष्क) आधार पर ही साहित्य भी मुख्यतः तीन प्रकार हुआ है। साहित्य के कार क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्म और दुरूह होते चले

मानव-हृदय (भाव-पक्ष)—संसार की शक्तियों का जिस प्रकार से हमारे सम्मुख कोई दृश्य रूप नहीं है—उसी प्रकार से मनुष्य की शक्तियों का भी कोई दृष्टिगोचर रूप नहीं है। मानव-हृदय की शक्ति मनुष्य के ही शरीर में एक आश्चर्य है। हृदय की शक्ति, जीवन और चैतन्य का सबसे बड़ा प्रमाण है। सुख-दुःख और राग-विराग आदि की अनुभूतियाँ मानव अपने हृदय से ही करता है। हृदय की शक्ति, कोमल और सरल होती है, यह एक स्रोत की भाँति फूटकर बहती रहती है। जगत में मानव-समाज तथा अन्य प्राणी भी अधिकांश में हृदय की शक्ति से ही प्रभावित रहते हैं। यही कारण है कि मानव-समाज अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से आदिकाल से आज तक अधिक ऊपर नहीं उठ पाया है और उसके सम्मुख संसार को स्वर्ग बनाने की समस्या चिर नवीन ही है।

भाव हृदय से ही उद्भूत होते हैं, वे मन्दाकिनी के समान जीवन के तटों को सिञ्चित करते हुए निरन्तर अग्रसर होते रहते हैं। भावों की तरलता-सरलता जहाँ मन को आह्लादित करती है, वहाँ उनका अविरल प्रवाह हृदय में एक मधुर वेदना का भी अनुभव करता है। भावों का स्रोत जब हृदय में उमड़ता है तो अङ्ग-अङ्ग में विद्युत सी कौंध जाती है तथा शरीर की और मानस की समस्त शक्तियाँ जागृत होकर प्रकृति नटी की सरस क्रीड़ा का उत्सुकता से अवलोकन करने लगती है। भावों का जब हृदय में जन्म होता है तो नेत्रों को भी विशेष प्रकार की (अद्भुत्) ज्योति उपलब्ध हो जाती है और रुद्ध कण्ठ को वरद वाणी।

मुखरित भावों का एक सुन्दर उदाहरण लीजिए—

"जीवन में सुख अधिक या कि, दुख
मंदाकिनी कुछ बोलोगी!
नभ में नखत अधिक, सागर में
या बुद्बुद हैं गिन दोगी!
प्रतिबिम्बित हैं तारा तुम में,
सिन्धु मिलन को जाती हो

या दोनों प्रतिबिम्ब एक के—
इस रहस्य को खोलोगी ?"
—कामायनी (स्वप्न-सर्ग, पृष्ठ १४४)

'कामायनी' (श्रद्धा—मानव की आदि जननी) भावाभिभूत होकर मुखरित वाणी में निकट में प्रवाहित मन्दाकिनी से ही प्रश्न कर उठती है कि, जीवन में सुख अधिक है या दुख—क्या मन्दाकिनी तुम कुछ बोलोगी ? क्या तुम यह गिन दोगी कि, आकाश में नक्षत्र अधिक हैं या सागर, में बुदबुद ? मन्दाकिनी तुम में तो तारे प्रतिबिम्बित हैं और मिलने जा रही हो सिन्धु से ? यह क्या रहस्य है ? सागर और गगन, नक्षत्र और बुदबुद, जीवन और मन्दाकिनी—क्या ये सब एक ही वस्तु के प्रतिबिम्ब हैं ?

मनुष्य की बुद्धि (विचार पक्ष)—मनुष्य की बुद्धि मानव शरीर में एक चमत्कार है—प्रकृति की एक विचित्र शक्ति है। बुद्धि की प्रकृति तर्कशील रहती है। सद्-असद् का विवेक, बुद्धि का प्रधान विषय है। हृदय की मुख्य उपज भाव-जगत है तो बुद्धि का मुख्य उत्पादन विचारों का संसार है। भावों की अपेक्षा विचार अधिक सूक्ष्म और दुरूह होते हैं; अतः वे अपनी सृष्टि को मर्यादित रखते हैं। भावों का उद्रेक तो सरिता की भाँति होता है, किन्तु विचारों की शृङ्खला को अथवा भित्ति को एक एक कड़ी और एक-एक ईंट जोड़ कर बनाना पड़ता है। भावों का संसार जहाँ अधिकांश जन-समूह को अनुरञ्जित करने में समर्थसिद्ध होता है वहाँ विचार-जगत अपेक्षाकृत न्यून समाज को विचारशील व्यक्तियों को और बुद्धिजीवी प्राणियों को ही प्रसन्न कर पाता है। भाव आह्लादकारक होते हैं और विचार प्रसन्नता प्रस्फुटित करने वाले। बुद्धि, आत्मा का शारीरिक उपकरण है। यही कारण है कि उसका लोहा सभी प्रभावित जगत को मानना पड़ता है।

बुद्धि विचारों की जननी है। विचारों का बल मनुष्य के जीवन में एक विशिष्ट महत्व रखता है। भावों की अभिव्यक्ति साहित्य में जितनी सरल है—विचारों की अनुभूति उतनी वाणी-गम्य नहीं है। विचारों के प्रकाश ने सदैव भूले-भटके मानव जगत का मार्ग-दर्शन किया है। तेजस्वी बुद्धि अतल गहराई से भी विचारों के मोती खोज लाती है; अतः विचार स्वभावतः प्रौढ़ एवं गम्भीर होते हैं। भाव-शक्ति अपेक्षाकृत स्वभाव जन्य होने के कारण—वह जंगली जातियों में भी पाई जाती है किन्तु संस्कार जन्य बुद्धि सभ्य और सुसंस्कृत मानव-समाज में ही पाई जाती है। अस्तु उदाहरण के लिए निम्न-लिखित विचारों के सागर में गोते लगाइये—

"मैं यह तो मान नहीं सकता,
सुख सहज लब्ध यों छूट जाँय।
जीवन का जो संघर्ष चले,
वह विफल रहे हम छले जाँय।"
—कामायनी (ईर्ष्या—सर्ग, पृष्ठ १२१)

विचारशील मनु महाराज ने कामायनी से सगर्व (तेजस्विता से) कहा कि मैं यह नहीं स्वीकार कर सकता कि जो सुख सहज उपलब्ध हैं वे सरलता से ही हम से दूर चले जाँय और जगत में जीवन का जो संघर्ष चल रहा है वह असफल सिद्ध हो जाय और हम हार जाँय।

मनुदेव की उक्त बातों के पीछे कितने गम्भीर विचार हैं ? स्पष्टतः इन विचारों में जीवन, जीवन का उद्देश्य, जीवन का संघर्ष और सुख सम्बन्धी असंख्य तर्क और निश्चयों का जाल रहा होगा—जो सहज ही समझ में नहीं आ सकता। यह बुद्धि का विषय है कि वह अपने निश्चयों में प्रच्छन्न तर्क जगत का आविष्कार करे।

मानव का मस्तिष्क (कल्पना पक्ष)—मानव का मस्तिष्क शरीर में एक सुनियंत्रित यंत्र की भाँति परिचालित रहता है। मस्तिष्क, इन्द्र जाल अथवा गोरख धन्धे के समान प्रकृति की एक विचित्र सृष्टि

है। मनुष्य के जीवन के प्रायः सभी व्यवहार मस्तिष्क से ही अनुशासित होते हैं। मस्तिष्क, शरीर की सभी शक्तियों को सञ्चालित करता हुआ एक और व्यापार करता है जिसको "कल्पना" कहा जाता है। कल्पनाएँ उड़ते हुए बादलों की भाँति होती हैं। जो क्षण-क्षण में अपना रूप और आकार परिवर्त्तित करती रहती हैं। भाव एवं विचारों के ही समान कल्पनाएँ भी जीवन में एक मौलिक स्थान रखती हैं। मनुष्य-कृत संसार का सबसे बड़ा आधार कल्पनाएँ ही हैं।

मस्तिष्क शरीर के मूर्धन्य स्थान में उपस्थित है; अतः वह हृदय के सरस भावों और बुद्धि के तर्क-शील विचारों का भी कल्पनाओं के सृजन में उपयोग करता है। अधिकांश मनुष्य यह सोचते हैं कि कल्पाएँ निराधार होती हैं; किन्तु यह उनका निरा भ्रम है। विचित्रताओं के कारण ही कल्पनाएँ प्रायः निराधार मान ली जाती हैं, किन्तु वास्तव में संसार की कोई भी बात निराधार नहीं हो सकती। वैसे तो जगत की प्रत्येक कृति मूर्तिमन्त होने के पूर्व कल्पना (निराकार) के रूप में ही रहती है।

कल्पनाएँ सहजगम्य नहीं हैं; अतः वे मनुष्य को केवल आश्चर्य और स्मिति ही प्रदान कर सकती हैं और यदि कोई मानव गम्भीरता से चाहे तो कल्पनाएँ उसको अपने संसार में दूर-सुदूर तक क्षितिज के उस पार भी अबाध उड्डयन करवा सकती हैं।

कल्पना के साम्राज्य की एक झलक देखिये:—

"प्राची में फला मधुर राग
जिसके मंडल में एक कमल खिल
उठा सुनहला भर पराग।
जिसके परिमल से व्याकुल हो,
श्यामल कलरव सब उठे जाग।
आलोक रश्मि से बुने उषा,
अञ्चल में आन्दोलन अमंद।
करता प्रभात का मधुर पवन,
सब ओर वितरने को मरंद।
उस रम्य पलक पर नवलचित्र
सी प्रकट हुई सुन्दर बाला।
वह नयन महोत्सव की प्रतीक,
अम्लान नलिन की नवमाला।
सुषमा का मण्डल सुस्मित सा,
बिखराता संसृष्टि पर सुराग॥
सोया जीवन का तम विराग।"

—कामायनी (इड़ा—सर्ग पृष्ठ १३६)

प्रकृति के विचित्र यंत्र—मस्तिष्क ने कल्पना की कैसी ऊँची और लम्बी उड़ान भरी है?

पूर्व दिशा में एक प्रकार का नवीन मधुर राग विकीर्ण हो गया है जिसकी परिधि में स्वर्णिम पराग से युक्त एक कमल प्रस्फुटित हो उठा है। उस कमल का परिमल इतना मधुर गन्ध से परिपूर्ण है कि जिससे दिशि-विदिशि के सब राग-रागनियाँ (पक्षीगण की मधुर ध्वनि) की विवशता से झंकृत हो उठी हैं। आलोक की रश्मियों से ग्रंथित ऊषा के अञ्चल में सब ओर मकरन्द लुटाने के लिये प्रभात का मधुर पवन तीव्र आन्दोलन कर रहा है। उत्फुल्ल कमलों की नवमाला के समान एक नवल चित्र सी सुन्दर बाला उस परम रमणीय स्थान पर अवतरित हुई—यह शुभ अवसर नेत्रों के लिए एक महोत्सव था। उस सुन्दर बाला की प्रसन्न शोभा ने संसार पर प्रेम का साम्राज्य स्थापित कर दिया—जिसमें जीवन का धूषित विराग (निराशा) निद्राभिभूत हो गया।

मानव-समाज की चिरकाल से अभिव्यंजित शक्तियों का सुन्दर और सफल परिणाम साहित्य है, अतः वह समाज के लिए पूर्ण उपयोगी है। वस्तुतः साहित्य ने ही मानव को गौरवशाली, प्रतिष्ठित और सभ्य तथा सुसंस्कृत बनाया है। साहित्य, मानव-समाज को आनन्दित और आह्लादित भी

(शेष पृष्ठ २५० पर)

आद पद्मावती

श्री दशरथ शर्मा, डी० लिट्

१—हिन्दी साहित्य में राजकुमारी पद्मावती के अनेक आख्यान हैं। पद्मावत समय की पद्मावती समुद्र-शिखर गढ़ के राजा विजयपाल की पौत्री थी। दिल्ली नगर के एक सूए से दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज चौहन की प्रशंसा सुन कर वह अपनी सुध-बुध भूल बैठी। सूए के हाथ सन्देश भेज कर उसने पृथ्वीराज को समुद्र-शिखर बुलवाया। नियत समय और स्थान पर पहुँच कर पृथ्वीराज ने पद्मावती का हरण किया। राजा विजयपाल की सेना कुछ न कर सकी। चौहान सेना ने उसे हरा दिया।

२—जायसी के पद्मावत की नायिका सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री थी। उसके सूए का नाम हीरामन था। हीरामन के मुख से पद्मावती के सौन्दर्य-की प्रशंसा सुनकर चित्तौर का राजा रत्नसेन उस पर अनुरक्त हो गया। जोगी का रूप धारण कर वह सिंहलद्वीप पहुँचा; किन्तु उसके प्रेम की मात्रा इतनी अधिक थी कि वह पद्मावती को देखते ही मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। पद्मावती इससे निराश हुई और उसके हृदय पर यह लिखकर चली गई, 'जोगी तूने भिक्षा प्राप्त करने योग्य योग नहीं सीखा; जब फल प्राप्ति का समय आया तब तू सो गया।'* महादेव की कृपा से अन्ततः रत्नसेन और पद्मावती का विवाह हुआ।

३—पद्मिनी और हीरामन सूए की प्रायः इससे मिलती जुलती अनेक कथाएँ उत्तरी भारत में प्रचलित हैं।‡ प्रायः सभी में पद्मिनी सिंहल देश की राजकुमारी है।† सभी में एक सूआ सन्देशहर का कार्य करता है। नायक प्रायः कोई उत्तरी सम्राट् है।

४—पद्मावती के आख्यान की इस परम्परा का कब आरम्भ हुआ यह एक विचारणीय प्रश्न है। हम आचार्यवर श्री रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन ठीक नहीं मानते कि—"सिंहलद्वीप में पद्मिनियों का पाया जाना गोरखपन्थी साधुओं की कल्पना है।" सिंहलद्वीप की सभी स्त्रियाँ काली कलूटी नहीं होतीं। वहाँ भी सौन्दर्य है। गुरु गोरख में लगभग सात सौ वर्ष पूर्व महाराजाधिराज हर्ष-वर्धन ने सिंहल की राजकुमारी रत्नावली को इसी नाम से प्रसिद्ध अपनी नाटिका की नायिका बनाया था। शायद यही रत्नावली शनैः-शनैः हमारे हिन्दी साहित्य की पद्मावती में परिणत हुई हो। अनेक-शास्त्र-निष्णात मनुज-वाणी-युक्त शुक की कल्पना भी हर्ष के राज्य-काल में रचित कादम्बरी में वर्तमान है। किन्तु रत्नावली और कादम्बरी के समय में शुक, नायिका और नायक का वह सम्बन्ध स्थापित न हुआ था जो हमें पद्मावती के आख्यानों में प्राप्त है।

५—महापुराणों की रचना प्रायः गुप्त-काल से पूर्व पूर्ण हो चुकी थी। किन्तु उपपुराणों की रचना सम्भवतः इससे परतर काल में हुई है। कल्कि पुराण उपपुराण है। इसकी रचना का संवत् निश्चित् नहीं; किन्तु बहुत सम्भव तो यही है कि उसकी रचना उस समय हो चुकी थी जब हिन्दी के प्रथम युग का

---

* जायसी ग्रन्थावली, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, प्रस्तावना, पृष्ठ १४.

‡ देखें जायसी ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृ० २५

† पद्मावती समय में विजयपाल की राजधानी का नाम समुद्र-शिखर है, जिससे प्रायः किसी द्वीप के नगर का बोध होता है। शायद इस समय के रचयिता ने भी किसी सिंहलद्वीप की पद्मिनी की कथा के आधार पर अपने कथानक की रचना की हो।

आरम्भ हुआ। उसकी नायिका पद्मावती का आख्यान संक्षेपतः यह है*:—

पद्मावती सिंहलदेश के राजा बृहद्रथ की पुत्री थी। भगवान् शिव ने उसे वरदान दिया था कि नारायण उसका पाणि-ग्रहण करेंगे; अन्य पुरुष उसे कामभाव से देखते ही नारी बन जायेंगे। पद्मावती के स्वयंवर की रचना करने पर वास्तव में ऐसा ही हुआ। कल्कि को अपने सर्वज्ञ नाम के सूए से यह सब कथा ज्ञात हुई तो उन्होंने सूए को अपना सन्देश देकर पद्मावती के पास भेजा। सन्देश का उत्तर आने पर कल्कि स्वयं सिंहलद्वीप गये। जब पद्मा उनसे मिलने आई तो कल्कि सुख से एक कदम्ब के नीचे मणिवेदिका पर सो रहे थे। बृहद्रथ ने नियमानुसार अपनी पुत्री का कल्कि से विवाह किया।

६—यह कथा कई अंशों में पद्मावती की अन्य कथाओं से मेल नहीं खाता; किन्तु सिंहल देश की राजकुमारी पद्मावती, उत्तर देशीय नायक और सर्वज्ञ शुक, ये तीनों कल्कि पुराण में वर्तमान हैं। कल्कि और पद्मावती के विवाह-सम्बन्ध में जायसी के पद्मावत की तरह भगवान् शिव का हाथ है। कल्कि-पुराण की पद्मावती नायक को सोया पाती है। पद्मावत की पद्मावती को देखते ही नायक मूर्छित हो जाता है और नायिका यह समझ बैठती है कि वह सोया है, इन सब समानताओं को ध्यान में रखते हुए क्या यह मानना असंगत होगा कि कल्कि-पुराण की पद्मावती ही हमारी आदि पद्मावती है और सम्भवतः कल्कि-पुराण की ही यह कथा श्रुति-परम्परा से अनेक रूपों में फली-फूली है।

* देखें कल्किपुराण प्रथम खण्ड, अध्याय ३-७ और खण्ड २, अध्याय १-३।

(पृष्ठ २४८ का शेष)

करता है। साहित्य ने ही मानव को चिर क्रान्ति की ज्वाला और चिर सृजन की अमोघ शक्ति देकर संसार का नियन्ता एवं शासक बनाया है।

साहित्य अनन्त है; अतः उसमें अनन्त शक्तियाँ भी भरी पड़ी हैं। साहित्य की अनन्त शक्तियों में भाव (हृदय-पक्ष), विचार (बुद्धि पक्ष) और कल्पना (मस्तिष्क-पक्ष) के तीन तत्व मुख्य हैं और ये ही तीन मुख्य तत्व साहित्य के मूलाधार हैं। भाव मानव समाज के अधिकांश भाग को रागान्वित करते हैं तो विचार मानव समुदाय को अपने अनुशासन एवं नियन्त्रण में रखते हैं तथा कल्पना मनुष्य-जगत को जीवन के लिए सुदूर भविष्य में आशा का मधुर दीप टिमटिमाये रखती है। भाव अन्तर्जगत को प्रकाश में लाते हैं, विचार संसार के बिखरे हुये तत्वों को संग्रहीत करते हैं और कल्पना अपनी शक्ति का साम्राज्य क्षितिज के भी उस पार तक प्रस्थापित करती है।

विद्यापति का विरह-वर्णन

श्री फूलकुमारी माथुर

विरह वर्णन श्रृङ्गारिक कवियों का विशेष वर्ण्य रहा है। प्रेम में जो मुग्ध अभिसार है, उसकी तमिस्रा विरह में निर्मल हो जाती है। मिलन का सुख उत्कीर्ण प्रेम को विसुत कर देता है, सौन्दर्य निस्तेज होने लगता है और मनोभाव संकीर्ण। प्रिय के निकट रहने पर प्रतिदिन आनन्द की उमंगें तो द्विगुण होती हैं किन्तु नवीनता—कौमार्य जैसे प्रेम का उतर जाता है—नवनीत की सी स्निग्धता शुष्क होने लगती है। जीवन की इसी क्रमशीलता को, प्रेम की इसी अन्यमनस्कता को, भावों की कोमलता पर आच्छादित इसी कठोर आवरण को दूर करने के लिये कवियों ने विरह का सर्वाङ्ग वर्णन दिया है। कवि विद्यापति हिन्दी के प्रथम गीतिकार हैं। गीति काव्य का अन्तर स्वतः ही संगीतपूर्ण एवं मधुर होता है—उस पर भी प्रेम और राग का प्रकरण। विद्यापति का कोकिल कण्ठ कविता की अमराइयों में जैसे माधव ऋतु का संयोग पा गया है—उन्होंने जिस रस और जिस वाणी में गाया है, वह नितान्त मंजुल एवं कमनीय है।

विद्यापति का प्रेम लौकिक है अथवा अलौकिक यह अवसर्य विषय है, किन्तु उनका विरह वर्णन सर्वथा अपूर्व है। उसमें भावों की जैसी वेदना है—हृदय की जैसी व्याकुलता है—प्राणों की जैसी भाव-भूमिका है—तन्मयता और विस्मृति है, बारहवीं सदी की हिन्दी के लिये वह गरिमा की बात है और उस समय के कवि के लिये सर्वथा अभिमान की। हम विद्यापति को संस्कृत-साहित्य का ऋणी कह कर निस्तेज नहीं कर सकते। उनमें केवल छायानुवाद नहीं है, प्रभाव पूर्ण व्यञ्जनाशक्ति है, भावों को सांगोपांग अनुभूत करने की क्षमता है, और जिस रस का अर्चन उनके कवि हृदय ने किया है, उसको मुक्तकण्ठ से गाकर वे क्षमतापूर्वक जन मन के सम्मुख रख सके हैं।

विरह में मन और भाव बहुत निर्मल होते हैं। प्रेमी निकट नहीं होता है केवल उसकी स्मृति होती है। वही प्रेम और प्रेम-रस का आश्रय होती है। प्रेम की भावुकता विरह में और भी भावात्मक हो जाती है—व्यक्ति नहीं, व्यक्ति की स्मृति का सम्मोहन प्रेमी के प्राणों को विकल करता रहता है। अभाव त्रास देता है और त्रास की दारुण स्थितियाँ प्रेम को विरह का स्वरूप प्रदान करती हैं। प्रेमी जब निकट दिखाई नहीं देता तो निकट और दूर सभी स्थलों और उपकरणों में उसकी काया और छाया रूप और माधुर्य, गुण और आचरण के स्मरण-आरोपण से उसके भाव-दर्शन किये जाते हैं। वह आत्मरत होकर विश्वस्त हो जाता है और इस प्रकार विरह के प्रसंग में लौकिक प्रेम की साधारण व्यञ्जना स्वतः ही अलौकिक और असाधारण प्रतीत होने लगती है। भावों का उत्पीड़न आध्यात्मिक चिन्त्य और चैत्य प्रतीत होने लगता है।

विद्यापति के विरह वर्णन में भी काम दशाओं से प्रतीक ग्रहण किये जा सकते हैं। यों उन्होंने अपने नायक और नायिका का नामकरण जयदेव परम्परा पर किया है। राधा-कृष्ण भक्त सम्प्रदाय के मत से जीवात्मा और परमात्मा हैं—परमतत्व और जीव के सम्मोहन का रूपक भी विद्यापति के विरह पदों में आरोपित किया जा सकता है और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द उपलब्ध हो सकता है। किन्तु यह पेषणा किसी भी प्रकार कवि के व्यक्तित्व को अस्पष्ट नहीं होने देगी। विद्यापति का कवि रूप उनके भक्त-स्वरूप से सदा आगे रहेगा, क्योंकि वह मूलतः कवि थे—भावरसिक और भावानुयायी।

उनमें भक्तों के व्यक्तित्व का मौलिक अभाव था। क्योंकि भक्तों की सी तन्मयता और समर्पण; भावना तथा दीनता और विनय हम उनमें कहीं भी नहीं पाते हैं।

विद्यापति की नायिकाओं का विरह कृष्ण के उन्हें सोती छोड़ जाने से आरम्भ होता है। विद्यापति ने कृष्ण का मथुरा जाना तो स्वीकार किया है, और कुब्जा के प्रणय का भी संकेत करते हैं—किन्तु परम्परागत कथा के आधार पर उनका विरह आरम्भ नहीं होता। कृष्ण और राधा अथवा कृष्ण और गोपिकाओं का स्वरूप उनके सम्मुख बहुत स्थूल है। सम्भवतः 'राजा सिवसिंह रूपनरायन और लखिमादेवी' अथवा शिवसिंह और अन्य रानियों के व्यक्तित्व से अधिक विकसित व्यक्तित्व उनके कृष्ण और राधा का नहीं है। विरह के अतिरिक्त अन्य प्रकरणों में वर्णित उनकी राधा अथवा गोपिकाएँ संस्कृत कवियों की परम्परागत नायिकाओं के रूप में व्यक्त हुई हैं। कोई विप्रलब्धा है, कोई विरहोत्कंठिता, कोई कलहान्तरिता है और कोई खंडिता। अभिसारिका और वासकसज्जा भी उसमें अनेकों मिलती हैं। दूतियाँ भी अनेकों हैं—और सखियाँ भी। विद्यापति ने सर्वत्र प्रेम को लौकिक आचरण और मानवी आवरण प्रदान किया है—उनका प्रेम शरीर की स्वस्थ मांसल आवश्यकता है। उनके विरह वर्णन का स्वरूप ठीक रूप से समझने के लिए इस तथ्य को दृष्टि में रखना आवश्यक है।

कृष्ण नायिका को सोती छोड़ गये हैं—उसका नायिका को परिताप है। वह अपनी सखी से इसी दुख की बात कहती है:—

"एक सयन सखि सूतल रे,
आछल बालम निसि भोर।
न जानल कति खन तेजि गेल रे,
बिछुरल चकेवा जोर॥"

विरह और वेदना का आरम्भ यहीं से होता है कवि के पास पृष्ठभूमि में कोई कथानक नहीं है। कृष्ण कहाँ चले गये और क्यों चले गये उसे वह यथासाध्य बताने को प्रस्तुत नहीं है। कृष्ण क्यों चले गये इस तथ्य को तो उसने कहीं खोला ही नहीं है। वेदना का मर्म ही इतना गहरा और विस्तृत है—उसके सामने, कि उसे वही कहना और बारबार वही कहना इष्ट हो गया है। उसकी विरह विदग्धा किशोरियाँ और तरुणियाँ इतनी आकुल प्राय हैं—कि अपनी वेदना को असह्य मानकर वे प्राण त्यागने को तत्पर हैं। विरह ताप से चिता की अग्नि उन्हें कहीं शीतल और सुखकर प्रतीत होती है, परस्पर वे आवेदन और आग्रह कर रही हैं—

"विनति करओं सहलोलिनेर,
मोहि देह अगिहर साजि।"

स्थिरता व्याप्त होने पर उत्ताप कुछ मन्द होता है, और गम्भीरता तथा गरिमा हृदय की व्याकुलता को शक्ति प्रदान करती है। विरह की इस अवस्था में प्राणों में सजीव शून्यता उद्वेलित होती है:—जैसे कुछ संभार सा उठे, प्राणों में एक आलोड़न हुआ हो; सतर्कता से दृष्टि चौंककर किसी को देखने लगे—और किसी को न पाकर निराश लौट आये। विस्फारित नेत्र और कोलाहलपूर्ण मूक हृदय लेकर। प्रेम जब हृदय के इतने गहन स्तर में प्रविष्ट हो जाता है—तभी स्वप्न तन्द्रा और जाग्रति तथा विसुप्ति में भी प्रिय का सहज अवगाहन होने लगता है। प्रिय की मूर्ति नेत्रों में और नेत्रों का प्रकाश हृदय में उतर जाता है। विद्यापति की नायिका इसी अवस्था में स्वप्न में अपने प्रिय को खोकर अपने भाग्य को ग्लानि दे रही है;—

"सूतल छलहुँ अपन गृह रे
निन्दइ गेलउँ सपनाइ।
करसों छुटल परसमनि रे
कोन गेल अपनाइ॥"

तथा—

"सपनहु संगम पाओल,
रंग बढ़ाओल रे।

से मोरा बिहि बिछटाओल,
निन्दओ हेराएल रे ॥"

विरह में शरीर और प्राण दोनों अवसन्न हो जाते हैं। भूमा के समस्त उपकरण अपने साधारण धर्मों का कोई अर्थ—प्रभाव नहीं रखते प्रतीत नहीं होते। प्राणों में एक केवल पीड़ा का सञ्चार रहता है। और उस पीड़ा का कारण होता है एक निश्चित अभाव। प्रिय एक मात्र लक्ष्य होता है। उसकी प्राप्ति के उपरान्त ही समस्त सुखों या सुख के उपकरणों का मूल्य है और मान है। अन्यथा, चन्द्रमा की शीतलता, चन्दन का अंगलेप, मृगमद का सौरभ सब व्यर्थ हैं। उनसे कष्ट की वृद्धि ही और होती है। विद्यापति की नायिका को भी वे कितना संताप दे रहे हैं :—

"मृगमद चानन परिमल कुंकुम
के बोल सीतल चन्दा।
पिया विसलेख अनल जों बसिये,
विपति चिह्निए भल सन्दा ॥"

प्रिय को पाने अथवा उसके दर्शन की उत्कट काँक्षा रहती है। काग को भी निमन्त्रण और प्रलोभन दिये जाते हैं। साधारण विवेक बुद्धि भी उस काक वार्त्ता का उपहास करेगी, किन्तु दग्ध नायिका कितने प्रेमाकुल और आश्वासन के स्वर से काग से कह रही है :—

"काक भाख निज भाखह रे
पहु आओत मोरा।
खीर खाँड़ भोजन देब रे
भरि कनक कटोरा ॥"

विद्यापति का विरह दो प्रकार से निरूपित हुआ है। प्रथम में उनकी नायिकाएँ अपनी वेदना स्वयं व्यक्त करती हैं, दूसरे में उनकी सखी या कवि उनकी वेदना का वर्णन करता है। उनसे जहाँ नायिकाओं ने अपनी वेदना को स्वयं व्यक्त किया है वहाँ उनकी प्रेम विकलता, प्रेम विह्वलता, हृदय का घना हाहाकार, प्राणों की उलझन, प्रण तत्परता और अश्रुओं की लाचारी सर्वथा तीक्ष्ण आवेग में मिलते हैं। लक्षणा और व्यञ्जना से वे अपने दुख के कारण को प्रकट करती हैं—किञ्चित रोष कुब्जा के प्रति भी उनका होता है, और नायक कृष्ण को उपालम्भ भी मिलते हैं—कृष्ण की कठोरता पर नायिका लुब्ध भी होती है और जब वह यों कह कर अपनी प्रेम की दृढ़ता का परिचय देती है :—

"नखर खोआओलँ, दिवस लिखि लिखि
नयन अँधाओलुँ पिया पथ देखि।"

अथवा :—

"केतक जतन सों मेटिए सजनी
मेटए न रेख पखान।
जे दुरजन कटु भाखए सजनी
मोर मन न होय विराम।"

तो उनकी प्रेम-पणता पर अनायास आस्था हो जाती है—श्रद्धा से हृदय आप्लावित हो जाता है।

कृष्ण उन्हें सीता छोड़ गये हैं। उनसे प्रेम करके नायकाओं को परिताप है—"अपने कर हम मूड़ मुड़ाएल कानु से प्रेम बढ़ाई।"—फिर भी वे सर्वथा प्रेमरत हैं—कष्ट यह है कि उनसे "एक सरि भवन पिया बिन्दुरे, मोरा रहलो न जाय।" एक रात भी प्रिय के बिना काटे नहीं कटती क्योंकि 'मोर मन हरि हरि लय गेल रे, अपनो मन गेले।' कृष्ण उनके हृदय को अपने साथ ले गये हैं यही उनकी वेदना का मूल कारण है। कृष्ण के आने की प्रतीक्षा उन्हें उत्कट है। प्रेम के साथ यौवन का मूल्य भी वे जानती हैं। यौवन के उपकरण आत्मभोग के लिए नहीं, किन्तु प्रिय के उपभोग के लिए उन्हें प्रिय हैं—उन्हें वे सहेज कर रखना चाहती हैं। प्रिय का सत्कार उन्हें उन्हीं से करना है और यौवन है, कि अस्थिर है, सौन्दर्य प्रतिक्षण निस्तेज होता जाता है। कृष्ण की प्रेयसी को उसकी चिन्ता है। वह बार-बार इसी व्यग्रता में कहती हैं:—

"अंकुर तपन ताप जदि जारब,
कि करब वारिद मेहे।
इह नव जौवन विरह गमाओब
कि करब से पिया गेहे॥"

वह प्रिय के लौटने की आशा में है, अन्यथा प्रिय के बिना उन्हें यौवन सर्वथा कष्टदाय है। अपने यौवन की असार्थकता का कितना सुन्दर कथन उन्होंने दिया है:—

"सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन, तन बिनु जौवन
की जौवन प्रिय दूरे॥"

शृङ्गारिक उद्दीपन विरह में प्राणद्रोही हो जाते हैं। पावस ऋतु में दूसरों के पति और प्रेमी अपने-अपने घर आगये हैं—और नायिका का प्रेमी अभी नहीं लौटा, इस पर उसे कितना क्षोभ है—"सखि मोर पिया, अबहुँ न आओल कुलिस हिया।"—उस पर भी सूने मन्दिर पर अनङ्ग और इन्द्र के तीक्ष्ण शर।—नायिका कितनी विह्वल होकर कह रही है—

"सखि हे हमर दुखक नहिं ओर।
दूभर बादर माह भादर,
सून मंदिर मोर॥
झंपि घन गरजंति संतत
भुवन भरि बरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन,
सघन खर सर हंतिया॥
कुलिस कत सत पात मुदित
मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक,
फाटि जायत छातिया॥
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि,
अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कइसे गमाओब
हार बिना दिन-रातियाँ॥"

वर्ष की प्रत्येक ऋतु, ऋतु का प्रत्येक मास, मास का प्रत्येक दिन और दिन का प्रत्येक प्रहर—क्षण और पल विरहिणी को संतप्त करता रहता है। अपनी सुन्दरतम रूपराशि में प्रकृति सज्जित होती है—और विरहिणी का संताप गहनतम होता जाता है। उसे अपने जीवन की कोई आशा शेष नहीं रहती। प्रिय से निराश उसे प्राणों का मोह तो नहीं होता किन्तु लौकिक प्रेम की आस्था प्रिय के दर्शनों के लिए शरीर की स्थिति को अवश्य महत्व देती है। यही कारण है कि विद्यापति की विरह-विदग्धा नायिका अपनी मृत्यु की ओर भी बार बार संकेत करती है।

दूसरे प्रकार के विरह वर्णन में, जिसमें कवि ने स्वयं अथवा सखियों के द्वारा नायिकाओं और राधा की विरह दशा का वर्णन किया है। कवि की व्यञ्जना अधिक क्रमबद्ध और वेदना का संभार अधिक अर्जस्वित प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में वियोगिनी संसार से उदासीन केवल कृष्ण का—अपने प्रिय का नाम स्मरण ही करती रहती है। वह उनका गुण स्मरण नहीं करती। क्योंकि विद्यापति कथा गायक नहीं हैं—

"अधर न हास विलास सखी संग,
अहो नित जप तुम नामें।
जनि जलि-हीन मीन जक फिर इह,
अहो निति रहइह जागी॥"

और भी :—

"लोचन नीर तटनि निरमाने।
करए कलामुखि तथिहि सनाने।
सरस मृनाल करइ जप माली,
अहोनिसि जप हरिनाम तोहारी॥
× × ×
"जिब कर समिध समर कर आगी।
करति होम बध होए बह भागी॥
चिकुर बरहिं रे समरि करि लेअई।
फल उपहार पयोधर दे अई॥"

इस प्रकार की प्रेम साधना विद्यापति की वासकसज्जा और शुक्लाभिसारिका नायिकाओं में जाग्रत दिखाई देती है। योग के समय अनन्त भोग-उपभोग उन्होंने किया है, और अब प्रेम मार्ग के जटिल स्तर पर भी वे उतनी ही उत्साहप्राय है। अपने प्रिय के स्मरण चिन्तन के अतिरिक्त उन्हें और कुछ प्रिय नहीं है। वेदना और प्रज्ज्वलन में वे नितान्त क्लान्त काया और जीर्ण शीर्ण हो गई हैं, मानो शशिधर को मुख का सौन्दर्य, मृग को लोचन का लावण्य, चवँरि को केश राशि की कृष्णकान्ति और कोमलता दाड़िम को दशनों की आभा, अनंग चाप को भ्रू भंगिमा और प्रभृति को वे अपनी वाणी का राग समर्पित कर चुकी हों—और केवल क्षीण रेखा के समान शरीर शेष रह गया हो। जिसे प्रिय के दर्शन की अभिलाषा से वे जीवित रखे हुए हैं। लौकिक प्रेम की यह साधना भी ऐसी अपूर्व है, कि नितान्त अलौकिक सी प्रतीत होती है।

भाव जब घनीभूत हो जाते हैं, तो स्मृति और 'स्मृत' विस्मृति बन जाते हैं। हृदय में ऐसा आलोडन होता है, वेदना का सञ्चार इतना घना हो जाता है—कि चेतना अपनी दृष्टि खो बैठती है। 'स्व' तो लीन हो ही जाता है 'पर' का भी व्यक्तित्व खड़ा नहीं रह पाता। तब भावों के विभोर भावोदधि में केवल भावनाद ही सुन पड़ता है—अन्य शब्द नीरव हो जाते हैं। तन्मयता और आत्मविभोरता की यह दशा प्रेम की चरम दशा है। विद्यापति का विरह-वर्णन यहीं आकर समाप्त हो गया है, जब राधा अपने प्रिय कृष्ण के नाम-रूप स्मरण में तल्लीन होकर स्वयं को ही कृष्ण समझ लेती है, और 'राधा राधा' चिल्लाने लगती है, जब उसकी यह समाधि टूटती है तब कृष्ण के अभाव में वह और भी विकल हो जाती है। वेदना की भी यह मर्मतम अवस्था है—

अनुखन माधव माधव सुमरत,
सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल,
अपने गुन लुबुधाई ॥
माधव, अपरुब तोहर सिनेह,
अपने विरह अपन तनु जरजर।
जिबइत भेलि सन्देह ॥
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छलछल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि ॥
राधा सँय जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत
बाढ़त बिरहक बाधा ॥
दुहुदिसि दारु-दहन जैसे दगधई
आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान ॥

इस प्रकार विद्यापति का विरह वर्णन सर्वथा लौकिक होते हुए भी अपूर्व और अनन्य वेदना-पूर्ण है।

भ्रमरगीत परम्परा की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

श्री देवीशरण रस्तोगी एम० ए०

'भ्रमरगीत' ज्ञान मार्ग पर प्रेम मार्ग का विजय बोध है। केवल भागवत में जिस समय अन्त में उद्धव गोपियों को ज्ञानोपदेश करते हुए दिखाई पड़ते हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रेममयी-व्रज-बालाएँ ज्ञानी उद्धव के सम्मुख झुक गई हों अन्यथा प्रत्येक भ्रमरगीत के अन्त में किसी न किसी प्रकार से ज्ञानी उद्धव को हठीली गोपियों के सम्मुख माथा टेकता दिखाया गया है। सूर की ग्रामीण गोपिकाएँ हाथ धोकर उद्धव के पीछे पड़ जाती हैं। अल्हड़ जो ठहरी, जो जी में आता है, कह देती हैं। किसी का भय नहीं, किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं। इन वाचाल प्रेमिकाओं के व्यङ्गों और उपालम्भों की बौछार के सामने उद्धव जम नहीं पाते। अन्त में जब कृष्ण के सम्मुख पहुँचते हैं तो उनके मुख से निकल ही पड़ता है :—

> हौं पचि कहतो एक पहर में,
> वै छन माँहिं अनेक।
> हारि मानि उठि चल्यों दीन-
> ह्वै छाँड़ि आपनी टेक॥

नन्ददास की नागरियाँ लोहे से लोहे को काटती हैं। वह याचना के बल पर उद्धव से चुप लगाने के लिए नहीं विनती करतीं वरन् दार्शनिक तर्क-वितर्क द्वारा उसकी सिट्टी गुम करना चाहती हैं। रहीम, देव, पद्माकर तथा अन्य रीतिकालीन कवियों की गोपियाँ तो उद्धव को खूब पानी पी पी कर कोसती हैं। गुप्तजी तथा हरिऔधजी की गोपिकाएँ यद्यपि पूर्णरूप से आधुनिकाएँ बन चुकी हैं किन्तु उद्धव की आड़े हाथों खबर लेने के समय वह भी किसी से पीछे नहीं रह जातीं। 'रत्नाकर' की गोपियाँ कहीं पर तर्क और कहीं पर नारी-सुलभ वाचालता द्वारा उद्धव को छकाने का प्रयत्न करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक भक्त कवि ने डंके की चोट पर ज्ञानमार्ग की भर्त्सना की है। यहाँ पर प्रायः यह शंका हो जाती है कि क्या केवल प्रेम ही (रागात्मिका वृति) ही जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अपेक्षित है? क्या ज्ञान (बोध-वृति) ज्ञानी निकृष्ट है कि उसे सदा के लिए जीवन से निष्कासित कर देना चाहिए? क्या इसीलिए भक्त कवियों ने ज्ञान-मार्ग की इतनी कटु निन्दा की है? क्या उद्धव की पराजय का आशय यह है कि बुद्धि का भरोसा न करके जीवन की बागडोर हृदय के हाथों सौंप देनी चाहिए?

बात ऐसी नहीं है। वास्तव में रागात्मिकता को पकड़ बैठना तो उतना ही हानिकारक है जितना कि बोध वृति द्वारा जीवन के प्रत्येक मर्म को समझना। जो लोग आँख मूँद कर हृदय की गहराइयों में उतना चाहते हैं उनके वहीं खो जाने का डर बराबर बना रहता है। हृदय की ललक जीवन को गति प्रदान कर सकती है पर पथ-प्रदर्शन के लिए बुद्धि का ही पल्ला पकड़ना पड़ता है। क्षणिक आवेश के आधार पर किसी चिरन्तन सत्य की कल्पना नहीं की जा सकती। बिना सोचे समझे कीर्तन में सिर हिलाने वाले भक्तों की संख्या कम नहीं है और उनकी भक्ति भावना (विश्वास) पर भी सन्देह नहीं किया जा सकता पर फिर भी उनको 'आदर्श' मानने का दुस्साहस शायद ही कोई करे! इतना ही नहीं कोरी भावना भी जीवन के चारों ओर एक ऐसी अस्पष्टता का साम्राज्य फैला देती है कि अनः जाने में सारी प्रगति और कर्मण्यता उसके बन्दी बन जाते हैं। इसका परिणाम होता है—निष्क्रियता तथा निश्चेष्टता।

ज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार की निष्क्रियता की

सम्भावना अधिक रहती है। वास्तव में ज्ञान संशय उत्पन्न कर देता है और यदि यह संशय, जिज्ञासा बनकर मनुष्य को सक्रिय बनाए रखे तब तो वह जीवन के लिए सञ्जीवन बन जाता है और यदि 'जितना छाने उतना ही गन्दा हो' के अनुसार दुविधा के फेर में डाल दे तो फिर अत्यन्त घातक बन जाता है। ऐसे अवसर पर संशय विश्वास का शत्रु बन जाता है और तब किसी में विश्वास का अभाव हो जाए तो समझ लेना चाहिए कि उसकी प्रेरक शक्ति क्षीण होने लगी है। इस प्रेरक शक्ति अर्थात् लगन (प्रेम, विश्वास) के अभाव में सारा ज्ञान बाँझ हो जाता है, सारी योग्यता धूल में मिल जाती है और मनुष्य मिट्टी का ऐसा ढेर रह जाता है जिसकी अपनी कोई पसन्द नहीं, निर्णय नहीं, जीवन नहीं। ऐसे व्यक्ति पर कौन दया न करेगा जो दूसरों के इङ्गित पर हँसता है, दूसरों के संकेत पर रोता है और यहाँ तक कि दूसरों के कहने पर किसी चीज को भली या बुरी मानने लगता है।

इस प्रकार की घातक बुद्धि को भक्त-कवियों ने तो क्या ज्ञानमार्गी संतों तक ने दूर से ही प्रणाम किया है। वह ज्ञान जो जीवन को कार्य-शक्ति न प्रदान कर सके, बुद्धि का अभिशाप है। ऐसे अनुपयोगी बाँझ ज्ञान से तो सीधी-सादी सच्ची लगन कहीं अच्छी है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढ़ाई अच्छर प्रेम का, पढ़ै सु पंडित होय॥

वास्तव में बुद्धि मनुष्य का वास्तविक रूप भी नहीं है। मनुष्य तो बौद्धिक प्रयासों में प्रायः अपने व्यक्तित्व को बचाने का प्रयत्न करता है। देखा जाए तो बुद्धि वास्तविकता को छिपाने में जितनी चतुर है उतनी प्रकट करने में नहीं। मनुष्य का असली रूप तो उसके हार्दिक विश्वासों में प्रकट होता है और इसीलिए दार्शनिक शॉपनहायर ने स्पष्ट रूप से कहा भी है—Right action springs from the will, and not from the intellect for the true nature of man lies in his will. 'बुद्धि' में व्यक्ति का 'अहं' ही प्रकट होता है। भूल से भी इस वाह्य रूप को वास्तविक रूप न समझना चाहिए। सूफी कवि शब्सतरी ने बताया है कि जो मनुष्य बुद्धि को ही अपना वास्तविक रूप समझता है, अवश्य ही सूजन को मुटापा समझ रहा है—

बेरौ से ख्वाजा खुद रा नेक बेशनास।
कि न बुवद् फर बिही मानिन्दे आमास॥

बुद्धि जीवन में असन्तोष उत्पन्न करती है। यदि यह असन्तोष प्रेरणा बन जाए तो इससे अधिक उपकारी कौन सिद्ध हो सकता है। इसके सामने वह आत्म-सन्तोष जो मनुष्य को निश्चेष्ट कर दे, शाप है। प्रायः मनुष्य आत्म-सन्तोष की आड़ में अपनी पलायन तृप्ति को थपकने लगता है जिसका परिणाम होता है उसका जीवन के संग्राम में प्रत्येक पग पर पीछे हटते हुए कायरता और अन्त में आलस्य को निमन्त्रण देना। यह आलस्य और कायरता तनिक सा सहारा मिलते ही व्यक्ति के चारों ओर बड़ा मोहक निष्क्रियता का ताना-बाना बुनने लगते हैं। इसीलिए बुद्धि जनित उस दिव्य असन्तोष (Divine Discontent) की सभी विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। वहाँ तो यह वाक्य वेदवाक्य बन गया है—It is better to be dissatisfied than to be a satisfied pig, Socrates! पर क्या यह निरा असन्तोष जीवन को गति प्रदान कर सकता है? वस्तुतः जब विश्वास के बल पर व्यक्तित्व की कीली ठीक स्थिर होती है तभी जीवन का चक्र भली भाँति चल पाता है। यह न भूलना चाहिए कि क्षुद्र सी दीखने वाली यह भावनाएँ मानव जीवन का जीवन हैं। यदि इन्हें जीवन में उचित स्थान मिलता रहे तो कभी धोखा देती नहीं और जहाँ एक बार सन्तुलन बिगड़ा कि फिर चाहे विवेक घुटने टेक दे, यह वश में नहीं आती। भाव-

प्रवाह के एक झटके के आगे संयम के बड़े-बड़े बाँध पल भर में नष्ट हो जाते हैं।

योग-मार्ग में एक प्रकार से बुद्धि को ही सब कुछ मान लिया गया था। यद्यपि सन्त कभी-कभी बुद्धि के खोखलेपन से चिढ़कर 'दौं' तथा 'लगन' की बात करते थे पर फिर भी उन्हें 'ज्ञान' पर अधिक भरोसा था। भक्तों ने बुद्धि की एकांगिता की पोल खोल ही दी। उन्होंने बताया कि निरी बुद्धि (केवल ज्ञान) जीवन को सुघड़ और सुन्दर नहीं बना सकती, बुद्धि मनुष्य की चेतना को विश्राम देने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करती। वास्तव में बुद्धि के पास जीवन में ऐसी कोई सारवान वस्तु ही नहीं रह जाती जिस पर खड़े होकर मानव-चेतना आराम की सांस ले सके। उल्टा वह तो चेतना में ऐसी अप्रिय हलचल मचा देती है कि वास्तविकता का पता लगाने की चिन्ता में ग्रस्त मानव, जीवन की तह पर तह हटाता हुआ अन्त में खाली हाथ खड़ा रह जाता है, ठीक कदलि-दण्ड पर से एक-एक पत्ता उतार कर 'कुछ' पा लेने के लिए उत्सुक व्यक्ति की भाँति। ऐसे अवसर पर उसे अपने आप से (अपना वास्तविक रूप जो देख लिया—पशुवत्) जो घृणा होती है उसका सामना करने के लिए तैयार न रह सकने के कारण वह कभी तो घोर व्यक्तिवादी और कभी घोर स्वार्थी बन जाता है। कोरी निवृत्ति आखिर कहाँ तक चेतना को विश्राम दे सकती है—

त्यों 'पद्माकर' वेद पुरान पढ़यो,
पढ़िकें कछु बाद बढ़ायो।
दौरयो दराज में दास भयो पै
कहूँ बिसराम को धाम न पायो॥

यदि बिखरे हुए जीवन में फिर से आस्था उत्पन्न करने का प्रयत्न किया भी जाए तो उसमें पहले वाला लावण्य नहीं आ पाता। देखने में तो प्रायः यह आता है कि इस प्रकार चेष्टा करने से यह आस्था उत्पन्न नहीं हुआ करती। यदि बिगड़ी बन भी जाए तो जरा सी ठेस लगते ही झट से टूट पड़ने का भय बराबर बना रहता है। यदि टूटी को जोड़ भी ले तो गाँठ थोड़े ही कहीं जाती है—

बिरचि मन बहुरि राच्यो आप।
टूटी जुरै बहुत जतनन करि तऊ दोष नहिं जाय।
× × ×
दूध फटे जैसे भइ कांजी, कौन स्वाद करि खाय॥
—सूर

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावुकता की धारा में आँख-मीचकर गोते मारने में मग्न रहने वाला और विचारों के मरुस्थल पर सुख-शान्ति की खोज में बेतहाशा दौड़ लगाने वाला—दोनों एक ही पथ के पथिक हैं। जीवन के लिए तो हृदय और बुद्धि का सहयोग आवश्यक है। हृदय जीवन को रस दे, बुद्धि जीवन को इस रस का सदुपयोग करने का अवसर दे, यही सब कुछ है। भक्त-कवियों का अभिप्रेत भी यही हृदय तथा बुद्धि, प्रेम तथा ज्ञान का समन्वय था। बुद्धिवाद का खंडन करते समय उनके स्वर में स्थान-स्थान पर जो तीक्ष्णता आ गई है, वहाँ उस उग्रता से यही समझना चाहिए कि ज्ञान का सर्वथा परित्याग करने से कवि का आशय, बुद्धि के उस अतिशय प्रयोग से बचने का है जो जीवन को आलोकित नहीं करता वरन् उसकी जड़ें काटता है। इस प्रसङ्ग में अतिशय-बुद्धिवादिता के प्रतीक हैं उद्धव। जब गोपियों से हार का उद्धव स्वयं भी प्रेममय हो जाते हैं, तो वहाँ यही समझना चाहिए कि अतिशय बुद्धिवादिता ने अपनी पराजय स्वीकार करके राग (प्रेम) के लिए अपेक्षित स्थान छोड़ दिया है। प्रेममय हो जाने पर भावना बुद्धि को डुबा नहीं देती वरन् अनजाने में उसी से परिचालित होने के लिए उसके पास आ जाती है। मानो दो वियोगी जीवन को सुखी बनाने के लिए फिर मिल गए हों। आचार्य प्रवर भागवत कुमार ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में (The Bhagwat cult in Ancient India) इस प्रसंग की इस समस्या को सुलझाते हुए कहा है—An overflowing sentiment

प्रसाद और उनकी कामायनी

श्री आनन्दनारायण शर्मा एम० ए०

हिन्दी के जागरूक स्रष्टाओं में भारतेन्दु के बाद प्रसाद का ही स्थान आता है, जिन्होंने राष्ट्रभाषा के सभी आहत अङ्गों पर पट्टियाँ बाँधी। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य-गगन में प्रसाद का अभ्युदय भारतेन्दु के अस्त के लगभग तीन दशाब्दि बाद होता है, किन्तु कला और सन्देश का जहाँ तक प्रश्न है, वह निश्चय ही भारतेन्दु को काफी पीछे छोड़ जाते हैं। यदि भारतेन्दु में इन्दु की शीतलता और स्निग्धता है तो प्रसाद में अंशुमाली का प्रखरतम किरणजाल एवं जीवनप्रद स्वस्थता। भारतेन्दु केवल नवयुग का श्रीगणेश ही कर सके थे, कलात्मक निर्माण नहीं। वह काम प्रसाद द्वारा पूरा हुआ। प्रसाद इतना अजेय आत्म विश्वास लेकर आए थे कि आलोचनाओं का भीषणतम वात्याचक्र भी उनके मानस-जलधि में तनिक अशान्ति न ला सका और युग के हलाहल का पान करने पर भी उनके होठों से मुस्कराहट अन्त तक न गई। यहाँ उनकी ही सर्व-श्रेष्ठ कविता पुस्तक 'कामायनी'—जिसे 'रामचरित मानस' के बाद हिन्दी का दूसरा महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है—का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की जा रही है।

'कामायनी' मानवता के विकास का रूपक है। जलप्लावन की कथा और उससे बचे हुए आदि पुरुष की अनुश्रुति हमारे ही नहीं, अन्य देशों के

---

carries away all sense and sense activities in its impetuous rush. The tidal wave of a full emotion submerges reason but drowns it not. If it does not use to the surface, it works deep in the mind, and unconsciously guides emotion itself. 'कृष्णायन' में पंडित द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने इस तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—

बुद्धि भावना संतुलन, आई धर्म आधार।
नष्ट भावना आजु प्रभु, शेष बुद्धि व्यभिचार॥
चंचल मानस थिर न विचारा,
मन क्षण कछु क्षण अन्य प्रकारा।
आत्मघात पथ जनु बौरायी,
ध्येय विहीन रहे नर धायी॥
अनुचित ज्ञानोपासन नाहीं,
श्रद्धा बिनु न सार तेहि माहीं।
भक्ति सहाय लहत जब ज्ञाना
सकत तबहिं करि नर कल्याना।
सृजन शक्ति ताहि महँ होई,
प्रकटत प्रतिपल जीवन सोई।

तुलसी ने भी इस समन्वय की ओर संकेत किया था :—

······ ज्ञानहिं भक्तिहिं कछु नहिं भेदा।

वास्तव में भक्तों ने 'ज्ञान' से अधिक 'ज्ञानमार्ग' की निन्दा करनी चाही है। यदि निर्गुणी परम्परा सामाजिक जीवन में स्वेच्छाचरिता, धर्म के प्रति हर प्रकार का विरोध तथा अस्पष्टता, और साथ ही सब प्रकार के अध्ययन—अध्यापन के प्रति घृणा न फैला देती तो निश्चय ही भक्त कवियों का स्वर कभी भी इतना कटु न हो पाता। यही कारण है कि गोपियों के उपालम्भों तथा व्यंगों का आधार प्रायः ज्ञानमार्ग का व्यवहारिक रूप रहा है।

साहित्य की भी अक्षय निधि है। और यह देखकर तो सचमुच आश्चर्य होता है कि हमारे मनवंतर के प्रवर्त्तक मनु का नाम ग्रीक के माइनोस और मिश्र के म्युन्सियस से विचित्र साम्य रखता है। देवगण के उच्छृंखल विलास और निर्बाध आत्म-तुष्टि की जल-प्लावन में परिणति स्वाभाविक थी। यहीं नव-मानव युग के उद्भव की सूचना मिलती है। 'कामायनी' का कथानक विंदुशः संक्षेप में इस प्रकार है—

'जलप्लावन के बाद देव-सृष्टि का अवशिष्ट मनु (मनोमय कोश में स्थित जीव) अपने को अकेला देखकर अत्यन्त चिन्तित होता है। किन्तु क्रमशः ऊषा के आगमन के साथ उसमें आशा का सञ्चार होता है और प्रलय का जल फटने पर वह अग्नि-होत्र आरम्भ कर कर्ममयी देव-संस्कृति का आवाहन करता है। तभी अकस्मात कामगोत्रजा श्रद्धा (कामा-यनी) से उसकी भेंट होती है। श्रद्धा उसे तपमय जीवन से हटाकर ममता-सम्पन्न मानव-जीवन की ओर अग्रसर करती है। इसी समय काम के स्वर मनु को सुन पड़ते हैं और उसके मन में वासना जगती है। जलविप्लव से बचे हुए असुर पुरोहित किलात और आकुलि उसे पशुयज्ञ के लिए आमंत्रित करते हैं और मनु एक निर्भय कर्मकाण्डी के रूप में हमारे सामने आता है। श्रद्धा को इससे विरक्ति होती है। वह तब तक आसन्न प्रसवा हो चुकी थी। अतः वह भावी मानव के लिए एक सुन्दर लताकुञ्ज का निर्माण करती है। मनु श्रद्धा का प्रेम बँटता हुआ देखकर ईर्ष्या से जल उठता है और उसे अस-हाय छोड़कर चला जाता है। इसके बाद उसका परिचय सारस्वत प्रदेश की अधिष्ठात्री देवी इड़ा (बुद्धि) से होता है। इड़ा उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश का शासन-सूत्र मनु के हाथों में सौंप देती है। मनु इड़ा के सहयोग से कर्मों का विभाजन कर वर्ग-सृष्टि की नींव डालता है और व्यवसायात्मिका बुद्धि का चक्र द्विप्रतम गति से चलने लगता है। मनु सारस्वत प्रदेश का एक छत्र सम्राट बन जाता है। पर उसे इतने से भी सन्तोष नहीं होता। उसके मनकी निर्बाधित अधिकार-लिप्सा इड़ा को भी अपने बाहुपाश में जकड़ा हुआ देखना चाहती है। परिणाम में प्रजा का विद्रोह होता है, और प्रजापति मनु आहत होकर धराशायी होता है।

'उधर श्रद्धा, जो अबतक मानव की जननी बन चुकी थी, स्वप्न में मनु की इस विपन्नावस्था से परिचित होती है और वह उसे खोजती-भटकती सारस्वत प्रदेश पहुँचती है। घायल मनु को देखकर उसकी करुणा उमड़ पड़ती है। उसके स्नेहशील उपचार से मनु शीघ्र ही स्वस्थ होता है और उसका मन क्षोभ तथा पश्चाताप से भर आता है। वह एक रात सबको—श्रद्धा, इड़ा और मानव को—छोड़कर भाग निक-लता है। श्रद्धा पुनः उसकी खोज में निकलती है और उसे मन्दाकिनी के किनारे एक पर्वत-प्रदेश में तप करता हुआ पाती है। यहीं मनु को आनन्द में नृत्य-निरत नटराज के दर्शन होते हैं, जो संहार-सृजन की आह्लादपूर्ण लीला में तन्मय है। श्रद्धा मनु को भाव, कर्म और ज्ञान लोकों के दर्शन कराती है। उसकी मुस्कान से तीनों लोकों का समन्वय हो जाता है और मनु जीवन के अन्तिम रहस्य से अवगत होते हैं अन्त में इसी संविस्थल पर मनु और श्रद्धा आनन्द की अखण्ड साधना करते हैं, जहाँ उनके दर्शन को प्रजा सहित इड़ा और मानव आते हैं और प्रकृति के मादन दृश्य के साथ पटाक्षेप होता है।'

पुस्तक समाप्त करने पर जो दो बातें पहली ही दृष्टि में स्पष्ट हो जाती हैं, वे ये हैं—

(१) कवि की आस्था कथा की ऐतिहासिकता पर उतनी नहीं जितनी उसकी भावात्मकता पर है। इसलिए वह उसके इतिवृत्तात्मक विस्तार पर न ध्यान देकर सांकेतिक अभिव्यक्ति का ही पक्षपाती है, जो छायावादी काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता है।

(२) यह सारा काव्य एक विराट् रूपक है। "कामायनी की व्यक्त कथा जहाँ आदिम पुरुष मनु और उसकी आदि सहचरी कामायनी के संयोग से

मानवसृष्टि के उद्‌भव और प्रसार का इतिहास उपस्थित करती है, वहीं उसकी अव्यक्त धारा अहङ्कार की क्लेशमयी स्थिति से समरसता की आनन्दमयी स्थिति तक—मनोमय कोश से आनन्दमय कोश तक—का क्रम-विकास उपस्थित करती है।" (डा० नगेन्द्र—साहित्य-सन्देश) प्रसादजी ने अपने आमुख में स्वयं भी स्वीकार किया है—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है।"

'कामायनी' का नायक मनु है। वह मनोमय कोश में स्थित जीव के अतिरिक्त मनन शील मन का भी प्रतीक है—'मन्यते अनेन इति मनुः'। वेदों में मनु का उल्लेख भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है। कहीं उसे प्रजापति माना गया है, कहीं ऋषि, कहीं वन्य ओषधियों का प्रणेता और कहीं पिता। प्रसादजी ने उसे मुख्यतया चेतना के रूप में ग्रहण किया है। उसके मूल लक्षण हैं 'अहङ्कार' और 'अस्तित्व'—'मैं हूँ' तथा 'मैं रहूँ'। उपनिषदों में संकल्प-विकल्प को मनु की प्रजा कहा गया है। ये ही सङ्कल्प-विकल्प यहाँ अहङ्काररूपी मनु के सञ्चारी दिखलाए गए हैं। समग्र 'कामायनी' में मनु का चरित्र परिवर्त्तनों की स्थिति से आगे बढ़ता हुआ दिखलाई देता है। वह, एक तपस्वी से आरम्भ होकर क्रमशः कर्मकाण्डी, वर्गों के नियामक, प्रजापति आदि की सीढ़ियाँ पार करता हुआ अन्त में पूर्ण आनन्दवादी बन जाता है। इस प्रकार मनु में हमें मानव-प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण परिचय मिलता है। एक ओर वह अति भावुक है तो दूसरी ओर निर्मम तार्किक, कहीं विलासी तो कहीं उदासीन। वह मनुष्य की सत् और असत् प्रवृत्तियों का संघात रूप है। दीर्घ-लघु, कोमल कठोर, हृदय-बुद्धि, राग-विराग आदि सभी मानवीय विशेषताओं का मनु में सम्मिश्रण है। इसलिए उसका चरित्र इतना आकर्षक हो गया है।

पर 'कामायनी'—जैसा नाम से ही स्पष्ट है—पुरुष-प्रधान काव्य नहीं। पुरुष तो केवल माध्यम है। कथा का सूत्र वस्तुतः नारी पात्रों के—विशेषकर कामायनी के हाथों में रहता है। प्रसाद की सुकुमार नारियाँ वासन्ती वायु के सरस परस की भाँति जीवन को एक पुलक पुलक से भर कर अनन्त नीलिमा में विलीन हो जाती हैं। 'कामायनी' की नारी में प्रसाद की नारी-सृष्टि पूर्णता को प्राप्त होती है। कथानक की नायिका श्रद्धा हृदय-तत्व का प्रतीक है। उसका यह प्रतीकत्व ऋग्वेद-काल में ही स्वीकृत हो चुका था—'श्रद्धांहृदय्य याकूत्या श्रद्धय विन्दते वसु' प्रसाद ने भी उसे इसी रूपमें ग्रहण किया है—'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार।' इसके अतिरिक्त उसे कामगोत्रजा (कामायनी) कहा गया है। किन्तु यह 'काम' संकुचित 'सेक्स' का पर्याय न होकर अपने अत्यन्त व्यापक रूप में आकर्षण तथा चेतना के आत्म-विस्तार की समस्त क्रियाओं का मूलाधार है। शुक्लजी ने उसे ठीक ही 'विश्वासमयी रागात्मिका-वृत्ति' कहा है। 'उसका निर्माण अनन्त स्नेह, निश्छल सहृदयता और स्वाभाविक कोमलता से हुआ है। ममता उसकी अमोघ शक्ति है। उसमें हम चेतना की दीप्ति, हृदय का अनुराग-लावण्य एवं वात्सल्य का व्यापक वरदान पाते हैं।' (ग० प्र० पाण्डेय) उसमें प्रसाद के नारी का वह आदर्श चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ जो मल्लिका, देवसेना, मालविका और कोमा के माध्यम से पल्लवित हो रहा था। वह अमला इस संसृति में प्रेमकला का सन्देश सुनाने के लिए अवतरित हुई है—

"यह लीला जिसकी विकस चली,
वह मूलशक्ति की प्रेमकला।
उसका सन्देश सुनाने को,
संसृति में आई वह अमला॥"

इसके विपरीत इड़ा बुद्धि-तत्त्व का प्रतीक है, तर्कमयी प्रवृत्तियों की संपोषिका। जहाँ श्रद्धा अनन्त करुणामयी है, वहाँ इड़ा अनन्त प्रेरणामयी। श्रद्धा यदि कल्पना-सी कोमल है तो इड़ा यथार्थ सी परुष। श्रद्धा भावनात्मक है, इड़ा विचारात्मक। वह जीवन

की सरसता से अधिक उसकी अबाध गतिशीलता की पुजारिन है। मनोवृत्तियों का यही अन्तर उनकी आकृति में भी मुखरित हो उठा है। देखिए, यह है श्रद्धा—

"नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रङ्ग॥"
"या कि नव इन्द्र नील लघु शृङ्ग
फोड़कर धधक रही हो कान्त;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रांत।
घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास;
नील घनशावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुस्कान!
रक्त किसलय पर ले विश्राम;
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।
नित्य यौवन-छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।
उषा की पहली लेखा कान्त
माधुरी से भीनी कर मोद;
मदभरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-द्युति की गोद।
कुसुम कानन-अञ्चल में मन्द
पवन-प्रेरित सौरभ साकार:
रचित परमाणु पराग शरीर,
खड़ा हो ले मधु का आधार॥"

इस भावात्मक सहज, सरल आकर्षण के प्रतिकूल इड़ा का तिर्यक व्यक्तित्व है—

"बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल।
वह विश्वमुकुट-सा उज्ज्वलतम
शशिखण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।
दो पद्म-पलाश चषक-से दृग
देते अनुराग-विराग ढाल।
गुञ्जरित मधुप से मुकुल सदृश
वह आनन जिसमें भरा गान।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे
संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म कलश
वसुधा जीवन रस सार लिये।
दूसरा विचारों के नभ को था
मधुर अभय अवलम्ब दिये।
त्रिवली की त्रिगुण तरङ्गमयी,
आलोक-वसन लिपटा अराल।
चरणों में थी गति भरी ताल॥"

इस चित्रण में अन्य स्पष्ट अन्तरों के साथ एक यह भी प्रमुख अन्तर है कि कलाकार प्रसाद ने जहाँ श्रद्धा के वर्णन में छोटे द्विप छन्द का प्रयोग किया है, वहाँ इड़ा का चित्र लम्बे मंथर, गेय पद द्वारा प्रस्तुत किया गया है। श्रद्धा ने मनु के प्रति आत्म-समर्पण किया था, इड़ा उसे बन्दी बनाकर रखना चाहती है। श्रद्धा के समर्पण में त्याग की भावना थी, इड़ा के स्वागत में कार्य सिद्धि की साध है। वह शासन करने वाली है—'इड'मकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्' (ऋग्वेद)। इसीलिए वह मनु की वासनाओं को उपशमित करने के स्थान पर और भी भड़का देती है, और फलस्वरूप प्रजापति मनु का पतन होता है। लेकिन स्वार्थ परायण मनु के लिए इड़ा जहाँ अभिशाप-सी सिद्ध होती है, वहाँ श्रद्धायुत मानव के लिए वह वरदान-सदृश है। कामायनी स्वयं मनु को खोजने जाते समय इड़ा को अपना विश्वास पात्र समझ कर अपने कलेजे के टुकड़े मानव को उसे सौंपती है—

"हे सौम्य, इड़ा का शुचि दुलार;
हर लेगा तेरा व्यथाभार ।
यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय ॥"

इड़ा और कुमार का वह सहयोग हृदय और बुद्धि-तत्वों का सम्मिलन है और है नूतन मानवता के विकास का स्वस्थ शक्ति चिह्न !

प्रसादजी आनन्दवाद के पुजारी थे। उनके अनुसार शुद्ध निर्लेप चेतनता और आनन्द की प्राप्ति ही मानव का चरम लक्ष्य है। 'कामायनी' की रचना मानव-मन की उस सनातन साधना का परिणाम है जो आदिकाल से जीवन और जगत के अन्धकारमय अंश को विदीर्ण कर एक अमर सत्य और शाश्वत सुख की ओर अहर्निश, अविरत उन्मुख है। 'कामायनी' के मूल में जो आध्यात्मिक तत्त्व है वह शैवतत्त्व-ज्ञान के आनन्द तत्व पर आधारित है और उसकी विवेचना कवि की मौलिकता है। दर्शन सर्ग के अन्त में प्रसादजी ने मनु को नटराज के दर्शन कराए हैं। काव्य की दृष्टि से नर्त्तित नरेश का साकार रूप अन्तर्जगत की उपलब्धियों की दृष्टि से आनन्द-स्वरूप चैतन्यात्मा की पावन अनुभूति का क्षण है, जिसमें वह परमतत्व के रहस्य से अवगत होता है। नटराज भारतीय आध्यात्म और दर्शन की विलक्षण कल्पना है। आध्यात्म और दर्शन की भूमि पर जिसे भारतीय मस्तिष्क ने आनन्द-स्वरूप चैतन्यात्मा कहकर स्वीकार किया था, उसे ही कला और संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय हृदय ने सृष्टि-सङ्गीत के गायक जगनाट्य प्रवर्त्तक नटराज के रूप में मूर्त्त कर दिया है। नटराज के दर्शन से मनु के हृदय के अज्ञानान्धकार का नाश हो जाता है और प्रकाशस्वरूप 'चिति' शक्ति जागरित होती है। यही 'चिति' शक्ति अपने आविर्भाव-तिरोभाव रूपी दोनों पदों से सृष्टि का उन्मेष-निमेष (सृजन-संहार) करती रहती है— 'सा एकापि युगपदेव उन्मेष-निमेषमयी' (स्पन्द-सन्दोह क्षेमज)।

आगे चलकर रहस्य सर्ग में श्रद्धा मनु को भाव, कर्म और ज्ञान लोकों के दर्शन कराती है। भावलोक का रङ्ग रागारुण है और वहाँ बराबर रङ्गीन तितलियाँ घूमा करती हैं। उसमें पञ्चतन्मात्राओं की सम्मोहिनी है, माया पाश बिछाकर जीवों को फाँसती रहती है। कर्मलोक श्यामल गोलक की तरह है, जहाँ नियति प्रेरणा बनकर सबों को नचाया करती है। वहाँ सङ्घर्ष है, कोलाहल है, विकलता है। वहाँ केवल स्थूल साकार पञ्चभूतों की उपासना होती है। अन्तिम ज्ञानलोक उज्ज्वल है, जहाँ बुद्धि का चक्र निर्ममता से चलता रहता है। वहाँ अनास्था है, शङ्का है, तृष्णा है और दम्भ है। वहाँ विज्ञान द्वारा अनुशासित शास्त्र शास्त्र-रक्षा में पलते हैं। वहाँ के सारे विधि विधान सामञ्जस्य के स्थान पर विषमता और ध्वांत ही फैलाते हैं। मनु ही नहीं, वर्त्तमान मानव-जीवन के पराभव का भी यही रहस्य है कि मन की ये तीनों वृत्तियाँ—भाव कर्म और ज्ञान—पृथक्, प्रायः विपरीत दिशाओं में प्रवहमान हैं—

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके-
यह विडम्बना है जीवन की ॥

श्रद्धा की मुस्कान एक ज्योतिरेखा बनकर तीनों ज्योतिष्पिण्डों को मिला देती है, जिसके परिणाम-स्वरूप मनु के सारे क्लेश, सारी विडम्बनाओं का अन्त हो जाता है। यही पौराणिक त्रिपुरदाह की वैज्ञानिक-काव्यात्मक व्याख्या है। और इसके बाद श्रद्धायुत मनु पूर्ण आनन्द में लीन हो जाते हैं। प्रसादजी ने दिखाने की चेष्टा की है कि 'श्रद्धा और विज्ञानमयी बुद्धि, दोनों के सुविकसित रूप का सुन्दर सामञ्जस्यपूर्ण समन्वय मानवजीवन का चरम कल्याणमय आदर्श है। इस आदर्श की आराधना वैयक्तिक मानव के जीवन को 'अहम्' की ऐकांतिक विकार-जनित विकृति से मुक्त करके राग-विराग

समन्वित सामूहिक जीवन की मङ्गलमय चेतना में एक रूप बनकर लय हो जाने की प्रेरणा देती है।' (गङ्गाप्रसाद पाँडेय) यही 'कामायनी' का सन्देश है।

यहाँ एक आपत्ति आचार्य शुक्ल ने उठाई थी कि श्रद्धा जब रति और काम की जाया है अर्थात् जब उसकी स्थिति भी भावात्मक है तो उसका अस्तित्व भाव, कर्म और ज्ञान तीनों से पृथक कैसे सम्भव हो सकता है? पर प्रसाद ने श्रद्धा को केवल हृदय (लिबिडो) का ही नहीं, अपितु आस्तिक बुद्धि का भी प्रतीक माना है। वह नारी-भावना की पूर्णता की द्योतक है। कवि के ही शब्दों में—

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में ॥"

'कामायनी' छायावाद की अन्यतम कलाकृति है। यह एक अकेली रचना सम्पूर्ण छायावादी मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। 'कामायनी' में प्रकृति का जितना विशाल चित्रपट प्रस्तुत किया गया है, उतना सम्भवतः हिन्दी के किसी दूसरे कथा-काव्य में नहीं—'मानस' में भी नहीं। सारी रचना में प्रकृति अपने नाना रूपों में सामने आती है। कहीं उसका शुद्ध काव्यात्मक रूप है, कहीं रहस्यात्मक—सांकेतिक। वह आलम्बन बनकर भी उपस्थित है, कथासूत्र का आधार बनकर भी। पुस्तक का आरम्भ प्रलय के भयङ्कर चित्र से होकर अवसान एक अतीन्द्रिय ऐश्वर्य शाली दृश्य में होता है। इनके अतिरिक्त 'कामायनी' में सैकड़ों मादक, उत्फुल्ल, हासोज्ज्वल, विराट् चेतन प्रेषणीय चित्र—सब एक से एक—यत्र-तत्र बिखेर मिलेंगे। प्रसादजी ने प्रकृति का उपयोग अलङ्कार रूप में उपमान जुटाने के लिए भी किया है। सुन्दर उपमानों की मदिर मादिकता से 'कामायनी' का पृष्ठ-पृष्ठ सुरभित है। उसमें मधुचर्या का अतिरेक है, जिसके कारण मूल संदेश कुछ दब-सा गया है। प्रकृति के जिन अंशों तथा रूपों का प्रसाद ने सांश्लेष्ट आयोजन किया है, वह हिन्दी को उनकी अपनी देन है। प्रसाद प्रकृति के कवि हैं। उनकी तूलिका प्राकृतिक चित्रों का सफल तम अंकन कर सकती है। उनके चित्र सजीव हैं, गत्यात्मक, सौंदर्यपूर्ण।

प्रसाद की शैली की विशेषता है उसकी मादकता, सम्पन्नता, मनोवैज्ञानिकता, स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रवृत्ति, संस्कृतमयता और कहीं-कहीं तज्जनित जटिलता। बाबू श्यामसुन्दरदास का यह कथन कि ससीम रूप सौन्दर्य भी उनके निस्सीम हृदय में आकर उन्हें निस्सीम सौन्दर्य की ओर ले जाता है, उनके लिए अक्षरशः सही है। प्रसाद की कल्पना की उड़ान बहुत ऊँची होती है और सुन्दरता के चयन में उसका अद्वितीय स्थान है। उन्होंने मनोनुकूल कथा के सूत्रों में परिवर्तन किया है, जिससे काव्योत्कर्ष में पर्याप्त अभिवृद्धि हो गई है। पर 'कामायनी' में कल्पना की ऊर्ध्वापगामिता दोष की सीमा तक जा पहुँची है; इसीलिए साधारण पाठक उसका आनन्द लेने से वञ्चित रह जाता है। विशेषकर 'लज्जा' सर्ग में तो कल्पना को इतना प्रमुख स्थान मिल गया है कि रस-निष्पत्ति में बाधा पहुँचने लगती है। एकाधिक स्थलों पर यही कल्पना-वैभव कथा के कल्पना-को कुण्ठित कर देता है। 'कामायनी' के कल्पनाधिक्य के विषय में शुक्लजी का यह अभिमत विचारणीय है "यदि हम इस विशद काव्य की अन्तर्योजना पर ध्यान न दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूँढ़ें; श्रद्धा, काम, लज्जा, इड़ा इत्यादि को अलग अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यञ्जना की अत्यन्त मनोरम पद्धति आती है। प्रसादजी प्रबन्ध क्षेत्र में भी छायावाद की चित्र-प्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशा बँधा गए हैं।"

—(हिन्दी साहित्य का इतिहास)

प्रेम के प्रति प्रसादजी का दृष्टिकोण बड़ा ही

स्वस्थ है। वह उसे न एक दम त्याग कर चलते हैं, नहीं अश्लीलता की सीमा तक उतर आते हैं। 'कामायनी' में प्रेम न भक्त कवियों के प्रेम की तरह इतना ईश्वरोन्मुख है कि वह संसार को अपदार्थ, अयथार्थ और त्याज्य समझने लगे, न रीतिकालीन कवियों की तरह वासना कलुषित है। वहाँ लौकिकता में अलौकिकता के दर्शन होते हैं। 'कामायनी' में प्रेम के तीनों रूप—सात्विक, राजस् और तामस। उपस्थित हैं। श्रद्धा का प्रेम सात्विक है, इड़ा का राजस् और मनु का तामस। इस प्रकार तीनों सतकों के एकत्रित हो जाने से एक ऐसी नैसर्गिक मूर्च्छना आ गई है जो अन्यथा असंभव थी।

भाषा की दृष्टि से भी 'कामायनी' में बहुत-सी नई भंगिमाएँ मिलेंगी। उसमें व्याकरण की नियमबद्धता नहीं, पर कोमलता है, ध्वन्यात्मकता है और भावों का वह आरोह-अवरोह है जो एक साथ ही हृदय और मस्तिष्क दोनों पर गहरा प्रभाव डालता है। 'कामायनी' द्विवेदी युग की घोर इतिवृत्तात्मकता और रूढ़िबद्धता के ध्वंसावशेष पर खड़ी एक अभिनव कलाकृति है। यह उन लोगों के लिए एक चुनौती है जो खड़ी बोली को रूक्ष, मार्दवहीन और अकाव्योपयोगी मानते रहे। प्रसाद की लेखनी अपरिचित वस्तुओं का भी मानस-चित्र सफलता से अङ्कित कर देती है। उसमें अभिधा शक्ति से बहुत अधिक लक्षणा और व्यञ्जना से काम लिया गया है। उपचार-वैक्रता उसकी विशेषता है। आरम्भ से अन्त तक वह तत्समता प्रधान है। प्रागैतिहासिक वातावरण की सृष्टि के लिए उसमें 'इड़ा', 'सोमलता', 'पुरोडाश', 'लोध्र', 'अश्वानर', 'अलंबुषा' जैसे एकांत वैदिक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। अलंकारों में पुराने अलंकार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीपों की तो भरमार है ही, नये पाश्चात्य अलङ्कार विशेषण विपर्यय, अमूर्त्त-संस्थापन, मानवीकरण प्रभृति का भी कम प्रयोग नहीं हुआ है। प्रसाद कवि होने के अतिरिक्त नाटककार भी थे। अतः उन्होंने कथानक को स्थल-स्थल पर नाटकीय मोड़ दिए हैं, जिससे प्रभाव की प्रेषणीयता कहीं अधिक बढ़ जाती है।

फिर भी कामायनी को शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'महाकाव्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह ठीक है कि उसका विभाजन सर्गों में हुआ है, उसमें आठ से अधिक (पन्द्रह) सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में छन्द बदलते गए हैं। साथ ही वह प्रेम और उपेक्षा से भरी कहानी है, जिसका पर्यवसान शान्तरस में होता है और उसका नायक उदात्त है। किन्तु जिस विशिष्ट शैली में उसकी रचना हुई है, उसमें चाहे उसका संदेश कितना भी महान् हो, वह महाकाव्य न रह कर एक विशाल गीतिकाव्य मात्र रह जाती है। उसकी गीतिमत्ता जहाँ छायावादी दृष्टिकोण से एक प्रधान गुण है, वहीं उसके महाकाव्यत्व को भी आहत करती है। उसका वह गीत—

"तुमुल कोलाहल कलह में,
मैं हृदय की बात रे मन!"

एक ओर यदि हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठतम गीतों में स्थान पाने का अधिकारी है तो दूसरी ओर शास्त्रज्ञों की दृष्टि से दोष भी बन जाता है। फिर उसका मनोवैज्ञानिक रूपक इतना जटिल है कि वह कथा-सूत्रों को पूर्ण विकसित नहीं होने देता। उसके अधिकांश पात्र (मनु को छोड़ कर सभी) अशरीरी से लगते हैं। जगह-जगह मानसिक प्रवृत्तियों के उद्घाटन (चिन्ता, काम, वासना, लज्जा) कथा के प्रवाह को विच्छिन्न कर देते हैं। और अन्तिम बात यह कि उसका जन-जीवन से बहुत दूर का सम्बन्ध है। वह कभी लोक-रुचि के परिष्कृत हो जाने पर भी, जनता का हृदय-हार बन सकेगी, यह सन्देहास्पद है। लेकिन इतनी अधिक सतर्कता दिखलाने पर 'रामचरित मानस' को भी महाकाव्य मानने से इन्कार करना पड़ेगा। कामायनी नई हिन्दी कविता की शक्ति का प्रतीक है।

देवताओं की छाया में—एक अध्ययन

(हिन्दी में एकांकी, उसका विकास एवं उसकी लोकप्रियता)

प्रो० विनयकुमार गुप्त एम० ए०

एकाङ्की नाटकों का जन्म आधुनिक युग की आवश्यकताओं के फलस्वरूप हुआ है। आज जीवन एक भाग-दौड़ के समान हो गया है। मानवता दुस्तर से दुस्तर मार्ग से होकर अपना जीवन यापन कर रही है। जीवन की जटिलताओं एवं समस्याओं के सुलझाव के उधेड़बुन में ही उसका अधिकांश समय जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में समष्टि का एक स्थान पर बैठकर अनवरत रूप से अभिनय देखना एक टेढ़ी खीर है। अतः एकाङ्की नाटकों में ही उसे अल्पातिअल्प समय में अधिकाधिक मनोरञ्जन प्राप्त हो जाता है और जीवन की थकान का अवसान हो जाता है।

संस्कृत में भी छोटे-छोटे नाटकों का निर्माण होता था, जिन्हें कुछ अंशों में एकाङ्की कहा भी जा सकता है। भाण, व्यायोग, वीथी, गोष्ठी, रासक आदि एक प्रकार से एकाङ्की ही हैं। पर हिन्दी एकाङ्कियों का विकास इनसे न होकर, अंग्रेजी एकाङ्कियों की प्रेरणा के फलस्वरूप हुआ है। सर्व-प्रथम योरोप में आधुनिक एकाङ्की नाटक का उपयोग कर्टेन-रेजर के रूप में किया गया। जिस प्रकार सिनेमा में प्रमुख सिनेमा के पहिले या मध्य में ट्रेलर दिखाया जाता है, उसी प्रकार मुख्य नाटक के पहिले कर्टेन-रेजर दिखाए जाते थे। आगे चलकर बीसवीं शताब्दी में एकाङ्की नाटक ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व निर्माण कर लिया एवं वह भी एक कला की वस्तु बन गया।

एकांकी नाटक की कला के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। डाक्टर रामकुमार वर्मा के मतानुसार उसमें "एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कुतूहल का सञ्चय करती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसङ्ग नहीं रहता।" श्री उदयशङ्कर भट्ट के शब्दों में, "एकाङ्की नाटक में जीवन का एक अंश, परिवर्तन का एक क्षण, सब प्रकार के वातावरण से प्रेरित घटना का झोंका व्यक्त ह । है।" प्रो० नगेन्द्र लिखते हैं—"इसमें केवल एक ही दृश्य होता है, अतः स्थान और समय के ऐक्य का भी पूरा-पूरा निर्वाह हो जाता है। एक घटना, एक अनुभव या एक परिस्थिति अथवा एक दीप्त क्षणवाली बात।" इसमें होती है। वस्तुतः इसमें एक-एक वाक्य और एक एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र इने गिने ही होते हैं जिनका नाटक की घटना से चोलीदामन का साथ होता है। इसमें अनावश्यक पात्रों का धकम धक्का लेशमात्र भी नहीं होता। प्रत्येक की रूप रेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की तरह खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलाने की उच्छृङ्खलता नहीं। कथावस्तु स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है। कथावस्तु का प्रारम्भ, चरम सीमा और अन्त बिना किसी शैथिल्य के स्वाभाविक रूप से हो जाता है।

हिन्दी में एकाङ्की नाटकों का जीवन अधिक लम्बा नहीं है वरन् बीस वर्ष के लगभग है। यदि हम नाटक-सम्राट श्री जयशङ्करप्रसाद के 'एक घूँट' को एकाङ्की-कानन का प्रथम पुष्प कहें तो कोई अनौचित्य नहीं। तदनन्तर डाक्टर रामकुमार वर्मा ने एक कुशल माली के रूप में इस कानन में कई सुन्दर सुन्दर पौदे लगाए। टेकनीक की दृष्टि से 'सप्तकिरण' में संग्रहीत सातों एकाङ्की उत्तम हैं। वर्माजी ने अपने

एकाङ्कियों में शिक्षित व्यक्तियों के चारित्रिक द्वन्द का चित्रण किया है। इनकी 'रेशमी टाई' और 'चारुमित्रा' नामक एकाङ्की नाटकों के दो सुन्दर संग्रह हैं। इधर हिन्दी के कई अच्छे कवियों और नाटककारों ने कुछ एकाङ्की नाटक लिखे हैं जिनका एक अच्छा संग्रह 'आधुनिक एकाङ्की नाटक' के नाम से प्रकाशित है। इसमें श्री सुदर्शन, रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा, धर्मप्रकाश आनन्द, उदयशङ्कर भट्ट के क्रमशः राजपूत की हार, दस मिनट, स्ट्राइक, लक्ष्मी का स्वागत, सबसे बड़ा आदमी, दीन तथा दस हजार नाम के नाटक संग्रहीत हैं। सेठ गोविन्ददास, 'प्रेमी', जैनेन्द्र, कमलाकान्त, 'उग्र', 'अवस्थी' आदि ने भी अच्छे एकाङ्कियों का निर्माण किया है। भुवनेश्वर मिश्र के 'कारवाँ' एकाङ्की ने भी एकाङ्की नाट्य-साहित्य क्षेत्र में यथेष्ट ख्याति पाई है। यद्यपि अभी एकाङ्की नाटकों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है किन्तु आशा है कि निकट भविष्य में इसका पूर्णरूपेण अभ्युत्थान होगा।

'अश्क' जी एकाङ्की नाटककार के रूप में—नाटकीय साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल योरप अपितु भारत के लेखक भी एकाङ्की नाटकों की रचना में सन्नद्ध हैं। एकाङ्की प्रासाद को सुन्दर पच्चीकारी से युक्त करने में श्री रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, उदयशङ्कर भट्ट, श्री अश्क एवं विष्णु प्रभाकर मुख्य हैं किन्तु जिस कुशलता एवं विद्वता से अश्कजी ने अपनी लेखिनी की तूलिका से इस प्रासाद की मीनाकारी की है वह असाधारण है। प्रासाद के एक एक ईंट पत्थर पर उनकी कुशलता की मुहर लगी है। इनकी इस कुशलता का एक मात्र कारण 'स्वर्ग की झलक' नाटक के प्रस्तावना की विचार धारा है। उस प्रस्तावना में आपने एकाङ्की नाटक के उद्देश्य एवं प्रेरणा पर युक्ति-संगत प्रकाश डाला है। 'आज हम एक परिवर्तन-काल (Transitional Period) से गुजर रहे हैं, और अपने अतीत का गुण गान करने के बदले हमारे लिए आवश्यक है कि हम अपने भविष्य की भी चिन्ता करें। समाज की कुरीतियों को दूर करके उसे स्वस्थ बनाते हुए उन्नति के पथ पर ले जावें। साथ ही यह देखें कि एक अतिरेक से निकलकर वह दूसरे अतिरेक में तो नहीं जा पड़ा और इसलिए आवश्यक है कि हम समाज की विभिन्न समस्याओं को छूने वाली रचनाओं का सृजन करें, फिर चाहे वह कथाएँ हों, उपन्यास हो अथवा नाटक।'

अश्क जी के लगभग दर्जन एकांकी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। 'देवताओं की छाया में' नामक पुस्तक में उन्हीं एकाङ्कियों में से सात एकांकियों का अभूतपूर्व संकलन है जिसमें नाटककार की प्रतिभा का सिक्का पूर्ण-रूपेण अङ्कित है। इस सङ्कलन में क्रमशः इस प्रकार से एकाङ्की नाटक है ? 'देवताओं की छाया में', 'जोंक', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'अधिकार का रक्षक', 'विवाह के दिन', 'पहेली' और 'आपस का समझौता' (प्रहसन)। इसके अतिरिक्त आपके अन्य एकांकियों में 'चरवाहे', 'चुम्बक' और 'खिड़की' आदि प्रसिद्ध हैं। अश्कजी के अधिकांश एकांकी सामाजिक हैं जिसमें समाज के सड़े गले अङ्ग पर विशद विवेचन है, और परोक्ष रूप से उनके परिष्कार करने का भी सफल प्रयास है। इतना ही नहीं उनके एकाङ्कियों को देखकर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वे यथार्थवाद के मार्ग के पथिक हैं। आदर्शवाद की चिकनी चुपड़ी बातों के घटाटोप में वह अपनी कला का गला नहीं घोंटना चाहते। उनके एकाङ्कियों में जीवन का नग्न रूप परिलक्षित है। उसमें जीवन की कर्कशता, निर्ममता, कठोरता और वास्तविकता है। उनके एकाङ्कियों में उन समस्याओं का तांता सा लगा है जो मानस पटल को वेदना की ज्वाला से प्रज्वलित कर देती हैं! उनमें एक तड़पन, एक कसक है। 'लक्ष्मी का स्वागत' एकांकी में माता-पिता की इच्छाओं के सामने

पुत्र की इच्छाओं का किञ्चित मात्र भी मूल्य नहीं। अपनी स्वप्निल अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए पुत्र की विषम परिस्थितियाँ नगण्य हो जाती हैं घर में बेचारा अरुण (रौशन का पुत्र) जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है, उसका जीवन-दीप अब तब बुझने ही वाला है, किन्तु फिर भी रौशन के माता पिता बहू प्राप्त करने की अभिलाषा से पुत्र का विवाह कर डालना चाहते हैं। इसी प्रकार 'अपना समझौता' भी आधुनिक शिक्षा पर अचूक एवं चुटीला व्यंग्य है। 'डिग्रियाँ' लेकर वे भी जीवन भर उसके लिए रोते रहे।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में लेखक को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। पात्रों एवं नाटककार का चरित्र एकाकार हो गया है। पात्र देवलोक एवं कल्पनालोक के न होकर इसी लोक के, हमारे आपके बीच के हैं। उन पात्रों से स्वयमेव अनायास ही आत्मीयता की अनुभूति होने लगती है। अश्कजी के पात्रों में चेतनता, सजगता, एवं मानसिक द्वन्द्व है। वे मिट्टी के खिलौने नहीं और न पत्थर की निर्मम मूर्तियाँ। वे हँसना एवं रोना दोनों जानते हैं। उनमें मसोस एवं प्रफुल्लता दोनों समान रूप से व्याप्त हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि उनकी वाणी मुखरित होने वाली है।

कथोपकथन भी बड़े मर्मस्पर्शी एवं चुटीले हैं। उनका प्रभाव तीर के समान सीधे मानस-पटल पर होता है। इनकी विशेषता के कारण ही पात्रों एवं घटनाओं का विकास नैसर्गिक रूप से होता जाता है। कथोपकथन को यदि अश्कजी के एकांकियों का प्राण कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं। उनमें प्रवाह, गति और तीर के नोंक की सी तीव्रता पाई जाती है। भाषा के संसार में भी लेखक अजनबी नहीं प्रतीत होता। बस वह ऐसी भाषा से कोसों दूर है जो कि जन-समाज की भाषा नहीं, जिसे हृदयङ्गम करने के लिए मत्था खुरचना पड़ता है। वह Art for art Sake 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त का पुजारी नहीं वरन् कला जीवन की, जीवन के लिए है—का पुजारी है। यही कारण है कि वह कला के पीछे जीवन के मधुर क्षणों को क्लिष्ट भाषा की सान पर रौंदता नहीं। इसके अतिरिक्त उनके नाटकों में एक विशेषता यह है—नाटकीयता में भी कहानी की-सी रोचकता, जिसके कारण नाटक एक बार प्रारम्भ किया जाकर फिर नहीं छोड़ा जा सकता।

श्री अश्कजी के एकाङ्कियों में जो सबसे अधिक रोचक और आवश्यक वस्तु पाई जाती है, वह है उनके एकाङ्कियों की अभिनेयता। उनके शब्द ही इस विषय के लिए पर्याप्त हैं—

"देवताओं की छाया में अश्कजी के उन आरम्भिक नाटकों का संग्रह है, जिनकी दिलचस्पी और लोकप्रियता आज दस वर्ष बीत जाने पर भी अक्षुण्ण बनी हुई है। बीसियों संग्रहों में संकलित होने और बीसियों बार आल इण्डिया के विभिन्न स्टेशनों से प्रसारित होने पर भी "लक्ष्मी का स्वागत" अभी तक नया है और उसकी माँग बराबर जारी है। "जोंक" तथा "अधिकार का रक्षक" इसी संग्रह के दो नाटक अभी गत वर्ष इलाहाबाद ही में खेले गए हैं।"

वस्तुतः अश्कजी उस पारस के समान हैं जो किसी भी सामाजिक कुरीति के लोहे को छूकर सोना बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। उनके विषय में यह जो कहा गया है कि "भारत के नाटककारों में अश्क एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। उन्होंने एकाङ्की को जहाँ से लिया, वहाँ से उसे कहीं ऊँचा उठा दिया। न केवल उसे आधुनिक कला से वेष्ठित किया वरन् उसमें आधुनिक विचारों का अति आधुनिक ढङ्ग से प्रतिपादन करके, उसे साहित्य का महत्वपूर्ण अङ्ग बनाया। एक के बाद एक ऐसे सुन्दर और कलापूर्ण एकाङ्की उन्होंने लिखे जो संसार की किसी भी समृद्ध भाषा के एकाङ्कियों के सम्मुख रखे जा सकते हैं।" वह बिल्कुल युक्ति संगत है।

(१) देवताओं की छाया में—श्री अश्कजी ने इस एकाङ्की को अपनी पुस्तक में सर्वप्रथम स्थान दिया

है और इसी नाम पर ही इस नाटक का नामकरण हुआ है:—"देवताओं की छाया में।" इस एकाङ्की में लेखक का मूल उद्देश्य गाँव और नगरों के आपसी सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली कुभावनाओं का वर्णन है जिसे कि उसने बड़ी सफलता के साथ प्रदर्शित किया है। सादिक भरी के विषय में यह कहने लगता है, 'मैं इसे पर्दा न करने दूँगा,' 'मैं इसे सैर करने ले जाया करूँगा,' 'यह कुछ पढ़ती नहीं' आदि, वहाँ पर उसके द्वारा गाँव के अन्दर से धीरे धीरे खिसकने वाली मनोवृत्तियों का भी वर्णन बड़े ही सीधे शब्दों में करता है, जो धीरे-धीरे समस्त गाँव में फैलती चली जा रही थी।

प्रस्तुत एकाङ्की में गगनचुम्बी अट्टालिकाओं एवं इन्द्रसदन को मात करने वाले विलास के उपकरणों से सुसज्जित देवताओं के ऊपर मीठा व्यंग्य है जिनके प्रासाद की नींव दाने दाने एवं चिथड़े चिथड़े के लिए मुहताज मजदूर समाज की हड्डियों एवं पसलियों पर आधारित है। किस प्रकार से असहाय, पददलित, मूक एवं निरीह जनता की खून की कमाई से देवताओं की जेब गरम होती है—इसका भी विशद विवेचन इसमें है। वस्तुतः यह एकाङ्की एक व्यंग्य है, पर दुखान्त। यह भारत की वह ट्रेजेडी है जिसने एक गाँव नहीं, पर धीरे धीरे नब्बे लाख गाँवों को इसी आग में झुलसा दिया है। कथानक नितान्त स्पष्ट एवं सीधा सादा है किन्तु उसके क्रोड़ में एक भयङ्कर समस्या है कि देवताओं की छाया में हमारा जीवन पानी के बुल्ले के समान बालकों के घरौंदे एवं वेश्या के प्रेम की भाँति अस्थायी और असुरक्षित है। न जाने उनकी व्योमस्पर्शिनी अट्टालिकाओं ने कितनी माताओं की गोदी को सूना कर दिया, न जाने कितने ललनाओं के सिंदूर बिन्दु को नष्ट कर दिया और न जाने कितने घरों में ताले लगा दिये। पता नहीं कितनी कब्रों और चिताओं पर हमारे देवताओं की नगरियाँ बसी हैं।

इस एकाङ्की में अश्कजी ने गृहस्थ जीवन का भी मार्मिक चित्र खींच डाला है जो भरी के साथ नहीं हुई, रज्जू उनको अकेला नहीं करता, किन्तु वह तो सब घरों में दिन प्रति दिन होती है। इसमें नारी हृदय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है। वे किस प्रकार कल्पना के सहारे उड़ती हैं—इसका बड़ा हृदयस्पर्शी चित्रण लेखक ने किया है। मरजाना भावुक कल्पनाओं की जीती जागती पुतली है। असहाय, बेबस, पद-पद पर लाँछित एवं अपमानित, पर्दे में कैद युवतियों की भावनाओं का भी प्रकाशन इसमें हुआ है। लड़कियों की बेबसी पर भरी ने कितनी वेदना प्रकट की है। "हम लड़कियाँ हैं, हम अपनी इच्छा से हँस नहीं सकती, बोल नहीं सकती, हिल-डुल नहीं सकती। चाहे जी में घुट-घुट कर मर जायें।"

भाषा की कसौटी पर एकाङ्की खरा उतरा है। भाषा सरल, सुबोध एवं सहज बोधगम्य है। भाषा के वनस्थली में घूमने से काँटों के चुभ जाने का भय नहीं। वातावरण की सी स्वाभाविकता स्थल पर पाई जाती है। इसमें अभिनेयता के भी गुण हैं। किन्तु एक दोष है कि कथोपकथन लम्बे और अनावश्यक हैं। इन कथोपकथनों में आधे से अधिक तो रज्जू ने ही ले रखे हैं। शैली की दृष्टि से भी नाटक सफल है। यह एक दुखान्त व्यंग्य है जिसका निर्वहण श्री अश्कजी ने बड़ी कुशलता से किया है।

(२) लक्ष्मी का स्वागत—यह एकांकी 'देवताओं की छाया में' सर्व श्रेष्ठ है। प्रस्तुत संकलन का यह मेरुदण्ड है। देवताओं की छाया में—एकाङ्की—प्रासाद का 'लक्ष्मीका स्वागत' वह प्रधान शिला (key-stone) है जिसके निकाल देने पर एकाङ्की प्रासाद भग्न हो जाता है। यह अश्कजी की सामाजिक ट्रैजेडी है। आधुनिक युग का यह एक महान रोमांस है। इसमें जो करुण पुकार, हृदय विदारक टीस है कि वह अशनि सम हृदय में भी अनवरुद्ध रूप से करुण लहरी का सञ्चार कर देता है। वस्तुतः इसमें लेखक ने एक सुन्दर प्रश्न उठाया है।

"क्या विवाह ही दुनियाँ में सब कुछ है ?" इस प्रश्न का समाधान भी नाटककार ने अपने जीवित पात्रों द्वारा सफल रूप में कराया है। इस प्रश्न का हल नितान्त स्पष्ट है। जीवन में विवाह की रंगरेलियों का ही महत्व नहीं है। वैवाहिक अर्गला में आबद्ध हो वर-वधू एवं माता पिता नश्वर जीवन का वैभव लूटें—यही जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। निर्मम, कठोर एवं पाषाण हृदय हो अबोध बालक की टीस पर, उसकी अस्वस्थता पर विवाह का स्वप्न-प्रासाद निर्मित करना मानवता के कितने प्रतिकूल है ?

अरुण जो कि रौशन का एकमात्र पुत्र है अत्यधिक बीमार है। उसकी जीवन-कलिका किसी भी समय म्लानित हो टूक टूक हो सकती है। इस बीच में रौशन की स्त्री के प्राण-पखेरू भी पयान कर जाते हैं। युवक रौशन हर तरह से चिन्ता की उर्मियों से त्रस्त है। पूर्व-पत्नी सरला का बिछोह एवं एकलौते पुत्र अरुण को रोग शैया पर देख रौशन के हृदय में व्यथा का एक बवंडर खड़ा हो जाता है। किन्तु विधि का विधान तो देखिए कि जहाँ रौशन के हृदय में वेदना की भट्ठी सुलगती है वहीं उसके माता-पिता के हृदय में अरुण के रोग की भयङ्करता का जूँ तक नहीं रेंगता। एक के हृदय में निराशा का असित अन्धकार था तो माता पिता के हृदय में अभिनव बधू को प्राप्त करने की अत्यधिक उमङ्ग थी। रौशन के हृदय में हैं, जीवन की अनुभूतियाँ। वह तड़पते हुए भोले शिशु को देखकर पागल हो जाता है और बरबस उसके मुख से यही शब्द निकलते हैं, "दुनियाँ का व्यवहार इतना निष्ठुर, इतना निर्मम, इतना क्रूर ? नहीं जानता कि जो मर जाती है वह भी किसी की लड़की होती है, किसी के लाड़ प्यार में पली होती है" पुनः वह कहता है। "शादी, शादी, शादी ? क्या शादी ही दुनियाँ में सब कुछ है ? घर में बच्चा मर रहा है और तुम्हें शादी की सूझ रही है।" और साथ ही वह अपने भावी ससुर रामप्रताप को भी आड़े हाथों लेता है। लेकिन पिता अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए पुत्र की इच्छाओं को ठुकरा देता है, "तो मैं शगुन लेरहा हूँ। इस वर्षा, आँधी, तूफान में उन्हें अपने घर से निराश नहीं लौटा सकता। घर आई लक्ष्मी का निरादर नहीं कर सकता।" इस वाक्य में अश्कजी ने समाज के पतन का बड़ा ही नग्न चित्र खींचा है।

प्रस्तुत एकांकी में समाज के पूँजीपतियों एवं वैभव में मदान्ध समाज की भी अश्कजी ने खूब धज्जी उड़ाई है। धन के मद में चूर्ण समाज अपने चाँदी के टुकड़ों से सभी को मोल लेने का प्रयास करता है। ऐसे आदमियों की अश्कजी ने रौशन के द्वारा भर्त्सना कराई है। रौशन की स्त्री को मरे अभी चार ही दिन हुए कि सेठ रामप्रताप अपनी बिटिया का शगुन लेकर आ बैठा। इस पर रौशन सेठजी को खूब जली कटी सुनाता है, 'तुम रामप्रताप को मुझसे मिलाती हो ? अपढ़ अशिक्षित गँवार ? उसके दिल कहाँ है ? महसूस करने का मादा कहाँ है ? वे जानवर हैं।"

विषय की दृष्टि से यह एकाङ्की बड़ा ही सफल रहा है। कथानक रोचक, सरल एवं नवीन है। कथा-वस्तु दुखान्त है। एकांकी कला की कसौटी पर प्रस्तुत एकाङ्की तपाए हुए स्वर्ण के समान खरा उतरता है। कथोपकथन में अपूर्व शक्ति है। उसमें मार्ग की शिलाओं को चूर्ण करती हुई प्रबल वेग से बहती हुई सरिता जैसा प्रवाह और शक्ति है। इस एकाङ्की के वाक्य बिहारी के दोहों के विषय में कहे हुए इस सत्य का—"सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर, देखन में छोटे लगैं घाव करें गम्भीर" अक्षरशः प्रतिपादन करते हैं। वाक्यों की चोट हथौड़े की चोट से भी भीषण और गम्भीर है। भाषा सजीव एवं गतिशील है जिसमें लेखक सरलता से अपने विचारों को प्रकट कर समाज के कोने-कोने में उसकी गूँज को ध्वनित कर सकता है।

निस्सन्देह इस एकाङ्की को 'अश्क' जी ने बड़ी

कुशलता से लिखा है। यह 'अश्क' जी के अश्कों की नींव पर ही बढ़ा हुआ है। यद्यपि पात्रों की बहुलता नहीं है, किन्तु फिर भी इने गिने पात्र स्वतः पूर्ण हैं। वे अपनी कहानी स्वयं कहते चलते हैं। इसमें लेखक ने भावुकता एवं नीरसता, निर्ममता का द्वन्द्व कराया है। रौशन भावुक हृदय का प्रतीक है तो रामप्रताप, रोशन के माँ और बाप निर्ममता के प्रतीक हैं। इनके चरित्रों में ही 'लक्ष्मी का स्वागत' की झलक और भी दीप्त हो उठी है। सुरेन्द्र बीच की लड़ी है। एक ओर वह रौशन के माता पिता को भी मानता है और दूसरी ओर उसे रौशन पर भी पूर्ण विश्वास है। वह भी रौशन की परिस्थितियों को जानता है। शैली की दृष्टि से भी नाटक सफल रहा है। यह एक समस्यात्मक दुखान्त नाटक है। इसमें समाज की कुप्रथाओं का भंडा फोड़ दिन दहाड़े ही किया गया है।

अतएव यह निर्विवाद है कि एकांकी कला की कसौटी पर यह एकांकी पूर्ण रूपेण खरा उतरता है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह मई १९३८ में लिखा गया था किन्तु इतना पुराना होने पर भी अभी तक नित नवीन है।

(३) अधिकार का रक्षक (व्यंग्य)—'अधिकार का रक्षक' श्री अश्कजी का एक सामाजिक व्यंग्य है। यह नाटक समाज के एक सड़े गले फोड़े की ओर संकेत करता है और देश के नेताओं की छीछालेदर करता है। श्री सेठजी के समान दुधारी तलवार से खेलने वाले नेताओं की हमारे समाज में कोई भी कमी नहीं है। सेठजी को प्रत्येक क्षण असेम्बली की सदस्यता का भयंकर भूत त्रस्त करता रहता है। सदस्यता प्राप्त करने के हेतु वह आकाश और पाताल के कुलावे मिलाता है। वह अपने से बढ़-बढ़कर बातें बनाना जानता है। वह आधुनिक युग के अधिकार लोलुप मेम्बरों की जीती जागती तस्वीर है जो कि अन्दर एवं बाह्य से नितान्त भिन्न है। उसके कथन और कार्य में आकाश पाताल का अन्तर है। वह किसी मूल्य पर असेम्बली का सदस्य बनना चाहता है। इस मृग मरीचिका को प्राप्त करने के लिए उसके हृदय में उचित अनुचित, सत्य असत्य का लेश मात्र भी अंश नहीं रह जाता। समस्त मानवता के अधिकारों की रक्षा करने का बीड़ा स्टेज पर उठाता है और उन्हीं का खण्डन अपने घर में करता है। जनता से वोट प्राप्त करने के हेतु 'अधिकार का रक्षक' उनके स्वत्व की सम्पूर्ण रक्षा का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर वहन करने का दम भरता है। वह मूक, निस्सहाय, निरीह जनता की वाणी, पद दलित एवं अपमानित नारी समाज का वकील, विद्यार्थी समाज का पथ-प्रदर्शक बनने के लिए मार करता है। एक ओर वह फोन पर मजदूर वर्ग के अधिकारों की रक्षा और वेतन-वृद्धि का दम भरता है, और हर प्रकार से उनके आँसुओं को पोंछने के लिए अपने को प्रस्तुत रखता है, वहाँ पर दूसरी ओर वह अपने घर में नौकरों का छः छः माह का वेतन अपनी तिजोरी में छिपाए बैठा है। यदि भूल से नौकर अपना अधिकार माँग भी बैठता है, तो अधिकार का रक्षक उस पर चोरी का अभियोग लगा कर भगा देता है।

सम्पादकों के प्रति भी उसके मर्मस्थल में यही भावना कार्य कर रही है। बेचारा परिश्रमी, खून पसीना करने वाला एव स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठने वाला संपादक वेतन वृद्धि के लोभ से दिन रात तेली के बैल की तरह लिखता रहता है यहाँ तक कि अपनी आँखें भी खो बैठता है किन्तु जब वेतन वृद्धि का प्रश्न आता है, तो वह इस माह नहीं, किन्तु अगले मास पाँच रुपए बढ़ा सकता है।

विद्यार्थी समाज जिनके अधिकारों की रक्षा का उसने ठेका कर लिया है वहाँ भी उसकी कलई खुल जाती है। जब विद्यार्थी अपने अधिकारों की माँग पर प्रधानाध्यापक के कठोर दण्ड के भागी होते हैं और अखबारों में उसकी निन्दा प्रकाशित करने के लिए सेठजी के पास आते हैं तो सेठजी उनको झूठा

आश्वासन दे सम्पादक को मना कर देते हैं क्योंकि प्रिंसिपल उनके पार्टी का है। इस प्रकार से 'अधिकार का रक्षक' यहाँ भी बड़ी कुशलता से विद्यार्थी समाज के स्वत्वों की रक्षा करता है।

महिला समाज के अधिकारों के लिए लड़ने के लिए वह सदा तैयार बैठे रहते हैं क्योंकि उनके हृदय में इस मूक समाज के प्रति अत्यधिक सहानुभूति है। वे यह भी कहते हैं "महिलाओं के अधिकारों का मुझसे अच्छा रक्षक आपको वर्तमान उम्मीदवारों में नजर न आयगा।" किन्तु आश्चर्य है कि संसार की महिलाओं के अधिकारों के रक्षक के दिए तले अंधेरा है। उनकी स्त्री घर छोड़ करके चली जाती है और बच्चे के लिए उनका व्यवहार शत्रुओं का सा है।

इस एकाङ्की में आधुनिक समाज का जीता जागता चित्र है कि किस प्रकार से मानव पद एवं अधिकार के लोभ-वश जघन्य से जघन्य कार्य कर डालता है और उसकी आत्मा को किञ्चित मात्र भी कष्ट नहीं होता। यह एकाङ्की क्या भाषा, क्या विषय, क्या शैली, क्या टेकनीक सभी दृष्टिकोणों से नवीन है। भाषा में चुलबुलाहट है एवं मुहावरों के प्रयोग से उसमें चार चांद लग गये हैं जो कि पाठक के मन-मयूर को बिना नृत्य कराए दम नहीं लेती। भावों का स्पष्टीकरण भी सुन्दर है। इसमें अभिनेयता के भी सभी गुण विद्यमान हैं। इसकी लोकप्रियता का प्रमाण इसका कई कालेजों में खेला जाना है।

आपस का समझौता (प्रहसन)—अश्कजी द्वारा लिखित 'देवताओं की छाया में' अंकित एकाङ्कियों में यह सबसे अन्तिम प्रहसन है। इसमें दो (डा० वर्मा एवं डा० कपूर) नए पास नवयुवक डाक्टरों की कहानी है जो कि अपनी अनुभव शून्यता के कारण रोगियों को आकृष्ट न कर पैसे-पैसे के लिए मुहताज रहते हैं। परिणाम-स्वरूप आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए गर्हित से गर्हित कार्य करने के लिए भी तत्पर हो जाते हैं, जो कि नैतिकता के नितान्त प्रतिकूल है। वस्तुतः मनुष्य स्वार्थान्ध हो निकृष्ट से निकृष्ट कार्य कर बैठता है। एक ही नगर में दोनों डाक्टर रोगियों का उपचार करते हैं किन्तु बैठे-बैठे मक्खी ही उड़ानी पड़ती है। अन्त में एक दिन डा० कपूर डा० वर्मा के पास आते हैं और बात के दौरान में अपनी दुख भरी कहानी सुना डालते हैं। डा० वर्मा भी अपनी वर्तमान परिस्थिति से ऊब गया है और डा० कपूर से कहता है। "जब से डिग्री ली है, पड़े उस उसकी जान को रहे हैं।" पुनः कपूर भी इसी प्रकार से डा० वर्मा के सम्मुख अपना दुखड़ा रोता है। अन्त में वे आपस में वह घृणित और हास्यास्पद कार्य करने पर भी तत्पर हो जाते हैं जिसे अश्क जी ने 'आपस का समझौता' कहा है। डा० वर्मा आँख के मरीजों को डा० कपूर के पास भेजने के लिए तैयार होता है और उसके बदले में डा० कपूर दाँत के मरीजों को डा० वर्मा के पास भेजने के लिए वचन देता है। इस सौदे में एक दूसरे को २५ प्रतिशत कमीशन देने के लिए उद्यत होते हैं। कितना घृणित प्रस्ताव है। इस घृणित लेन देन ने एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति—रतुल की आँख को सदा के लिए नष्ट कर दिया। इस प्रकार से अश्कजी ने इन दो चरित्रों के द्वारा आज के वतमान युग के डाक्टरों के संसार का सुन्दर चित्र खींचा है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि आज के डाक्टर कितने अनुभवशून्य हैं और किस प्रकार से चाँदी के टुकड़ों के पीछे निरोग मानव की हत्या तक कर बैठते हैं? किन्तु यदि इस एकाङ्की को प्रहसन के नाम से सम्बोधित न किया जाता तो उचित था। प्रहसन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह हास्य के छींटों से पाठक को इतना सिक्त कर देता है कि वह हँसते-हँसते लोट जाता है। उसका अन्त सुखान्त होता है। वह प्रहसन ही क्या जिसका अन्त ही दुखमय हो? यदि प्रहसन में भी हृदय-कलिका प्रस्फुटित न हुई, तो भला वह प्रहसन ही क्या? इसके

(आगे देखिए पृष्ठ २७६)

क्या मीराँ बृन्दावन गईं थीं ?

श्री 'किरण' बी० ए०, विशारद

प्रेम-योगिनी मीरा में आत्म समर्पण का भाव सबसे अधिक मिलता है। मीरां की आराधना माधुर्य भाव की थी। पति के प्रति पत्नी का ऐसा ही आत्म समर्पण अपेक्षित होता है। प्रेम की असह्य वेदना को अन्तर में छिपाए अपने मनमोहन के लिए "दरद की मारी बन-बन" फिरती रही। अपने 'गिरिधर नागर' के लिए उसने संसार के सभी सुखों का परित्याग किया था—

"तुम्हरे कारण सब सुख छाँड़्या,
अब मोहिं क्यूँ तरसाओ।"

वह आर्त स्वर से चीख उठती थी—

व्याकुल प्राण धरत नहिं धीरज
मिलि तू मीत सबेरा,
'मीरां' के प्रभु गिरिधर नागर
ताप तपन बहुतेरा।"

मीरां के भजन मजन नहीं भावना के साकार अवतार हैं। भक्ति के तपोवन की शकुन्तला ने ऐसी प्रेम-धारा बहाई, जिसमें निमज्जित होकर वाणी पूत पावन हो गई। वियोग का वर्णन जितना हृदय ग्राही और सजीव मीरा का है उतना सूर और तुलसी का भी नहीं। मीरा का विरह आत्मानुभव की अभिव्यक्ति है और सूर और तुलसी का वर्णन मात्र। विरह की पीर कल्पना की वस्तु नहीं अनुभवगम्य है।

मीरां बचपन से ही कृष्ण की भक्त थी। विवाह के समय कहते हैं, उसने भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति के साथ फेरे लगाए थे और उस मूर्ति को अपने साथ वह पीहर लेती आई थी। उसने अपने शरीर के दीपक में मन की बत्ती लगाई जिसमें स्नेह का अपर्याप्त स्नेह था। वह दीपक जीवन पर्यन्त उसी लौ से जलती रही—

या तन का दिवला करूँ, मनसा की बाती हो।
तेल जलाऊँ प्रेम को बालूँ दिन राती हो॥

'साँवरिया-प्रेम-दिवाणी' के हृदय में अवश्य यह भावना उठी होगी कि मैं श्रीकृष्ण के क्रीड़ास्थलों के दर्शन करूँ—' राणाजी मैं तो गिरिधर के घर जाऊँगी" इसी भावना का समर्थन करता है। कुटुम्ब के सङ्घर्ष के पश्चात् वह अपने आराध्य की क्रीड़ाभूमि के दर्शनार्थ अवश्य गई होगी। राणा के साथ सङ्घर्ष और उसके गृहत्याग के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

मीरां सम्बन्धी ग्रन्थों में उनका बृन्दावन जाने का प्रमाण मिलता है।

१—भक्त-माल और भक्ति-रस बोधिनी टीका सत्रहवीं शताब्दी की कृतियाँ हैं इसमें उपर्युक्त बात का वर्णन है।

बृन्दाबन आई जीव गुसाईं सो मिली झिली
[नाभादास प्रियादास]

भक्तमाल—१६४२-१६५१ सं०

भक्ति रस बोधिनी समाप्ति काल—१६७६ सं०

२—भक्त नामावली के रचयिता ध्रुवदास ने भी मीरां का बृन्दाबन जाना लिखा है [रचना काल १६८०-१७०० सं०]

आनन्द सों निरखत फिरै बृन्दावन रस खेत।

३—राघवदास दादूपन्थी का जीवन काल सं० १६५३ और १६४३ माना गया है। इन्होंने भक्तमाल का प्रणयन किया है। उसमें मीरां का वर्णन है। अवश्य यह कहा जा सकता है कि यह पूर्वोक्त भक्तमाल पर आधारित हो।

जा बृज 'जीउ' मिली पन हौं तिय
देषतनै सुप नाहि छुड़ायौ।

४—श्री प्रभासचन्द्र डे अपनी पुस्तक जयदेव में लिखते हैं "कहा गया है राणा कुम्भ की पत्नी (?) मीरां बाई ने सनातन गोस्वामी से बृन्दाबन में दीक्षा ग्रहण की।"

५—पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा अपने उदयपुर राज्य के इतिहास में लिखते हैं :—

"जब जोधपुर के राव मालदेव ने बीरमदेव से मेड़ता छीन लिया तब मीरांबाई तीर्थयात्रा को चली गई और द्वारकापुरी में रहने लगी।"

इन प्रमाणों के अतिरिक्त अब हमें अन्तर्साक्ष्य पर विचार करना चाहिए। मीरां के पदों से ऐसा ज्ञात होता है कि वह वृन्दाबन अवश्य गई होगी।

(अ) माई, म्हाणें लागे बृन्दाबन नीको
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा
दरसण गोविंद जी को।

(ब) म्हाणे चाकर राखो जी
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ
नित उठ दरसन पासूँ।
बृन्दावन की कुञ्जगलिन में,
तेरी लीला गासूँ॥

× × ×

योगी आया योग करन को
तप करने सन्यासी।
हरि भजन कूँ साधू आए
बृन्दावन के बासी॥

(इ) हमरो प्रणाम बांके बिहारी को
यह छबि देखि मगन भई मीरां
मोहन गिरिवर धारी को।

(ई) निपट बङ्कट छबि अटके
देखत रूप मदन मोहन को
पियत पियूख न मटके।
मीरां प्रभु के रूप लुभानी
गिरधर नागर नट के॥

मीरां का तीर्थाटन करना लगभग सभी ने माना है। वह प्रियतम की खोज में बन-बन फिरी।

'दरद की मारी बन-बन डोलूँ वैद मिला नहिं कोय'
'पिय ढूँढन बन-बन गई कहुँ मुरली धुन पाइ'

'बन-बन का तात्पर्य अनन्य भक्त रसखानि के शब्दों में 'करील के कुंज' ही होंगे। इस 'बन-बन' का अर्थ 'बृन्दबन-मधुबन हो सकता है।

मीरां ने अपने वैधव्य का वर्णन कहीं नहीं किया। वह अपने को विधवा क्यों लिखने चली जब उसकी चूड़ियाँ अमर थी। वह तो अमर सुहागन थी—

राणाजी मैं तो सांवरे के रङ्गराती।
मेरे पिया मेरे हृदय बसत है
यह सुख कह्यो न जाती॥
झूठा सुहाग जगत का री सजनी
होय-होय मिट जासी।
मैं तो एक अविनासी बरूँगी
जाहे काल न खासी॥

इस तरह देखते हैं कि बृन्दावन जाने का समर्थन बाह्य और अन्तर्साक्ष्य से हो जाता है। यह विषय विवाद ग्रस्त नहीं रहा!

प्रसाद की कहानियों का आरम्भ*

श्री ओमानन्द रू० सारस्वत

आकर्षक आरम्भ ही पाठक का ध्यान अपनी ओर खींच सकता है। तीन साधन ही प्रायः कहानी को आरम्भ करने के लिए लाये जाते हैं—वर्णन, वार्तालाप और घटना। प्रसादजी ने तीनों ही प्रकार से कहानियाँ आरम्भ की हैं।

दृश्य उपस्थित करके वर्णनात्मक ढङ्ग से उनकी अनेक कहानियाँ आरम्भ हुई हैं। कहानी आलोचकों का कहना है कि आरम्भ में व्यर्थ की भूमिका न बाँध कर सीधे घटना पर आजाना चाहिये—किंतु प्रसाद 'कवि' थे और यही कारण है कि उनकी कहानियों के आरम्भ का दृश्य काव्यमय हो गया है—

"वन्य कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकम्पित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे-छोटे झरनों की कुल्याएँ कतराती हुई बह रही थीं।' —(स्वर्ग के खण्डहर में)

इसी प्रकार से आपकी सुप्रसिद्ध कहानी 'पुरस्कार' भी आरम्भ हुई है—

"आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राचीर के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी।"

उनकी सर्वप्रथम भावात्मक कहानी 'प्रसाद' भी इसी प्रकार वर्णन से आरम्भ होती है—

"मधुप अभी किसलय शैय्या पर, मकरन्द मदिरा पान किये सो रहे थे। सुन्दरी के मुख-मण्डल पर प्रस्वेद बिन्दु के समान फूलों से ओस अभी सूखने न पाये थे।...."

अधिकांश कहानियों का आरम्भ इसी प्रकार वर्णन से आरम्भ होता है। 'खण्डहर की लिपि' साधारण कहानी होते हुए भी अपने आरम्भ का महत्व रखती है।

दूसरे प्रसादजी ने बहुत सी कहानियाँ वार्तालाप से आरम्भ की है। सुप्रसिद्ध कहानी 'आकाशदीप' में देखिये—

"बन्दी ?"

"क्या है ? सोने दो !"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो !"

—इतना पढ़ते ही हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है और हम दोनों पात्रों को जानने के लिए उत्कण्ठित हो उठते हैं—यही उत्तम कहानी का चिह्न है। नाटककार प्रसाद जब अपनी कहानियाँ कथोपकथन से आरम्भ करते हैं तो वह वार्तालाप बड़ा स्वाभाविक एवं सजीव हो उठता है—

"आज तो भैया, मूँग की बरफी खाने को जी नहीं चाहता. यह साग तो बड़ा ही चटकीला है। मैं तो........"

"नहीं, नहीं, जगन्नाथ, उसे दो बरफी तो जरूर ही दे दो।"

"न न न। क्या करते हो, मैं गङ्गाजी में फेंक दूँगा।" —(अघोरी का मोह)

सम्भाषणों में जब इस प्रकार की गति आ जाती है तो वहाँ प्रसाद की कहानियों के आरम्भ नाटकीय-सौन्दर्य लिए हुए होते हैं। इस प्रकार की कहानियों का प्रथम वाक्य ही आकर्षित होता है और पाठक आरम्भ से ही लेखक के साथ हो लेता है।

* लेखक की शीघ्र प्रकाशित 'प्रसाद की कहानी कला' पुस्तक से।

साहित्यिक दृष्टि से प्रसाद की वार्तालाप-आरम्भ कहानियाँ बड़ी अच्छी कही जा सकती हैं।

तीसरे घटना उपस्थित करके भी आपने बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं। इस प्रकार की कहानियों में आरम्भ से ही कथावस्तु का विकास हम पाते हैं :—

"सांई! ओ सांई!!"—एक लड़के ने पुकारा! सांई घूम पड़ा। उसने देखा कि एक आठ वर्ष का बालक उसे पुकार रहा है। —(गूदड़ सांई)

इस प्रकार की कहानियों में व्यर्थ की भूमिका न बाँध लेखक घटना पर एकदम आ जाता है। आजकल की मासिक पत्रिकाओं में हम इसी प्रकार का आरम्भ पाते है—किन्तु उनमें प्रसाद के इस आरम्भ की भाँति भावुकता नहीं होती।

"सन्ध्या की दीनता गोधूली के साथ दरिद्र मोहन की रिक्त थाली में धूल भर रही थी। नगरोपकण्ठ में एक कुएँ के समीप बैठा हुआ अपनी छोटी बहन को वह समझा रहा है, फटे हुए कुरती कोर से उसके अश्रु पोंछने में वह सफल नहीं हो रहा था।"

—(करुणा की विजय)

(पृष्ठ २७२ का शेष)

अतिरिक्त जहाँ पर दोनों डाक्टर दूसरों को भी धोखा देते हैं; वहाँ आपस में भी धोखा देने में नहीं चूकते।

इन कतिपय त्रुटियों के साथ ही साथ इसमें आए पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत सुन्दर बन पड़ा है। कैसे दोनों झूठी डींग हाँककर भोली जनता को आकृष्ट करना चाहते हैं, कैसे अनुभव हीनता के कारण आए दिन आवश्यकताएँ सिर पर के भूत की तरह खाती जा रही हैं—इन सबका विशद विवेचन पात्रों के चरित्रों में दिखलाई पड़ता है। लेखक ने समाज के जिस वर्ग के चित्रण में लेखिनी उठाई है उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोना पुस्तक के समान खोलकर पाठक के सामने रख दिया है।

कथोपकथन एवं भाषा की दृष्टि से भी प्रस्तुत एकांकी सफल रहा है। कथोपकथन शक्तिशाली है। इसमें स्थान-स्थान पर ऐसे वाक्यों की झड़ी लग गई है जो कि लेखक की सुन्दर अभिरुचि का परिचय दे सके जैसेः—"इन्हें तो इतनी भी समझ नहीं कि निस्वत रोड और अनारकली में क्या अन्तर है?" और "यहाँ जब से डिग्री ली है, पड़े जान को रो रहे हैं।" आदि। किन्तु अन्त अधिक सुन्दर नहीं बन पड़ा है। फिर भी अन्यान्य अच्छाइयों में यह त्रुटि दब सी गई है।

अन्त में यही कहना है कि 'अश्क' जी एक कुशल एकाङ्की नाटककार हैं, जिन्होंने सुन्दर से सुन्दर एकाङ्कियों द्वारा हिन्दी साहित्य के इस अंग को भी पुष्ट किया है। "देवताओं की छाया में" एकाङ्की सङ्कलन उनकी विद्वत्ता एवं प्रतिभा का सफल परिचायक है।

साहित्य परिचय

निबन्ध और आलोचना

क्या गोरी क्या साँवरी—ले०—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ २००, बड़ा आकार, सजिल्द, मूल्य ७)

गोरी और साँवरी जीवन की धूप-छाँह की द्योतक है। पाप, पुण्य, दिन-रात गुण-दोषों के ताने बाने से जीवन का पट बुना गया है और साँवली के अस्तित्व से ही गोरी का महत्व भी है। सत्यार्थीजी ने साँवरी का बड़ी सहृदयता के साथ पक्ष लिया है और अपने विश्व कवि कवीन्द्र रवीन्द्र की गवाही दी है। इस पुस्तक में भी नामानुकूल सत्यार्थीजी के विचरणों में प्राप्त धूप-छांही अनुभव की कथा है। सत्यार्थीजी बड़े घुमक्कड़ हैं उन्होंने भारत के सभी प्रान्तों में घूम-घूम कर लोक गीतों और कथाओं का संग्रह किया है। उन्होंने साहित्य लोक में भी पर्याप्त पर्यटन किया है, उसका भी अनुभव उन्होंने अपने पाठकों को दिया है। प्रस्तुत संग्रह के निबन्ध कुछ अनुभव पर आश्रित हैं तो कुछ अध्ययन पर, कुछ में महान व्यक्तियों पर श्रद्धाञ्जलियाँ और कुछ में व्यक्ति और स्थानों के संस्मरण। लेखक का दृष्टिकोण प्रगतिशील होते हुए भी उसमें पुरानी संस्कृति के प्रति मोह है। 'दिये तो जलेंगे' में दीपकों की प्राचीन प्रथा के प्रति लेखक की बड़ी सरस भावाभिव्यक्ति है। चम्बा और गोदावरी के वर्णन में लेखक का हृदय प्रकृति के साथ प्रतिस्पन्दित होता मालूम होता है। लेखक के ही शब्दों में हम कह सकते हैं कि धरती उसके पैरों के नीचे बोलती हुई मालूम पड़ती है। सभी निबन्ध लेखक के जीवन रस से अभिषिक्त हैं। यद्यपि सत्यार्थी जी के लेखों में भावात्मकता का प्राधान्य है तथापि उन में बुद्धितत्व की भी कमी नहीं है। महादेव भाई की डायरी और अध्ययन कक्ष में मूल्यवान अध्ययन सामग्री मिलती है। अध्ययन कक्ष में बङ्गभाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार बङ्किमचन्द्र चटोपाध्याय के हिन्दी के सम्बन्ध में बड़े सहृदयतापूर्ण विचार मिलते हैं। लेखक ने अपनी मातृभाषा पञ्जाबी और राष्ट्रभाषा दोनों का समन्वय कर लिया है। 'जहाँ दो साहित्य मिलते हैं' शीर्षक निबन्ध में पञ्जाबी और हिन्दी के आदान-प्रदान पर विवेचन करते हुए वे लिखते हैं:— 'इन पञ्जाबी भाषी साहित्यिकों ने हिन्दी माध्यम को अपनाने पर भी पञ्जाबी का सर नीचा नहीं होने दिया।' सत्यार्थीजी भी उन्हीं में से हैं।

—गुलाबराय

प्रसादजी का चन्द्रगुप्त (एक विश्लेषणात्मक अध्ययन)—ले०—श्रीकृष्णकुमार सिन्हा, प्रकाशक—राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया। पृष्ठ २५२, मूल्य २॥)

लेखक की यह पाँचवीं आलोचना-सम्बन्धी पुस्तक है और परिश्रम-पूर्वक लिखी गई है। नाट्य-कला, ऐतिहासिक आधार, नायक, भाषा-शैली, गीत-सौष्ठव, उद्देश्य, अभिनेयता, तत्कालीन वातावरण, चरित्र-चित्रण, नाटक की तुलनात्मक समीक्षा—सभी दृष्टियों से प्रस्तुत पुस्तक में विचार किया गया है। परिशिष्ट के करीब २५ पृष्ठों में व्याख्यांश भी दिया हुआ है। नायक के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालते हुए लेखक ने लिखा है कि "दशरूपक में वर्णित

सभी गुण चन्द्रगुप्त में वर्तमान हैं तो चाणक्य को नायक के पद पर प्रतिष्ठित कर देना आलोचकों की सरासर भूल है।" प्रश्न यह है कि यदि इस नाटक का शीर्षक 'चन्द्रगुप्त' न रख कर 'चाणक्य' रख दिया जाता और उसके नीचे सिद्धान्त-सूत्र के रूप में 'हर्ष-चरित' का यही पद्य—

"अङ्गणवेदी वसुधा कुल्या जलधिः,
स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः, कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥"

उद्धृत किया जाता तो कहाँ क्या अनौचित्य हो जाता? नायक का प्रश्न वादास्पद है सही, किन्तु निष्कर्ष निकालते समय हर्ष-चरित के उक्त पद्य को लेकर भी (जिसे नाट्यकार ने अकारण ही उद्धृत नहीं किया होगा) विचार करना चाहिए था। इस नाटक में कौन 'कृतप्रतिज्ञ वीर' है? चाणक्य या चन्द्रगुप्त? यदि चाणक्य है तो 'चन्द्रगुप्त' इसका शीर्षक क्यों रखा गया? इस पुस्तक द्वारा प्रसाद-साहित्य के अध्ययन को गति मिली है, एतदर्थ लेखक का प्रयत्न अभिनन्दनीय है। —कन्हैयालाल सहल

साहित्य निर्माण—लेखक-श्री किशोरीदास वाजपेयी, प्रकाशक-जन वाणी प्रकाशन, कलकत्ता। पृष्ठ १४३, मूल्य २)

इस पुस्तक का लेखक, हिन्दी साहित्य का एक प्रसिद्ध साहित्यकार है। कृति के उद्देश्य के विषय में लेखक स्वयं कहता है, 'हाँ खण्डन की चीज लोग खरीद लेते हैं, सोचा जब परीक्षा में लगने की बातही नहीं, तो खण्डन ही निकालो'''मन्दिर की सजावट न कर पाये तो उसका कूड़ा, कचरा ही साफ करो।'

तो यह पुस्तक एक विहंगम दृष्टि लेकर, साहित्य के प्रत्येक अङ्ग पर अपने स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत करती है। लेखक की 'अपनी राय' से मत-भेद हो सकता है और होने के कारण भी हैं, फिर भी जो लिखा गया है उसके पीछे तर्क का बल है, हठवादिता का नहीं। विचार क्रान्तिकारी हैं जो उथल-पुथल मचाकर हठात् हमारा ध्यान खींचते हैं।

लेखक ने महामहिम के 'अनुमितिवाद' की बड़ी प्रशंसा की है। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, सम्पादन आदि के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं उनसे विद्यार्थी ही नहीं, विद्वान् साहित्यकार भी लाभ उठा सकते हैं।

विचारों का प्रतिपादन मनोरञ्जक शैली में मिलता है। कहीं-कहीं व्यङ्ग 'आक्षेप' तक पहुँच गया है पर उसके लिये लेखक निर्भय और निश्चिन्त है। 'मौलिकता' व 'आत्म-विश्वास' दो तत्व इस पुस्तक में स्पष्ट देखे जा सकते हैं। विचारों के पीछे बाजपेयीजी का व्यक्तित्व झाँकता हुआ मिलता है। यदि लेखक चिढ़, खीझ और आक्रोश के प्रकाशन में थोड़ी कमी करता तो गाम्भीर्य अवश्य बढ़ जाता परन्तु पुस्तक पढ़कर हम लेखक का नाम जानने का प्रयत्न कभी न करते। —विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

कविता

ग्रामणी—लेखक-श्री गिरिजाशङ्कर पाण्डेय, प्रकाशक-शारदा लायब्रेरी, शिवनगर काशी। पृष्ठ ४६, मूल्य ॥)

यह कविताओं का संग्रह श्री गिरिजाशङ्करजी पाण्डेय की छात्रावस्था की रचना है। जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, कवि ने ग्राम्य-जीवन की एक अच्छी झाँकी उपस्थित की है और अपनी स्वर लहरी में विविध विषयों को भी सफल कवि के समान चित्रित किया है। इसके लिए कवि बधाई का पात्र है।

संग्रह में कुछ विशेष गान हैं; कुछ सुन्दर काव्यमय चित्र और कुछ समस्यायें भी। युवक कवि का रूढ़िवादी संस्कारों और व्यवहारों के प्रति अपना निजी विद्रोह भी बहुत जगहों पर स्पष्ट हुआ है और सभी रचनाएँ सुन्दर भाषा में सजीली और रसीली होते हुए, कालेज छात्रों और नवयुवकों के लिए सन्देशमय हैं। —नरेन्द्र सो

कहानी

कथा मञ्जरी—लेखक-श्री कर्ण वीर नागेश्वर राव, प्रकाशक-आन्ध्र भारती प्रकाशन मन्दिर, वेटापालेम गुण्टूर। पृष्ठ १००, मूल्य १॥)

कथा मञ्जरी में चौदह कहानियाँ संग्रहीत हैं। इनका सङ्कलन और सम्पादन अहिन्दी भाषी प्रान्तों के कालेजों और विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ने वाले विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए किया गया है।

कहानियाँ उदार चेतना और राष्ट्रीय जागरण का सन्देश देती हैं किन्तु उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के मानसिक स्तर तक इनकी पहुँच नहीं कही जासकती।

लेखक स्वयं हिन्दी-लेखन की प्रयोगावस्था में है। शैली में सजीवता, नवीनता—भाषा में रवानगी और भावों में गहराई की कमी है। ऐसे प्रयोग अहिन्दी भाषियों के हिन्दी-प्रेम के परिचायक हैं।

—शशिभूषण सिंहल

हरदम आग—लेखक-श्री कृष्णनन्दन सिन्हा, प्रकाशक-अजन्ता प्रेस लि०, पटना। पृष्ठ २४०, मूल्य २)

इस कहानी-संग्रह में लेखक के समाजवादी आवेग का स्पष्ट अवलोकन किया जा सकता है। चित्रण का अपना स्पष्ट ढङ्ग भी उसकी विशेषता है। कहीं-कहीं तो रेखाएँ बहुत ही अधिक स्पष्ट 'फोटोग्राफ' तैयार करती हैं और वहीं पर लेखक में कलात्मक संयम का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

जहाँ तक कहानियों की सामग्री का प्रश्न है, कहानी-संग्रह आज के समाजवादी साहित्य में खपता है। पर समाजवादी चेतना के पर्दे में सत्ताधारी सरकार के विरुद्ध लिखना या चीखना आज की पिटी हुई परिपाटी है और लेखक ने भी इसका आश्रय लिया है। लेखक ने खुद माना है कि उस पर प्रभाव-सम्पूर्णता की गहरी छाप लग चुकी है और इसी कारण कहीं-कहीं पर वह अपने विषय से बहुत दूर भागा हुआ, 'अँधेरी' या 'चौपाटी' के पब्लिक मञ्च पर नया 'साथी' ही प्रतीत होता है। कई स्थानों पर, उसकी भाषा का ढाँचा और भावों के घुमाव—ऐसा ही विश्वास दिलाते हैं। इसके लिये भी वह क्षम्य है क्योंकि सफल कलाकार जैनेन्द्र ने और श्रीमती सुमित्राकुमारी सिन्हा ने भी आज से वर्षों पहले ही अपनी कहानियों में घटना के घटने की परम्परा का चित्रण करने की परिपाटी त्याग दी और भाषा के ढाँचे में भाव का घुमाना ही अपनी कथाओं का कलेवर रखा और 'नई टेकनीक' के इस 'आँग्ल-नजरन्दाज' ने भी यहीं से ऐसी प्रेरणा ली।

हाँ कथाकार का प्रयत्न सराहनीय है क्योंकि अपनी चेतना के स्पन्दन को राह देता हुआ—वह, समाज की घिसती हुई रीतियों, घिसती हुई इकाइयों, ठगती हुई तितलियों, शिशु-बोझिल नारियों······ सभी की—बहुत अच्छी समीक्षा उपस्थित कर सका है।

—नरेन्द्र सोढ़ा

कादम्बरी—अनुवादक-श्री ऋषीश्वरनाथ भट्ट बी० ए०, प्रकाशक-भारती भण्डार, इलाहाबाद। पृष्ठ ४५०, मूल्य ५)

महाकवि बाण भट्ट संस्कृत के शीर्ष लेखकों में है। 'कादम्बरी' उनका बहुत प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट ग्रन्थ है। संस्कृत साहित्य में इसका बहुत आदर है। साथ ही यह ग्रन्थ कठिन भी है। इसकी रस-अलङ्कार और ध्वनि-पूर्ण गम्भीर भाषा का अर्थ साधारण पण्डित भी आसानी से नहीं समझ सकता। ऐसे अमूल्य ग्रन्थ को हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए उपलब्ध करने का प्रयास श्रीमान् भट्ट जी ने किया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। आपका यह अनुवाद शुद्ध और भावपूर्ण तो है ही, बहुत ही बोधगम्य और मुहावरेदार भी है। सचमुच भट्टजी को इसके अनुवाद में पूरी-पूरी सफलता मिली है। इसका प्रथम संस्करण १९२१ में बम्बई से प्रकाशित हुआ था जो बहुत दिन से अप्राप्य था। भारती भण्डार ने इसे प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा की है।

—म०

हास्य

मन-मयूरः—लेखक—श्री अन्नपूर्णानन्द, प्रका०—रामनारायणलाल, इलाहाबाद। पृष्ठ २२२, मूल्य ४)

श्री अन्नपूर्णानन्दजी हास्य-रस के शीर्ष लेखकों में हैं। प्रस्तुत पुस्तक में आपके हास्य-रस के १५ निबन्धों का संग्रह है। 'अपना परिचय' शीर्षक लेख में लेखक ने अपना कितना मधुर परिचय दिया है "मेरी खोपड़ी मेरे शरीर का वह उन्नत भाग है जो अक्सर चौखटों में भिड़ा करता है।" आपने समालोचकों पर व्यंग्य करते हुए लिखा है "मेरी समझ में यह आज तक न आया कि साहित्य-उपवन में इन निमकौड़ी बटोरने वालों की आखिर क्या आवश्यकता थी। मेरी पक्की धारणा है कि नितान्त पँचकल्यानी लोग ही साहित्य-सेवा के नाम पर यह पुलिस-वृत्ति अख्तियार करते होंगे।"

'प्रकाशक पँचदर्शी' सामयिक है। 'टेढ़ी माँग' सुरुचिपूर्ण नहीं प्रतीत होता। उसे शिष्ट हास्य की कोटि में कठिनाई से ही लिया जा सकेगा।

जिन्होंने लेखक महोदय की पहिली पुस्तकें 'महाकवि चचा', 'मगन रहु चोला' इत्यादि पढ़ी होंगी उन्हें इस पुस्तक को पढ कर कुछ निराशा होगी, परन्तु हिन्दी के हास्य-साहित्य की श्रीवृद्धि करने में इस पुस्तक का महत्व निर्विवाद रूप से है।

—बरसानेलाल चतुर्वेदी

नाटक

स्वर्ग पतन—लेखक—डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' एम० ए०, पी० एच० डी, प्रकाशक—कृष्णा ब्रादर्स, अजमेर। पृष्ठ ११३, मूल्य १)

पुस्तक बड़ी सुन्दर और आकर्षक है इसमें सात मौलिक एकांकियों का संग्रह है। प्रारम्भ में, सत्रह पृष्ठों की पूर्वपीठिका है, जिसमें एकाँकी का इतिहास और तत्व-विवेचन बड़ी गम्भीरता से लिखा गया है। संग्रह में पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक, सभी प्रकार के एकाङ्की हैं। प्रत्येक में उद्दीप्त भाव की आभा झलकती है। आदर्श यथार्थ में इस प्रकार समन्वित है कि साहित्यिक दृष्टिकोण सन्तुलित रूप में अवतीर्ण हुआ है जिसको चरित्र-चित्रण और भाषा ने बड़ा सहयोग दिया है। प्रत्येक पात्र अनिवार्य और जीवन का विशेष सन्देश देता हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि लेखक ने इस बात का कहीं संकेत नहीं दिया कि इन नाटकों का कभी अभिनय कराया गया या नहीं, किन्तु सूक्ष्म सूच्य सामग्री से रङ्ग-मञ्च की बहुत सी समस्याएँ हल हो जाती हैं। एकाङ्कियों के शीर्षक, प्रारम्भ और अन्त में दृढ़ ग्रन्थि बन्धन है। हमें एकाङ्की क्षेत्र में लेखक से बहुत आशाएँ हैं।

—महाराज नारायण कक्कड़

कवि—गीतिकार—श्रीसिद्धनाथ कुमार, प्रकाशक सिद्धनाथ कुमार सहनी पट्टी, बक्सर (विहार)। पृष्ठ ५३, मूल्य १)

'कवि' श्री सिद्धनाथ कुमार रचित एक गीतिनाट्य है। आज सर्वत्र कथा साहित्य का युग है और किसी कल्पना-भक्त की काव्यमय उड़ान संघर्षमय जीवन की कँटीली भूमि पर आज सहज नहीं—ऐसा हमें विश्वास मिल रहा है।

पर कवि के स्वयं के जीवन का लक्ष्य कहाँ है—इसका उत्तर देने के लिए ही इस गीतिनाट्य की रचना हुई है। कल्पना रानी की पलकों में ही सब कुछ भूल कर यदि कवि जग के सँग न रो सके और रोकर भी विषादमय जग पर अपनी वाणी-वीणा से अमृत-कण न बरसा सके, तो कवि अवश्य ही अपूर्ण है—कम से कम आज के युग में।

कवि को भी युग के साथ चलना चाहिए, उसे भी युग-प्राणियों की ज्वाल में जलना और उनके उन्माद के साथ उड़ना चाहिए, युग के रहस्यों को समझ सृष्टि के कण-कण को जानना चाहिए और यह सब करने के बाद ही कल्पना में उन्मुक्त हो, नव-निर्माण का अपना निजी सन्देश देना चाहिए। यही सब कवि का पूरा कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है

और इसे हमें समझाने में सिद्धानाथजी अवश्य ही सफल हुए हैं। उनकी रचना पढ़कर हम मान सकते हैं कि आज भी धरा के गीत गानेवाले कवि का हम पर पुरजोर असर है। —नरेन्द्र सोढ़ा

राजनीति

बापू की कारावास-कहानी—लेखक-डा० सुशीला नैयर, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ४५६, चित्र २८, सजिल्द, मूल्य १०)

१९४२ के आन्दोलन में महात्मा गाँधी को गिरफ्तार करके तत्कालीन अंग्रेजी सरकार ने आगाखाँ महल में नजरबन्द किया था और महात्माजी को इस भवन में २१ महीने रहना पड़ा था। इस पुस्तक में डा० सुशीला नैयर ने ८३ परिच्छेदों में बापू से सम्बन्ध रखने वाले लोगों की जीवन-चर्या का हृदय हारी वर्णन किया है। भारत छोड़ो प्रस्ताव और गिरफ्तारियों से लेकर महादेव भाई की मृत्यु, गोलमेज परिषद के संस्मरण, उपवास, सरकार से हुए पत्र-व्यवहार, बा की मृत्यु और रिहाई आदि विषयों का मार्मिक विवरण इस पुस्तक में पढ़ने को मिलता है। पुस्तक यद्यपि एक दैनिक डायरी है लेकिन इसमें उपन्यास से अधिक रोचकता, तथा इतिहास से अधिक सचाई है। और इसमें अनेकों राजनैतिक गुत्थियों का हल है। जेल में राष्ट्रीय दिवस और त्यौहार बापू ने किस तरह मनाये इसका भी सुन्दर वर्णन है। चित्रों ने पुस्तक की महत्ता को और भी बढ़ा दिया है।

दिल्ली में दस वर्ष—ले०-श्री राजेन्द्रनाथ हांडा, प्रकाशक-प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ १७५, मूल्य ३॥)

१९४० से १९४९ तक १० वर्ष में दिल्ली ने किस प्रकार काया पलटी है उसीका चित्रण लेखक ने इस पुस्तक में बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से किया है। पिछले १० वर्षों में राजनैतिक, सामाजिक आदि विषयों में जो परिवर्तन हुआ है उसे विभिन्न शीर्षकों में देकर एक सुन्दर कहानी या उपन्यास की सी पुस्तक बना दी गयी है। १९४७ के दङ्गों और गांधीजी की मृत्यु के अवसर का मूर्तिमान चित्र इस पुस्तक में अङ्कित किया गया है। साहित्यिक जीवन की भी एक झाँकी इसके एक परिच्छेद में दिखाई गई है। पुस्तक पठनीय है। —म०

राजनीति से दूर—लेखक-पं० जवाहरलाल नेहरू, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ १७३, मूल्य २॥)

इस पुस्तक में पं० जवाहरलाल नेहरूजी के समय समय पर लिखे हुए १९ लेख हैं, इसमें आधे से अधिक, लगभग ग्यारह, उनकी यात्राओं के संस्मरण हैं, जिनको पढ़ते समय अल्मोड़ा, काश्मीर, बम्बई, चीन, गढ़वाल, सिलहट, लङ्का आदि के दृश्य आँखों के सामने ऐसे झूलने लगते हैं जैसे प्रत्यक्ष देख रहे हों। इनमें से ही हमें पण्डित जवाहरलालजी के साहसी, गहरे और सहानुभूति पूर्ण व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है; उनकी रुचि अरुचि और उमङ्ग इन लेखों की प्रत्येक पंक्ति में से झलकती है। पहाड़ों, बर्फीली चोटियों, जङ्गलों के रोचक वर्णन ही नहीं, ऐसी घटनायें भी हैं जिनमें औपन्यासिक आनन्द है। यात्राओं के ये संस्मरण छोटे छोटे ही हैं, किन्तु शैली पर लेखक को ऐसा अधिकार है कि वह थोड़े शब्दों में ही चित्र, अध्ययन तथा विचार सभी साथ-साथ प्रस्तुत करता जाता है। शेष लेखों में साहित्य, भाषा, समाज, स्त्री, तथा विज्ञान विषयक उनके विचार अभिव्यक्त हैं ये लेख यथार्थ में निबन्ध हैं। अतः यह संग्रह मनोरञ्जन की सामग्री और प्रकृति के चित्र तथा पुरुष और परिस्थितियों के अध्ययन की सामग्री ही प्रस्तुत नहीं करता कुछ विचारणीय गम्भीर समस्याओं को भी सामने खड़ा कर देता है। —सत्येन्द्र

पूर्वोदय—लेखक-श्री जैनेन्द्रकुमार, प्रकाशक-श्री पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ २८०, मूल्य ४)

प्रस्तुत पुस्तक निम्नलिखित सात खण्डों में विभक्त है—सर्वोदय, गांधीजी, अहिंसा, संस्कृति, शान्ति, बुद्ध, अपरिग्रह और स्फुट। पुस्तक का शीर्षक 'सर्वोदय' न रख कर जानबूझ कर ही 'पूर्वोदय' रखा गया है जिसका आशय है उस जीवन-नीति और उन जीवन-मूल्यों का उदय जिनका निषेध पश्चिम के देशों की आधुनिक सशस्त्र उन्नति है। दूसरे शब्दों में पूर्वोदय सर्वोदय का प्रथम चरण है। सर्वोदय भावना है। जब भावना घटना बनने चलेगी तो सर्वोदय का रूप पूर्वोदय होगा। श्री जैनेन्द्र गांधीवाद में आस्था रखने वाले ही नहीं, वे अपनी विशिष्ट शैली में गांधीवाद के अच्छे व्याख्याता भी हैं। उनके विचारों में मौलिकता और गहराई है; किन्तु कहीं कहीं अनावश्यक वाग्विस्तार हो गया है, जो अखरता है। मानवता में श्रद्धा उत्पन्न करने वाली इस तरह की पुस्तकों का प्रकाशन आज के इस संघर्षशील युग में अवश्य वाञ्छनीय है किन्तु हमारे इस विशाल राष्ट्र की आँखें आज उस व्यक्ति की ओर विशेषतः आकृष्ट होती हैं जो केवल विचारक न हो किन्तु विचारक होने के साथ साथ देश की राजनीति में सक्रिय भाग लेता हो, अपनी विचार-धारा के अनुरूप उसे कुछ मोड़ भी देता हो। —कन्हैयालाल सहल

आश्चर्य वार्ता—लेखक-श्री उमाशङ्कर। प्रका० नया हिन्दुस्तान पब्लिकेशन्स, पटना ४। मूल्य ।||)

संसार की आश्चर्यजनक वस्तुओं की एक सुलभ झाँकी इसमें है, जिससे पाठक मनोरञ्जन के साथ-साथ सहज में बहुत सी उपयोगी बातें जान सकते हैं। सीधी-सादी भाषा में विषय को उपस्थित करना लेखक की निजी विशेषता है। पुस्तक का गेट अप आकर्षक है।

खेती की ओर—लेखक और प्रकाशक वही। पृष्ठ ६४, मूल्य १)

उपर्युक्त लेखक की यह दूसरी पुस्तक है। भारत कृषि-प्रधान देश है और यहाँ पर्याप्त जमीन है किन्तु फिर भी अन्न सम्पत्ति के मामले में यह आत्मनिर्भर नहीं है। लेखक ने इस पुस्तक में अधिक अन्न उत्पन्न करने के व्यावहारिक सुझाव सामने रखे हैं। पुस्तक तीन खण्डों में विभक्त है। पहिला खण्ड है 'इतिहास के आलोक में'—इसमें खेती का इतिहास वर्णित है। 'खेती की बर्बादी' शीर्षक दूसरे खण्ड में उन बातों पर प्रकाश डाला गया है जिनसे बचने पर अधिक अन्न उत्पन्न हो सकता है। 'खेती की ओर' नामक तीसरे खण्ड में लेखक ने व्यावहारिक रूप से अधिक अन्न उत्पन्न करने के तरीकों को बताया है। पुस्तक प्रत्येक कृषक के लिए उपादेय है।

ग्राम-स्वराज्य—लेखक और प्रकाशक वही। पृष्ठ ४३, मूल्य ।||)

उपयोगी साहित्य की तीसरी कड़ी में श्री उमाशंकरजी ने ग्राम-स्वराज्य के व्यावहारिक पक्ष के ऊपर निष्पक्ष होकर अपना विचार इसमें दिया है। स्वराज्य का वास्तविक अर्थ तभी लोग समझेंगे जब ग्राम मुक्त होकर अग्रसर होंगे। लेखक ने अच्छे ढंग से ग्राम की समस्याओं और उसके समाधान के उपाय बताये हैं। उन पर अमल किया जाय तो भारत पुनः संसार का शिरमौर बन सकता है।
—शि० प्र० लोहानी

काश्मीर पर हमला—लेखिका-श्रीमती कृष्णा मेहता, प्रकाशक-नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर। पृष्ठ १६०, मूल्य २।)

इस पुस्तक में काश्मीर से भारत का अभिन्न सम्बन्ध, उस पर हुए पाकिस्तानी हमलों का वर्णन और काश्मीर की जनता—वहाँ के नर-नारियों के वीरता पूर्ण कार्य कलाप का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। पुस्तक पढ़कर करुणा का सागर उमड़ आता है, रोमाञ्च होने लगता है और अपने देश पर बलिदान होने की भावना जागृत होती है। ऐसी सुन्दर पुस्तक लिखने के लिए श्रीमती कृष्णा मेहता सचमुच बधाई की पात्र हैं। —जयदत्त सोढा

आधुनिक अर्थ-शास्त्र—लेखक-प्रो० केदारनाथ एम० ए०, अर्थशास्त्र-विभाग पटना कालेज, प्रकाशक—पुस्तक भण्डार, पटना। पृष्ठ ६६३, मूल्य १०)

अर्थ-शास्त्र यद्यपि इतना प्राचीन विषय है कि पश्चिम में अरस्तू तथा भारत में चाणक्य द्वारा इसका विवेचन अब से लगभग ढाई हजार वर्ष पहिले हो चुका है, परन्तु अपने वर्तमान रूप में यह एक बहुत ही आधुनिक विषय है। इसका प्रारम्भ राज्य की कला अथवा राजनीतिक अर्थ-नीति के रूप में हुआ था जो भिन्न-भिन्न विचारधाराओं में बहकर आज आर्थिक जीवन में मनुष्य के अध्ययन का विषय बन गया है। इन बदलती हुई विचारधाराओं के अनुसार अर्थ-शास्त्र की परिभाषाएँ भी बदलती रहीं। लेखक ने ऐतिहासिक अनुशीलन करते हुए, विश्व के प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्र वेत्ताओं द्वारा प्रणीत अर्थ-शास्त्र की परिभाषाओं का आलोचनात्मक विवेचन किया है।

क्लासिकल स्कूल के अर्थलिप्त मानव का दृष्टिकोण, बदलती हुई आर्थिक समस्याओं में व्यक्ति से समाज में तथा बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उत्पादन को लेकर महान आर्थिक विषमताओं के कारण रोबिन्स द्वारा वितरण की ओर अग्रसर हुआ। परन्तु बढ़ती हुई जन संख्या के लिये साधनों और उत्पादन के सीमित होने तथा उचित वितरण के अभाव में वही दृष्टिकोण प्रो० मेहता द्वारा आवश्यकताओं को न्यूनतम करने में ही समस्या का समाधान ढूँढकर गान्धीवादी विचारधारा की ओर झुका। लेखक ने इसे बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से दिखाने का प्रयास किया है।

विषयानुसार सम्पूर्ण पुस्तक को पाँच भागों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक विषय पर आधुनिक तम अर्थ शास्त्र वेत्ताओं के विचारों की तुलनात्मक आलोचना प्रस्तुत की गई है। इनमें रोबिन्स, हिक्स, कैन्स, कैनन, क्लार्क, बालडिंग, बेनहम, फिसर आदि सभी विद्वान आ गये हैं। स्थान-स्थान पर कुछ विशेष मूल सिद्धान्तों (जैसे मूल्य, लगान, सूद और मजदूरी आदि) की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का भी आवश्यक विवेचन किया गया है जिससे किसी भी विषय का विद्यार्थी को पूर्ण चित्र मिल जाता है।

जहाँ तक सम्भव हो सका है, लेखक ने प्रत्येक अर्थशास्त्रवेत्ता के सिद्धान्त को ग्रैफ और तालिकाओं द्वारा स्पष्ट किया है इसलिये विद्यार्थियों का एक ही सिद्धान्त के ग्रैफ सम्बन्धी तुलनात्मक अध्ययन का भी अच्छा अवसर मिलता है। मार्शल के विषय विभाजन को लेकर सैद्धान्तिक पक्ष में आधुनिक विद्वानों के तुलनात्मक अध्ययन का हिन्दी में यह स्तुत्य प्रयास है।

अर्थ-शास्त्र की उच्च-शिक्षा के विद्यार्थियों को पुस्तक लाभदायक सिद्ध होगी।

—दयाप्रकाश एम० ए०

व्यापारिक जगत : १९५०—सम्पादक—श्री रामनाथ गुप्त बी० ए० तथा श्री प्रेमनाथ एम० ए०, प्रकाशक—नारायण पब्लिशिंग हाउस, अजीतमल (इटावा)। पृष्ठ १३६, आकार बड़ा, मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक एक व्यापार सम्बन्धी डायरैक्टरी है। इसके पहले भाग में कुछ व्यापार सम्बन्धी लेख हैं। दूसरे में देश की प्रमुख व्यापारिक संस्थाओं और औद्योगिक केन्द्रों का परिचय है। तीसरे भाग में अनेक ज्ञातव्य बातें हैं और चौथे भाग में व्यापार और व्यापरियों की बातें हैं। अन्तिम भाग में विदेशी फर्मों का तथा भारत स्थित एजेन्टों का विवरण है। हिन्दी में इस तरह की डायरैक्टरी बहुत कम हैं। त्रुटियाँ होते हुए भी हम इसका सहर्ष स्वागत करते हैं।

कौन क्या है—सम्पादक तथा प्रकाशक उपर्युक्त। पृष्ठ १४०, आकार बड़ा, मूल्य ३)

इस पुस्तक में भारत के राजा महाराजा, जागीरदार, जिमींदार, राजनैतिक नेता, शासक आदि प्रमुख व्यक्तियों का परिचय है। ऐसी पुस्तक अच्छे कागज पर सुन्दरता के साथ छपनी चाहिए थी। इसके प्रकाशन में व्यापारिक दृष्टिकोण के साथ-साथ यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखने का भी ध्यान रखा गया

होता तो यह पुस्तक अधिक उपयोगी होती। साहित्यिक लोगों में मैथिलीशरण गुप्त और राजनैतिक पुरुषों में श्रद्धेय टण्डन जी जैसे लोगों का नाम न होना इसकी कमी को स्पष्ट कर रहा है। हम आशा करते हैं कि इस ओर आगे से ध्यान दिया जायगा और पुस्तक को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की चेष्टा की जायगी।

—म०

सामाजिक

मानव की कहानी (दो भाग)—लेखक-प्रो० रामेश्वर गुप्त एम० ए०, प्रकाशक-चेतना नगर, ब्यावर (राजस्थान) पृ० १३६८, मूल्य १६)

'मानव की कहानी' वस्तुतः मानव के प्रादुर्भाव और उसकी सभ्यता के विकास का इतिहास है। लेखक ने इसे पृथ्वी के निर्माण काल से प्रारम्भ कर, इसके विषय में भिन्न-भिन्न धार्मिक मतों का सङ्कलन करते हुए, हिन्दू अवतारों की कथा में विकासवाद के वैज्ञानिक मत की सत्यता ढूँढ़ने का सफल प्रयास किया है। प्राचीन और नवीन पाषाण युग, धातु युग, तथा संसार की सभी मृत और जीवित सभ्यताओं की रूपरेखा खींचते हुये उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। इनमें सुमेर, बैबिलोन, असीरियन, मिस्री, सिन्धु, माइनोअन, अमरीकी, भारतीय, चीनी, युनानी, रोमन तथा मुस्लिम आदि सभी सभ्यताएँ आ गई हैं।

सभ्यता के किसी भी अनुगामी युग को प्रारम्भ करने से पहिले लेखक ने पाठक की सुविधा के लिये पूर्वगामी युग का सार तथा उस समय तक मानव का विकास संक्षेप में दे दिया है।

जिन ऐतिहासिक खुदाइयों तथा वैज्ञानिक अन्वेषणों के निष्कर्षों के आधार पर सम्पूर्ण पुस्तक का कलेवर खड़ा किया गया है उनकी सामग्री को छोड़ दिया गया है इसलिए किसी पाठक को स्वतन्त्र विचार का अवसर नहीं मिलता। भारतीय सभ्यता के विवेचन में भी लेखक का दृष्टिकोण परतन्त्र भारत के इतिहासकारों के समान प्रतीत होता है। भारत में राष्ट्रीयता की भावना के उदय और स्वाधीनता संग्राम का प्रारम्भ लेखक ने अँग्रेजी राज्यकाल तथा १८८५ से माना है। यदि भारत की राष्ट्रीय भावनाएँ और उसके स्वधीनता संग्राम को भारतीय दृष्टिकोण से लिखा होता तो भारतीय नवयुवक के विचारों में लेखक महान परिवर्तन ला सकता था।

आधुनिक युग के वर्णन में लेखक ने मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक आदि सभी दृष्टिकोणों से विचार किया है। समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद आदि सभी वाद तथा दोनों महायुद्ध, यू. एन. ओ. और कोरिया का युद्ध आदि सभी घटनाओं और राजनैतिक समस्याओं को लेकर मानव के विकास पर १६५० तक प्रकाश डाला है।

कहीं-कहीं लेखक ने केवल सुनी हुई बातों पर भी विश्वास कर लिया है जैसे—"आजकल ईरान और भारत में अधिकतर शिया मुसलमान मिलते हैं" (पृ० ६४५) वस्तुतः भारत में सुन्नी मुसलमानों की संख्या अधिक है और भारत का मुस्लिम कानून प्रधानतः सुन्नी-कानून है।

इस पुस्तक में प्रत्येक नागरिक के जानने योग्य इतनी अधिक सामग्री को एकत्रित किया गया है कि विश्व के आधुनिक मानव का ज्ञान प्राप्त करने में पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी—विशेषतः विद्यार्थियों को।

—दयाप्रकाश एम० ए०

वर्ष १३] आगरा—जनवरी १९५२ [अङ्क ७

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी.
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के प्रथम सप्ताह में निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जबावी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

हिन्दी का नया प्रकाशन : दिसबर, १९५१

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

काव्य की परिभाषा—प्रो० रामचन्द्र श्रीवास्तव चन्द्र — १)

नाटककार प्रसाद और चन्द्रगुप्त—बैजनाथ विश्वनाथ — २।।।)

झाँसी की रानी : एक दृष्टि—श्याम जोशी — १।।।)

उपन्यास सिद्धान्त— ,, ,, — ।।।)

व्रजभाषा की विभूतियाँ—प्रो० देवेन्द्र शर्मा एम० ए० — ३।।)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय — २।।)

उपन्यास

वे तीन—अयोध्याप्रसाद झा — १।=)

विगत और वर्तमान—शम्भूनाथ सक्सैना — १।।)

अमृत कन्या—अज्ञात एम० ए० — ५)

मरुप्रदीप—अञ्चल — ३।।)

आत्मदान—विजयकुमार पुजारी — ३)

कहानियाँ

गुफा से महल—विश्वमोहन सिन्हा — ३)

बसेरा—मोहनलाल महतो 'वियोगी' — २)

भारत के युद्ध—कमलचन्द्र दास — १)

उर्वशी—बालकृष्ण बल्दुआ — ।।=)

नाटक

गुरु दक्षिणा—जनार्दन मिश्र — ।।)

ययाति—गोविन्दवल्लभ पन्त — १।।)

राजनीति

भूदान—आचार्य विनोवा भावे — ।)

हमारी समस्याएँ भाग १—पं० जवाहरलाल नेहरू — ।।।)

हमारी समस्याएँ भाग २— ,, ,, — ।)

जीवनी

एक आदर्श महिला—देवदास गांधी — १)

महावीरप्रसाद द्विवेदी—प्रेमनारायण टण्डन — ।।)

वीर कुँवरसिंह—जगदीश झा विमल — ।।)

दर्शन

रामकृष्ण उपनिषद—राजगोपालाचार्य — १।।)

बालोपयोगी

बालकों के आचार— — ।=)

बालकों की रीति नीति— — ।=)

गांधी की शिक्षा भाग १— — ।)

हिन्दी का नवीन साहित्य

सन् १९५१ में प्रकाशित नवीन पुस्तकें

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा ।

आलोचना

हिन्दी नाटकों का विकास—शिवनाथ एम० ए० २॥)
कल्पलता—हजारीप्रसाद द्विवेदी २॥)
वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना—
रामनरेश वर्मा एम० ए० ३॥।)
दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ—
प्रो० कपिल ३॥।)
कुरुक्षेत्र की अन्तरात्मा—उत्तमचन्द्र जैन ।≈)
आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी—शैलकुमारी ७)
अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन—
कपिलदेव द्विवेदी १२)
हमारे प्रमुख साहित्यकार—रामनरायण मिश्र २॥)
हिन्दी कहानी और कहानीकार—प्रो० वासुदेव ३॥)
रोमांटिक साहित्य शास्त्र—
श्री देवराज उपाध्याय ३॥।)
प्रेमचन्द—हंसराज रहबर ५)
महादेवी वर्मा—शचिरानी गुर्टू ६)
कबीर साहित्य का अध्ययन—परशुराम ४)
काव्य की परिभाषा—
प्रो० रामचन्द्र श्रीवास्तव चन्द्र १॥)
उपन्यास सिद्धान्त—श्याम जोशी ॥।)
ब्रजभाषा की विभूतियाँ—प्रो० देवेन्द्र शर्मा ३॥)
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय २॥)
कबीर साहित्य की भूमिका—रामरतन भटनागर २)
साहित्य का मर्म—हजारीप्रसाद द्विवेदी १।)
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—बड़थ्वाल ७)
हिन्दी गद्य के युग-निर्माता—जगन्नाथ शर्मा ३॥।)
हिन्दी निबन्ध और निबन्धकार—
ठाकुरप्रसाद सिंह २)
हिन्दी साहित्य की झाँकी—पं० यदुनन्दन मिश्र २)
काव्य चिन्तन—डा० नगेन्द्र ३)
आधुनिक कवियों की काव्य साधना—
राजेन्द्रसिंह गौड़ ३)
हमारे लेखक— " " ३)
हिन्दी गीति-काव्य—
ओमप्रकाश अग्रवाल एम० ए० ३)
निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट—
श्रीगोपाल पुरोहित २॥)
दृष्टिकोण—विनयमोहन शर्मा ४)
सियारामशरण गुप्त—डा० नगेन्द्र ४)
हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ—जयकिशन ४॥)
रस अलङ्कार पिङ्गल—शम्भुनाथ पाण्डेय २॥)
आधुनिक कवि हृदय—प्रो० प्रभूनारायण शर्मा १।)
संस्कृति सङ्गम—आचार्य क्षिति मोहन सेन २॥)
आधुनिक कवि—प्रो० सुधीन्द्र २)
हिन्दी गद्य और उसकी शाखाएँ—
प्रभूनारायण शर्मा १॥)
रीतिकाल और रत्नाकर—कृष्णकुमार २॥)
कहानी कला और उसका विकास—
छविनाथ त्रिपाठी ३)
कबीर बीजक—कबीर साहेब ५॥)
सुमित्रानन्दन पन्त—शचिरानी गुर्टू ६)
राम-कथा—फादर कामिल बुल्के डी० फिल ८)
कला कल्पना और साहित्य—डा० सत्येन्द्र ४।)
झाँसी की रानी : एक दृष्टि—श्याम जोशी १॥।)
आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी ५)
नाटककार प्रसाद और चन्द्रगुप्त—
बैजनाथ, विश्वनाथ २॥।)
अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—
डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ६)
साहित्य और साधना—डा० भागीरथ मिश्र ४॥)
मकरन्द—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ३॥)

हिन्दी गद्य मीमांसा—रमाकान्त त्रिपाठी ६)
उद्धव शतक समीक्षा—रामनरायण मिश्र १।।)
ऋतम्भरा—सुनीति कुमार चाटुर्ज्या २।।)
सूरदास की वार्ता—प्रभूदयाल मीतल १।।)
साहित्य समीक्षा—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार २।।)
साहित्य और सौन्दर्य—डा० फतेहसिंह १।।।≈)
सुमित्रा नन्दन पन्त—रामरतन भटनागर ३।।)
प्रसाद के नाटक— ,, ,, ५)
महादेवी वर्मा— ,, ,, ४)
कलाकार प्रेमचन्द— ,, ,, ५)
उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—
श्री परशुराम चतुर्वेदी १२)
साहित्य निर्माण—किशोरीदास वाजपेयी २)
आधुनिक कविता की भाषा—
श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी ६)
सूफी काव्य संग्रह—सं० परशुराम चतुर्वेदी ३)
पन्त की काव्य चेतना में गुञ्जन—
प्रो० वासुदेव एम० ए० ३)
सुमित्रा नन्दन पन्त—विश्वम्भरनाथ मानव ५)
मीमांसिका—शिवनाथ एम० ए० २।।)
आधुनिक गीति-काव्य—
सच्चिदानन्द तिवारी एम० ए० २।।)
काव्यालोक—पं० गोपीनाथ शर्मा १)

कविता

प्रदक्षिणा—मैथिली शरण गुप्त १)
अञ्जलि और अर्घ्य—,, ,, ।।।)
मेरे बापू—श्री तन्मय बुखारिया २।।)
पञ्च प्रदीप—शान्ति एम० ए० २)
सुवेला—शम्भुनाथ शेष २)
जब राम राज्य आजाएगा—कृपाशङ्कर शर्मा १)
सीता परित्याग—रामस्वरूप टण्डन ४)
कञ्चन घट—उग्र १।।)
दीप जलेगा—उपेन्द्रनाथ अश्क ३।।)
रूप दर्शन—हरिकृष्ण प्रेमी ६)
किरन—महेन्द्रप्रताप १।।)
अग्नि शस्य—नरेन्द्र २।।)
प्रतिध्वनि—रघुवीरशरण मित्र ३)
सवेरा और साया—'अरुण' १।।)
मुक्ति मार्ग—भारतभूषण अग्रवाल १।।)
काव्य धारा—इन्द्रनाथ मदान ३।।)
स्याम सँदेसो—अमृतलाल चतुर्वेदी ३)
रविबाबू के कुछ गीत—रघुवंशगुप्त २।।)

कहानी

शरणागत—वृन्दावनलाल वर्मा १।)
राजपूती कथाएँ—प्रभूदयाल मीतल ।।।)
मेवाड़ की अमर कथाएँ—,, ,, ।।।)
दुष्यन्त और शकुन्तला—शान्तिस्वरूप गौड़ २)
जय दोल—अज्ञेय ३)
जब सारा आलम सोता है—उग्र १।।)
धरती का राजा—डा० महादेव शाहा २)
अङ्गारे न बुझे—राँगेय राघव २।।)
खरगोश के सींग—प्रभाकर माचवे ३।)
गहरे पानी पैठ—गोयलीय २।।)
मैं मरूँगा नहीं—यशपाल जैन २।।)
आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीत—राहुल २)
कादम्बरी कथा सार—अनु० ऋषीश्वरनाथ भट्ट ५)
ग्रहण के बाद—नरेन्द्र २।)
मौन के स्वर—व्यौहार राजेन्द्रसिंह एम० ए० ।।।)
गङ्गा किनारे—श्री हरिवल्लभ बी० ए० १।)
काश्मीर पर हमला—कृष्ण मेहता २।।)
श्री रामचन्द्र—सत्यनारायण १।।)
रेल का टिकट—भदन्त आनन्द कौशल्यायन २।।)
हमारे गाँव—शान्ति टाँग्री १।।)
आहुति और अन्य कहानियाँ—
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' ।।।)
परन्तु—प्रभाकर माचवे १।।)
गुफा से महल—विश्वमोहन सिन्हा ३)
बसेरा—मोहनलाल महतो वियोगी २)
भारत के युद्ध—कमलचन्द्र दास १)
झाँसी—बालकृष्ण बल्दुआ ।।≈)

नए चित्र—रामस्वरूप दुबे १।)
कांटों के राही—इन्द्रचन्द्र एम० ए० १।।)
चित्रा—हरिशङ्कर सा० रत्न २)
टूटी चूड़ियाँ—शीला शर्मा १।।)
रेखाएँ बोल उठीं—देवेन्द्र सत्यार्थी ३)
जीवन पराग—विष्णु प्रभाकर १)
सम्राट रघु—इन्द्र विद्या वाचस्पति १।)

उपन्यास

तैमूर—धर्मेन्द्र एम० ए० २।।)
अन्धेर नगरी—मन्मथनाथ गुप्त ३)
कभी हँस कर कभी रो कर—कैलाश ३)
अनबुझी प्यास—दुर्गाशङ्कर ७।।)
धरती माता—ताराशङ्कर ५)
रायकमल— ,, २)
मृगजल—अनन्त गोपाल सेवड़े ५)
पी कहाँ—रतननाथ सरसार ३)
आखिरी दाँव—भगवतीचरण वर्मा ३।।)
मुक्ति का बन्धन—गोविन्दवल्लभ पन्त ४)
राख की दुलहिन—रघुवीरशरण मित्र ६)
हृदय मन्थन—सीताचरण दीक्षित ५)
इन्सान—यज्ञदत्त शर्मा ४)
शिशु और सखी—के० एम० मुन्शी २)
प्रगति की राह—गोविन्दवल्लभ पन्त ४।।)
घाट का पत्थर—गुलशन नन्दा ३)
डाक्टर-देव—अमृता प्रीतम २)
बीरबल—श्री रामचन्द्र ठाकुर ४।।)
आत्म बलिदान—इन्द्र विद्या वाचस्पति ३)
वे तीनों—अयोध्याप्रसाद झा १।≈)
विगत और वर्त्तमान—शम्भूनाथ सक्सेना १।।)
अमृत कन्या—अज्ञात एम० ए० ५)
मरु-प्रदीप—अञ्चल ३।।)
आत्मदान—विजयकुमार पुजारी ३)
करुणा—डा० नरेशचन्द्र सेन गुप्त ३)
मोहन सीरीज १५ भाग—शशधरदत्त प्रत्येक १।।)
कुली—मुल्कराज आनन्द ६)
प्रियदर्शी अशोक—हरिभाऊ उपाध्याय ५)

नाटक

जहाँदार शाह—वृन्दावनलाल वर्मा ।।।)
सीता की माँ—रामवृक्ष बेनीपुरी १)
समर्पण—जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द १।।।)
अमिट रेखाएँ—विन्ध्याप्रसाद गुप्त १)
बुझता दीपक—भगवतीचरण वर्मा २)
मृच्छकटिक—ब्यौहार राजेन्द्रसिंह एम० ए० २।)
जौहर—नारायण चक्रवर्ती ।≈)
सपथ—हरिकृष्ण प्रेमी २।।)
मैंने कहा—गोपालप्रसाद व्यास—हास्य ३)
ध्रुवतारिका—रामकुमार वर्मा १)
गुरुदक्षिणा—जनार्दन मिश्र ।।)
ययाति—गोविन्दवल्लभ पन्त १।।।)
राजा परीक्षित—प्रो० गौरीशङ्कर मिश्र १।।)
संघ मित्रा और सिंघल विजय—
रामवृक्ष बेनीपुरी १।।)

निबन्ध

प्रबन्ध सागर—पं० कृष्णानन्दन पन्त ४।)
राजनीति से दूर—पं० जवाहरलाल नेहरू २।।)
नव निबन्ध—परशुराम चतुर्वेदी ३)

जीवनी

श्री जमनालालजी—हरिभाऊ उपाध्याय ६।।)
आधे रास्ते—के० एम० मुन्शी ४।।)
अज्ञात जीवन—अजितप्रसाद ३)
वीर कुँवरसिंह जगदीश झा विमल ।।)
महावीरप्रसाद द्विवेदी—प्रेमनारायण टंडन ।।)
एक आदर्श महिला—देवदास गांधी १)
महासती चन्दनबाला—शान्तिस्वरूप गौड़ ३)
सोलह सती—कविवर मुनि श्री अमरचन्दजी २)
सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा—म० गांधी ५)

राजनीति

बात बात में बात—यशपाल २।।)
भारतीय शासन परिचय—रमेश्वरीलाल गुप्त २।।)

सर्वोदय तत्व दर्शन—गोपीनाथ धरवन ७)
बापू की सीख—संग्रह ॥)
बापू के आश्रम में—हरिभाऊ उपाध्याय १)
भू दान—आचार्य विनोबा भावे ।)
हमारी समस्याएँ भाग १—ज० ला० नेहरू ।॥)
" " भाग २ " " ।)
बापूजी घर में—चतुरसेन शास्त्री १)
मेरे समकालीन—महात्मा गाँधी ५)

धर्म और दर्शन

कृष्णायन (अवतरण काण्ड)—
द्वारिकाप्रसाद मिश्र २)
भागवद् धर्म—हरिभाऊ उपाध्याय ५॥)
वेदान्त—राजगोपालाचार्य १)
उपनिषद्— " १।)
ज्ञान गङ्गा—नारायणप्रसाद जैन ६)
गीतामर्म—कृष्णस्वरूप विद्यालङ्कार ७॥)
जातकट्ठ कथा—श्री भिक्खुन्डा धम्म रक्खितेन ६)
रामकृष्ण उपनिषद्—राजगोपालाचार्य १॥)
भारतीय वचारधारा—अनु० मधुकर २)
अयोध्याकाण्ड—श्यामसुन्दरदास)
उज्ज्वल वाणी—श्री रत्नकुमार जैन ३)

मनोविज्ञान शिक्षा सिद्धान्त

मनो विश्लेषण—सन्तोष गार्गी २)
मनोविज्ञान और जीवन—लालजीराम शुक्ल ४)
शिक्षा सिद्धान्त—आर० एम० मेहरोत्रा ।॥)

ऐतिहासिक

भारत का राष्ट्रीय इतिहास—
श्यामकिशोर मालवीय एम० ए० ३)
भारतीय वीरता—रजनीकान्त गुप्त २॥)
प्राचीन भारतवर्ष की जन सत्ता और संस्कृति—
बैनीप्रसाद बाजपेयी ३।॥)
प्राचीन भारतीय वेषभूषा—डा० मोतीचन्द्र १२)
मैंने देखा—भगवतशरण उपाध्याय ५)
सभ्य मानव का इतिहास— " ५)

भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ—
भाग १ व २ प्रत्येक ४)
भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का विकास—
डा० ब्रजेश्वर वर्मा १॥)
आधुनिक भारत—डा० ईश्वरीप्रसाद ४)
भारत का सांस्कृतिक इतिहास—
हरिदत्त वेदालङ्कार ३॥)
भारत का सांस्कृतिक इतिहास—
रामकृष्ण माथुर ३)

स्त्रियोपयोगी

विश्व की महान महिलाएँ—शचिरानी गुर्टू ४)
नई नारी—रामवृक्ष बेनीपुरी १॥)
आज की पत्नियाँ—व्यथित हृदय २॥)
आधुनिक विनाई—आदित्य किशोरी भार्गव ६॥)

स्फुट

लोक व्यवहार—सन्तराम बी० ए० ६)
धरती माता—सूरज १)
नवीन भारत के पब्लिक स्कूल—
जगदीशचन्द्र शास्त्री १)
हिन्दी सेवी संसार—प्रेमनरायण टण्डन ७॥)
सफल जीवन—प्रो० रामचन्द्र शर्मा ३)
दूध पिलाने वाले जानवर—शुकदेव नारायण ३)
प्राकृतिक जीवन की ओर—
अनु० विट्ठलदास मोदी ३॥)
जीने की कला— " " " १॥)
रवीन्द्र साहित्य—
अनु० धन्यकुमार जैन भाग २० प्रत्येक २)
धातु विज्ञान—डा० दयास्वरूप ६)

बालोपयोगी

सचित्र अक्षर ज्ञान—श्री रामलाल पुरी ।॥)
महाभारत की कहानियाँ—राजबहादुरसिंह १)
झाँसी की रानी— ॥)
नीति प्रमोद—आनन्दकुमार १॥)
सचित्र रामायण रंगीन— १॥)

सभी प्रकार की हिन्दी की पुस्तकें मँगाने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।
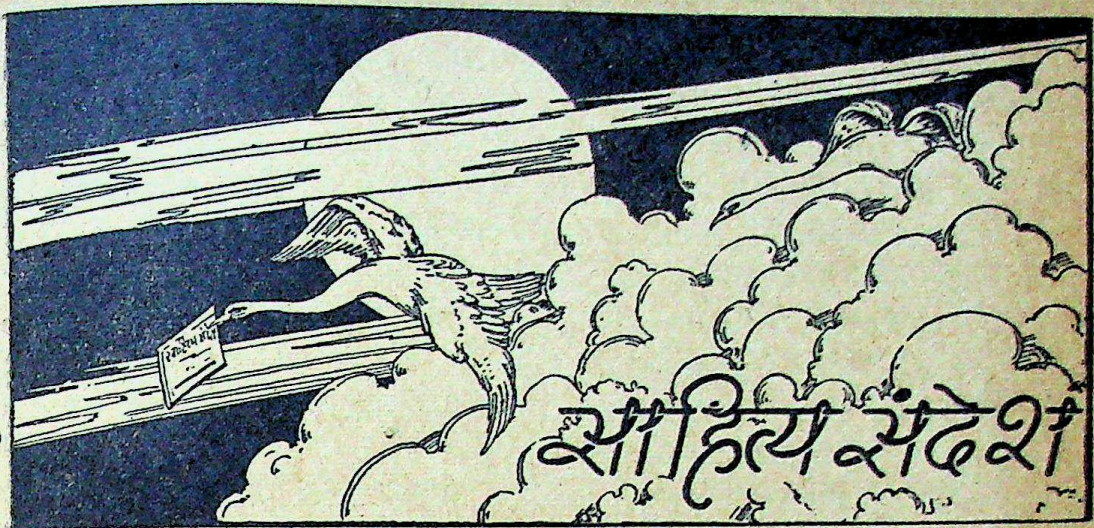
वर्ष १३] आगरा—जनवरी १९५२ [अङ्क ७

हमारी विचार-धारा

हमारा आलोचनाङ्क—

इस वर्ष का हमारा विशेषाङ्क 'आलोचनाङ्क' नवम्बर के अन्त में प्रकाशित हुआ। यह अङ्क अक्टूबर-नवम्बर का था। सितम्बर का अङ्क सितम्बर के शुरू में निकल जाने से विशेषाङ्क ग्राहकों के पास करीब करीब तीन महीने बाद पहुँचा। इतना विलम्ब हो जाने से पाठकों का व्याकुल हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। यही कारण है कि इस बीच में हमारे पास शिकायतों के सैकड़ों पत्र आए जिनका पृथक-पृथक उत्तर देना हमारे लिए सम्भव नहीं था। हमारे पाठकों को इस प्रकार जो असुविधा हुई—उसका हमें बड़ा खेद है। परन्तु हमें इस बात की प्रसन्नता अवश्य है कि हम उन्हें आलोचनाङ्क के रूप में ऐसी चीज दे सके जिसका आदर सभी ने किया है। इस अङ्क की ठोस सामग्री को यदि पुस्तकाकार छापा जाता तो एक महत्वपूर्ण पुस्तक तैयार हो जाती जिसका मूल्य तीन रुपये से कम न होता। वैसे साहित्य सन्देश के साधारण अङ्कों में भी जो लेख निकलते हैं उनका भी जनता में बड़ा आदर है और उसके पुराने अङ्कों की बड़ी माँग रहती है। हालत यह है कि आज हमारे कार्यालय में साहित्य सन्देश के पुराने अङ्क प्रायः सब समाप्त हो गए हैं। और हम उन्हें दुबारा छाप सकें तो वे हाथों हाथ बिक जायँ। हमें खेद है कि हमारे यहाँ पुराना विशेषाङ्क भी कोई नहीं बचा है। 'मारतेन्दु अङ्क' जो गत वर्ष प्रकाशित हुआ था, उसकी थोड़ी सी प्रतियाँ शेष हैं और आलोचनाङ्क की तो इतनी माँग है कि वह शायद दो-तीन महीने में ही समाप्त हो जायगा।

परिशिष्टाङ्क—

आलोचनाङ्क जैसा हम निकालना चाहते थे वैसा नहीं निकाल सके। उसके लिए विशेष रूप से लिखाए गए भी कई लेख उसमें न जा सके। इसीलिए हम उसका एक परिशिष्टाङ्क निकाल रहे हैं। परिशिष्टाङ्क मार्च में निकलेगा और वह आलोचनाङ्क का पूरक होगा। इसका पूर्ण विवरण हम अगले अङ्क में देंगे।

हमारी एक कठिनाई—

इस अवसर पर अपने पाठकों को हम अपनी एक कठिनाई बता देना आवश्यक समझते हैं। इधर कागज पर कण्ट्रोल हटने से उसका मूल्य ही नहीं बढ़ गया है, अब वह अप्राप्य भी हो गया है। १४) में मिलने वाले सफेद कागज का रिम अब २५) में भी नहीं मिलता। इच्छा न रहते हुए भी इसी कारण लाचार होकर हमें साहित्य-सन्देश में घटिया रफ कागज लगाना पड़ रहा है। परन्तु रफ कागज का भाव भी इधर एक वर्ष में बहुत बढ़ गया है। जो कागज ६) रिम था, वह अब १६), १७) रिम है। इस प्रकार कागज का व्यय बहुत बढ़ जाने से पत्र में जो उन्नति हम करना चाहते थे वह नहीं कर पाये। हम अपने सभी लेखकों को अच्छा पारिश्रमिक देना चाहते हैं, परन्तु नहीं दे पाते। कागज अच्छा नहीं लगा पाते, गेट अप सुन्दर नहीं कर पाते। इन सबके लिए रुपया चाहिए और रुपए के लिए यदि मूल्य बढ़ाया जाय तो उसका असर दूसरे ग्राहकों पर पड़ेगा जो अधिकतर गरीब हैं। यद्यपि साहित्य सन्देश का चार रुपया मूल्य इतना कम है कि लोग आश्चर्य करते हैं—साहित्य सन्देश से सस्ता कोई दूसरा ऐसा पत्र नहीं है—फिर भी हम उसका मूल्य बढ़ाना नहीं चाहते। लेकिन वर्त्तमान परिस्थिति में काम चलाना भी कठिन हो चला है। अतएव हम पाठकों से परामर्श लेना चाहते हैं—हम क्या करें? आशा है पाठक अपनी अपनी सम्मतियाँ भेजने की कृपा करेंगे।

पाठक क्या कर सकते हैं ?

इस बीच हमारे प्रेमी पाठक और ग्राहक-अनुग्राहक हमारी सहायता नीचे लिखे भाँति कर सकते हैं :—

१—प्रत्येक पाठक साहित्य-सन्देश के कुछ ग्राहक बढ़ाने की चेष्टा कर सकता है। साहित्य-सन्देश की माँग बहुत है। एक-एक सज्जन चाहें तो चार-चार पाँच-पाँच नए ग्राहक बना सकते हैं। एक ग्राहक बनाना तो बड़ा सरल है। तो यदि एक एक पाठक एक-एक ग्राहक भी और बना दें तो हमें बड़ा बल मिले। जो समर्थ हों वे अधिक ग्राहक भी बना सकते हैं। इसके लिए हम इसी अंक में एक पोस्टकार्ड भेज रहे हैं। हम आशा करते हैं प्रत्येक पाठक उसका उपयोग करके साहित्य-सन्देश की सहायता करेगा। ऐसे नए ग्राहकों का मूल्य मनिआर्डर से भेजा जाय तो हमें सुविधा होगी, और ग्राहक बनने वाले की भी बचत होगी।

२—जो सज्जन हमारे पुराने ग्राहक हैं वे अपना मूल्य समाप्त होने पर वी० पी० पाने की प्रतीक्षा न करके रुपया मनिआर्डर से भेज दिया करें। मनिआर्डर भेजने वाले सज्जन मनिआर्डर फार्म पर अपनी ग्राहक संख्या लिखना न भूलें। यदि ग्राहक संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' शब्द अवश्य लिखें।

३—जो पुराने ग्राहक आगे ग्राहक नहीं रहना चाहते हों, वे एक कार्ड भेजकर हमें उसकी सूचना पहले से दे दें। जिससे वी० पी० भेजने में हमारा पैसा और परिश्रम व्यर्थ न जाय।

४—हमारे जो ग्राहक समर्थ हों वे हमारे सहायक या स्थायी ग्राहक बन जाँय। ग्राहकों को १००) एक बार देना पड़ेगा, और उनका यह रुपया हमारे यहाँ जमा रहेगा। जब वे ग्राहक न रहना चाहें यह रुपया वापस मंगा सकते हैं। ऐसे ग्राहकों को चार रुपया वार्षिक नहीं देने पड़ेंगे। उन्हें पत्र एक प्रकार से मुफ्त मिलेगा जब तक उनका १००) हमारे यहाँ जमा रहेगा। ऐसे ग्राहक हम अधिक नहीं बना सकेंगे। अतः जो सज्जन इस सुविधा से लाभ उठाना चाहें तथा हमें सहयोग देना चाहें, वे कृपा करके ३१ जनवरी तक १००) भेज कर हमें आभारी करें। रुपया मिलने पर यहाँ से उसकी टिकिट लगी रसीद भेज दी जायगी।

५—इस और क्या कर सकते हैं, और हमारे ग्राहक हमें किस प्रकार अपना सहयोग दे सकते हैं—इस पर जो सज्जन प्रकाश डाल सकें—डालने की कृपा करें। साहित्य-सन्देश हिन्दी-साहित्य की

और हिन्दी के विद्यार्थियों की सेवा और सहायता अधिकाधिक कर सकें—हमारा उद्देश्य केवल यही है।

हमारी गोत्र-वृद्धि—

हिन्दी साहित्य में आलोचना—शुद्ध आलोचना का पत्र आज से कोई २० वर्ष पहले श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने 'समालोचक' नाम से निकाला था। यह त्रैमासिक पत्र एक दो वर्ष चल कर बन्द हो गया। उसके बाद वैसे पत्र और अधिक नहीं निकले—'साहित्य-सन्देश' एक अपवाद है। आज अपने सगोत्री 'आलोचना' को देख कर हमें बड़ी प्रसन्नता है। इसे दिल्ली से श्री शिवदानसिंहजी चौहान ने निकाला है। इसका प्रथम अङ्क इसकी श्रेष्ठता, गम्भीरता और महत्ता का परिचायक है। हम बड़े प्रेम से इसका स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि यह पत्र चिरंजीवि होगा। आलोचना का वार्षिक मूल्य १२) है, एक अङ्क का ३) प्राप्ति-स्थान १ फैज बाजार, दिल्ली।

'भारतीय आत्मा' का अभिनन्दन—

हिन्दी के यशस्वी कलाकार और मा भारती के सच्चे सपूत माननीय प० माखनलालजी चतुर्वेदी की हिन्दी सेवाएँ किससे विदित नहीं हैं। हमें जान कर हर्ष हुआ कि पिछले दिनों आपके अभिनन्दनार्थ इन्दौर के मालव हिन्दी विद्यापीठ ने एक महत्वपूर्ण समारोह किया था। हम इस प्रकार के समारोहों का हार्दिक स्वागत ही नहीं करते इसे आवश्यक भी समझते हैं। अपनी ओर से भी हम माननीय चतुर्वेदीजी के प्रति अपनी प्रेमाञ्जलि भेट करते हैं।

बम्बई में हिन्दी—

बम्बई प्रदेश की सरकार ने यह घोषणा की है कि आगामी ३ वर्ष के भीतर सरकार के प्रत्येक कर्मचारी को किसी भी हिन्दी प्रचार सभा द्वारा आयोजित हिन्दी की एक उच्च परीक्षा पास करना अनिवार्य होगा। जो नई नियुक्तियाँ होंगी उन्हें भी तीन वर्ष के भीतर कोई न कोई हिन्दी की परीक्षा पास करनी होगी और १ अप्रैल १९५४ के बाद कोई नियुक्ति ऐसी न होगी जिसमें व्यक्ति हिन्दी पढ़ा न हो। बम्बई सरकार के इस आदेश का हम स्वागत करते हैं और उसके इस निर्णय के लिए उसे बधाई देते हैं।

हैदराबाद में हिन्दी—

हैदराबाद की सरकार ने भी हिन्दी के लिए अभिनन्दनीय आदेश दिए हैं। हैदराबाद के सभी मिडिल और हाई स्कूलों में हिन्दी अनिवार्य कर दी गई है। अध्यापकों के लिए हिन्दी जानना आवश्यक कर दिया गया है। सभी सरकारी 'साइनबोर्ड' हिन्दी में रहेंगे। वहाँ के उस्मानिया विश्व विद्यालय ने भी शिक्षा का माध्यम उर्दू के स्थान पर हिन्दी करने की घोषणा करदी है। हम इस सब के लिए वहाँ के अधिकारियों को बधाई देते हैं।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी—

३० जनवरी १९५१ को हिन्दी के अनन्य सेवक और प्रचारक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की साठवीं वर्ष गाँठ थी। चतुर्वेदीजी के पूज्य पिता हमारे पिताजी के गुरु रहे हैं और उस नाते चतुर्वेदीजी हमसे पैतृक स्नेह मानते हैं। ऐसी दशा में इस अवसर पर उन्हें बधाई देना हमारा विशेष अधिकार है। पर इस निजी सम्बन्ध को छोड़ कर सार्वजनिक जीवन में भी हमारी चतुर्वेदीजी की बहुत घनिष्ठता रही है और उस नाते से भी हमारा यह विश्वास है कि चतुर्वेदीजी ने पिछले तीस वर्ष से हिन्दी की जो सेवा की है उसके लिए वे बधाई ही नहीं अभिनन्दन के पात्र हैं। चतुर्वेदीजी ने अपने एक मित्र को लिखा है कि अपने पिता के समान वे भी ९० वर्ष जीना चाहते हैं। अतः अभी ६० वीं वर्ष गाँठ पर उन्हें बधाई देने की जरूरत नहीं है। हमारा निवेदन है और भगवान से यही प्रार्थना है कि चतुर्वेदीजी ९० नहीं पूरे सौ वर्ष जीवें—'शतंजीवी' हों। फिर भी ६० वीं वर्ष गाँठ पर यदि हिन्दी वाले उन्हें बधाई दें या उनका सम्मान करें तो उसे वे क्यों अस्वीकार करें। वे कई अभिनन्दनों के लिए स्वयं उत्तरदायी

हैं, अतः वे इस सम्मान से भागें नहीं, क्योंकि प्रचार और प्रोत्साहन के क्षेत्र में चतुर्वेदीजी का कार्य अनुपमेय है और उनकी सेवाओं का असली मूल्य आज आँका नहीं जा सकता। साहित्य सृजन के क्षेत्र में भी चतुर्वेदीजी ने बहुत काम किया है, पर हिन्दी संसार उनसे इस क्षेत्र में और अधिक की अपेक्षा रखता है। चतुर्वेदीजी के पास कई लेखकों के संबंध की बहुमूल्य सामग्री संग्रहीत हैं, उसका सदुपयोग करके वे कुछ पुस्तकें लिख दें तो हिन्दी का बड़ा हित हो। परन्तु मालूम होता है चतुर्वेदीजी शतायु होने के विश्वास में उस आवश्यक काम को टाल रहे हैं। हमारा निवेदन यह है कि वे इधर का काम अभी पूरा कर दें बाकी जीवन में और कार्य करने को उन्हें बड़ा क्षेत्र मिलेगा, उसकी चिन्ता न करें। हम आशा करते हैं कि वे अपने जीवन के आगामी ४० वर्ष में १२० वर्ष का कार्य पूरा करेंगे। —महेन्द्र

उर्दू का प्रश्न—

परतन्त्र भारत में जब-जब हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने की आवाज उठायी गयी, तभी-तभी 'उर्दू' को किसी न किसी रूप में सामने खड़ा किया गया। उस काल में उर्दू को मुसलमानी संस्कृति का वाहक माना गया और उसी के आधार पर साम्प्रदायिक भावनाओं को अधिकाधिक उत्तेजित किया गया। भारत स्वतन्त्र हुआ, पाकिस्तान बना, बहुत उद्योग और चेष्टाओं के उपरान्त हिन्दी को उसका जन्म-सिद्ध अधिकार मिला। हिन्दी का विरोध फिर भी लोगों के अन्तर्मन में रहा, और जैसे ही कुछ व्यवस्था और निरुद्वेग वातावरण बना कि फिर उस विरोध को कहीं किसी बहाने कहीं किसी बहाने प्रकट किया जाने लगा। समय-समय पर इसी पत्र के इस स्तम्भ में प्रकाशित विचारों से उस विरोध का स्वरूप हम स्पष्ट करते रहे हैं। अभी हाल में डा० जाकिरहुसैन महोदय ने लखनऊ में कुछ उद्गार प्रकट किये हैं—जिनका मर्म यह है कि भाषा के प्रश्न को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए। सेकिण्डरी शिक्षा तक हिन्दी एक अनिवार्य विषय रहना चाहिए, जिसे सभी को पढ़ना चाहिए। उत्तर प्रदेश में उर्दू को भी हिन्दी के साथ राज भाषा मान लेना चाहिए, तथा कालेज में हिन्दी को विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य नहीं करना चाहिए। इन बातों के अर्थ स्पष्ट हैं, हिन्दी राष्ट्र-भाषा स्वीकार की गयी है, उसे यदि केन्द्र में पछाड़ना है तो पहले उसके घर में ही पछाड़ो; घर में ही जब हिन्दी के साथ उर्दू राज-भाषा मान्य होगी तो केन्द्र को भी उसे मानने के लिए विवश होना पड़ेगा। इससे राष्ट्र में 'द्विधा' उत्पन्न होगी, और राष्ट्र दुर्बल बनेगा। हिन्दी-उर्दू की द्वैध मान्यता फिर घूम फिरकर दो राष्ट्रों के सिद्धान्त की जड़ को सींच सकती है। प्रत्येक भाषा को अपने साहित्य की श्रीवृद्धि करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु उसकी वह समृद्धि भी 'भारतीयता' के भावों को लेकर ही होनी चाहिए। प्रत्येक भाषा को अपनी जड़ भारत की भूमि में पनपानी है। प्रत्येक भाषा का धर्म है कि जहाँ तक राष्ट्र-भाषा का प्रश्न है वहाँ तक वह राजनीति से अपना कदम उठाले, और भारत के राष्ट्र के ऐक्य को यथार्थता और दृढ़ता प्रदान करने के लिए संसद द्वारा स्वीकृत 'राष्ट्रभाषा' हिन्दी को भी वह मान्यता दे, और उसी नाते हिन्दी को अपनी समझकर उसके साहित्य को भी राष्ट्रभाषा के गौरव के अनुकूल समृद्ध करने की चेष्टा करे। यही बात हमें उर्दू से भी कहनी है। उससे हमें विशेषतः कहनी है, क्योंकि समस्त भारतीय भाषाओं में, दक्षिण से उत्तर, पूर्व से पश्चिम तक की समस्त भारतीय भाषाओं में केवल 'उर्दू' ही एक ऐसी भाषा रही है, जिससे दो संस्कृतियों, दो राष्ट्रों की भावना को उत्तेजना दी गयी, और यही एक मात्र वह भाषा रही जिसको भारतेतर प्रदेशों से रस मिला है, और जिसने देश की प्रवृत्ति को छोड़ विदेश की प्रवृत्ति को विशेष महत्त्व दिया है। भारत संघ की 'उर्दू' को अपने भारत-राष्ट्र के गौरव के अनुकूल अपना रूप बनाने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

साहित्य की यथार्थवादी परिभाषा

प्रो० गणेशदत्त शास्त्री, एम० ए०, एल०-एल० बी०

मानवीय उत्कर्ष में साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य जब पाशविक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करता है तभी उन्नति की ओर अग्रसर होता है। इस उन्नति-यात्रा में मनुष्य का आधार उसकी बुद्धि है, और इस बुद्धि का व्यापक रूप उसकी वाणी की क्षमता से ही प्रकट होता है। यदि मनुष्य बुद्धि-विहीन होता तो वह पशु से किस बात में भिन्न होता, और यदि उसमें बुद्धि के होते हुये भी वाणी या वाक्य की क्षमता न होती तो वह क्या कर पाता। मनुष्य के विकास की आधार-शिला केवल उसके वाक् सामर्थ्य पर ही अवलम्बित है। मनुष्य अपने विचारों को, अपनी कल्पना को, अपने हृदयाङ्गन भावों को, शब्द द्वारा प्रकट कर सकता है और इस प्रकार उन्हें न केवल एक स्थायी रूप प्रदान करता है वरंच उनका व्यापक प्रसार करने में भी समर्थ होता है, और यही जिसे हम साहित्य कहते है उसका मूलस्रोत है।

भाषा का ही परिपाक साहित्य में होता है। वाणी द्वारा मनुष्य अपने आन्तरिक विचारों को प्रकट करता है और इसी के द्वारा वह अन्य पुरुषों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। वाणी ही मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार का माध्यम है। वाणी का उपयोग उसको अपनी और नैसर्गिक विशेषता है। मनुष्य का चेतन स्वरूप शब्द द्वारा ही प्रकट होता है। शब्दों द्वारा मन में उठने वाले भावों तथा विचारों को प्रकट करते रहना उसका स्वाभाविक गुण है। अपनी इच्छापूर्ति के लिये उसे बाध्य होकर वाणी द्वारा अपनी आवश्यकताओं को दूसरों के आगे कहना पड़ता है। यदि इस प्रकार मनुष्य प्रकृति द्वारा बाध्य न किया गया होता, तो सम्भव है कि वाणी युक्त होते हुये भी वह भाषा शून्य रह जाता। संसार की भाषा-विभिन्नता तथा उनका पारस्परिक वैषम्य भी इसी कारण उत्पन्न होता है। जिन जातियों ने प्रकृति से प्रेरणा पाकर या अन्य कारणों से प्रेरित होकर भाषा के उपयोग का अधिक व्यवहार किया है, वे अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक समुन्नत हो गयीं।

मनुष्य का भाषा-प्रयोग अपने मनोगत विचारों को दूसरों तक पहुँचाने के लिये ही आरम्भ होता है, और फिर इस चेष्टा में उसे जो आनन्द मिलता है उसकी पूर्ति के लिए वह अपने लिये भी यही व्यापार करने लगता है। इस प्रकार के प्रयत्नों का ही फल साहित्य है। साहित्य के मूल में मनुष्य की यही इच्छा काम करती है। मनुष्य अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट करता है, इसलिये कि दूसरे उसके अनुकूल आचरण करें या उसकी इच्छापूर्ति करें। इस प्रकार के व्यापार के लिये साक्षात् व्यवहार जब असुविधाजनक होने लगा तब मनुष्य ने लेखन प्रणाली का आविष्कार किया। केवल मुख से उच्चरित शब्दों का स्थायित्व बहुत ही स्वल्प होता है। उसकी परिधि सुनने वालों तक ही सीमित रहती है और उसका अन्त भी उसी क्षण हो जाता है। पर जब उसे लिपिबद्ध कर दिया जाता है तब उसे अमरत्व (अक्षरत्व) प्राप्त हो जाता है। वह स्थायी-रूप में प्रकट हो जाता है। मनुष्य का मनोभाव जब शब्द द्वारा प्रकट होकर लिपिबद्ध हो जाता है तब साहित्य की नींव पड़ती है।

दूसरों के साथ मनुष्य का व्यवहार शब्दों के द्वारा होता है। मनुष्य स्वभाव से ही एकान्तसेवी न होकर जन-प्रेमी तथा समाजेच्छुक है। वह अकेला न रह सकता है और न रहना पसन्द करता है। अपने ही समान व्यक्तियों से आविष्ट मनुष्य अपने

सुख-दुख में दूसरों से इस बात की आशा रखता है कि वे उसके साथ अच्छा व्यवहार करेंगे, उसके दृष्टिकोण को समझेंगे तथा उसके साथ सहानुभूति करेंगे। इसी भावना से प्रेरित होकर वह शब्दोन्मुख होता है। शब्द द्वारा मनुष्य अपने आन्तरिक रूप को ही प्रकट करता है। ऐसा करने के लिये उसे उसकी सामाजिक प्रवृत्ति ही अनुप्रेरित करती है। यही उसका स्वभावजन्य गुण है। इस कृति में उसे जो आनन्दानुभव होता है, वही साहित्य की जननी है। अपने इच्छाओं की अभिव्यक्ति तो बाध्य होकर ही मनुष्य को करनी पड़ती है, पर इस अभिव्यक्ति का परिणाम मनुष्य के कलात्मक रूप में प्रकट होता है।

मनुष्य की जिज्ञासा का अन्त नहीं। वह अपने को दूसरों के आगे प्रकट करता रहता है। उसकी प्रवृत्ति दूसरों के सुख दुःख को जानने तथा अपने सुख दुःख को दूसरों को जनाने की होती है। अपने अनुभवों को दूसरों को सुनाना तथा दूसरों के स्वानुभवों को जानने की इच्छा मनुष्य का एक साधारण गुण है। इस गुण का जब कलात्मक रूप भाषा में प्रकट होता है तब साहित्य का सृजन होता है। बिना भाषा का साहित्य नहीं, और बिना अभिव्यक्ति के भाषा नहीं, और बिना अनुभूति के अभिव्यक्ति नहीं, भाषा और अनुभूति का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जब कलाकार अपने भावों को शब्दों द्वारा प्रकट करता है और उन्हें एक स्थायी स्वरूप प्रदान कर देता है तो उसी क्षण साहित्य का उदय होता है।

साधारण रूप से साहित्य मानवीय ज्ञान का समुच्चय है। अपने विशालतम अर्थ में साहित्य सम्पूर्ण ज्ञान का समावेश करता है। मनुष्य ने जो कुछ भी शब्दों द्वारा प्रकट किया है वह उसकी साहित्यिक प्रवृत्ति का द्योतक है। इस प्रकार शब्दात्मक ज्ञान को ही हम साहित्य कह सकते हैं। पर इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष तो है ही, यह स्पष्टतः अव्यवहार्य भी है। इस व्यापक अर्थ में साहित्य के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है। ज्ञान, विज्ञान, कला कौशल जिसको भी शाब्दिक रूप हम दे सकें, इस अर्थ में साहित्य में निहित हो जायगा, और उसका अपना अस्तित्व न रह जायगा। ज्ञान तो ब्रह्म का ही रूप है और यह अनन्त है। मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि से इस अनन्त ब्रह्मस्वरूप ज्ञान का खण्ड रूप से ही परिचय पा सकता है और इसी प्रकार ज्ञान का विभागीय वर्गीकरण करके ही वह उन्नति कर सकता है। विज्ञान तथा साहित्य, ज्ञान के ही स्थूल रूप हैं। साहित्य का विशिष्ट अर्थ विज्ञान से परे मानवीय ज्ञान है। वाह्य जगत् से मनुष्य का सम्बन्ध एक रहस्यमय प्रबन्ध है। इस भौतिक जगत् में मनुष्य अपने को एक रहस्य के बीच पाता है। उसे अपने मन का बोध तो है ही, इन्द्रिय द्वारा जिस जगत् का वह अनुभव करता है, उसका भी उसे परिज्ञान होता है और उसकी बुद्धि उसे इस रहस्यमय प्रपञ्च के भेद को समझने की ओर प्रेरित करती है। जगत् का यथावत् ज्ञान सम्पादन करने की दिशा में जब मनुष्य अग्रसर होता है तब विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इस विज्ञान क्षेत्र में मनुष्य यथार्थता का मापदण्ड लेकर ही आगे चलता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण भौतिक वास्तविकता का होता है। वैज्ञानिक जो वस्तु जैसी है उसे उसको यथार्थ रूप में देखना तथा समझना चाहता है। इस प्रकार उसका आधार निजी वैयक्तिक न होकर वस्तुवादी तथा, प्रमाणापेक्षी होता है, और यही मनुष्य के वैज्ञानिक तथा कलात्मक रूप का आधार है। विज्ञान में मनुष्य तथ्य-गवेषणा में प्रमाणों का आधार लेता है और प्रत्यक्ष से ही सम्बन्ध रखता है, उसे सत्य पदार्थ ज्ञान से ही प्रयोजन रहता है, बुद्धि द्वारा अग्राह्य कल्पना का यहाँ स्थान नहीं, और न ऐसे विचार का ही जिसका प्रत्यक्षीकरण न हो सके। इसके विपरीत कलात्मक अभिव्यक्ति में मनुष्य अपना वैयक्तिक अस्तित्व अक्षुण्ण रखता है। वह प्रथम स्वयम् सत्य है, तत्पश्चात् अन्य किञ्चित ! साहित्य इस प्रकार की कलात्मक चेष्टा का ही जिसके द्वारा

मनुष्य वाह्य जगत् तथा अपने बीच व्याप्त रहस्य को निजी रूप से समझने तथा समझाने का प्रयत्न करता है, नाम है। विज्ञान यथार्थ रूपी तथा भौतिकवादी है, कला जिसका साहित्य एक अङ्ग है, आदर्शवादी तथा कल्पनात्मक।

कला की आधारशिला वस्तुवादी न होकर कल्पनात्मक तथा आध्यात्मिक होती है। कला में मनुष्य जिस सत्य का दर्शन करता है वह इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष न होते हुए भी आन्तरिक चेतन को तुष्ट करने वाला तथा मन को शान्ति तथा आह्लाद प्रदान करने वाला होता है। वैज्ञानिक गवेषणा प्रकृति के मूल रूप को यथार्थ-भाव से परिग्रहण करना चाहती है कलात्मक प्रवृत्ति प्रकृति के रहस्य को हृदयङ्गम करने के लिये मनस्तोष को ही आधार मानती है। प्रथम प्रयास में बुद्धि का ही अवलम्बन है और वस्तुस्थिति ही मार्ग का निर्धारण करती है और प्रत्येक पथिक के लिये एक ही मार्ग तथा समान साधन है। इसके विपरीत कला की सेवा कल्पना के द्वारा ही होती है और साध्य की ओर जाने के लिये कलाकार को अपनी ही भावना तथा अनुभूति का आश्रय लेना पड़ता है। यह आवश्यक नहीं कि वह परमुखापेक्षी हो। विज्ञान में अनुसंधान तो सहयोग तथा पारस्परिक आदान-प्रदान के सर्व-सम्मत आधार पर ही हो सकता है। जहाँ तक अनुसन्धान हो चुका है, उसके बाद ही अग्रिम गवेषणा होगी। वैज्ञानिक की दृष्टि अंतर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होती है। और इसका फल भी संसार के लिये सुलभ तथा प्रत्यक्ष है। विज्ञान की कसौटी उसकी यथार्थता तथा उपयोगिता है। जो कुछ भी विज्ञान देता है, उसका व्यवहारिक मूल्य है। विज्ञान प्रदत्त विद्या का उपयोग ही उसकी विशेषता है, विज्ञान का चरम लक्ष्य चाहे जो कुछ भी हो उसका मूल हेतु व्यवहार्य ज्ञानप्राप्ति ही है। और यहाँ पर कला के साथ उसका विभेद उत्पन्न हो जाता है, कला की उपयोगिता साधारण अर्थ में उसके महत्व का कारण नहीं, कला का अभिप्राय सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण करना तथा मन को शान्ति देना ही है। इस अर्थ में कला उपयोगी सामग्री भले ही हो पर इस प्रकार की उपयोगिता कला का लक्ष्य नहीं, कला सृष्टि के भेद को अवगमन करने का एक विशिष्ट साधन है, इसका लक्ष्य 'सत्यं' तथा आधार 'सुन्दरम्' है और फल 'शिवम्'।

मनुष्य की ज्ञान राशि ग्रन्थों में निहित है। जो कुछ भी मनुष्य ने देखा सुना या समझा उसे उसने शब्दात्मक रूप देकर अपने तक ही सीमित नहीं रक्खा। वह अपने ज्ञान की भाषा द्वारा प्रकट कर रचनात्मक सृष्टि का निर्माण करता है। ग्रन्थों के द्वारा ही मनुष्यों के बीच परस्परिक विचार का आदान प्रदान होता है। ग्रन्थकार अपने ज्ञान को लिपिबद्ध कर अपनी सामाजिक प्रवृत्ति की ही पूर्ति करता है। ग्रन्थ द्वारा ही ज्ञान राशि समृद्ध होती है पर ज्ञान अनन्त तथा असीम है। विषय भेद से ग्रन्थों में भी विभिन्नता आजाती है। प्रत्येक विषय का विशिष्ट क्षेत्र है और तत्सम्बन्धी पुस्तकों का एक विशेष वर्ग। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकों को भिन्न-भिन्न कक्षा में विभाजित कर सकते हैं। साहित्य का रूप ज्ञानात्मक होते हुए भी सब विषयों की पुस्तकों का इसमें समावेश करना अनुचित तथा उच्छृङ्खल होगा। साधारण रूप से साहित्य में केवल ऐसी रचनाओं का ही समावेश होगा जो किसी विषय विशेष से सम्बन्धित न हों। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का अपना क्षेत्र तो है ही और उस विषय पर लिखी गयीं पुस्तकें उसी विषय की कही जायँगी। उस विषय से सम्पर्क रखनेवाला व्यक्ति ही, या उस प्रकार के ज्ञान में अभिरुचि रखनेवाला पुरुष ही, उस विषय की ओर आकृष्ट होगा। सर्वसाधारण को उसमें अभिरुचि कम हो या न हो पर साहित्य का सबंध साधारण जन से है। इसका विषय किसी प्रकार का पदार्थ बोध या विशिष्ट ज्ञान नहीं है जिसे खास तरह के विद्वान ही समझ सकें या जिसे समझने में किसी विशेष

मनोवृत्ति की आवश्यकता पड़े। इस प्रकार के ग्रन्थ विषय ज्ञान से अनुप्रेरित होने के कारण केवल ऐसे ही लोगों के लिए ही होते हैं जो उन विषयों के या पदार्थों के जिज्ञासु हों। सर्व साधारण के लिये तो ऐसे ग्रन्थों में कोई विशेष आकर्षण नहीं। साहित्य में केवल ऐसी ही रचनायें आती हैं जिनका आकर्षण मनुष्यमात्र के लिए समानरूप से हो। पर केवल आकर्षण ही साहित्य का आधार नहीं।

आकर्षण कई प्रकार से हो सकता है। लाभ दृष्टि से हम एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं। विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी हमारा झुकाव किसी ओर हो सकता है। जब किसी विषय की ओर हम प्रवृत होते हैं तब इस प्रकार के किसी विशेष स्वार्थ साधन की ओर हमारा लक्ष्य हो सकता है। साहित्य का आकर्षण ज्ञान विशेष के कारण नहीं होता। मनुष्यमात्र में जो समान रूप से अपने प्रति तथा अपने ही सदृश अन्य पुरुषों के प्रति सहज अनुराग है, और जिस साधारण अनुराग से प्रेरित होकर वह अपने सुख दुःखात्मक अनुभूति को समाज के सम्मुख उपस्थित करता है वही कला के उत्पत्ति का कारण है। साहित्य की पृष्ठभूमि यही मानवीय प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति से उत्प्रेरित मानवीय उद्योग जब शाब्दिक रूप धारण करता है तब उसे हम साहित्य कहते हैं। इस प्रकार का प्रयास अनेक रूपों में प्रकट हो सकता है। मनुष्य अपने भावों तथा विचारों का प्रदर्शन हाव भाव, चेष्टा नृत्य गीत द्वारा भी करता है। अन्य उपायों से यथा मूर्ति-निर्माण, चित्रलेखन तथा तत्वत् अन्य साधनों से भी मनुष्य अपने इस अभीष्ट की पूर्ति करता है। कला के इस प्रकार अनेक रूप प्रकट हो जाते हैं। पर इन विविध कलाओं में समान रूप से वही एक मानवीय प्रवृत्ति है जिसके वश में हो कर मनुष्य अपनी परिकल्पना को साक्षात् रूप प्रदान करता है।

शब्दों द्वारा प्रकटित मानवीय परिकल्पना ही साहित्य का रूप धारण करती है। इस प्रकार की परिकल्पना का आश्रय लेकर कलाकार अपने रागात्मक अन्तर्जगत् का ही सृजन करता है और जब इस शाब्दिक सृष्टि का हम पर इसप्रकार प्रभाव पड़ता है कि हम हर्षित होते हैं तो वही साहित्य की श्रेणी में आ जाता है। ग्रन्थ तो अनेक हैं पर विषय भेद से सब अपने-अपने विषयात्मक श्रेणी में विभक्त हो जाते हैं। जिनका लक्ष्य केवल किसी एक प्रकार के ज्ञान का ही प्रतिपादन है वे साहित्य की श्रेणी में नहीं समाविष्ट होंगे। यहाँ ग्रन्थों के महत्व का तथा उनके उपयोगिता का प्रश्न नहीं है। साहित्य का सम्बन्ध केवल मानव से है, मानव विशेष से नहीं, साहित्य के अन्तर्गत केवल ऐसी ही रचनाओं का समावेश होता है जिनका उद्देश्य शब्दों द्वारा मानवीय प्रवृत्तियों को इस प्रकार प्रकट करना है कि उनके द्वारा जनसाधारण का स्थायी मनोरञ्जन हो। कलाकार की सृष्टि का कारण ही उस प्रयास में होने वाला आन्तरिक आल्हाद है। उसे जो आनन्द अपने मानसिक जगत् को भाषात्मक रूप देने में आता है वह उसी तक सीमित नहीं रहता। यदि ऐसा हुआ तो उसका प्रयास विफल है। कला का प्रतिफल तो भावुक के हृदय में उठने वाला उल्लास है। इसलिये साहित्य के अन्तर्गत केवल ऐसे ही ग्रन्थ आते हैं जिनके द्वारा मनुष्यमात्र की अनुरञ्जनात्मक प्रवृत्ति की तृप्ति होती है। साहित्य मानवीय हृदय का क्रीड़ाक्षेत्र है। कल्पना द्वारा प्रसूत अन्तरङ्ग भावों का जब सुन्दरतम भाषा में प्रकटन होता है तब साहित्य का उदय होता है। साहित्य भावमय भाषा का ही प्रयोग है, जिसके सहारे मनुष्य अपने मानसिक जगत् को बाह्यरूप देकर एक निश्चित आदर्श की ओर अग्रसर होता है। साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भाषा से है और भाषा के द्वारा कलात्मक रसोत्पत्ति ही इसका प्राण है। उन समस्त रचनाओं का जिनके द्वारा इस उद्देश्य लक्ष्य की सिद्धि हो साहित्य में समावेश होता है।

भारतेन्दु युगीन रंगमंच : स्वर्गीय गहमरीजी की साक्षी

डॉ० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

भारतेन्दु युग और नाटक—भारतेन्दु युग से हिन्दी का आधुनिक काल आरम्भ होता है, इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने हिन्दी में नाटकों के प्रणयन की ओर कदम उठाया भारतेंदु-युग से पूर्व हिन्दी में कुछ संस्कृत नाटकों के अनुवाद हुए थे। इनमें से हिन्दी अनुवादकों को प्रबोध चन्द्रोदय तथा हनुमान्नाटक विशेष प्रिय थे। प्रबोध चन्द्रोदय के कितने ही अनुवाद हुए। 'शकुन्तला' की भी उपेक्षा नहीं की गयी। मालती माधव नाटक के आधार पर 'माधव-विनोद' सोमनाथ ने लिखा। ये संस्कृत नाटकों के अनुवाद तो थे पर नाटक नहीं थे। इनमें नाटकत्व का अभाव था। यथार्थ में ये काव्य-शैली में लिखे गये थे। यही कारण है कि नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु युग में हुआ। भारतेन्दु जी ने हिन्दी का सबसे प्रथम नाटक 'नहुष' को माना है। यह नाटक भारतेन्दुजी के पिता गिरिवरदासजी का लिखा हुआ था। यह अनुवाद नहीं था, साथ ही नयी शैली की ओर झुकाव भी था, यद्यपि 'ब्रजभाषा' का माध्यम इसे नयी शैली के योग्य नहीं बनाता। विन्ध्येश्वरी तिवारी गोरखपुर निवासी का 'मिथिलेश कुमारी' तथा रामगया प्रसाद दीन अयोध्या निवासी के रामलीला नाटक तथा प्रहलाद चरित्र नाटक इस 'नहुष' नाटक से पूर्व लिखे गये, किन्तु इनमें भी यदि नाटकत्व रहा होता तो भारतेन्दुजी इन्हें आरम्भिक नाटकों की श्रेणी में अवश्य रखते और 'नहुष' को हिन्दी का प्रथम नाटक न कहते। भारतेन्दुजी से पूर्व तो राजा लक्ष्मणसिंह भी 'शकुन्तला नाटक' का अनुवाद प्रस्तुत कर चुके थे। महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' भी भारतेन्दु से पूर्व लिखा जा चुका था। भारतेन्दु जी ने इसे भी नहुष के साथ पूर्व के नाटकों में परिगणित किया है। शुक्ल जी ने तो भारतेन्दु पूर्व के नाटकों में इसी 'आनन्द रघुनन्दन' को नाटकत्व से युक्त माना है। यह भी ब्रजभाषा में था और अनुवाद था। इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व नाटक-साहित्य अत्यन्त दरिद्रावस्था में था। भारतेन्दु जी ने हिन्दी में नाटकों का आरम्भ किया। यह सभी जानते हैं कि उन्होंने सबसे पहले सं० १६२५ में बंगला से 'विद्यासुन्दर' नाटक का अनुवाद किया। इस अनुवाद से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि भारतेन्दु जी की प्रेरणा की दिशा किधर थी। नाटक रचना की दिशा में भारतेन्दु जी में हमें स्पष्टतः तीन प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है।

एक ओर तो भारतेन्दु जी संस्कृत नाटक और नाट्यशास्त्रों के अनुशीलन में प्रवृत्त थे। अपनी भारतीय परम्परा में नाटकों के स्वरूप को समझने के लिये ही उनका यह उद्योग रहा होगा। 'नाटक' नाम की पुस्तक में उन्होंने अपनी इस भारतीय नाट्य परम्परा के ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। 'भारतेन्दु' जी का 'नाटक' हिन्दी का प्रथम नाट्यशास्त्र है। संस्कृत के नाटकों के अनुवाद में भी भारतेन्दुजी की एक स्पष्ट दृष्टि दिखायी पड़ती है। उन्होंने चाहे जिस नाटक का यों ही अनुवाद नहीं कर डाला। ऐसा होता तो वे पहले कालिदास-भवभूति के नाटकों को ही हाथ लगाते, किन्तु इनको तो उन्होंने छुआ भी नहीं। वे भारतीय परम्परा में नाटकों के विविध भेदों उपभेदों के उदाहरण प्रस्तुत कर देना चाहते थे, जिससे नाटकों की विविध शैलियों से हिन्दी के नवीन रचयिता परिचित हो सकें और आवश्यकता हो तो प्रेरणा भी ग्रहण कर सकें। भारतेन्दु जी स्वयं भी हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल और सामयिक प्रभाव की शैली के लिए नये स्वरूप की प्रतिष्ठा करने के लिए व्यग्र थे। वे समस्त नाटकीय

सामग्री का अनुशीलन इसी दृष्टि से कर रहे प्रतीत होते हैं। अपनी भारतीय संपत्ति के इस अनुशीलन से पहले ही उन्होंने बङ्गाली-भाषा के नाटकों पर भी दृष्टि डाली थी। उनमें उन्हें नवीन शैली का परिचय मिला था। अंग्रेजी नाटकों से भी परिचित थे। यह उनकी दूसरी प्रवृत्ति थी जिसके द्वारा वे वर्तमान की नवीनतम शैली को समझने की चेष्टा कर रहे थे।

और, तब प्राचीन-नवीन दोनों का पारायण कर उन्होंने समन्वय पूर्वक हिन्दी-स्वभाव के अनुकूल मौलिक नाटकों का भी निर्माण किया। इस प्रकार भारतेन्दुजी ने हिन्दी के नाटकों की प्राण-प्रतिष्ठा की। उसकी प्रेरणा उन्हें बङ्गाल से मिली, क्योंकि इस युग में बङ्गाल में नाटक-साहित्य का काफी उत्कर्ष हुआ था। और, इसी बङ्गाल में रङ्गमञ्च का भी पर्याप्त विकास हो चुका था।

नये रङ्गमञ्च का आरम्भ : बङ्गाल—नये रङ्गमञ्च का भारत में आरम्भ अंग्रेजों के मनोरञ्जन के लिए हुआ। यह बंगाल में जम जाने के उपरान्त ही हुआ। पहले क्लबों और नृत्यशालाओं से काम चलाया गया, फिर नाट्यशाला की स्थापना की गयी। १७५३ ई० तक 'ओल्ड प्ले हाउस' नाम से विख्यात एक नाट्यशाला विद्यमान हो चुकी थी। इसमें अंग्रेजी खेल ही अंग्रेजों के लिए होते थे। १७६० में 'दी कैलकटा अथवा इङ्गलिश थियेटर' नाम के एक नये रङ्गमञ्च का उद्घाटन हो चुका था। इन रङ्गमञ्च के निर्माण तथा अभिनय कला में उस समय के इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध अभिनेता डेविड गैरिक का सहयोग प्राप्त हुआ था। बहुत सी सजावट और दृश्य सज्जा उसने इङ्गलैण्ड भेजी थी। अपने परिकर का एक अभिनेता बर्नार्डमेस्सिंक (Bernard Messinch) भी उसने भेज दिया था। इन अंगरेजी प्रयोगों से रङ्गमञ्च के प्रति आकर्षण बढ़ चला था। अंगरेजों का यह मनोरञ्जन उन्हीं तक सीमित नहीं रह सकता था।

तब हेरेसिन लेड्बेफ (Heresin Ledbeff) नाम के एक रूसी ने बङ्गाली के लिए एक नाट्यगृह स्थापित किया। इस 'भारतीय थियेटर' का उद्घाटन शुक्रवार, २७ नवम्बर सन् १७९५ में हुआ। इस आरम्भ से शनैः शनैः विदेशी तथा देशी दोनों व्यक्तियों ने नये-नये नाट्यगृह स्थापित किये। धीरे धीरे इस नाट्यकला का विकास बङ्गाल में हुआ। भारतेन्दु के समय तक बङ्गाल इस दिशा में पर्याप्त समुन्नत हो चुका था। यहाँ तक कि पारसी व्यवसायिक रङ्गमञ्च की स्थापना हिन्दी में हो चुकी थी।

हिन्दी रङ्गमञ्च—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र एक बार ऐसी ही व्यावसायिक कम्पनी के रङ्गमञ्च पर एक नाटक देखने गये। उस बाजारू नाटक से उन्हें घोर वेदना हुई, तभी उन्होंने अपनी दृष्टि से सुन्दर नाटक लिखने तथा उसे खेलने के लिये स्टेज रङ्गमञ्च की स्थापना करने का निश्चय किया। 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक इसी संकल्प का परिणाम था और हिन्दी के इस साहित्यिक रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में शुक्ल जी से हमें इतना ही विदित होता है।

"भारतेन्दुजी, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी उद्योग करके अभिनय का प्रबन्ध किया करते थे और कभी-कभी स्वयं भी पार्ट लेते थे। पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मङ्गल नाटक' का जो धूमधाम से अभिनय हुआ था उसमें भारतेन्दुजी ने पार्ट लिया था। यह अभिनय देखने काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नरायणसिंह भी पधारे थे और इसका विवरण ८ मई १८६८ के 'इण्डियन मेल' में प्रकाशित हुआ था। प्रतापनारायण मिश्र का अपने पिता से अभिनय के लिए मूँछ मुँड़ाने की आज्ञा माँगना प्रसिद्ध ही है।" यह स्पष्ट है कि ये उद्योग सराहनीय थे, फिर भी हिन्दी रङ्गमञ्च पनप नहीं सका, विकसित न हो सका। भारतेन्दु युगीन उद्योग असफल रहे।

इसके कई कारण हैं, जिनका संकेत यहाँ करना चाहते हैं।

१—हिन्दी-साहित्यकारों में नाटक-सम्बन्धी चेतना विकसित होने से पूर्व ही हिन्दी-क्षेत्र में व्याव

सायी रङ्गमञ्च चल पड़ा। यदि आरम्भ से ही यह रङ्गमञ्च हिन्दी के साहित्यकारों के हाथ में आया होता तो जड़ जम जाती।

२—हिन्दी में नाटक-चेतना जिस समय उदय हुई उसी समय सुधारवादी आदर्श प्रबल हो उठे थे। आर्य समाज की चरित्र-सम्बन्धी धारणा ने रङ्गमञ्च की ओर होने वाले आकर्षण को अवरुद्ध कर दिया।

३—हिन्दी नाटककारों को आर्थिक सहायता का अभाव था, इससे वे नाटक-कला में दक्ष व्यक्तियों का सहयोग नहीं प्राप्त कर सकते थे।

४—हिन्दी वाले अनुदार थे। नाटकों के अभिनयों तथा उनके अभिनेताओं के विषय में तत्कालीन पत्रों ने कोई विशेष उल्लेख नहीं किया। बङ्गाल में साधारण से साधारण नाटकों के अभिनयों की जोरदार चर्चा होती थी। ये कुछ कारण थे जिनसे जन्म के समय से ही हिन्दी रङ्गमञ्च दुर्बल रहा, और आजतक भी वह कोई रूप नहीं पा सका। भारतेन्दु युग के नाटकों के अभिनय के सम्बन्ध में आज भी हमें गहरी शोध करनी है। भारतेन्दु युग के साहित्यकारों से इस युग के नाटकों के सम्बन्ध में संस्मरण हमें लिपि-बद्ध करा लेने चाहिये थे। मैंने यह प्रयत्न करने की चेष्टा की थी, किन्तु उसे पूर्णता नहीं दे सका।

स्वर्गीय गोपालराम गहमरी के संस्मरण—मेरे इस साधारण अधूरे प्रयत्न का यह फल हुआ था कि श्री गोपालराम गहमरीजी से मैं इस सम्बन्ध के कुछ संस्मरण प्राप्त कर सका था। गहमरीजी ने भारतेन्दु कालीन नाटकों के अनुवादों की परम्परा प्रचलित रखी थी। शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है कि "सं० १९५० के पीछे गहमर (जि० गाजीपुर) के बाबू गोपालराम ने 'बनबीर' 'बभ्रुवाहन', 'देशदशा', 'विद्याविनोद' और 'रवीन्द्र बाबू के चित्राङ्गदा' का अनुवाद किया। गहमरीजी का जीवन भारतेन्दु-युग से आरम्भ होकर वर्तमान युग तक चला आया था। वे विशेषतः जासूसी उपन्यासों के लेखक की भांति प्रसिद्ध हैं, पर नाटकों का उन्होंने अनुवाद किया। जिससे यह सिद्ध है कि उन्हें नाटकों से रुचि अवश्य थी। इसीलिए मैंने एक प्रश्नावली उनकी सेवा में भेजी थी जिसका उत्तर स्वर्गीय गहमरीजी ने बड़ी प्रसन्नता पूर्वक दिया था। उनके पत्रों को मैं यहाँ आज प्रकाशित कर रहा हूँ, जिससे पाठकों को लाभ होगा।

प्रश्नावली—स्टेज कैसी होती थी? वह किसके अनुकरण पर बनायी गयी? उसके लिए धन कहाँ से आता था? अभिनय की शिक्षा का क्या प्रबन्ध होता था? कैसे-कैसे दृश्य दिखाये जाते थे? उनमें किस वस्तु का विशेष ध्यान रखा जाता था? अभिनेता कौन-कौन तथा किस कोटि के होते थे? किस-किस ने अपने अभिनय में और अभिनय की किस विशेषता में विशेष नाम पाया था? उन अभिनयों के सम्बन्ध में साधारण मत क्या होता था? वे अधिक प्रचलित क्यों न हुए? कौन-कौन और कहाँ कहाँ उनकी कम्पनियाँ या पार्टियाँ खुलीं? कहाँ कहाँ अभिनय हुए?

प्रिय महाशय,

आपका कार्ड ता० २४-२-३८ का पढ़ा। आप भारतेन्दु कालीन नाटकों का अभिनय जानना चाहते हैं। उस समय के स्टेज और अभिनेताओं की बात पूछते हैं। मुझसे आप यह समझ कर कि मैंने उन दिनों के नाटक देखे होंगे और आजकल के भी देखते होंगे आपकी इच्छा और अनुमान, दोनों का मैं स्वागत करता हूँ। लेकिन अफसोस की बात यह है कि मैं दोनों ही से दूर रहा। उन दिनों भी मैं नाटक नहीं देखता था और आज भी नहीं देखता। इसका अभिप्राय यह नहीं कि मुझे उनसे अरुचि या घृणा रही हो, न यही मतलब है कि मुझसे पाठकों से छुआछूत ही नहीं है।

उन दिनों भी कोई आग्रह अथवा सम्मान से ले गया तो चला गया। अब भी किसी सङ्गति में पड़ा तो चला गया। हाँ! उन दिनों कलकत्ता, बम्बई या हरद्वार कुम्भादि पर्व पर नाटकों में जाना

पढ़ा और यहाँ दस-बारह वर्ष से हूँ लेकिन कुल पाँच या छः बार गया हूँ।

उस समय को तो मैं हिन्दी नाटकों का आदि-युग समझता हूँ। जैसा कि सरस्वती-सम्पादक ने हिन्दी लेखकों की तीन पीढ़ी कह कर आजकल को तीसरी पीढ़ी बतलाया है बहुत ठीक कहा है। यह विभाजन मैं नाटकों में भी उचित समझता हूँ।

उस पीढ़ी में नाटक-कार उँगलियों पर गिनने योग्य थे—भारतेन्दुजी मुख्य थे ही। सर्व श्री प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी, पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी (प्रयाग समाचार सम्पादक) इन्हीं के लिखे नाटक मैंने पढ़े और देखे। वस्तुतः स्टेज के लायक इन्हीं के नाटक थे भी।

अभिनय मैंने भारतेन्दु की मंडली का बलिया में देखा था—सत्य हरिश्चन्द्र, भारत जननी, अंधेर नगरी, देवाक्षर चरित्र। इन्हीं का खेल बलिया में हुआ था। वह भारतेन्दु की जिन्दगी का अन्तिम वर्ष था। अन्तिम वर्ष नहीं अन्तिम महीना ही समझ लीजिये। सन् १८८४ ई० के जाड़े की सर्दी की शुरू थी। इन्हीं दिनों उनकी मंडली ने अभिनय किया था। साथ में बाबू राधाकृष्णदास (उनके फुफेरे भाई) भी थे। और सजन भी थे। मेरी उम्र १८ वर्ष की थी। लेकिन हिन्दी-साहित्य में प्रवेश-काल ही था। बहुत कम समझ थी, अनुभव का भी श्रीगणेश था। वहाँ से अभिनय देखकर हम लोग घर गये। भारतेन्दुजी भी काशी लौटे। महीना बीता, दूसरा नहीं पूरा हुआ होगा कि उनके मरने का स्थापा अखबारों में आ गया। मंगलवार छठी जनवरी सन् १८८५ ई० को उन्होंने स्वर्ग पयान कर लिया।

उन दिनों हिन्दी नाटकों का स्टेज तो देहात और नगरों में खेलवाड़ ही था। बड़े शहरों में भी इन्दर सभा, गुलबकावली आदि के खेल हुआ करते थे। हम लोग जब कभी जाते तब यही सुनते कि इन्दर सभा देखने चलते हैं।

हाँ! कलकत्ते में बङ्ग भाषा के नाटकों का स्टेज उन्नत था। स्टार मिनरका और क्लासिक बड़े जोरों पर था। गिरिशचन्द्र घोष, क्षेत्रमोहन, विद्याविनोद और अमृतलाल आदि नाटक-कारों में प्रधान थे। हिन्दी नाटक उन दिनों वही इन्दर सभा, चतरा बकावली और भूल-भुलैया पारसी नाटक मंडलियों में खेले जाते थे।

बम्बई में भी पारसी नाटक मंडलियों द्वारा ही इन्दर सभा, चों चों का मुरब्बा, भूल-भुलैया, कमरलजमाँ के नाटक खेले जाते थे। गुजराती लड़के अभिनय करते थे। विक्टोरिया नाटक मंडली, पारसी थियेटर, अलफ्रेड नाटक मंडली—यही खेलने वाले थे। गुजराती नाटक मंडली में कभी-कभी हिन्दी नाटक खेले जाते थे।

उन दिनों कलकत्ता बम्बई को छोड़कर और जगह पटना, बनारस, आगरा में स्टेज या पर्दों का उतना ठाठ नहीं था। मथुरा की रास मंडलियाँ इधर आकर अपनी लीलाओं का दर्शन देहात में करातीं "जमुना जी के तीर पर दरशन दिया करो" यही अलापा जाता था। उनमें कौन अभिनेता किस विशेषता का था यह सब सवाल ही नहीं उठता।

हिन्दी नाटकों के दूसरे युग में आने पर इन बातों के खोज का अवसर मिलता है! हिन्दी नाटककारों में श्री पं० राधेश्याम, आगा हश्र काश्मीरी और नारायणप्रसादजी बेताब ने कहर मचा दिया। अच्छे-अच्छे नाटकों का स्टेज हुआ, न्यू अलफ्रेड, कोरेन्थियन थियेटर आदि ने वङ्गभाषा के रङ्ग-मञ्चों का सहारा लेना शुरू किया। यह लोग बहुत ऊँचे गये। हिन्दी का नाट्य समाज भी खूब परिमार्जित हुआ। दस वर्ष और टॉकी के आने में देर होती तो हिन्दी-नाटक आसमान में उड़ने लगते। लेकिन इस तीसरी पीढ़ी में तो टाकी वालों ने चित्रा, रूपवाणी में उतरकर सब पर पानी फेर दिया। आज वह दिन है कि कलकत्ते के स्टार, मिनर्वा, आदि

सबका कायापलट हो गया। अब सबके सब टॉकी हाउस हो गये, और 'चित्रा' ने सबको चित्रवत् खड़ा कर रखा है। बायस्कोप के मूक प्रदर्शन तक नाटकों का जो रुतबा साहित्य के नभ-मण्डल में एरोप्लेन का-सा ध्यान बाँध रहा था वह सब मानो टॉकी की टिटकार पर जापान ने जहरीले गैस से सबका सफाया कर डाला। अब अभिनय करने वाली कम्पनियों का तो कोई नाम भी साहित्य-प्रेमी नहीं लेता। हाँ! देहातों में धनुष यज्ञ आदि के खण्ड-काव्य पं० राधेश्याम की तर्ज पर नाटकों के रूप में खेले जाते हैं। इनमें मथुरा की रास मण्डलियों का परिश्रम अलबत्ते अब सराहने योग्य है।

मैं इन टॉकियों में नहीं जाता केवल आँखों की तकलीफ बचाने के लिये नहीं बल्कि इसलिये कि अब इनमें भारतीय जीवन की नवका अच्छे स्रोत में बहाने का तो कुछ काम होता नहीं, और न इस तरह के उपादान से उनका उद्गम ही होता है। वहाँ तो सीता, सति सावित्री आदि का अभिनय होने पर भी विलिमोरिया, माधुरी, कज्जन, मेहरुन्निसा के ला-जवाब हाव-भाव और आकर्षक अभिनय की ही तूती बोलती है। नाम भारत के पौराणिक युग का देकर, किस्सा भारतीय जवाहरलाल की झोली से निकालकर विलायत के ठग, लुटेरे और बदमाशों की काली करतूतों के जामे पहनाये जाते हैं। वहाँ समय खोना मैं पसन्द नहीं करता। बाजारू प्रेम की पच-पचाहट में लदफद होकर लुढकने के सिवाय और कुछ नहीं है।

मुझे खेद है कि आपकी ऊँची अभिलाषा की पूर्ति मैं नहीं कर सका। आपकी जो ऊँची जिज्ञासा, माननीय गवेषणा से भरी है इसका समाधान मैं न कर सका। इसके लिये क्षमा करेंगे ऐसी मुझे आशा है। मैंने अपनी जानकारी भर की जो कुछ याद है वही कहा है।

भवदीय—गोपालराम गहमर निवास।

पुनः—एम० ए० पास करके हिन्दी की ओर इतना झुकाव मेरे लिये बड़े आनन्द की वस्तु हुई। आजकल की शिक्षा में यह भाव शुभ के लक्षण हैं। आप में वही उच्च-आत्मा हैं। परमात्मा से प्रार्थना है कि आपका साहित्यानुराग दिन-दिन बढ़े। वहाँ कुआ-वाली गली में पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी हैं। वहाँ वह हैं या नहीं?

—गोपाल

इस पत्र को पाकर मुझे प्रसन्नता हुई और मैंने एक और पत्र 'प्रयाग-समाचार' के सम्बन्ध में उन्हें लिखा, जिसका उत्तर इस प्रकार प्राप्त हुआ—

प्रिय मैत्रीशील,

आपका कार्ड २२-९-३८ का पहुँचा है। पं० देवकीनन्दन की जीवनी मैं अधिक नहीं जानता। 'प्रयाग समाचार' उन्हीं का साप्ताहिक पत्र था प्रयाग से निकलता था सन् १९०४ में पं० जगन्नाथ शर्मा राजवैद्य ने उनके मरने पर जारी रक्खा था। सन् १९०९ तक जारी रहा।

उसका आरम्भ बीस वर्ष पहले से हुआ था। पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी का नाटक जयनारसिंह बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। महाअन्धेर नगरी नाटक पं० विजियानन्दन का भी बहुत प्रसिद्ध था—मेरा विद्या-विनोद नाटक अब कहीं बाजार में नहीं नागरी-प्रचारिणी में वह मिला साथ ही मेरी नाटिका यौवने भोगिनी भी मैंने केवल एक कापी देखने और नकल करने को पायी थी। देवकीनन्दन त्रिपाठी की अधिक बातें शायद पं० अमरनाथ शर्मा वैद्य B. A., B. L. आयुर्वेदीय इलाहाबाद से पूछें तो पता चले।

—भवदीय गोपाल

आज गहमरीजी हमारे बीच में नहीं। किन्तु उनके पत्रों में व्याप्त सहृदयता, प्रेम और प्रोत्साहन का भाव आज भी मुझे उनका कृतज्ञ बनाये हुए है।

हिन्दी रङ्गमञ्च के विषय में गहरी शोध की आवश्यकता है।

बा० राधाकृष्णदास

प्रो० सिद्धेश्वरनाथ मिश्र, बी० ए० (ऑनर्स), एम० ए०

रीतिकाल के पश्चात् हिन्दी साहित्य का वह युग आता है जिसे 'भारतेन्दु युग' कहते हैं। भारतेन्दु युग नवचेतना, नवजाग्रति एवं नवीन स्फूर्ति का सन्देश वाहक बनकर हिन्दी साहित्य में उपस्थित हुआ। इस युग के प्रमुखतम व्यक्ति भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्रजी थे। उन्हीं की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन के फलस्वरूप साहित्यकारों का एक ऐसा मण्डल प्रस्तुत हो गया जिसने तत्कालीन समाज, देश तथा राजनीति को दृष्टिकोण में रख कर साहित्य सृजन प्रारम्भ किया। इन साहित्यकारों का लक्ष्य हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुत्व की उन्नति करना था। साहित्य के विभिन्न अङ्गों द्वारा इन साहित्यकारों ने अपने लक्ष्य की पूर्ति की। भारतेन्दु मण्डल के उज्ज्वल नक्षत्रों में श्री प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सजीवता, परस्वार्थ और जाग्रति की भावना इन साहित्यकारों में सर्वत्र उपलब्ध होती है। विदेशी राज्य के प्रति विद्रोह भावना भी इन महानुभावों के हृदय में लहरें करती हुई दिखाई पड़ती हैं। भारतेन्दु युग के इन सभी साहित्यकारों ने साहित्य के प्रत्येक अङ्ग की पूर्ति करने का प्रयत्न किया, बा० राधाकृष्ण दासजी का साहित्य भी इस कथन की पुष्टि करता है।

दासजी, भारतेन्दुजी के फुफुरे भाई थे। १० मास की छोटी अवस्था में ही इनके पिता बा० कल्याणदासजी का काल कवलित होना बा० हरिश्चन्द्रजी के सम्पर्क में ले आया। इनके लालन पालन एवं शिक्षा का भार भी भारतेन्दु जी पर ही था। उन्हीं के सुप्रबन्ध एवं निरीक्षण में दासजी ने अँग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी और बङ्गला भाषा में अच्छी योग्यता प्राप्त करली। बचपन से ही भारतेन्दुजी के पास उठना बैठना तथा रहना उनका नियम बन गया था। 'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्'। बाबू साहब के सम्पर्क से तथा साहित्य चर्चा के बीच में रहते हुए दासजी की रुचि साहित्य की ओर झुकी। फलतः भारतेन्दु युग तथा भारतेन्दु मण्डल के उच्च कलाकारों में अपना स्थान पाने में सफल हो सके।

साहित्यकार अपने युग के समाज एवं उसकी समस्याओं की उपेक्षा नहीं कर पाता! किसी न किसी रूप में वह प्रभावित अवश्य होता है। भारतेन्दु-काल के प्रायः सभी लेखक दो विरोधी धाराओं—राजभक्ति-धारा तथा देश-भक्ति-धारा का विकास कर रहे थे, जिसके प्रतिनिधि थे, भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र। प्राचीन परम्पराओं के परिष्कृत रूप के सङ्गम से ही इन नवीन प्रवृत्तियों का जन्म हुआ था। फलतः इस काल के लेखकों में जहाँ हम प्राचीन परिपाटी का अनुसरण पाते हैं वहाँ नवीन प्रणाली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। बा० राधाकृष्णदासजी इसके अपवाद स्वरूप न थे। उनका व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में नाटककार, उपन्यासकार, निबन्ध लेखक, इतिहास लेखक, जीवनी लेखक तथा कवि रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

हिन्दी नाटकों की परम्परा भारतेन्दुजी के समय से मानी जाती है। उन्होंने ही सर्व प्रथम देशकाल तथा परिस्थिति के अनुसार हिन्दी नाट्य साहित्य को पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के सिद्धान्तों की ओर प्रेरित किया। जिससे नांदी, प्रस्तावना, भरत वाक्य आदि की अवहेलना होने लगी। परन्तु, दासजी ने प्राचीन नाट्य परम्परा को ही अपनाया है। 'महाराणा प्रताप' तथा 'महारानी पद्मावती' में उन्होंने

प्रस्तावना, नांदी, भरत-वाक्य का विधान रक्खा है। उनके नाटकों में अभिनेयता का गुण भी विद्यमान है। 'दुःखिनी वाला' आपका सर्व-प्रथम रूपक है। जिसको सामाजिक कुरीतियों के निवारणार्थ ही लिखा है! 'धर्मालाप' में विभिन्न मतावलम्बियों के संवादों को एकत्र किया है और सनातन-धर्म को प्रधानता दी है। भारतेन्दु तथा प्रसाद के बीच के नाटकों के अभाव-काल में दासजी के 'महाराणा प्रताप' की अधिक ख्याति रही तथा सफल अभिनय भी हुआ। इस प्रकार जहाँ वह ऐतिहासिक, सामाजिक तथा पौराणिक नाटकों की रचना में सफल हुए वहाँ हिन्दी के नाटकों के बीच की कड़ी को भी पूरा किया।

'निःसहाय हिन्दू' शीर्षक उनका एक-मात्र उपन्यास हिन्दुओं की दशा का प्रतीक है। इस उपन्यास में उन्होंने एक मुसलमान को हिन्दुओं का साथी बनाकर यवनों को अपराधी सिद्ध किया है। मूल में गोवध निवारण की समस्या को लेकर यवनों के ऐक्य तथा हिन्दुओं के अनैक्य का बड़ी बुद्धिमानी से चित्रण किया है। अन्त में 'शूरता' परिच्छेद लिखते हुए स्त्रियों के धर्म का निरूपण करना भी नहीं भूले हैं। इस उपन्यास में लेखक ने प्रकृति के सुन्दर चित्र तो प्रस्तुत किए ही हैं, गन्दी नालियों तथा कोठरी के टाटों के वर्णन से भारतीय उपन्यास साहित्य में पहला सराहनीय प्रयास भी किया है। उनके इस एक मात्र उपन्यास में हमें यथार्थवादी परम्परा का वह बीज दिखलाई पड़ता है जो आगे चलकर प्रेमचन्दजी द्वारा विकास को प्राप्त हुआ।

निबन्ध-लेखक के रूप में उन्होंने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करते हुए अपने विचारों का परिचय दिया है। उनके निबन्धों में जहाँ हम विचारों की प्रधानता पाते हैं, वहाँ उनकी शैली में प्रवाह तथा रोचकता के कारण आनन्द भी मिलता है। 'हिन्दी क्या है', 'मुसलमानी दफ्तरों में हिन्दी', 'हिन्दी होने से मुसलमानों को सुबीता होगा', 'कुछ प्राचीन भाषा कवियों का वर्णन', 'विक्टोरिया-शोक प्रकाश', 'पद्म', 'स्वर्ग की सैर', 'लार्ड कर्जन' 'भाषा कविता की भाषा' तथा 'पुरातत्व' शीर्षक निबन्धों में उनके व्यक्तित्व के साथ सफलता लक्षित होती है। 'होली है' शीर्षक निबन्ध में उनके शिष्ट-हास्य का रूप दिखलाई पड़ता है।

जीवन चरित्र लिखने का कार्य-साधारण नहीं है। लेखक को साहित्य-क्षेत्र में उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही नायक का चरित्र लिखना होता है। उसमें व्यर्थ तथा अनपेक्षित सामग्री जोड़ने का उसे अधिकार नहीं रहता। दासजी ने इस क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। उनके जीवन चरित्रों के नायक या तो कोई ऐतिहासिक पुरुष हैं अथवा साहित्यिक कवि या लेखक। उनके 'जीवन-चरित्रों' में बहुधा प्रामाणिक सामग्री का ही आधार लिया गया है। 'सूरदास', 'तुलसीदास', 'कविवर बिहारीलाल', 'नागरीदास का जीवन चरित्र' आदि उनके जीवन-चरित्र इसके प्रमाण हैं। 'वाप्पारावल', 'ईश्वर चन्द्र विद्यासागर' शीर्षक से महापुरुषों के जीवन-चरित्र भी शिक्षाप्रद हैं और लेखक ने इन्हें नीतिशिक्षा के उद्देश्य से ही लिखा था। उनकी ख्याति उनके 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन चरित्र' पर आधारित है, कारण भारतेन्दुजी का विस्तृत तथा प्रामाणिक जीवन-चरित्र इनके द्वारा लिखा गया है, जिसमें लेखक ने अपेक्षित तथा अनावश्यक किसी भी बात पर उपेक्षा दृष्टि नहीं रक्खी है।

दास जी का इतिहास प्रेम प्रसिद्ध ही है। आपको इतिहास का अभाव खटकता था। 'पुरातत्व' शीर्षक लेख में उन्होंने इतिहास के खोज के कुछ नियम दिए हैं तथा आशा भी प्रकट की है कि जीवन-चरित्रों तथा लेखों में उन्होंने इतिहास के अभाव के कारण जो-जो कठिनाइयाँ अनुभव की हैं, व्यक्त की हैं। इसी कारण उन्होंने 'सामयिक पत्रों के इतिहास' लिखने का प्रण साधा था और उसे पूर्ण भी किया। उनका यही विचार था कि यदि ५०-६० वर्ष के इन समा-

चार पत्रों के पुराने इतिहास का सङ्कलन न हुआ तो सम्भवतः भविष्य में लोगों को इसका अभाव कष्टप्रद हो और समयादि निर्णय में उन्हें कठिनाई पड़े। आपने अपने इस 'सामयिक पत्रों के इतिहास' में केवल समाचार पत्रों की गणना मात्र ही नहीं की है, वरन् साथ में उनका आरम्भकाल, अन्तकाल, सम्पादक का नाम तथा मूल्य आदि का विवरण भी दिया है। साथ में तत्कालीन समाचार पत्र सम्बन्धी सरकारी नियमों का भी उल्लेख दिया है।

दासजी की प्रतिभा का परिचय हमें उनके गद्य साहित्य में ही नहीं, वरन् काव्य रचना में भी प्राप्त होता है। स्पष्टतः भारतेन्दु काल का साहित्य-गोष्ठी साहित्य है। उस समय प्रबन्ध-काव्य तथा महाकाव्य की रचना का प्रायः अभाव था। तत्कालीन कवियों के सामने देश की दयनीय दशा थी तथा सामाजिक अस्त व्यस्तता। इसी कारण उनके काव्य में देश के पतन, पतन के कारण, अंग्रेजी राज्य की सुविधाओं और कष्टों, सामाजिक, धार्मिक पतन और विविध सुधारों तथा तत्सम्बन्धी अपने विचारों, भाषा, स्वदेशी प्रचार, स्वाधीनता, भारतीयत्व की रक्षा सदृश विविध विषय सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति मिलती है। दासजी प्रायः 'सरस्वती', 'कवि वचन सुधा' आदि पत्रिकाओं में लिखा करते थे। 'मेकडानल पुष्पाञ्जलि', 'विजयिनी विलाप', 'पृथ्वीराज प्रयाण', 'भारत बारहमासा', 'जुबिली', 'प्रताप विसर्जन', 'छप्पन की विदाई नए वर्ष की बधाई' शीर्षक उनकी कविताएँ सर्वगुण संपन्न हैं। भक्ति तथा शृङ्गार की ओर भी उनकी रुचि थी। 'रामजानकी', 'विनय', 'जानकी जयमाल' आदि कविताएँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं। नीति के उपदेश देने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप रहीम के दोहों पर आपकी कुण्डलियाँ 'रहिमन विलास' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'देश दशा' शीर्षक कविता में देश की दुःखद अवस्था में सुधार का एक मात्र आश्रय ईश्वर को ही बतलाया है। यह आपकी खड़ी बोली की एक कविता है।

भाषा पर दासजी का सदैव ध्यान रहा। आपने समय के उठे हुए ब्रजभाषा व नाम्म खड़ी बोली के आन्दोलन के समय भी आपका एक तीसरा ही पक्ष था। आप 'भाव अनूठे चाहिए भाषा कोऊ होय' के मत को मानते थे। 'भाषा कविता की भाषा' शीर्षक लेख में आपने अपने मत की पुष्टि की है। प्रायः आप ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखते थे, जिनकी सुन्दरता देखती ही बनती है। आपकी भाषा प्रौढ़ तथा व्याकरण सम्मत रही है। खड़ी बोली की एक मात्र कविता 'देश दशा' को छोड़ कर सभी कविताएं 'ब्रजभाषा' में ही लिखी हैं। गद्य साहित्य में आपने खड़ी बोली का प्रयोग किया है। च्युत संस्कृति दोष जो उस काल के प्रायः सभी लेखकों में मिलता है, इनकी भाषा में नहीं पाया जाता।

वस्तुतः दासजी का भारतेन्दु युग के साहित्य में ही नहीं वरन् हिन्दी साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान है। आपने हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के प्रारम्भिक समय में लिखना प्रारम्भ किया था और मध्यकाल तक साहित्य सेवा करते रहे। उपन्यास क्षेत्र में उन्होंने यथार्थवादी परम्परा का बीजारोपण किया ही, साथ में 'सूरदास', 'नागरीदास' आदि के जीवन चरित्रों द्वारा हिन्दी साहित्य में समालोचना के मार्ग को भी प्रशस्त किया। 'महाराणा प्रताप' नाटक पर तो आपकी ख्याति आधारित ही है। अस्तु, वह सभी प्रकार से आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में सहायक हुए, जिसके लिए हिन्दी संसार उनका ऋणी रहेगा। 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना का श्रेय भी दासजी को ही है। सभा के प्रथम सभापति एवं 'सरस्वती' पत्रिका के प्रथम सम्पादक मण्डल में स्थान रखने के कारण भी उनकी कीर्ति साहित्य संसार में विद्यमान है और रहेगी।

काव्य में छायावाद

प्रो० जवाहरचन्द्र पटनी एम० ए०, बी० टी०

रीतिकालीन काव्य जीवन के वाह्य सौन्दर्य के छलकते चित्र चित्रित कर पाया था उसमें अंतरग सौन्दर्य नहीं था। उस समय कवि भाषा, अलङ्कार तथा छंद योजना से कविता-कामिनी को सजाने में लगा हुआ था, इसीलिए हम देखते हैं कि मतिराम, देव, बिहारी तथा पद्माकर की भाषा सुषमा और अलङ्कार पटुता से रीतिकालीन कविता का वाह्य रूप निखर गया था, पर भीतर कंकाल मात्र था। अवश्य कविवर मतिराम, पद्माकर तथा बिहारी के काव्य में हम कहीं-कहीं आत्मा का दिव्य प्रकाश पाते हैं, पर ऐसे स्थल कितने हैं? 'चमचमात चञ्चल नयन, बिच घुंघट पट झीन' में नारी के रूप का कलात्मक चित्र भले ही हो, पर उसमें नारी के अन्तर्भावों का, उसके अन्तरङ्ग रूप का तथा समस्याओं का विवरण कहाँ है? कनक लता सी कामिनी में कोमलता तथा लचक भले ही हो, पर उसमें अंतरंग सौन्दर्य का अभाव सा ही है। रीतिकालीन काव्य-धारा संकुचित क्षेत्र में प्रवाहित थी। उसके पश्चात् हरिश्चन्द्र युग ने काव्य को जीवन के क्षेत्र में मोड़ने का प्रयास किया। फिर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली का परिष्कार किया। उस समय हिन्दी साहित्याकाश के देदीप्यमान प्रदीप गुप्तजी तथा 'हरिऔध' जी ने अपनी अमर वाणी द्वारा हिन्दी साहित्य को नव-जीवन दिया। अब भाषा में ओज आ गया था, माधुर्य और प्रसाद गुणों से प्रभृत कविय - इसको सुवाणी बना दी थी, पर उसमें इतनी गहराई नहीं थी। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से नवीन विचारक ऊब गए थे, उधर बँगला साहित्य की प्रतीक शैली (Symbolism) एवं नव रचनाओं से नवीन साहित्यकार प्रभावित हो गए थे। उनकी दृष्टि स्थूल से सूक्ष्म की ओर गई। सांध्य गगन की अरुणिमा और प्राची में उषा का हिम-हास कवि को अंतर के सन्देश देने लगे। झरनों के कल गान जीवन के ही गान हो गए। कवि ने अब तुहिन बिन्दुओं को अपनी संवेदनशील आँखों से विरहिणी रजनी के अश्रुरूप में देखा। यही स्थूल से सूक्ष्म की ओर देखने की प्रवृत्ति तथा वाह्य से अन्तर में देखने की वृत्ति काव्य में छायावाद कहलाई।

छाया को संस्कृत साहित्य में लावण्य कहते हैं। मोती में आन्तरिक तरलता होती है, वही उस मोती की कान्ति है। शब्द में भी कान्ति होती है उसी प्रकार शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता विच्छति छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। महाकवि 'प्रसाद' के मतानुसार यही "रम्यच्छायान्तर स्पर्शी वक्रता" वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक का कथन है कि यह उज्ज्वल छाया ही काव्य में रमणीयता लाती है। यही काव्य की कान्ति है, इसी कान्ति को लावण्य कहते हैं। यह लावण्य ही हिन्दी साहित्य में छायावाद के नाम से प्रचलित हुआ। छायावादी कवियों ने अपनी प्रतिभा से सूक्ष्मतम भावों का वर्णन करने के लिए स्वर्णकार की तरह भाषा को भी हृदय की ज्वाला में जलाकर स्वर्णिम बनाया। भाषा का सौष्ठव, भाव प्रवणता, ध्वन्यात्मक एवं लाक्षणिक अभिव्यञ्जना छायावाद की विशेषताएँ हैं।

छायावाद में प्रकृति:—जब कवि की दृष्टि अंतरंग सौन्दर्य के निरूपण की ओर गई तब उसे अपनी भावना को मूर्त रूप देने के लिए प्रकृति की मनोहारिणी छटा की ओर जाना पड़ा। प्रकृति को मानव के रूप में उसने देखा। प्रकृति के मधुरतम

गीतों को भी उसने सुना। विहंगों के मधुरतम गीत तथा सरित-बालाओं के चाँदनी रात में नृत्य कवि को आत्म विभोर करने लगे।

कविवर 'प्रसाद', पन्त, निराला, तथा सुश्री महादेवी की कविता ने हिन्दी साहित्य को नव-जीवन दिया। 'आँसू' सा सुन्दर काव्य, कामायनी सा रूपक, नीरजा से अश्रु भीगे गीत, पल्लविनी के कोमल पल्लव तथा 'गुञ्जन' के उन्मन गुञ्जन किसको आत्म विभोर नहीं करेंगे। कामायनी में 'श्रद्धा सुन्दरी का कितना अनुपम वर्णन हुआ है। प्रकृति के सुन्दर चित्रों में सुन्दरी के सौन्दर्य की मनमोहक छटा तो देखिए:—

"कौन हो तुम बसन्त के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार,
घन तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मन्द बयार,"
—'कामायनी'

छाया या साया:—छायावादी कवि ने प्रकृति का दूसरा रूप भी लिया है। प्रकृति ब्रह्म की छाया है। वह ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, इसीलिए उसमें इतनी रमणीयता तथा कोमलता है। सुश्री महादेवी ने छायावाद में सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से इसको आत्मा का सजीव गान बना दिया है। प्रकृति के अणु और परमाणु में उस परोक्ष सत्ता का रूप निखरा हुआ है। प्राची के तथा संध्या के अरुणिमा आकाश में किस चित्रकार ने मनोहर चित्र बनाए हैं? फूलों में सौरभ तथा ओसकणों का मन्द-मन्द हास क्या उस परोक्ष का परिचय नहीं देते? इस तरह कवि का हृदय विश्व की लघु से लघु वस्तु के प्रेम-पाश में बँध जाता है। यही छायावाद की विशेषता है। कवियित्री महादेवी की इन पंक्तियों में विश्वात्मा में लीन होने की कैसी सुन्दर अभिव्यञ्जना है:—

मैं मतवाली इधर-उधर,
प्रिय मेरा अल-बेला है
मेरी आँखों में ढलकर
छवि उसकी मोती बन गई,
उसके घन प्यालों में है
विद्युत सी मेरी परछाई
—'आधुनिक कवि'

प्रकृति के इस रूप को छायावादी कवि ने अपनाया है, पर छायावाद रहस्यवाद में आत्मा की छाया मात्र है।

व्यक्तित्व प्रधान काव्य:—छायावादी कविता व्यक्तित्व प्रधान (Subjective) कविता है। कवि किसी भी भाव, घटना अथवा विषय का वर्णन करता है, उसमें उसके हृदय का ही रङ्ग होता है। रामायण की कहानी आदि कवि वाल्मीकि रामायण में वर्णित है, तुलसी के 'मानस' में भी 'साकेत' में भी तथा केशव की रामचन्द्रिका में भी, पर उन सबमें कवि के व्यक्तित्व की झलक विशेष तौर पर पाई जाती है। इस काव्य में कवि का आत्म-प्रकाश (Intution) जहाँ-जहाँ चमकता है। भक्तिकाल के कवियों में यह आत्म-प्रकाश (Intution) था, इसीलिए सीधी और सरल भाषा में भी भक्त कवि दादूदयाल ने ईश्वर के रहस्य को कितनी सुन्दरता से बता दिया:—

"केते पारिख पचि मुए, कीमत कही न जाय।
दादू सब हैरान हैं, गूँगे का गुड़ खाय।"
—'दादू'

रीति कालीन कवियों में यह 'आत्म प्रकाश' नहीं था, इसीलिए कविता में माधुर्य होते हुए भी, आत्म प्रकाश के अभाव के कारण वह जीवन के आंतरिक सौन्दर्य से हीन थी।

छायावाद में शृङ्गार:—छायावाद रहस्यवाद नहीं है। हाँ इसमें लौकिक एवं अलौकिक शृङ्गार का सुन्दर समन्वय हुआ है। महादेवी के शब्दों में "स्थूल एवं सूक्ष्म की सामञ्जस्य वृति" छायावाद की विशेषता है। छायावादी कवि ने नारी के अतींद्रिय

रूप को अपनाया है। 'आँसू' काव्य में कवि 'प्रसाद' ने लौकिक प्रेम को अलौकिक रूप दिया। कवि के विरह में सिन्धु बुलबुलों के मिष रो रहा है तथा बसुन्धरा अपने बालों को नभ मण्डल में बिखरा कर विरहिणी नारी की भाँति विरह में लीन है।

बुल बुले सिन्धु के फूटे
नक्षत्र मालिका टूटी
नभ मुक्त कुन्तला धरणी
दिखलाई देती लूटी
—'आँसू' (प्रसाद)

इस तरह छायावाद में लौकिक से अलौकिक प्रेम का सुन्दर समन्वय हुआ है।

छायावाद में भाषा का रूपः—छायावाद के कवियों ने रसानुकूल शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही भाषा में ध्वन्यात्मक सौन्दर्य भी विशेष तौर पर पाया जाता है। 'नौका विहार' में ऊर्मियों पर नौका के तिरने का ध्वनिमय अनुपम चित्र तो देखिये :—

मृदु मन्द मन्द मन्थर मन्थर
लघु तरणि हँसनि सी सुन्दर।
—नौका विहार

लहरों का थोड़े से शब्दों में एक सुन्दर चित्र कैसा बन गया है :—

'चाँदी के साँपों सी रल मल'।
—'नौका विहार'

इसी तरह से प्रलय काल के तूफान का एक भयङ्कर वर्णन कितना रसानुकूल बन गया है:—

"उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ,
कुटिल काल के जालों सी।
चली आ रहीं फेन उगलती,
फन फैलाए व्यालों सी।"
—कामायनी (चिंता सर्ग)

गरजतीं हुई सिन्धु लहरियों को फन फैलाये डसने वाले भयङ्कर सर्पों के समान बताकर प्रलय काल के चित्र को कितना सजीव बना दिया है।

इसी तरह से भाषा में संकेतता (Suggestiveness) छायावाद की विशेष देन है। जैसे:—

'बिन्दु में थी तुम सिन्धु अनन्त,
एक स्वर में समस्त सङ्गीत।'
—(पल्लविनी)

यह उक्ति बिहारी की गागर में सागर भरने वाली उक्ति से भी अधिक सुन्दर है।

कुछ भ्रान्तियाँ—

छायावाद के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ भी फैलीं। इसका कारण यह था कि कुछ मनचले कवि सस्ती भावुकता में बहने लगे; उसमें सुरबालाओं के गान तथा मधुशाला के छलकते प्याले दिखाई देने लगे, इसलिए कुछ लोग इसे 'हालावाद' समझने लगे। यह केवल भ्रान्ति ही थी क्योंकि छायावाद शुद्ध काव्य है और इस काव्य का सृजन विदग्ध कलाकार ही कर सकता है। जिस कलाकार ने बुद्धि तथा हृदय का सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया, जिसने बाह्य और आन्तरिक जगत को अपनी प्रतिमा से तथा हृदय के रङ्ग से नहीं रङ्गा, वह सच्चे काव्य का सृजन कर ही नहीं सकता। 'हालावाद' शुद्ध काव्य नहीं है। उसमें मधुबालाओं की चञ्चल आँखें, तथा वासना के जलते दीप भले ही हों, पर उसमें काव्य की आन्तरिक रमणीयता कहाँ है?

दूसरी भ्रान्ति छायावाद के लिए यह फैली हुई है कि वह पलायन प्रवृत्ति (Escapist Mentality) है। अँग्रेजी में 'प्रतीक' साहित्य (Symbolism) को भी पलायनवाद कह कर उसका उपहास किया गया था, पर उसके महान् कवि यीटस (Yeats) के सुन्दर काव्य को जब लोगों ने पढ़ा तो वे मन्त्र मुग्ध हो गए। कवि एक सुन्दर जगत् की कल्पना करता है, वह जीवन को सौन्दर्य में डूबा देखना चाहता है, यह जीवन की मधुर भावना पला-

यन वृत्ति नहीं कही जा सकती। एक किसान हरे भरे खेत में जब जीवन के एकाकीपन से ऊब जाता है, तब वह किसी झुरमुट में बैठ कर प्रेम गीत गाता है, उसके कठिन जीवन में उस गीत से सरसता आती है। एक गड़रिया भेड़ चराते हुए किसी पहाड़ी की चट्टान के तले बैठ कर रसीली प्रेम कहानी को कहता है, जीवन का नया दीप जलता है, और वह आत्म विभोर होकर जीवन की कठोरता को भूल जाता है। छायावादी कवि इस दृष्टि से स्वप्न द्रष्टा है।

आचार्य शुक्ल छायावादी काव्य को शैली का प्रकार मानते हैं। पर मैं इसमें उनसे सहमत नहीं हूँ। आँग्ल साहित्य में प्रतीकवाद (Symbolism) अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) स्वच्छन्दतावाद (Naturalism) आदि शैली के प्रकार हैं, ऐसा छायावादी काव्य नहीं। छायावादी कविता हृदय की स्वाभाविक अनुभूति से एवं आत्मा की प्रेरणा से सृजित हुई है। इसलिए यह शुद्ध काव्य है।

छायावादी कवि पर यह आक्षेप है कि वह साहित्य-परम्परा को निभा नहीं सका है, पर यह बात असत्य है। छायावादी काव्य में भक्तिकाल के दिव्य सुमन हैं तथा रीतिकालीन काव्य की सैवाल भी। भारतीय दर्शन की छाप भी छायावाद में अमिट है। जो सच्चे कलाकार हैं वे अपनी प्रतिभा से उत्तम साहित्य का सृजन कर सके हैं और जो कवि का हृदय नहीं रखते, वे रंग-बिरंगे मिट्टी के खिलौने ही बनाते हैं। ये खिलौने कवि के विरह-स्रोत में बह जाते हैं, उसकी संवेदना में उनका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। कवि के केवल वे मर्मस्पर्शी गीत हृदय में रह रह कर गूँजते हैं, जो वेदना से ओतप्रोत हों। जैसा कि महाकवि 'शैले' ने कहा है:—

"Sweetest are the songs, that tell of saddest thoughts."

"हमारे मधुरतम गीत वे हैं जो वेदना से भरे हुए हों।" छायावाद में यही संवेदनशीलता है, ये ही वेदना के मधुरतम गान हैं।

———

(पृष्ठ ३०९ का शेष)

अपने विषय का पूर्ण ज्ञान है। अपने मत रखने में उन्हें झिझक नहीं। बात यह है कि विवेच्य विषय का उन्हें क्लियरकट आइडिया (निर्भ्रांत विचार) जो रहता है। 'प्रगति शील' रचनाओं तथा 'मनोविश्लेषण' के विषय में उनके विचार 'सावधानी की आवश्यकता' में पठनीय हैं।

'बिना किसी झिझक के यहाँ कह दूँ कि मैं उन रचनाओं को किसी प्रकार प्रगतिवादी मानने को तैयार नहीं हूँ जिनमें संसार को नये सिरे से उत्तम रूप में ढालने का दृढ़ संकल्प न हो'।

× × ×

सत्य सार्वदेशिक होता है। मनोविश्लेषण शास्त्र मनुष्य की उद्भावित विचार-निधियों का एक अकिंचन अंश है।'

आचार्य डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी आज हिन्दू-विश्व-विद्यालय, काशी में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं, जहाँ से आप तत्व बोधक चिन्तकशील समीक्षाओं का सृजन ही नहीं, समीक्षकों का निर्माण भी करते रहेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। हिन्दी की सेवा करने के हेतु, द्विवेदीजी के लिए वेद-वाणी में हम प्रार्थना करते हैं 'जीवेत् शरदःशतम्।'

आलोचक प्रवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रो० शिवबालक शुक्ल एम० ए०

"इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों के आगे की विशेषताओं और उनकी अन्तः प्रकृति की छान-बीन की ओर भी ध्यान दिया गया। तुलसीदास, सूरदास, जायसी, दीनदयाल गिरि और कबीरदास की विस्तृत आलोचनाएँ पुस्तकाकार भूमिकाओं के रूप में निकलीं।" आ० शुक्ल इस कथन में अपनी, दीन, डा० बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित पुस्तकों की ओर संकेत कर मौन हो गये। किन्तु टेनीसन के शब्दों में—

Old order changeth yeilding place to new के अनुसार शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग के सफल पथिक रहे गुरुवर डा० बड़थ्वाल और श्रद्धेय डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। द्विवेदीजी ने अपने व्यापक विवेक, उद्भावना प्रवण हृदय, अनुसंधित्सु मस्तिष्क एवं तत्वग्राहिका प्रतिभा का प्रश्रय ले सूर कबीर, नाथ सम्प्रदाय पर गंभीर गवेषणा पूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के द्वारा सन्त-साहित्य का, जो काल की धूमिल पटी में विलीन होता जा रहा था (है) संरक्षण-प्रयास किया।

आधुनिक युग पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के हेतु प्रख्यात है। द्विवेदीजी आपाद मस्तक संस्कृत परिधान युक्त हिन्दी साहित्य में आये। गुरु-परिपाटी का सम्यक् शिक्षण सांस्कृतिक केन्द्र से हुआ और बोलपुर के शान्ति-निकेतन में गुरु के रेणुरुषित चरण सरोज पर उनका मस्तक टिक गया। शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर वे चले अवश्य हैं पर गम्भीर अध्ययन और मौलिकता को साथ लिये हुए। बङ्गाली गुरु और वङ्ग समाज के सान्निध्य का प्रभाव उन पर पड़ा और उनकी कृतियाँ संवेदना-पूर्ण हो गईं। जबकि इसी विचार-धारा के आलोचक डा० नगेन्द्र और बाबू गुलाबराय का शास्त्रीय संस्कार अंगरेजी सम्पर्क से रोमांटिक हुआ।

उनके अध्ययन और मौलिकता के प्रमाण में मैं उन्हीं के शब्द उद्धृत करूँगा। 'अशोक के फूल' पुस्तक में आप कहते हैं—

'अच्छा समझिए या बुरा, मेरे अन्दर एक गुण है, जिसे आप बालू में से तेल निकालना समझ सकते हैं। मैं बालू में से भी तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ बशर्ते कि वह बालू मुझे अच्छी लग जाय। —'मेरी जन्म-भूमि' शीर्षक लेख

सचमुच 'कबीर' जैसे रुक्ष कवि पर आपकी शोध-पूर्ण पुस्तक उक्त कथन का अनुमोदन करती है। कबीर के रेत में से स्वर्ण-कण की तो बात ही क्या स्वर्णराशि एकत्र करना द्विवेदीजी की सार-ग्राहिणी प्रवृत्ति का परिचायक है। कबीर विषयक निम्न पंक्तियाँ निरर्थक सिद्ध हुईं।

'कहा जाता है कि कबीर में रेत अधिक है, ढूँढने से बड़ी कठिनाई से कहीं कोई स्वर्ण कण मिल पायेगा।' —श्री बल्देवप्रसाद नौटियाल

निर्णयात्मक समीक्षा के पोषक, तत्वबोधक आलोचक द्विवेदीजी भारतीय समालोचना-सिद्धान्त के सफल समर्थक हैं। अपने 'विचार और वितर्क' निबन्ध संग्रह में एक स्थान पर आप लिखते हैं:—

'प्राचीन निर्णयात्मक समालोचना (जुडीशियल क्रिटीसिज्म) के विरोध में इसका नाम दिया गया है अभ्यूहमूला समालोचना (inductive criticism)'

असल में सवाल जुडीशियल या इनडक्टिव आलोचना का नहीं है, सवाल है एक सामान्य निर्णायक साधन का। भारतवर्ष के पण्डितों के अनेक रगड़-झगड़ के बाद एक सामान्य साधन

(कॉमन स्टैण्डर्ड) बनाने की चेष्टा की थी, पर काल परिवर्तन के साथ वह अस्त्र भी थोथा हो गया है फिर भी उनके सुझाए हुए मार्ग से नये स्टैंडर्ड का उद्भावन किया जा सकता है,किन्तु दुर्भाग्यवश अपने आलोचकों को मैथ्यूआर्नल्ड से फुर्सत ही नहीं मिलती, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट की सुने कौन ?

द्विवेदीजी की दृष्टि बड़ी पैनी है। उनके सूक्ष्म-दर्शी नेत्रों में प्राच्य प्रणाली का गुरुकृपा-अञ्जन लगा हुआ है। पश्चिमी चश्मे से (अनस्विटेबिल नंबर के कारण) छोटा-बड़ा देखने में अन्तर पड़ सकता था। 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'नाथ-सम्प्रदाय', 'प्रायश्चित की घड़ी', 'मेरी जन्मभूमि', 'पुरानी पोथियाँ' आदि से स्पष्ट है कि वे भावुक से अधिक अन्वेषक और आनुसंधानिक हैं। पुरातत्व की भाँति वे कवित्व का भी स्थापत्य स्थापित करते हैं। अतः उनकी शैली प्रतिपादन की ओर है। उनकी खोज-भूमि हृदय की रमणीक स्थली है अतः प्रति-पादन शैली में भी चारुता है। उनमें पाण्डित्य और वैदग्ध्य का संयुक्तीकरण है। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' में शिल्पी लेखक का कौशल परिलक्षित है।

द्विवेदीजी की भाषा में उर्दू जुबान की शीरी कलामी एवं लचक है, साथ ही बँगला की सहज मिठास और स्निग्धता भी। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसमें संस्कृत के शब्दों का अभाव है। कहना न होगा कि उनके निबन्धों में संस्कृत तत्सम शब्दावली का प्रयोग साधारण से कुछ अधिक है। 'अशोक के फूल' के प्रकाशक के शब्दों में 'कहीं-कहीं पर कठिन शब्दों का प्रयोग सामान्य पाठक को खटक सकता है, लेकिन प्रत्येक शब्द के साथ कुछ ऐसा वातावरण रहता है कि कभी-कभी कठिन शब्दों के प्रयोग से बचा नहीं जा सकता।" हाँ उर्दू और अँगरेजी के पारिभाषिक और दैनिक बोलचाल के शब्द उसी भाँति बे रोक-टोक प्रयुक्त हुये हैं जैसे बहन के घर भाई का प्रवेश। उदाहरण के लिए उनके 'कबीर' ग्रंथ के दो उद्धरण पर्याप्त होंगे।

"कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगों की आक्रमणात्मक उक्तियों में एक प्रकार की हीन भावना की ग्रन्थि या इनफीरियारिटी कामप्लेक्स पाया जाता है। वे मानों लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रति-ध्वनि है, मानों चिलमन पर रुकने वालों के आक्रोश हैं।"

अँगरेजी पठित समाज के समक्ष इनफीरियारिटी कामप्लेक्स आदि शब्द व्याख्याता शैली के परिचायक प्रतीत होते हैं। और आगे बढ़िये—

'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। और वे वाणी के डिक्टेटर थे.........इस प्रकार का काव्यत्व उनके पदों में फोकट माल है, बाई प्रॉडक्ट है'।

अब अँगरेजी के उन शब्दों को लीजिए जिनको आमन्त्रित किये बिना लेखक पाठकों को अपने भावों का मानसीकरण न करा पाता। वे उन शास्त्रीय विचारों से सर्वथा मुक्त थे जो सामाजिक जीवन को स्थितिशील (स्टेटिक) देखने में ही समाज का कल्याण समझते हैं। × × × उसमें उनके आत्मविश्वास को भी आक्रामक (एग्रेसिव्ह) बना दिया था और उनकी लापरवाही को रक्षणात्मक (डिफेसिव्ह)।

अँगरेजी विशेषण और हिन्दी विशेष्य की गङ्गा यमुनी 'हिस्टीरिक प्रेमोन्माद' जैसे शब्द-गुम्फ भी द्रष्टव्य हैं'। संस्कृत तत्सम शब्दावली युक्त भावुकता भरित यह अवतरण पठनीय है—

'उस समय में एक बार याद करता था उन लाख लाख अनुद्गत यौवना कुमारी ललनाओं को जिन्होंने अनादि काल से अभिलाषित वर की कामना से गङ्गा मैया के इस स्रोत में लाख-लाख मांगल्य-दीप बहा दिये होंगे। फिर याद आई मुक्तिकाम महात्माओं की जिनके तपःपूत ललाट का असंख्य प्रणिपात ...

की प्रत्येक तरङ्ग ढोती जा रही थी। और अन्त में बाद आई गुप्तकाल की ललनायें जिनके बदन चन्द्र के लोध्र-रेणु से नित्य गङ्गा का जल पांडुरित हो जाता रहा होगा, जिनके चञ्चल लीला विलास से बाह्य प्रकृति का हृदय चटुल-भावों से भर जाता रहा होगा'। —'गतिशील चिन्तन'

उर्दू के शब्दों महसूस, गोया, आजमाया, सबूत, कतई का प्रयोग यत्र तत्र सर्वत्र है। सलीस उर्दू की रवानगी के साथ भाषा सम्बन्धी उनके विचार मननीय हैं।

'हम भाषाओं की एक लस्टम पस्टम रेलपेल न खड़ी कर दें जो भविष्य में हमारी सभी योजनाओं के लिए घातक साबित हो। × × × हमें ऐसी भाषा बनानी है जिसके द्वारा हम अधिक से अधिक व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षुधा निवृत्ति का सन्देश दे सकें। हम मानें या न मानें दुनियाँ बुरी तरह से छोटी होती जा रही है, आँख मूँद लेने से ही अँधेरा नहीं हो जाता'।

मुहाविरों का प्रयोग भी उनकी भाषा में हुआ है—

'सौ बात की बात यह है', 'मानो अट्टहास करती हुई बिजली को बिजली मार गई हो', 'आसमान में मुक्का मारना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं माना जाता बिना लक्ष्य के तर्क करना भी बुद्धिमानी नहीं'

अब उनकी शैली पर आइए। शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति का अनुसरण द्विवेदीजी अपना कर्त्तव्य समझते हैं। निर्णय और कारण पर वे अधिक बल देते हैं। एकाङ्गी समालोचना के वे विरोधी हैं। न वे डा० रामविलास शर्मा तथा श्री शिवदानसिंह की भाँति कोरा मार्क्सवादी दृष्टिकोण रखते हैं और न छायावादी और रसवादी समीक्षा में डा० नगेन्द्र और श्री इलाचन्द्र जोशी की भाँति मनोविश्लेषण के महत्व को ही मानते हैं और न अपने समाजवाद की ही प्रतिष्ठा करते हैं। हाँ वे साहित्यिक सम्प्रदाय का आश्रयण अवश्य लेते हैं। साहित्य के दो अङ्ग हैं आत्माभिव्यक्ति और परबोध। द्विवेदीजी आत्माभिव्यक्ति के साथ परबोध की अनिवार्य आवश्यकता समझते हैं इसीलिए 'समीक्षकों की समीक्षा' शीर्षक निबन्ध में 'सुमन' और 'गिरीश' की समीक्षा शैली के अभाव इस प्रकार दिखाये हैं—

'सुमनजी को कवि की दृष्टि प्राप्त है। इसीलिए वे कवि के अन्तर में प्रवेश कर सके हैं, यह समझ में आ जाता है। सवाल यह रह जाता है कि वह अन्तर में प्रवेश करा सके हैं या नहीं।'

'गिरीशजी की पुस्तक में विश्लेषण और निर्णय तो है पर उसके बाद जो क्यों, कैसे आदि के प्रश्न आधुनिक पाठक के चित्त में अपने आप उठते हैं इनका कोई सन्तोष-जनक उत्तर नहीं मिलता।'

सुयोग्य अध्यापक की भाँति वे बात को इस प्रकार समझा देते हैं कि नचिकेता पाठक (जिज्ञासु पर अनवगत) के सन्देह-दोल पर डोलने वाले मन की प्रत्येक शंका का समाधान आप ही हो जाय। ऐसा क्यों है—वह पूछ ही न सके। अथवा सफल अभिभाषक की भाँति आपके प्रमाण अकाट्य और दलीलें तर्कातीत तथा मार्के की होती हैं। बेचारे न्यायाधीश और विरद्धी वकील को कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, शास्त्रीय समीक्षा शैली उन्हें अतिप्रिय है। 'साहित्य का मर्म' में उनके सशक्त संकेत ऐसी समीक्षा की ओर मिलेंगे। विषय-प्रतिपादन में वे पहले आधार का वर्णन करते हैं। 'द्विवेदीजी की देन-शैली' लेख में शैली भेद के तीन प्रमुख कारण बताये हैं।

(क) स्वभाव संस्कार और शिक्षण की भिन्नता (ख) खास युग और खास वस्तु (ग) शास्त्रीय उपस्थापन—इस शास्त्रीय उपस्थापन में (१) वक्तव्य वस्तु के बौद्धिक (२) भावावेश मूलक और (३) सामंजस्य बोध मूलक उपकरण शामिल हैं।

'प्रेमाश्रम का प्रतिपाद्य' शीर्षक निबन्ध ही लीजिए। आलोचना के पूर्व-सिद्धान्तों का उल्लेख

करते हुए ग्रन्थ समझने के लिए छः वस्तुओं का निर्देश करते हैं—

उपक्रमो प संहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्,
अर्थवादी पपत्तीच लिंग तात्पर्य निर्णये।

फिर आलोचना का प्रारम्भ इस प्रकार होता है। 'मूल कथा का न तो उपक्रम ही है न उपसंहार ही।'

उनके निबन्धों, को कई रूपों में विभाजित किया जा सकता है। पर इस विभाजन में परिवर्तन हो सकता है।

(१) संस्मरणात्मक (वर्णन-प्रधान) एक कुत्ता और एक मैना, अशोक के फूल, बसन्त आ गया है।

(२) चिन्तनात्मक अनुसंधान एवं (गाम्भीर्य युक्त) ये निबन्ध शोध प्रेरक हैं प्रायश्चित की घड़ी 'मेरी जन्म भूमि' पुरानी पोथियाँ।

(३) व्यावहारिक समीक्षात्मक—प्रेमचन्द का महत्व, प्रसादजी की कामायनी, दादू (पुस्तक समीक्षा) प्रेमाश्रम का प्रतिपाद्य।

(४) सैद्धान्तिक—मधुर-रस की व्यञ्जना।

(५) सांस्कृतिक—मेरी जन्म-भूमि, हमारी संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध, भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या, भारतीय संस्कृति की देन।

(६) ज्योतिष सम्बन्धी—नया वर्ष आ गया, पण्डितों की पञ्चायत, भारतीय फलित ज्योतिष।

(७) व्यक्तिगत कहानी जैसे निबन्ध—गतिशील-चिन्तन।

मुझे द्विवेदीजी के कुछ निबन्ध आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और कुछ श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की शैली जैसे लगे हैं। जैसे 'हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री', 'पुरानी पोथियाँ' आदि लेख स्व० आचार्य द्विवेदी के 'योरप के विद्वानों के संस्कृत लेख और देवनागरी लिपि' तथा 'अंगरेजों का साहित्य प्रेम' सदृश हैं। 'अशोक के फूल' और 'वसन्त आ गया है' में बख्शीजी का 'रामलाल पण्डित' जैसा कौशल मुझे मिला। 'वसन्त आ गया है' निबन्ध के अन्त में आप लिखते हैं।

'मुझे बुखार आ रहा है। यह भी नियति का मजाक ही है। सारी दुनिया में हल्ला हो गया कि बसन्त आ रहा है, और मेरे पास आया बुखार।

द्विवेदीजी की प्रवृत्ति आनुसंधानिक है। विषय गम्भीर है ही और इस गाम्भीर्य के कारण जटिल गुत्थियों को उन्हें सुलझाना पड़ा है। उन गुत्थियों के सुलझाने में सम सामयिक अन्य समीक्षकों की भाँति वह पाठक को उलझन में नहीं डाल देते। डा० नगेन्द्र और अवस्थीजी में यह दोष हम यत्र-तत्र पाते हैं। अपने कथन की सम्पुष्टि वे संस्कृत के आचार्यों और देशी विदेशी विद्वानों के उद्धरण देकर करते हैं। वे प्रत्येक बात में बाल की खाल निकालने वाली प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। 'कुञ्झटिका छत्र आकाश में दूर तक' उड़ने की चाह है जो उन्हें। कहीं-कहीं उद्धरण लम्बे अवश्य हो गये हैं पर सकारण। 'वैष्णव कवियों की रूपोपासना' शीर्षक निबन्ध में (विचार और वितर्क पृष्ठ ७,८) श्री रवीन्द्रनाथ का एक लम्बा उद्धरण 'जो लोग .... फर्ज है।' दिया है। आप उसके नीचे लिखते हैं—

'इस लम्बे उद्धरण को उद्धृत करने का कारण यह है कि इसमें रूप के बन्धनात्मक स्वरूप से उतर कर बाधात्मक रूप में प्रकट होने की सुन्दर व्याख्या की गई है।

जुलाहा शब्द की व्युत्पत्ति 'कबीर' ग्रन्थ में तथा कन्दुपक्क शब्द में पाव रोटी के पर्याय का भ्रम निवारण अपने गाँव के काँदू जाति के भड़भूँजे कन्दु को सम्बद्ध बताकर किया है। विविध जातियों का नाम वैसा क्यों है इसके कारण विचारपूर्ण हैं।

गम्भीर विषयों के प्रतिपादन का ढङ्ग आचार्य शुक्ल की भाँति ही सरस है कारण कि उनकी कृतियाँ हास्य और व्यंग्य से युक्त होती हैं। यह बात नगेन्द्रजी में बहुत खटकती है। उनके हास्य का उदाहरण उनकी निम्न पँक्तियों में मिलता है।

'........ऐसा न मान कर ऐसा मानने वालों की परस्पर विरोधी उक्तियों पर अगर कोई सचमुच गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसके लिए शीघ्र आपके बगल में जो पागलखाना है उसमें शरण लेनी पड़ेगी। और आप निश्चित मानिए कि यदि ऐसे लोग कुछ अधिक संख्या में आगरे के उस गृह में जाने लगें तो आपको महत्वपूर्ण आलोचनात्मक लेखों की कमी भी नहीं पड़ेगी। और यदि पाठकों ने भी उन विचित्र मतों को गम्भीरता पूर्वक स्वीकार करना शुरू किया तो आगरे के अधिकारियों को स्थान बढ़ाना पड़ेगा। पर आपको आगरे के बाहर से लेख माँगने पड़ते हैं, यही इस बात का सबूत है कि कोई साहित्यिक आलोचनाओं को गम्भीरतापूर्वक पढ़ता नहीं।

यह पढ़कर स्मित हास बिखेरते हुए अधर खुल पड़ेंगे। तथ्य निरूपण में आपके इस हास्य विनोद ने (साहित्य सन्देश के) सम्पादक-त्रय को हँसा अवश्य दिया होगा।

स्मित से कुछ बढ़े हुए हास की चाषनी यहाँ चखिए—'मैं रथी रूप में आसीन हुआ; सारथी ने अश्व के साथ अपना पिता-पुत्र सम्बन्ध स्मरण करते हुए चाबुक सँभाला।

यहाँ रेखाङ्कित शब्दों में गुलेरीजी के अमृतसरी इक्केवाले याद आ जाते हैं जो घोड़े की नानी से अपना सम्बन्धनैकस्त्य निदर्शित करते हैं।

कौतूहलपूर्ण हास्य की भी कमी नहीं है। 'विचार और वितर्क' की भूमिका में आप लिखते हैं—

'एकाध लेख व्योमकेश शास्त्री के हैं। फिलहाल वे मेरे ही नाम छप रहे हैं क्योंकि जिन मित्रों की प्रेरणा से ये लेख संगृहीत हुए हैं उनका पक्का मत है कि शास्त्री के विचार और हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार वस्तुतः एक ही हैं। मैंने मित्रों के मत में शङ्का करना उचित नहीं समझा।'

इङ्गितकोविद पाठक समझ गये होंगे कि यह रहस्य क्या है? यह व्योमकेश महाशय कौन हो सकते हैं?

अब उनके इन्द्रायणी व्यंग्य का एक नमूना देखिए। व्याजनिन्दा-परक यह अवतरण पठनीय है—

'आसमान में मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं है, और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रिलोक विकम्पित। यह क्या कम साधना है।'

—क्या आपने हमारी रचना पढ़ी है

द्विवेदीजी प्रतिपाद्य विषय में व्यक्ति और विषय दोनों का सन्तुलित आकलन चाहते हैं। कृति की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परीक्षा उन्हें प्रिय है। आलोच्य लेखक या कवि की रचना से उनका सम्बन्ध अधिक रहता है लेखक से वे उतने ही अंश में सम्बद्ध हैं जितने में उनका काम चलता है। आज के कुछ समीक्षक कभी-कभी लेखकों की रचना की समीक्षा न कर लेखक के व्यक्तित्व पर आक्षेप करने लगते हैं। श्री सोहनलाल द्विवेदी ऐसे आलोचकों के लक्ष्य बन चुके हैं। द्विवेदीजी लेखक और कवि के प्रति उदार दृष्टिकोण और सहानुभूति रखते हैं और इस प्रकार Author Fallacy (व्यक्तिगत दोष निर्देश) से वे नितान्त बचे हैं। समीक्षा में गुण ग्राह्या दोषा क्षम्या का सिद्धान्त उन्हें सर्वथा मान्य नहीं पर श्री रामनरेश त्रिपाठी के यह लिखने पर कि 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' संस्कृत का प्राचीन वाक्य है, आप अपने शील का परिचय देते हुए लिखते हैं, 'त्रिपाठीजी से जरा सी गलती हो गई है.....'

उनकी शैली पर रवीन्द्र की शैली का प्रभाव है जो काव्यमय है, पर है वह अति स्पष्ट और बोधगम्य। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी जैसा मरुस्थल में शाद्वल उगाने का प्रयास उसमें अवश्य नहीं है। उन्हें

(शेष पृष्ठ ३०४ पर)

गुप्तजी के आलोचक

श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' एम० ए०

आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी साहित्य सेवा से हिन्दी का ही नहीं, समस्त देश का मस्तक ऊँचा किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के उद्धार की चिन्ता ने इस अमर साहित्य स्रष्टा को इतिहास के पृष्ठों में से श्रेष्ठतम कथानकों के चुनाव के लिए प्रेरित किया है। यही कारण है कि महाभारत, रामायण, बौद्ध, राजपूत, सिक्ख, मुस्लिम आदि कालों की संस्कृति की विचार-धारा को व्यक्त करने के लिए उसने अपने महाकाव्यों और खण्ड-काव्यों का सृजन किया है। इसके साथ ही उसका हृदय निरन्तर वर्तमान परिस्थिति से भी प्रभावित होता रहा है। गान्धीवादी विचार धारा ने कवि को उसी प्रकार प्रभावित किया है जिस प्रकार उपन्यासकार प्रेमचन्द को उस विचार-धारा ने प्रभावित किया था। गद्य में प्रेमचन्द और पद्य में मैथिलीशरण गुप्त दोनों को मिलाकर गान्धीवादी संस्कृति के पूर्ण और व्यापक इतिहास के आधार बन सकते हैं। गत चालीस वर्षों से सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक प्रतिक्रिया को काव्य में प्रतिबिम्बित कर समय के साथ कदम मिलाकर चलने वाले इस महाकवि के काव्य पर आलोचनाएँ भी खूब हुई हैं। आधुनिक युग में उनसे अधिक पाठक भी किसी दूसरे कवि के नहीं।

अब तक उनके सम्बन्ध में जो आलोचनात्मक पुस्तकें निकली हैं उनमें से प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—

१—गुप्तजी की कला—डा० सत्येन्द्र
२—गुप्तजी की काव्यधारा—गिरिजादत्त शुक्ल
३—गुप्तजी के काव्य की कारुण्य धारा—धर्मेन्द्र
४—मैथिलीशरण गुप्त—सरस्वती पारीक
५—मैथिलीशरण गुप्त : एक अध्ययन—रामरतन भटनागर
६—साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र
७—गुप्तजी की कृतियाँ—श्यामनन्दनप्रसादसिंह
८—यशोधरा : एक समीक्षा—वासुदेवनन्दनप्रसाद
९—गुप्तजी की यशोधरा—कृष्णकुमार सिन्हा

इन पुस्तकों का वर्गीकरण किया जाय तो तीन प्रकार की श्रेणियाँ होंगी—१—गुप्तजी की समग्र साहित्यिक कृतियों के सम्यक विश्लेषण वाली कृतियाँ, (२) गुप्तजी के काव्य की एक विशेषता को उद्घाटित करने वाली कृतियाँ और (३) गुप्तजी की विशिष्ट पुस्तकों पर आधारित कृतियाँ। पहले प्रकार की पुस्तकों में गुप्तजी की कला, गुप्तजी की काव्य-धारा, मैथिलीशरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त : एक अध्ययन आदि पुस्तकें आती हैं, दूसरे प्रकार की पुस्तकों में गुप्तजी के काव्य की कारुण्य-धारा का समावेश होगा, और तीसरे प्रकार की पुस्तकों में शेष पुस्तकों की गणना होगी। यों तो सभी पुस्तकों में सामान्य रूप से गुप्तजी के जीवन तथा साहित्य का परिचय मिल जाता है, परन्तु विशेष दृष्टिकोण से लिखी पुस्तकों में उस दृष्टिकोण की प्रधानता है। इन कृतियों के अतिरिक्त हजारों की संख्या में नवीन तथा प्राचीन काव्य-धारा के समर्थक कवियों तथा कालिज के प्रोफेसरों, पत्रकारों तथा अन्य-साहित्य सेवियों ने गुप्तजी के सम्बन्ध में अनेक लेख लिखे हैं, और लिख रहे हैं। उनमें उनके जीवन, साहित्य साधना तथा कृति विशेष पर आलोचना रहती है।

जो पुस्तकें पृथक रूप से गुप्तजी की रचनाओं को दृष्टि में रखकर लिखी गई हैं, उनका दृष्टिकोण विद्यार्थियों के लिए सरलतम अध्ययन प्रस्तुत करना रहा है। 'गुप्तजी की कृतियाँ' के लेखक ने 'दो शब्द' में जो लिखा है वही सबके लिए सत्य है। उन्होंने कहा है कि "विद्यार्थी समाज के लाभ और हित की दृष्टि

में रखकर ही उसे लिखा गया है।" इस दृष्टिकोण के कारण इन पुस्तकों से किसी गम्भीर विवेचन की आशा करना व्यर्थ है। विभिन्न पुस्तकों की कथा वस्तु, उनके पात्र, उनकी भाषा शैली, उनका महत्व आदि विषयों पर परीक्षोपयोगी दृष्टि से विचार किया है। आरम्भ में संक्षिप्त कवि-परिचय, उसकी कृतियों का उल्लेख और साहित्य में उसके स्थान की भी चर्चा है। ऐसी पुस्तकों में सर्व श्रेष्ठ कृति डा० नगेन्द्र की 'साकेत : एक अध्ययन' है। यद्यपि उद्देश्य उसका भी साकेत' के मर्म का उद्घाटन है तथापि उसका गाम्भीर्य उसे इन सबसे भिन्न बना देता है। यह गुप्तजी की एक कृति पर लिखी सबसे प्रथम पुस्तक है और नगेन्द्रजी ने इसके विवेचन में बड़ी परिश्रमशीलता का परिचय दिया है। 'साकेत' गुप्तजी की कीर्ति का अविचल स्तम्भ है, इस बात को दृष्टि में रखकर सावधानी के साथ नगेन्द्रजी ने साकेत की कथावस्तु, उसके भाव पक्ष, पात्रों के चारित्रिक विकास, उसके सांस्कृतिक आधार, भाषा और शैली की विशेषताओं पर ऐसा विचार किया है, जैसे किसी परीक्षार्थी को दृष्टि में रखकर नहीं वरन् विद्वानों और काव्य प्रेमी समुदाय को दृष्टि में रख कर करना चाहिए। इस दृष्टि से यह पुस्तक गु जी की समस्त विचार-धारा और सांस्कृतिक तत्वों के रहस्य को खोलती है और एक विशेष कृति पर लिखी होने पर भी कवि के समग्र व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में समर्थ है। इसमें कवि का विस्तार से परिचय और कृतियों के रचनात्मक तथा विषय की चर्चा नहीं है पर कवि की साधना के केन्द्रीय विचार का परिचय अवश्य मिलता है, जो उसकी रचनाओं के मर्म तक हमें ले जाता है।

जो पुस्तकें गुप्तजी की समस्त कृतियों को दृष्टि में रखकर, उनका साहित्यिक मूल्याङ्कन करने की दृष्टि से लिखी गई हैं उनमें रामरतन भटनागर की पुस्तक में भूमिका रूपमें द्विवेदी युग की कविता और गुप्तजी के काव्य पर विस्तार से विचार किया गया है। यह विश्लेषण बड़ा स्पष्ट और जानकारी से भरा हुआ है और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ऐसा विवेचन अन्य पुस्तकों में नहीं मिलेगा। भटनागर जी की शेष पुस्तक में गुप्तजी के महाकाव्यों, खण्ड-काव्यों तथा अन्य स्फुट कृतियों का परिचय दिया गया है। एक दृष्टि से यह पुस्तक परिचयात्मक है। श्रीमती सरस्वती पारीक की पुस्तक यद्यपि आकार में छोटी है और भटनागरजी के ढङ्ग की ही है पर वह सुविचारित (Well planned) है। कवि, उसका युग, उसकी कृतियाँ, रूपान्तरकार, धार्मिक तथा जातीय और राष्ट्रीय कवि, नाटककार आदि पर विचार करके लेखिका ने कवि के मुक्तक काव्य तथा प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य तथा महाकाव्य का अतिसूक्ष्म परिचय और अन्य पुस्तकों की संक्षिप्त चर्चा करके अन्त में उनकी कला पर विचार किया है। जैसा कि हमने कहा है, इस पुस्तक में नव न की दृष्टि से कोई बात नहीं है, केवल थोड़े में गुप्तजी के कृतित्व का पूर्ण परिचय इसकी विशेषता है। 'गुप्तजी की कारुण्य धारा' में लेखक ने स्वयं कहा है—"प्रस्तुत निबन्ध में गुप्तजी के काव्यों में जो कारुण्य की धारा' प्रवाहित हो रही है, उसकी समीक्षा की जायगी।" इस घोषणा के अनुकूल लेखक ने गुप्तजी की रचनाओं के स्फुट, नाटक और प्रबन्ध काव्य ये तीन भेद कर के प्रत्येक भेद के अन्तर्गत आनेवाली रचनाओं में करुणा के तत्व का विवेचन किया है। इस विवेचन में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक अधःपतन की ओर जहाँ लेखक ने संकेत किया है, वहाँ सांस्कृतिक देन को भी स्पष्ट किया गया है। इसमें गुप्तजी की सभी कृतियों का परिचय आगया है। इस परिचय में भी गाम्भीर्य की रक्षा सर्वत्र की गई है। 'पृष्ठभूमिका' के रूप में गुप्तजी के व्यक्तित्व, खड़ी बोली के विकास में गुप्तजी का स्थान, गुप्तजीकी कला में उपयोगितावाद, गुप्तजी की काव्य कला, गुप्तजी राष्ट्रीय कवि अथवा जातीय, गुप्तजी का समन्वयवाद, गुप्तजी का प्रकृति पर्यवेक्षण, आदि पर विद्वत्तापूर्ण विचार

व्यक्त किए गए हैं। इस पुस्तक के लेखक ने बड़े अध्ययन तथा मनन के पश्चात् गुप्तजी के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है। इन्होंने बड़ी निर्भीकता से गुप्तजी को जातीय कवि कहा है—"मैथिली शरण गुप्त में वह क्षमता नहीं कि वे वर्तमान युग का काव्य कलेवर खड़ा करें। अतीत के अस्थिपञ्जर में जान फूँकना और बात है, वर्तमान का जीवित चित्र अङ्कित करना और।" ऐसा कहकर उन्होंने गुप्तजी को आंशिक राष्ट्रीय कवि माना है क्योंकि उन्होंने प्राचीन कथाओं में आधुनिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं को व्यक्त किया है। केवल 'किसान' ही उनका युग का काव्य है। उसके आधार पर लेखक इस महाकवि को राष्ट्रीय कवि नहीं कहना चाहता। वह कहाँ तक ठीक है, यह विवेचन करना यहाँ अभीष्ट नहीं। हमारा तो कहना केवल यह है कि उसकी तर्कप्रणाली और निष्कर्ष दोनों ऐसे हैं कि उन पर उसके अध्ययन-मनन की गहरी छाप है।

'गुप्तजी की कला' तथा 'गुप्तजी की काव्यधारा' ये दो पुस्तकें निश्चय ही गुप्तजी की काव्यकला के स्पष्टीकरण के लिए लिखी गई हैं। 'गुप्तजी की कला' के लेखक में दो तत्वों की प्रधानता है। एक तो ऐतिहासिक दृष्टि से गुप्तजी की कृतियों का मूल्याङ्कन और दूसरा समस्त कृतियों में एक साथ भाव तथा कला के समान सूत्रों की खोज और समन्वय के द्वारा उनके सांस्कृतिक स्तर की एकता का उद्घाटन। गुप्तजी की कला, विषयों का चुनाव, उनका दृष्टिकोण, शैली की विशेषता, कवि का सन्देश, स्त्रियों का स्थान आदि के विवेचन में गुप्तजी की कृतियों की एक साथ विभिन्न रूपों में आलोचना हो गई है। अन्त में द्वापर पर एक अलग अध्याय जोड़ा गया, जो आलोच्य कृति पर विस्तृत समीक्षा तो प्रस्तुत करता है, पर है अनावश्यक। पूरी पुस्तक के अध्ययन पर पता चलता है कि लेखक के मस्तिष्क में पुस्तक लिखने से पूर्व कोई रूपरेखा नहीं थी। यद्यपि गहराई लेखक में है पर अध्यायों के विभाजन में तारतम्य नहीं है। [illegible] और उसके मर्म के लिए अलग-अलग अध्यायों [illegible] विचार हैं। ऐसे ही वस्तु और उसके उद्देश्य पर [illegible] एक साथ यदि इन पर विचार होता तो अध्याय [illegible] होते और विषय का विवेचन स्पष्ट। हमारी [illegible] धारणा है कि यदि लेखक इसके अध्यायों की सं[illegible] आधी करके इस पुस्तक को दुबारा लिखे तो गु[illegible] पर यह श्रेष्ठ कृति हो जाय।

'गुप्तजी की काव्यधारा' के लेखक ने [illegible] रूपरेखा बना कर कार्य किया है। इसमें कवि [illegible] जीवन, रचनाओं की प्रवृत्तियाँ, उनकी सामाजिक [illegible] साहित्यिक पृष्ठभूमि, भाषा, शैली, छन्द, कला, उ[illegible] काव्य में गीतितत्व तथा रहस्यवाद छायावाद [illegible] समावेश आदि पर अच्छा विवेचन किया है। [illegible] सत्येन्द्रजी ने द्वापर पर विस्तार से लिखा है, वैसे [illegible] गिरीशजी ने साकेत पर सौ पृष्ठ लिखे हैं। [illegible] भङ्ग, जयद्रथ वध और यशोधरा पर भी [illegible] विचार किया गया है। इस प्रकार इसमें भी [illegible] की कमी है। इस पुस्तक में शास्त्रीय दृष्टिकोण [illegible] अपनाया गया है, जब कि 'गुप्तजी की कला' में [illegible] निक मनोविज्ञान के आधार पर कवि के मानस[illegible] की झलक देने का प्रयत्न किया गया है।

अब तक गुप्तजी पर जो कृतियाँ निकली [illegible] उनमें जो श्रेष्ठ हैं, उनमें भी किसी में कुछ और कि[illegible] में कुछ कमी है, जैसा कि हम देख चुके हैं। [illegible] के पाठक को सभी पुस्तकों के पढ़े बिना सन्तोष [illegible] हो सकता। आवश्यकता इस बात की है कि [illegible] तक की प्रकाशित सभी पुस्तकों के गम्भीर अ[illegible] के पश्चात् कोई आलोचक पर्याप्त समय [illegible] शक्ति लगा कर एक उत्कृष्ट आलोचनात्मक [illegible] प्रस्तुत करे। वैसे उपलब्ध कृतियों में भी [illegible] वाले पाठक को गुप्तजी की साधना का मर्म [illegible] जायगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

साहित्य और राष्ट्रीयता

श्री कामेश्वरप्रसाद वर्मा

साहित्य शब्द 'सहित' शब्द से बना है। यह वह शब्द है जिसमें मानव कल्याण की भावना निहित है। उसमें उसके सभी तरह के हित का सामञ्जस्य है और वह 'साहित्य' की भावना से दूर—कोसों दूर रहता है। अगर हम साहित्य की इस विचारधारा को न मानकर, उसे जनता जनार्दन की न समझ कर, उसे मानव हितार्थ न जान कर उसे कोरी कला की ही चीज समझने लग जायँ, तब वह साहित्य न होकर 'राहित्य' हो जायेगा। जिसका अर्थ होगा लोक-कल्याण की भावना का अभाव और जब ऐसे कल्याण की भावना का अभाव होगा तब वह कैसे एक स्वस्थ्य समाज का निर्माण कर सकता है, एक सबल राष्ट्र का? एक दिन 'हंस' में प्रेमचन्दजी ने लिखा था "साहित्य उस उद्योग का नाम है, जो आदमी ने आपस के भेद मिटाने और उस मौलिक एकता के व्यक्त करने के लिए किया है, जो इस जाहिरी भेद की तह में, पृथ्वी के उदर में व्याकुल ज्वाला की भाँति, छिपा हुआ है। जब मिथ्या विचारों और भावनाओं में पड़कर असलियत से दूर जा पड़ते हैं, तो साहित्य हमें उस सोते तक पहुँचाता है, जहाँ Reality अपने सच्चे रूप में प्रवाहित हो रही है।" इस तरह 'सहित' की भावना ओत-प्रोत होने के कारण ही वह समाज का दीपक तथा दर्पण कहलाता है। वह ऐसा दीपक जलाता है, जिसके आलोक में एक राह मिलती है, एक नई दिशा।

और इस तरह एक विशेष परिधि के अन्तर्गत समाज की समन्वित भावनाएँ राष्ट्रीयता का रूप लेती हैं और समाज का वह दीपक साहित्य अपने को उस भावना से अलग नहीं रख सकता, नहीं रखता।

देश और काल के अनुसार राष्ट्रीयता की परिभाषा भी बदलती रहती है। एक युग के समाज की जो समन्वित भावनाएँ उस युग के विशेष में रहती हैं, वे दूसरे में नहीं रह पातीं; क्योंकि दूसरे युग में समाज ही दूसरा हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन के कारण उनकी समन्वित भावनाओं में परिवर्तन होता है और इस प्रकार जो कल की राष्ट्रीयता थी वह आज की राष्ट्रीयता नहीं रह जाती।

साहित्य का सम्बन्ध राष्ट्रीयता से रहा है बराबर से एक दर्पण के रूप में, एक दीपक के रूप में और इसीलिए किसी भी साहित्य के इतिहास में राष्ट्रीयता की खोज मानदंड विशेष को लेकर चलने से नहीं हो सकती। एक युग के साहित्य में राष्ट्रीयता का जो रूप मिलेगा, वह दूसरे युग के साहित्य में नहीं। हम साहित्य के अध्ययन से किसी भी जाति अथवा राष्ट्र की राष्ट्रीयता, उसकी सामाजिकता एवं उसके सांस्कृतिक विकास का क्रमबद्ध इतिहास मालूम कर सकते हैं।

राष्ट्रीय होने का कोई एक ही आदमी दावा नहीं कर सकता। वे सभी व्यक्ति राष्ट्रीय हैं, जिनमें चेतना है, भावना है, अपने देश तथा मानवता के प्रति प्रेम है। वह व्यक्ति कदापि राष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता जो केवल अपने ही देश के मङ्गल की कामना करे, उसे ही हरा-भरा, फूला-फला देखना चाहे। वह कदापि राष्ट्रीय नहीं जो स्वयं अपने देश से प्रगाढ़ प्रेम रखते हुए भी अन्य देशों की स्वतंत्रता की ओर हिंसक पशुओं की भाँति अपनी लपलपाती हुई विषाक्त जीभ को फैलाये। जो दूसरे राष्ट्र की तीव्र निन्दा कर राष्ट्रीयता का चोगा धारण करता है, उसके लिए तो डा॰ जॉनसन के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि "Patriotism is the last resort of Scoundrels."

बल्कि, वह अपने देश से सिर बाहर निकाल कर देखे। वह पायेगा कि उसका हृदय कितना विशाल, कितना उदार होता चला जा रहा है। वह कितना राष्ट्रीय हो रहा है। कितना मानवता के सन्निकट चला जा रहा है। किस तरह विश्व-बन्धुत्व का नाता जोड़ रहा है। वह अपने देश से महादेश में आयेगा और चिल्ला उठेगा—

"आज एशिया के अन्तर में,
सुलग उठी है जो चिनगारी,
नई आग है, नई आग।"

और जब वह ऐसा समझने लग जायेगा, तब [व]ह अपने को असली रूप में राष्ट्रीय कहने का दावा [क]र सकेगा। इस तरह, जब राष्ट्रीयता की पराकाष्ठा [प]र पहुँच जायेगा, तो वह समझने लग जायेगा—

"उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।"

साहित्य तथा राष्ट्रीयता में घनिष्ट सम्बन्ध है। [सा]हित्य ही राष्ट्रीयता को निर्धारित करता है और [रा]ष्ट्रीय भावना को जगाता है। साहित्य लोगों में [रा]ष्ट्रीयता का शंख फूँकता है और उनकी सुसुप्त [ध]मनियों में रक्त का सञ्चार करता है। वे फड़क [उ]ठते हैं और देश की पुकार पर अपने को न्योछावर [क]रने को प्रस्तुत हो जाते हैं।

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु-काल के पहले तक [सा]हित्य तथा राष्ट्रीयता वाटर टाइट कम्पार्टमेन्ट [में] बाँट दी गई थीं। अगर एक ओर साहित्य [ना]यिका की आँचल से बँधा हुआ था, तो दूसरी [ओ]र राष्ट्रीयता केवल कुछ बौद्धिक लोगों की ही [ची]ज समझी जाती थी और जन साधारण इन दोनों [के] बीच खड़ा अपने कर्तव्य का निर्धारण नहीं कर [पा]ता था; उसी समय उन्हें एक व्यक्ति मिला जिसने [राष्ट्र]ीयता और साहित्य में साम्य स्थापित किया और [लो]गों ने पहली बार सुना—

"आवहु सब मिलिकै रोवहु भारत भाई,
हा हा, भारत-दुर्दशा न देखी जाई।"

और इधर मैथिलीशरण गुप्तजी अपनी 'भारती' को ही भारत के नाम पर उत्सर्ग करने लगे—

"भगवान, भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।"

निस्सन्देह भारती गूँजी। उसका गुञ्जन सुन कर माखनलालजी जेल ही में भावुक बन बैठे:—

"कोकिल बोलो तो,
क्या देख नहीं सकती, जञ्जीरों का पहना।
हथकड़ियाँ क्यों?
यह ब्रिटिश राज्य का गहना
तेरा नभ भर में सञ्चार,
मेरा दस फुट का संसार।"

अब साहित्य ने देश में राष्ट्रीयता की आग सुलगादी है। उसे अब—

"औंधाई सीसी सुलखि, विरह बरति बिललाति।
बीचहिं सूखि गुलाबगो, छींटो छुयो न गात॥"

जैसे शृङ्गारिक गीत रिझा नहीं सकते। वह तो उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज बुलन्द करेगा और अपना हँसते हँसते बलिदान करेगा। नर-नारी सभी बौखला उठे हैं:—

"न हो हूँगी अत्याचार,
चलो मैं हो जाऊँ बलिदान,
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार
चढ़ा दो मुझको हे भगवान।"

उसे तो अब सुख-समृद्धि की आकांक्षा नहीं। फूल को ही लीजिए। वह अब नायिका के गले का हार तथा प्रेमिका का प्यार बनना नहीं चाहता।

"चाह नहीं मैं सुर-बाला के
गहनों में गूथा जाऊँ।"

बल्कि चाह यह है:—

"मुझे तोड़ लेना बनमाली
उस पथ पर तू देना फेंक,
मातृभूमि हित शीश चढ़ाने
जिस पथ जाते वीर अनेक।"

और देवी सुभद्रा के समक्ष भी यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि ऐसे सुअवसर पर बसन्त को वह

किस प्रकार मनाने को कहे—

"गलबाँही हो, या हो कृपाण
चल चितवन हो, या धनुषबाण
हो रस विलास, या दलित त्राण,
हो रही समस्या है दुरन्त
वीरों का कैसा हो बसन्त।"

और परोक्ष रूप से राष्ट्रवादियों को वसन्त मनाने का संकेत कर दिया। अब जन साधारण मस्त है, राष्ट्रीय-भावना से परिपूर्ण हो कर देश के कल्याणार्थ कुछ भी करने को प्रस्तुत है।

कोई भी साहित्यकार जो राष्ट्रीय है, अपने अन्तर चक्षु से सारी भावी चीजों को देख लेता है और लोगों से राष्ट्रीय कल्याण की अपील करता है।

"कुछ आरजू नहीं है, कुछ आरजू यही है।
रखदे कोई जरासी, खाके वतन कफन पै॥"

या

"कहीं से माँग कर दे, मोल करदे, चुरा करदे।
जो इन्सा है तो हक इन्सानियत का तू अदा करदे॥"

और ब्रजनन्दन 'आजाद' के शब्दों में ये पद केवल जलूसों ही में गाये जाते थे। पाठशालाओं तथा विद्यालयों तक इन्हें पहुँचाने का जो साहस करता था, उस पर बेतों की मार पड़ती थी। भला इन्सानियत का हक अदा करने में भी कोई कविता है? कविता तो है वीणा के तार तोड़ने और पागल प्रेमियों के पुक्का-फाड़ कर रोने में।" लेकिन नहीं, अब तो जमाना जाता रहा। अब तो कवि के लिए यह आदर्श होना चाहिए—

"वंशी के होठों पर अपना
निर्मम शंख बजा दे आज।"

और वह एक ऐसी क्रान्तिकारी कामना करता है जो जन-जन के राष्ट्रीय भावना की प्रेरक शक्ति हो। उसका जीवन तो राष्ट्र के लिए समर्पित है। उस पर तो उसका कोई अधिकार नहीं। और वह गरज पड़ता है—

"फेंकता हूँ लो, तोड़-मड़ोड़
अरी निष्ठुरे! बीन के तार,
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख
फूँकता हूँ भैरव हुङ्कार।
नहीं जीते जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल,
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल।"

इस तरह बेनीपुरी के शब्दों में "राष्ट्रीय कविता की जो परम्परा 'भारतेन्दु' से प्रारम्भ हुई, उसकी परिणति हुई 'दिनकर' में।" और आज सचमुच हिन्दी-साहित्य जगत में उसका प्रतिनिधित्व दिनकर ही कर रहा है।

हमारे हिन्दी-साहित्य में तो कितने ही राष्ट्रीय कवि हो गये हैं। 'प्रसाद' जी ने तो साक्षात् स्वतन्त्रता का चित्र ही खींच दिया था—

"हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती।"

उर्दू कवि 'इकबाल' की ये पँक्तियाँ राष्ट्रीय भावना को किस प्रकार व्यक्त कर रही हैं—

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा,
हम बुलबुलें हैं इसकी, यह गुलसिताँ हमारा।"

अँग्रेज कवि शैली ने भी राष्ट्रीय कविता की, लोगों को स्वतंत्रता की महिमा बतलायी और सुसुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में लाया।

इस तरह हम देखते हैं कि विश्व में जितनी भी क्रान्तियाँ होती हैं, जितने भी राष्ट्रीय बलवे होते हैं या जितने भी महत्वपूर्ण कार्य होते हैं, उनपर उस देश तथा उस काल के साहित्य का प्रभाव पड़ता है। वह उसका निर्देशन करता है और प्रशस्त मार्ग दिखा कर बुराइयों से बचाता है। यही राष्ट्र के विभिन्न अङ्गों का समीकरण है और अन्त में यह कहा जा सकता है कि साहित्य तथा राष्ट्रीयता में घनिष्ठ सम्बन्ध है और रहेगा।

आलोचना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लेखक-श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० लिट०, प्रकाशक-साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। पृष्ठ २१६, मूल्य २॥)

भारतेन्दुजी का हिन्दी में जो स्थान है उसके अनुरूप हिन्दी में आलोचना साहित्य प्रस्तुत नहीं हो सका है। वार्ष्णेयजी की प्रस्तुत कृति यद्यपि संक्षिप्त है तथापि प्रकाशक के शब्दों में गागर में सागर उपस्थित करने का प्रयत्न करती है। इसके चार भाग हैं—पहले में जीवनी, दूसरे में ग्रन्थ रचना, तीसरे में आलोचना, और चौथे में संग्रह। भारतेन्दु काव्य में तीन धाराएँ प्रमुख रूप से देखने में आती हैं। एक भक्ति-प्रधान, दूसरी रीति प्रधान और तीसरी देश-भक्तिमय राज-भक्ति। विद्वान लेखक ने भारतेन्दुजी की तीनों ही प्रवृत्तियों पर यथोचित प्रकाश डाला किन्तु वार्ष्णेयजी ने रीतिकालीन कवियों से भारतेन्दुजी को पृथक करने में विशेष विश्लेषण बुद्धि का परिचय दिया है। लेखक महोदय भारतेन्दुजी प्रद्यमयी रचनाओं की आलोचना में ही अधिक सीमित रहे हैं। संग्रह भाग में उदाहरणों में भी पद्य के ही उदाहरण दिये गये हैं, गद्य के नहीं। भारतेन्दुजी की गद्य शैली का थोड़ा विवरण अवश्य आया है किन्तु वार्ष्णेयजी की गद्य में विशेष गति है। पाठक उनसे कुछ अधिक जानकारी की आशा रखते थे। नाटकों का अवश्य अच्छा विवेचन हुआ है। वह सभी विद्यार्थियों को उपयोगी है। भारतेन्दुजी में रस विशेषकर शृङ्गार के अङ्गोपाङ्गों का) छन्द, अलङ्कारों और भाषा का अच्छा विवेचन हुआ है। रस वर्णन में उनने हरिश्चन्द्र के करुणात्मक दृश्यों का उल्लेख नहीं किया है। भारतेन्दुजी की शृङ्गारिक कविताओं में भी वार्ष्णेयजी एक आध्यात्मिक सांकेतिकता देखते हैं। उसमें तो विद्यापति की सी शृङ्गारिकता अधिक है। यद्यपि राधाकृष्ण के सम्बन्ध में होने के कारण उसमें भक्ति पुट भी आ जाता है। वार्ष्णेयजी ने उनको सन्धियुग का कवि कहा है और उन्होंने सन्धिकालीन उभयपक्षी प्रवृत्तियों का अच्छा उद्घाटन किया है। लेखक महोदय ने भारतेन्दु की मौलिकता पर भी प्रकाश डाला है। यह आवश्यक था क्योंकि बहुत से आलोचक उनको रस सृष्टा न मान कर रस का प्रसारक मानते हैं। भारतेन्दुजी के अन्य आलोचकों के बारे में भी कुछ अधिक समीक्षा हो जाती तो सोने में सुगन्ध की बात चरितार्थ होती।

सियारामशरण गुप्त (श्री सियारामशरण के साहित्यिक और कृतित्व का अध्ययन)—सम्पादक-डा० नगेन्द्र, प्रकाशक-गौतम बुक डिपो, दिल्ली। पृष्ठ २१३, सजिल्द, मूल्य ४)

प्रस्तुत ग्रन्थ में यद्यपि विभिन्न लेखकों के लेख हैं तथापि वे एक क्रम से और एक आयोजना के अनुसार लिखाये गये हैं, इसलिए इसको संग्रह ग्रन्थ नहीं कह सकते हैं। इसके तीन भाग हैं, पहले में जीवन वृत्त और व्यक्तित्व है। इन लेखों में एक लेख श्री मैथिलीशरणजी गुप्त का भी है। वह कवि के घरेलू जीवन पर अच्छा प्रकाश डालता है। दूसरे में सियारामशरणजी की विभिन्न प्रवृत्तियों (कविता, कहानी, उपन्यास और निबन्ध) की कुछ व्यापक

रूप से आलोचना है और तीसरे भाग में उनकी विभिन्न कृतियों की अलग-अलग आलोचना है। प्रायः सभी लेखों में एक विशेष स्नेह और भक्ति का अन्तःस्रोत बहता हुआ दिखाई देता है किन्तु इसने आलोचकों की दृष्टि को किसी प्रकार की अनुचित रंगीनी नहीं दी है। वह दृष्टि कवि को ठीक कोने से और परिस्थिति में देखने में सहायक हुई है। कवि की चारों मुख्य प्रवृत्तियों में कवि के कोमल व्यक्तित्व को निखार में लाने का प्रयत्न किया गया है। श्री विष्णु प्रभाकर बड़े कौशल से उनकी कहानियों में निहित मानवतावाद को प्रकाश में लाये हैं, और यह भी दिखलाया है कि वह मानवता प्रगतिवाद के कहाँ तक साथ जाता है और कहाँ उसका साथ छोड़ देता है। उनमें संसार में व्याप्त बुराइयों की चेतना है किन्तु उनके प्रति कटुता नहीं है, और संघर्ष की उत्तेजना है। यही बात उनके उपन्यासों में है। इस सम्बन्ध में डाक्टर देवराज ने बतलाया है उनमें समाज की उग्र शल्य क्रिया नहीं वरन् प्राकृतिक चिकित्सा है। उनके कथा-साहित्य की प्रवृत्ति उनके छायावाद के निकट आने वाले कवित्व से मेल खाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके व्यक्तित्व के आलोक में उनकी कृतियों का रहस्य समझ में आता है और कृतियों द्वारा उनका व्यक्तित्व निखार में आता है। सियारामशरणजी की कला और भावों के समझने में यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

—गुलाबराय

उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—लेखक—श्री परशुराम चतुर्वेदी एम० ए०, प्रकाशक—भारती-भण्डार, प्रयाग। पृष्ठ ८००, मूल्य १२)

श्री परशुराम चतुर्वेदी बलिया निवासी हिन्दी के ठोस साहित्य-साधक हैं। उनकी इस साधना का साक्षी है यह प्रस्तुत बृहद् ग्रन्थ, जिसमें सात अध्याय और परिशिष्ट में आरम्भ से आजतक गाँधीजी तक को सम्मिलित करते हुए सन्तमत पर खोजपूर्ण अधिकारिक विवरण और विचार दिये हैं। प्रथम अध्याय में चार विभाग हैं, जिसमें भूमिका स्वरूप सन्तमत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि १२५ पृष्ठों में विस्तार पूर्वक दी गयी है। दूसरे अध्याय में 'कबीर साहब' पर विचार किया गया है। उत्तरी भारत की यथार्थ सन्त-परम्परा इसी महापुरुष से आरम्भ होती है। लेखक ने इस अध्याय मे परिस्थिति परिचय, जीवन-वृत्त, मत आदि पर लिखा है। तृतीय अध्याय का सम्बन्ध कबीर साहब के समसामयिक सन्तों से है, चतुर्थ अध्याय में पन्थ निर्माण के सूत्र-पात की विशद चर्चा है, जिसमें विशेषतः कबीर पन्थ तथा नानक पन्थ का विस्तृत वर्णन है, उनकी शाखाओं तथा सम्प्रदायों का भी, तथा ४ अन्य फुटकर सन्तों का। पञ्चम अध्याय में पन्थ-निर्माण की प्रवृत्ति निरूपण करते हुए साथ-सम्प्रदाय, लाल-पन्थ, दादू-पन्थ, निरञ्जनी-सम्प्रदाय, बावरी पन्थ, मलूक-पन्थ पर विस्तृत विवेचन है। षष्ठ अध्याय समन्वय की प्रवृत्ति पर विचार करते हुए बाबालाली सम्प्रदाय, धामी सम्प्रदाय, सत्तनामी, धरनीश्वरी, दरियादासी, दरिया-पन्थ शिवनारायणी, चरणदासी गरीब पन्थ, मानसपंथ, रामसनेही आदि सम्प्रदायों का परिचय दिया गया है। सप्तम अध्याय में आधुनिक युग के साहिब पन्थ, नामी सम्प्रदाय, राधास्वामी सत्सङ्ग, स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गाँधी आदि का समावेश हुआ है। परिशिष्ट में कबीर के जीवन तथा महात्मा गाँधी की जीवन निर्माण कला पर विचार है। सहायक साहित्य की एक अच्छी सूची अन्त में है और शब्दानुक्रमणी से तो पुस्तक और भी उपयोगी हो गयी है।

इस पुस्तक में आये प्रत्येक प्रसङ्ग के विषय में लेखक ने सप्रमाण विचार किया है, और जितनी भी सामग्री उसे प्राप्त हो सकी है सब को यथास्थान उद्धरण पूर्वक उसने नियोजित किया है। पाद टिप्पणियों में ऐसे निर्देशित ग्रन्थों का आवश्यक ब्यौरा अथवा आवश्यक उद्धरण दिये गये हैं। लेखक ने भरसक यह प्रयत्न किया है कि प्रत्येक कथन सप्रमाण

हो, और उसकी विचार-कोटि वैज्ञानिक रहे। पुस्तक पर गम्भीर और विस्तृत विचार करने की अपेक्षा है जो पीछे कभी होगी। सन्तपरम्परा में गाँधीजी को सम्मिलित करने की बात ठीक नहीं समझ पड़ी। ...

हिन्दी कहानी और कहानीकार—लेखक-प्रो० वासुदेव एम० ए०, प्रकाशक-वाणीविहार, बनारस। पृष्ठ २१८, मूल्य ३॥)

इस पुस्तक में प्रथम छियासठ पृष्ठों में कहानी की परिभाषा, स्वरूप, सफल और श्रेष्ठ कहानी, प्राचीन तथा आधुनिक कहानी, हिन्दी कहानी का विकास, कहानीकारों का वर्गीकरण, तथा हिन्दी के कहानी संग्रहों पर विचार दिये गये हैं। इसके उपरान्त प्रसाद, गुलेरी, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, विश्वम्भरनाथ कौशिक, सुदर्शन, रायकृष्णदास तथा महादेवी वर्मा की कहानी कला पर विचार हैं। इसमें लेखक ने अधिकांशतः विभिन्न विषयों पर प्राप्त पुस्तकों के उद्धरणों का उपयोग किया है, और अपना मत भी दिया है। अतः इसमें साधारणतः मौलिकता भले उतनी नहीं, फिर भी एक स्थान पर विविध लेखकों के मतों को संग्रह कर देना और उनमें नयी व्यवस्था से विषय का परिचय करा देने की मौलिकता अवश्य है। जिन कहानीकारों को लेखक ने लिया है, उनके अतिरिक्त अन्य भी हिन्दी के कहानीकार हैं जो अपना महत्व रखते हैं। उनको इसमें सम्मिलित न करना, 'मेरी बात' में दिये कारण के बावजूद भी समझ में नहीं आया। पुस्तक में विचार करते हुए कहानीकारों में किसी क्रम का न रखना भी श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी सम्मति में लिखा है कि इस 'लेखक में वह अन्तर्दृष्टि और अध्यवसाय विद्यमान है जो आलोचक को बड़ा बनाते हैं' और हम इस सम्मति को समीचीन समझते हैं।

आधुनिक कविता की भाषा—लेखक-श्री ब्रजकिशोर चतुर्वेदी, बार-एट-लॉ, प्रकाशक-गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा। पृष्ठ ५७२, सजिल्द, मूल्य ६)

यह पुस्तक तीन भागों में विभक्त है। इसमें गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी वर्मा पर प्रथम भाग में, माखनलाल चतुर्वेदी, इलाचन्द्र जोशी, पं० केशवप्रसाद मिश्र, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, श्यामनरायण पाण्डेय, गोपालशरणसिंह, गुरुभक्तसिंह, सोहनलाल द्विवेदी, बङ्ग-दर्शन पर द्वितीय भाग में, गुप्त, हरिऔध, सियारामशरण गुप्त, मोहनलाल महतो वियोगी, अञ्चल, शिवमङ्गलसिंह सुमन की कुछ अन्य रचनाओं पर तथा मनवचित, साहित्य-समीक्षा, सजीव-कविता पर तृतीय भाग में विचार किया गया है।

इस पुस्तक में लेखक के समय-समय पर प्रकाशित निबन्ध हैं। इसमें लेखक के ही शब्दों में 'लेख किसी ऐतिहासिक क्रम से नहीं लिखे गये हैं। जो काव्य-ग्रन्थ सामने आया' उसी पर आलोचना लिख दी गयी, और किसी पत्र को भेज दी गयी। ऐसे ही लेख अब इस पुस्तक रूप में प्रकाशित किये गये हैं। लेख कवियों पर नहीं उनकी किसी न किसी कृति पर हैं, और उस कृति की 'भाषा' के मुहावरे, सौन्दर्य और सामर्थ्य पर ही विशेषतः विचार किया गया है। लेखक ने प्रत्येक कथन सप्रमाण देने की चेष्टा की है, और बहुधा उदाहरण पहले देकर तब निष्कर्ष पर ले जाया गया है। किसी शब्द या मुहाविरे के सौन्दर्य-सामर्थ्य अङ्कन की कसौटी बहुधा लेखक की अपनी ही है. जिससे पाठक असहमत भी हो सकता है और स्थान-स्थान पर यह भी अनुभव कर सकता है कि लेखक 'शब्दों' के साहित्यिक मर्म तक नहीं पहुँच पाया है, फिर भी लेखक ने अध्यवसायपूर्वक ऐसे शब्दों, मुहाविरों और वाक्यों को एक स्थान पर सङ्कलित करने और उन्हें अपनी विचार-कोटि में सुश्रृङ्खलित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। इसमें 'शब्द' और 'साहित्य' के घनिष्ठ सम्बन्ध पर नयी तरह से दृष्टि जाती है। लेखक में किसी कवि के प्रति कोई पूर्वग्रह अथवा मालिन्य नहीं, और उसने बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे लेखक के शैथिल्य को निस्सङ्कोच उद्घाटित किया है। 'वस्तु' की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं। कामायनी तथा 'हल्दीघाटी' पर विचार

करते समय वस्तु निर्माण पर भी विचार किया गया है। पुस्तक पठनीय और मननीय है—विशेषतः कवियों और स्रष्टाओं को तो इसे अवश्य ही पढ़ना चाहिए।

—सत्येन्द्र

कविता

विराग—लेखक-धन्यकुमार जैन 'सुवेश', प्रकाशक-भारत वर्षीय दि० जैन सङ्घ, चौरासी मथुरा। पृष्ठ ७२, मूल्य १)

भगवान महावीर का जीवन आदि से अन्त तक तप और त्याग पूर्ण था। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने उन्हीं के जीवन के एक अंश का चित्रण खण्ड काव्य के रूप में किया है। कविता में प्रवाह है पर भावों में गम्भीरता और चिन्तन की कमी है। सारी पुस्तक वर्णनात्मक है, विचारात्मक नहीं। फिर भी स्थान-स्थान पर ज्ञान वैराग्य और करुणा के भाव मिलते हैं। और उनसे भगवान महावीर की एक धुन्धली तस्वीर हमारे समाने आती है। भगवान महावीर के वास्तविक और महान रूप का चित्रण करने में लेखक को पूरी सफलता नहीं मिली है।

हास्य

मैंने कहा—लेखक-श्री गोपालप्रसाद व्यास, प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ६। पृष्ठ १२३, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ३)

श्री गोपालप्रसाद व्यास हिन्दी के तरुण लेखक हैं। अपनी हास्यमयी लेखिनी से अल्प काल में ही उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में हास्य लेखकों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। आज वे निस्सन्देह हास्य लेखकों में अग्रगण्य हैं। इस पुस्तक में उनके १५ गद्य लेखों का संग्रह है। इसमें पाँच लेखों में व्यासजी ने अपनी स्त्री और अपने ऊपर लेकर घर गृहस्थी का चित्र खींचा है और वह बहुत अंश में हमारे घरों का सही चित्रण है। 'झूठ बराबर तप नहीं' और 'खुशामद भी एक कला है'—यह दोनों लेख मनुष्य-प्रकृति और वर्तमान समाज का चित्रण करते हैं। 'कवि सम्मेलनों का धन्धा' 'हे हिन्दी के आलोचको' 'साहित्य का भी कोई उद्देश्य' और 'पत्रकार की पहचान'—यह चार लेख साहित्यिक व्यक्तियों को लक्ष्य कर लिखे गए हैं। सभी लेखों में भाषा का चमत्कार और विचारों में मौलिकता पद-पद पर मिलती है। व्यंग गहरे होते हुए भी कुरुचि पूर्ण और कटुता वर्द्धक नहीं हैं। पढ़ते-पढ़ते हृदय में गुदगुदी पैदा होती है और लेखक की क्षमता देखकर सहसा उसे बधाई देने की इच्छा होती है।

गाँधी जी का भूत—लेखक-श्री बेढब बनारसी, प्रकाशक-लोकसेवक प्रकाशन, बनारस। पृष्ठ ६६, मूल्य १॥)

यह भी हास्य पूर्ण १४ कहानियों का संग्रह है। यह निबन्ध या कहानियाँ हास्य की हैं पर इनमें रस का परिपाक पूरी तरह नहीं हो पाया है। पहला ही लेख गाँधीजी का भूत न तो कहानी की दृष्टि से ही ऊँचा है न हास्य की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है। अन्तिम लेख 'सम्पादक का अनुभव' भी ऐसा ही है। कहानी तो उसे कहें ही कैसे, हास्य भी उच्चकोटि का नहीं। 'विवाह की बात' में स्वाभाविकता चाहे न हो पर हास्य खूब है। 'सिपाही का प्रेम' अधूरे प्रेम का चित्रण है। 'भाई साहब' में कालेज में पढ़ने वाले युवकों का चित्र है। प्रायः सभी कहानियाँ प्रेम से सम्बन्ध रखती हैं और हास्य मिश्रित हैं। परन्तु बेढबजी से हम इससे बहतर चीज की आशा करते थे, क्योंकि हम उन्हें हास्य के अच्छे लेखकों में गिनते हैं।

—म

सामाजिक

पुरुष स्त्री—लेखक-श्री रघुबीरशरण दिवाकर, प्रकाशक-मानव साहित्य सदन, मुरादाबाद। पृष्ठ १७५, मूल्य २॥)

स्त्री और पुरुष पूर्ण मानव के दो अङ्ग हैं जो संसार संघर्ष में एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं,

प्रतिद्वन्दी नहीं। लेखक ने इसी दृष्टिकोण को लेकर पुरुष और स्त्री सम्बन्धी भिन्न-भिन्न समस्याओं पर विचार किया है। इनमें यौन निर्वाचन, दाम्पत्य, तलाक, सन्ततिनिरोध, व्यभिचार, वेश्यावृत्ति, सह-शिक्षा और कामशिक्षा आदि सभी प्रमुख समस्याएँ आगई हैं जिनके विवेचन में लेखक ने पर्याप्त गम्भीरता से काम लिया है।

लेखक हिन्दुओं के इस विचार को अप्राकृतिक मानता है कि विवाह अविच्छेद्य है पर साथ ही साथ वह तलाक की खुली छूट का भी विरोधी है। वह मध्यम मार्ग से ही तलाक को विवाह संस्था का अङ्ग मानता है।

पाप या बुराई का मापदण्ड समाज की व्यवस्था है, वह व्यवस्था चाहे कुछ भी हो। सुव्यवस्था से लेखक का क्या तात्पर्य है इसे लेखक ने स्पष्ट नहीं किया। समाज व्यवस्था को हानि पहुँचा कर काम परितृप्ति हो ही नहीं सकती। उसे तो व्यभिचार कहना ही पड़ेगा।

लेखक की विचार-धारा वैज्ञानिक आधारों को लेकर पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ती हुई प्रतीत होती है। यदि लेखक ने पूर्व और पश्चिम के समन्वय से मध्यम मार्ग का अनुसरण किया होता तो अच्छा था।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान—लेखक-श्री रघुवीरशरण दिवाकर, प्रकाशक—मानव साहित्य सदन, मुरादाबाद। पृष्ठ ४०, मूल्य ।।।)

हिन्दी साहित्य और संस्कृत धर्म ग्रन्थों में उपलब्ध स्त्री निन्दा की सामग्री को एकत्र कर लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हिन्दुओं में नारी को केवल निकृष्ट स्थान ही मिला है। इस ओर लेखक ने अत्यन्त परिश्रम किया है तथा वेद एवं स्मृति आदि दूसरे धार्मिक ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं। सम्पूर्ण पुस्तक का दृष्टिकोण एक पक्षीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक जिस गलती को इङ्गित करना चाहता है, वर्तमान युग के वातावरण में वह स्वयं भी उसी गलती को कर रहा है।

पुरुष का नारी के प्रति प्राचीन दृष्टिकोण के स्थान पर वह पुरुष का नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण लेकर चला है—हैं दोनों ही पुरुष के दृष्टिकोण। प्राचीन भारतीय संस्कृति से नारी को माता का उच्च स्थान भी दिया है।

"पितुर्दशगुणा माता गौरवेणाति रिच्यते"

और माता की आज्ञा पिता से बढ़कर थी परन्तु आज का पुरुष नारी को आर्थिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता के प्रलोभन से अपनी वासना के साधन का माध्यम बना रहा है। इस सत्य पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। लेखक ने इस दृष्टिकोण को बिलकुल छोड़ दिया है। —दयाप्रकाश एम० ए०

ज्ञान गङ्गा—सम्पादक-श्री नारायणप्रसाद जैन, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ लगभग ८००, सजिल्द, मूल्य ६)

'ज्ञान गङ्गा' में महान आत्माओं के लिखे विभिन्न विषयों पर उपयोगी वाक्यों का संग्रह है। जिन विषयों पर ये वाक्य संग्रह किए गये हैं उनकी सूची पुस्तक के प्रारम्भ में २० पृष्ठों में दी गई है। इसके दो विषयों पर दिये गये वाक्यों उद्धृत करते हैं:—

सन्देह—"जिसे सन्देह है नहीं। उसका नाश निश्चित है। वह रास्ते चलता हुआ भी नहीं चलता है क्योंकि वह जानता ही नहीं मैं कहाँ हूँ।" —गाँधी

"सन्देह सच्ची दोस्ती का हलाहल है।" —आगस्टाइन

विद्वत्ता—"संसार के महान व्यक्ति अकसर बड़े विद्वान नहीं रहते और न बड़े विद्वान महान व्यक्ति हुए हैं।" —होमस

"तू विद्वान है तो इतनी डींगें क्यों मारता है? क्या विद्वता की यही पहचान है!" —अज्ञात

"विद्वता का अभिमान सबसे बड़ा अज्ञान है।" —जैरेमीटेलर

इस प्रकार यह पुस्तक पाठक के लिए एक ज्ञान कोष का काम देगी। इसका नाम 'ज्ञान गङ्गा' बहुत ही उपयुक्त रक्खा गया है। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक बहुत पसन्द की जायगी। —म

समाज और जीवन—ले०-श्री जमनालाल जैन, प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल। पृष्ठ ११३, मूल्य १)

पुस्तक में भिन्न-भिन्न विषयों पर श्रमण संस्कृति सम्बन्धित तेरह लेख संग्रहीत हैं। समाज और जीवन में अनेकों ऐसी घटनायें आती हैं जिनके कारण मनुष्य विकास का अवसर ही प्राप्त नहीं कर पाता। लेख भावनापूर्ण और उपदेशप्रद हैं।

जीवनी

साधकों के जीवन पथ पर—लेखक-श्री विजयशङ्कर मुन्शी बी० ए०, प्रकाशक-स्वरूप 'आदर्श' इन्दौर। पृष्ठ ७९, मूल्य १)

पुस्तक में भारत के ही नहीं विदेशी साधकों की भी जिन्होंने अपने-अपने स्थलों को चुनकर निर्भय हो उसे पूरा करने में अपने को समर्थ समझा है, जीवनी हैं। राजनीति में पं० जवाहरलाल नेहरू, समाजवादी मेक्सिमगोर्की, विज्ञान में मि० रमन, साहित्य में प्रेमचन्द आदि का प्रभावशाली लेखनी में वर्णन किया गया है। —प्रतापचन्द्र

दर्शन

वायु महापुराण—अनुवादक-श्री रामप्रताप त्रिपाठी, प्रकाशक-हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग। पृष्ठ ५४७, मूल्य १२)

चतुर्वेद और षड्दर्शन के गम्भीर दार्शनिक तत्वों की विवेचना जन-सामान्य की बौद्धिक पहुँच से परे है। तत्व-ज्ञान, ज्ञान-मीमांसा और विश्व की व्याख्या-सम्बन्धित उनके विचार सूक्ति रूप में अभिव्यक्त होने के कारण सहज ही नहीं समझे जा सकते। विशुद्ध भावना की अभिव्यक्ति भी एक विशेष मानसिक स्तर की वांछना करती है। और जब इन्हें सूक्ति-रूप में ग्रहण करना होता है तो कार्य और भी कठिन हो जाता है। किन्तु जब इन्हीं गम्भीर सिद्धान्त-सूक्तियों की विवेचना कथारूपक द्वारा अभिव्यक्त की जाती हैं, तो मानव-मन उसे सहज ही ग्रहण कर लेता है। पुराण भी ऐसी ही विवेचना हैं। पुरातन महर्षियों ने पुराणों में दर्शन जैसे गूढ़ विषय को जनसुलभ बनाने का प्रयास किया था।

हिन्दी में वायु पुराण के अनुवाद का यह प्रथम प्रयास है। तत्कालीन दार्शनिक विचार तथा भारतीय-संस्कृति को समझने में पुस्तक अत्यन्त सहायक है। धार्मिक रुचिवालों के लिए भी अपनी पिपासा शान्ति का अच्छा साधन है।

किन्तु प्रस्तुत पुस्तक के विषय में मुझे कुछ विशेष रूप से कहना है। प्रस्तुत पुस्तक के अनुवादक के शब्दों में "अनुवाद राष्ट्रीय हित और समाज की उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए सर्वजनीन सरल सुबोध भाषा और कथानक शैली में करने का प्रयास किया है।" (पृष्ठ १७) प्रकाशकीय में दावा किया गया है कि "न केवल धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से ही वरन् शुद्ध जिज्ञासा एवं तत्त्व-पिपासा की दृष्टि से भी इसका अध्ययन विशेष मनोरञ्जक होगा।" अनुवादक तथा प्रकाशक अपने उद्देश्यों की पूर्ति में कहाँ तक सफलता लाभ कर सके हैं, एक विचारणीय प्रश्न है।

अनुवाद इतनी सुबोध भाषा में नहीं हुआ कि पुस्तक सार्वजनीन बन सके। देखिए "वाणी उस सृष्टि तत्त्व तक मन के साथ ही अपनी गति प्राप्त न करके निवृत्त हो जाती है। जिस प्रकार अव्यक्त परोक्ष एवं दुरधिगम्य है, उसी प्रकार सृष्टि के विषय भी परोक्ष एवं दुरधिगम्य हैं ....संसृति के कार्यजाल निवृत्त हो जाते हैं, उस समय पुरुष प्रकृति में साधर्म्य से अवस्थित होता है. प्राणियों के व्यक्ताव्यक्त धर्माधर्म भी विलीन हो जाते हैं। गुण सत्त्व में सत्त्वमात्रात्मक धर्म प्रतिष्ठित होता है, तमोगुण

में तमोमात्रात्मक गुण प्रतिष्ठित होता है।" (पृष्ठ ४८६) दार्शनिक भावों को सरल भाषा में अनूदित करना बहुत आसान नहीं है, फिर भी इसे कुछ और सरल बनाना चाहिए था। कथामय उद्धरण ले लीजिए—"सूतजी बोले—अब पृथ्वी के नीचे और ऊपर के भागों का प्रमाण सुनिये। यह पृथ्वी मृत्तिका, वायु, आकाश, जल और ज्योति-स्वरूप पंचभूतों से परिव्याप्त है।" (पृष्ठ १५६) जो पाठक इन उद्धरणों की संस्कृतमय पदावली को भलीभाँति समझ सकता है, वह वायुपुराण के मूल को भी समझने की क्षमता रखेगा। संस्कृत की क्रियाओं को हिन्दी में रूपान्तरित कर देना, सफल अनुवाद नहीं कहा जा सकता।

आमुख के विषय में एक बात और। Impressionistic ढङ्ग की आलोचना आमुख में शोभा नहीं देती। "विश्व साहित्य की अक्षय निधियों में अठारह पुराण सर्वश्रेष्ठ १८ रत्न हैं।" शब्दों का चयन यदि सँभल कर किया जाये तो अच्छा हो। अनुवादक ने अत्यधिक भावुकता का परिचय न दिया होता तो उचित होता। "भविष्य में होने वाले कल्कि अवतार की सत्यता से सहसा इन्कार इसलिए नहीं किया जा सकता कि घटनाओं की सत्यता उत्तरोत्तर प्रमाणित होती जा रही हैं।" ये वाक्य एक धर्म प्रचारक के लिए उचित हैं, अनुवादक के लिए आमुख में लिखना उचित नहीं। "समाज के अन्तर्बाह्य कलेवर को शुद्ध बनाकर सत्यं शिवं सुन्दरं के निकट पहुँचाने का सामर्थ्य पुराणों में अब भी है। किन्तु उसके उपयोग की कला सीखनी चाहिए।" आमुख में प्रामाणिक कथन ही देना चाहिए।

इसी तरह विश्वामित्र और मेनका वंशों तथा नदियों आदि को वेद के चमत्कारिक पदार्थ मानस रूढ़िवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं। (देखिए पृष्ठ ८) और इससे भी तो अधिक आश्चर्य यह है कि आमुख लेखक ने उपरोक्त विचारों को स्वयं ही काट दिया है। (देखिए पृष्ठ १२) धर्म आचार शास्त्र की आधारशिला है, अन्ध विश्वास नहीं है।

ग्रन्थ का नाम, लेखक, ग्रन्थ में उपलब्ध दर्शन, ग्रन्थ का रचना काल आदि के विषय में आमुख लेखक पूर्ण मौन रहा है। इस दृष्टि से श्री दीक्षित की Some Aspects of the Vayu Purana सुन्दर पुस्तक है। पुस्तक के आधार पर तत्कालीन सामाजिक चित्रण भी दिया जाता तो अच्छा होता। डा० पाटिल की Cultural History from the Vayu Purana इस विषय में सुन्दर पुस्तक है।

यह कमियाँ होते हुए भी पुस्तक का महत्व घटता नहीं है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने संस्कृत के ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद कराने का प्रबंध किया है—इसके लिए वह बधाई का पात्र है।

—हरिनारायण वर्मा एम० ए०

गीतायण—लेखक—श्री दि० या० मार्डीकर (माऊकवि)। प्रकाशिका—श्रीमती सौचन्द्रिका देवी मार्डीकर। पृष्ठ ११७, मूल्य २)

श्री मद्भगवद्गीता के कई पद्यानुवाद निकले हैं। प्रस्तुत अनुवाद की यह विशेषता है कि रामायण की भाँति यह दोहा चौपाइयों में है और अपेक्षाकृत स्वतन्त्र है। इस पर गांधीवाद का प्रभाव है। लेखक श्री भगवान मायानन्दजी चैतन्य के अनुयायी हैं। उनको बीसवीं शती का कृष्णावतार माना गया है। लेखक ने गीतानुवाद के बीच में उनके नाम का भी श्रद्धापूर्वक समावेश किया है—

'कृष्ण रूप मायानन्द धारा।
बीस शतक में भा उजियारा'

अच्छा होता यदि पद्य भाग में लेखक शुद्ध गीता तक ही अपने को सीमित रखते। इस में कम पढ़े लोगों को यह जानना कठिन हो जायगा कि कितना लेखक का अंश है, कितना मूल गीता का। गीतायन की भाषा अवधी और खड़ी बोली का मिश्रण मालूम होती है। इसकी गद्य भूमिका विचारपूर्ण है। इसमें विश्व शांति को अधिक महत्व दिया गया है।

—गुलाब[illegible]

स्फुट

व्यावहारिक हिन्दी—लेखक-श्री ना० नागप्पा एम० ए०, प्रकाशक-दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मदरास। पृष्ठ ३६४, सजिल्द मूल्य ४)

दक्षिण भारत और दूसरे अहिन्दी भाषी प्रान्तों के हिन्दी सीखने वाले व्यक्तियों के हितार्थ यह पुस्तक तैयार की गई है। इसमें पहले भाग में तीस पाठ हैं जिनमें अँग्रेजी के सहारे हिन्दी सिखाई गई है। अनेक विषयों पर हिन्दी वाक्य और उनका अँग्रेजी अनुवाद साथ-साथ दिया है। दूसरे भाग में सभी प्रकार का पत्र व्यवहार कैसे हो यह अँग्रेजी के साथ सिखाया है। तीसरे भाग में कुछ निबन्ध दिए हैं और प्रत्येक निबन्ध के आगे उसी विषय पर कुछ अँग्रेजी के वाक्य हिन्दी अनुवाद करने के लिए दिए गए हैं। चौथे भाग में अँग्रेजी से हिन्दी और हिन्दी से अंग्रेजी शब्द कोष है। पुस्तक में आदि से अन्त तक नित्य व्यवहार में आने वाली बातें हैं। —म०

प्राप्ति स्वीकार

हिन्दी भाषा का विकास—लेखक-श्री उत्तमचन्द जैन, प्रकाशक-श्री छेदालाल श्रीवास्तव २५ महारानी रोड, इन्दौर। पृष्ठ १०, मूल्य ।)

हिन्दी और उससे सम्बन्धित भाषाओं का चार्ट।

आधुनिक कवि—लेखक तथा प्रकाशक-श्री मातादीन चतुर्वेदी औरैया, इटावा। पृष्ठ ५८, मू० ॥)

आज के कवियों की पद्य में आलोचना।

कीर्तिकृत भक्ति साहित्य—लेखक-श्री चिरञ्जी लाल माथुर 'पङ्कज', प्रकाशक-श्री भवानीलाल माथुर रजनी प्रकाशन-जोधपुर। पृष्ठ २७, मूल्य ॥=)

लेखक ने रानी कीर्तिदेवी को हिन्दी जगत में मीरा के रूप में रक्खा है और उनकी आलोचना की है।

बापू के विचार—सम्पादक-श्री अद्भुत शास्त्री, प्रकाशक-बापू प्रकाशन रतनगढ़। पृष्ठ ४८, मूल्य ॥)

३३ विषयों पर बापू के प्रेरणादायक विचारों का संग्रह है।

त्रिवेणी—लेखक-सुदामाप्रसाद चतुर्वेदी एम० ए०, प्रकाशक-मीतल पब्लिशिङ्ग हाऊस, मथुरा। पृष्ठ १२०, मूल्य १॥)

इसमें सिद्धराज, पथिक और कुणाल तीनों पुस्तकों की आलोचना लिखी गई है। पुस्तक परीक्षोपयोगी है। विवेचन अच्छा है।

जनमेजय का नागयज्ञ : एक समीक्षा—लेखक-डा० सुधीन्द्र, प्रकाशक-हिन्दी भवन लश्कर। पृष्ठ ३१, मूल्य ॥)

लेखक ने श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' रचित 'जनमेजय का नागयज्ञ' पर नाटकीय तत्वों के साथ समीक्षा की है। पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी है।

आधुनिक वादों की सं० रूपरेखा—लेखक-कृष्णसहाय वर्मा, उत्तमचन्द जैन गोयल। प्रकाशक-श्री छेदालाल श्रीवास्तव २५, महारानी रोड इन्दौर। पृष्ठ ४८, मूल्य ॥)

आज का युग वादों का है। जीवन में भिन्न-भिन्न चेतनाएँ विचार विशेष में प्रवाहित रहती हैं। जिस विशेष वाद की ओर चेतना का प्रवाह होगा, समझ लीजिए कि वह अमुक वाद का अनुयायी है। उक्त पुस्तक में साहित्यिक वादों से लेकर राजनैतिक वादों तक सूक्ष्म रूप से प्रकाश डाला है।

हिन्दी शुद्ध लेखन—लेखक-श्री यशचन्द्रजी, प्रका०-विद्याग्रन्थ प्रकाशन, वर्धा। पृष्ठ ६०, मूल्य ॥=)

हिन्दी भाषा के शुद्ध प्रयोग के लिए व्याकरण के नियमों का ज्ञान कराना इस पुस्तक का उद्देश्य है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी—लेखक-श्री महेशचन्द्र चतुर्वेदी, प्रकाशक-ज्ञान मन्दिर पटकापुर, कानपुर। पृष्ठ ४८, मूल्य ॥)

पुस्तक में द्विवेदी जी का जीवन तथा उनकी हिन्दी की सेवाओं का वर्णन है।

मि० ह्यूम की परम्परा—लेखक-पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री, प्रकाशक-हिमालय एजेंसी, कनखल। पृष्ठ ४८, मूल्य ॥)

कांग्रेस के पिता मि० ह्यूम को लोग भूल न जायँ इसीलिए यह उनकी सुपाठ्य जीवनी लिखी गई है।

श्री सुभाषचन्द्र बोष—लेखक-श्री किशोरीदास वाजपेयी, प्रकाशक-राष्ट्र-भाषा परिष्कार परिषद कनखल। पृष्ठ ४६, मूल्य ॥।)

देश के मान्य नेता श्री सुभाषचन्द्रजी का जीवन-वृत्तान्त रोचक ढङ्ग से दिया गया है।

पूर्णिमा—लेखक-श्री प्रदीप, प्रकाशक राधेश्याम स्वामी, प्रताप प्रेस मथुरा। पृष्ठ २२, मूल्य ॥)

पहले आठ पृष्ठों में लेखक का परिचय और १६ पृष्ठों में उनकी कविताओं का संग्रह है। अधिकांश कविताएँ प्रेम सम्बन्धी हैं।

प्रथमा प्रश्नोत्तरी—लेखक-श्री गुलाबचन्द जैन, प्रकाशक-साहित्य साधना कुटीर, इन्दौर। पृष्ठ ६८, मूल्य ॥।)

इस पुस्तक में प्रथमा-परीक्षा के साहित्य-विषय के स० २००७ के प्रश्न-पत्र हल सहित दिये गये हैं। पूरक-परीक्षा के प्रश्नों का भी संक्षिप्त उल्लेख है।

कुरुक्षेत्र की अन्तरात्मा—लेखक-श्री उत्तमचन्द्र जैन 'गोयल' तथा सुश्री शारदादेवी, प्रकाशक-साहित्य साधना कुटीर, इन्दौर। पृष्ठ २२, मू० ।=)

उक्त पुस्तिका में कवि दिनकर के प्रबन्ध-काव्य 'कुरुक्षेत्र' पर आलोचनात्मक निबन्ध प्रस्तुत किया है। इसमें संक्षेप में कवि, उसकी रचनाओं तथा 'कुरुक्षेत्र' के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डाला गया है।

वीर कुँवरसिंह—लेखक-श्री जगदीश झा 'विमल'। प्रकाशक-बाल शिक्षा समिति, पटना। पृष्ठ ५०, मूल्य ॥)

यह जीवनी विहार के प्रसिद्ध देश-भक्त बाबू कुँवरसिंह की है। सुपाठ्य, सुन्दर छपाई में अच्छी बालोपयोगी पुस्तक है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—लेखक-श्री प्रेमनारायण टण्डन। प्र०-बालशिक्षा समिति, पटना। पृ० ४२, मूल्य ॥)

हिन्दी के आधुनिक काल में द्विवेदीजी ने भाषा के निर्माण और और हिन्दी की उन्नति के लिए जो कार्य किया है इस पुस्तक को पढ़कर भली भाँति जाना जा सकता है।

भारतीय इतिहास और वेद—ले०-शिवपूजन सिंह कुशवाहा, प्रकाशक-जयदेव ब्रदर्स, आत्माराम बड़ौदा। पृ० १६, मूल्य ≡)

लेखक डा० राजबली पाँडेय के 'प्राचीन भारत' नामक ग्रन्थ के कुछ सिद्धान्तों से असहमत हैं। आपने इस छोटी सी पुस्तक में वेदों से कुछ श्लोक उद्धृत कर पाँडेयजी के सिद्धान्तों को निर्मूल सिद्ध करने का प्रयास किया है।

पञ्चवटी-परिचय—ले० श्यामसुन्दरदास, प्र०-दीनानाथ बुकडिपो, इन्दौर। पृ० २४, मूल्य ।)

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के पञ्चवटी खण्ड-काव्य का इस पुस्तक में समीक्षात्मक परिचय दिया गया है। पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी है।

हिन्दी भाषा और लिपि-परिचय—ले० व प्र०-वि० आ० चौधरी रा० भा० प्र० मण्डल सांगली। पृ० १६, मूल्य =)

हिन्दी के परीक्षार्थियों के लिए उपयुक्त है।

साहित्यिक लेख—ले०-लक्ष्मीदत्त शर्मा, प्र०-श्री भारतीय विद्या भवन कोटा। पृ० ३०, मूल्य ।-)

शर्माजी ने इस पुस्तक में दो लेख—आलोचना क्या है? और कामायनी एक अध्ययन—प्रस्तुत किये हैं। दोनों ही लेख परीक्षोपयोगी हैं।

आलोचनांक थोड़ा ही बचा है

हमारे साहित्य सन्देश का आलोचना विशेषाङ्क जो अक्टूबर-नवम्बर का संयुक्त अङ्क था के सम्बन्ध में आपने अन्य पत्रों में समालोचनाएँ पढ़ी होंगी। एक अध्यापक ने तो लिखा है कि "इससे स्कूल और कालिजों के अध्यापकों को बहुत लाभ मिलेगा"

काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के प्रो० डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एम० ए०, डी-लिट्० की आलोचनाङ्क विशेषाङ्क के लिए सम्मति

'साहित्य-सन्देश' का आलोचनाङ्क मैंने आद्यन्त देख लिया। ऐसे अङ्कों की उपयोगिता स्वयं-सिद्ध है। इसी प्रकार यदि विभिन्न विषयों को लेकर विशेषाङ्क निकाले जायँ तो विद्यार्थी-जगत् का बड़ा कल्याण हो। इस अङ्क में प्राय: सभी पक्षों से आलोचना के विविध अङ्गों का विवेचन हो गया है।

जो सज्जन

शीघ्र ही ४) मनीआर्डर से भेज कर ग्राहक बनेंगे उन्हें हम इस अङ्क से ही ग्राहक बना लेंगे और इस प्रकार वे आलोचना विशेषाङ्क प्राप्त कर सकते हैं।

फुटकर अङ्क १) का मनीआर्डर मिलने पर भेजा जायगा।

मनीआर्डर भेजने का पता—

साहित्य-सन्देश कार्यालय, आगरा।

इंडियन प्रेस लिमिटेड

की

कुछ उपयोगी पुस्तकें

सीता—रामेश्वर पाण्डेय ।-)
मक्सिम गोर्की—महेन्द्रचन्द्रराय ३)

इतिहास

भारत का इतिहास—ईश्वरीप्रसाद ५)
भारतवर्ष का इतिहास— " ३॥)
अरली हिस्ट्री औफ इन्डिया (अँग्रेजी में)—
एन० एन० घोश १०)
मोर्डन इन्डियन हिस्ट्री (अँग्रेजी में)—
डा० एस० सी० सरकार एम० ए० १०)
ए हिस्ट्री औफ मोर्डन इन्डिया—
ईश्वरीप्रसाद एम० ए० १२)

स्त्रीउपयोगी

नारीजीवन—दुर्गाशङ्करप्रसादसिंह २॥)
सुशील कन्या—सन्तराम बी० ए० ॥।)
आदर्श महिला—अनु० पं० जनार्दन झा २॥।)
माँ और बच्चा—डा० बोधराज चोपड़ा २)

स्फुट

सरस्वती सीरीज— प्रत्येक ॥=)
कर्त्तव्य शिक्षा—ऋषीश्वरनाथ भट्ट १॥।)
नवीन खेलों की पुस्तक—
श्री रौनकीराम अग्रवाल २॥)
दूध पिलाने वाले जन्तु—शुकदेवनारायण ३)
शासक—श्रीनारायण चतुर्वेदी एम० ए० २)

कहानी

कथा सरित सागर—पं० केदारनाथ भट्ट २॥।)
अमरज्योति—श्री निशीथकुमार राय १)
नए चित्र—रामस्वरूप दुबे १।)
बेले डोना और पलसिटला का झगड़ा— १)
पत्र पुष्प—अनु० लल्लीप्रसाद पान्डेय २॥।)
रूस की चिट्ठी—रवीन्द्रनाथ ठाकुर १॥)

उपन्यास

पथ भ्रान्त पथिक—
अनु० पं० सुन्दरलाल त्रिपाठी २॥।)
महोन सीरीज १५ भाग-शशिधरदत्त प्रत्येक १॥)
छुटकारा—शरत्चन्द्र १॥)
बैकुण्ठ का विल— " ॥।)
बड़ी दीदी— " १॥)
श्रीकान्त भाग १-२—" ४)
पण्डितजी— २)
कपाल कुण्डला—बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय १॥)
विष वृक्ष— " " २)
युद्ध और शान्ति—सद्‌नारायण अग्रवाल ५)
अपना पराया—देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' ५॥)
आखिरी सलाम—डा० व्रजेश्वर ४॥)
शीलादेवी—लल्लीप्रसाद पान्डेय २॥।)
नवीन संन्यासी—जनार्दन झा ४॥।)
वंचिता—पं० उमेशचन्द्र मिश्र ३॥)

नाटक

मुद्रा राक्षस— १)
सोहाग बिन्दी— १।)
भूख—वीरदेव वीर १)
सन्त कबीर—प्रो० साधूराम शास्त्री एम० ए० ॥।)

धार्मिक

सचित्र हिन्दी महाभारत १० भाग— ८०)
सचित्र महाभारत—महावीरप्रसाद द्विवेदी ६)
सचित्र रामचरित मानस—श्यामसुन्दरदास १२)
सचित्र श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण पूर्वार्द्ध— ६॥)
" " " उत्तरार्द्ध— ६॥)
ज्ञानेश्वरी—अनु० रघुनाथ माधव भगाड़े बी० ए० ६)
कुण्डलियाँ रामायण—सत्यनारायण पाण्डेय ४)
रामचरितमानस अयोध्याकाण्ड—
श्यामसुन्दरदास ३॥)

मिलने का पता—

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

परीक्षार्थी प्रबोध भाग २

का

द्वितीय संस्करण छप गया
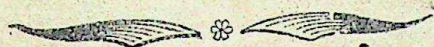
परीक्षार्थी प्रबोध पाठकों ने इतना पसन्द किया है कि उसका पहला भाग तो एक ही महीने में समाप्त हो गया था। इसका दूसरा संस्करण भी समाप्त हो गया फिर हमें तीसरा संस्करण निकालना पड़ा। इसी प्रकार दूसरे भाग का पहला संस्करण भी समाप्त हो गया और बहुत से आर्डर कैन्सिल करने पड़े—अब दूसरा संस्करण छप कर तैयार हुआ है।

परीक्षार्थी प्रबोध को तीसरे भाग का प्रथम संस्करण इसी नवम्बर मास में छपा था जिसकी थोड़ी सी प्रतियाँ ही शेष हैं।

पृष्ठ संख्या प्रत्येक की ३०० है और मूल्य प्रत्येक का २) पोस्टेज अलग।

विषय सूची मुफ्त मगायें।

साहित्य सन्देश के ग्राहकों को परीक्षार्थी प्रबोध पौने मूल्य में मिलेगा। अतः जो साहित्य सन्देश के ग्राहक नहीं हैं वे आज ही उसके वार्षिक मूल्य के ४) मनीआर्डर से भेज कर ग्राहक बन जायँ।

प्रकाशक—

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

Sahitya Sandesh, Agra.
JANUARY 1952.
REGD. NO. A. 263.
Licence No. 16.
Licensed to Post without Prepayment

परीक्षोपयोगी

साहित्य सन्देश आगरा के

१२ वें वर्ष की

जुलाई १६५० से जून १६५१ तक की पूरी फाइल

जिसमें

'भारतेन्दु' विशेषाङ्क भी सम्मिलित है।

इस फाइल में १०३ निबन्ध हैं जो प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा; विदुषी-सरस्वती, रत्न-भूषण-प्रभाकर, प्रवेशिका-भूषण-साहित्यालङ्कार, विद्यालङ्कार, इण्टर, बी० ए० तथा एम० ए० आदि के परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी हैं।

इसके अतिरिक्त विभिन्न सम्पादकीय विचारधाराएँ पुस्तकों की आलोचनाएँ तथा पूरे वर्ष में प्रकाशित नवीन पुस्तकों की सूची भी इस फाइल में आपको मिलेगी जिससे आपको विविध ज्ञान प्राप्त होगा।

फाइल के सम्बन्ध में हम इतना निवेदन और करदें कि इसमें अन्य विषयों के अतिरिक्त ५०० पृष्ठ तो ठोस सामिग्री के हैं जिनको यदि पुस्तकाकार में छपवाए जायँ तो १००० पृष्ठ से अधिक की मोटी पुस्तक हो जाय। जिसका मूल्य औसत दर्जे १०) और ठाट-बाट के साथ छापने पर १५)-२०) हो जाता है। परन्तु साहित्य सन्देश अपने ग्राहकों से केवल चार रुपया वार्षिक लेता है। इस फाइल में मोटी बसली की जिल्द लगा कर उसके ऊपर कवर तथा विषय सूची छाप कर इसका मूल्य ५) रखा है।

यह फाइल थोड़ी बनी है और सदा की भाँति शीघ्र बिक जाने की आशा है। अत: आप आज ही अपनी फाइल मँगालें।

विषय सूची मुफ्त मँगायें। सजिल्द ५) पोस्टेज पृथक।

मिलने का पता:—साहित्य सन्देश कार्यालय, ४, गांधी मार्ग, आगरा।

र्ष १३] आगरा—फरवरी १९५२ [अङ्क ८

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी.

महेन्द्र

प्रकाशक

त्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

मुद्रक

हित्य-प्रेस, आगरा।

मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के प्रथम सप्ताह में निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जबावी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

हिन्दी का नया प्रकाशन : जनवरी, १९५२

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

हिन्दी के उपन्यासकार—यज्ञदत्त शर्मा ३)
दिनकर की काव्य साधना—मुरलीधर श्रीवास्तव २।।)
आधुनिक काव्य में सौन्दर्य भावना—कु० शकुन्तला शर्मा एम० ए० ४।।)
रूसी साहित्य—डा० केसरी नारायण शुक्ल ४।।)
हिन्दी का सामयिक साहित्य—विश्वनाथप्रसाद मिश्र ४)
हिन्दी साहित्य और उसके अङ्क—श्रुतिकान्त शास्त्री एम० ए० १।।)
हिन्दी साहित्य का सं० इतिहास—गयाप्रसाद शुक्ल एम० ए० २)
आलोचना के सिद्धान्त—पं० कृष्णानन्दन पंत २।।)
संस्कृत साहित्य का इतिहास—हंसराज अग्रवाल एम० ए० ४।।।)
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डा० नगेन्द्र ३।।)
आधुनिक आलोचना और साहित्य—सीताराम जायसवाल २।)

कविता

इतिहास के आँसू—दिनकर ३)
धूप और धूँआ— ,, २।।)
सूर विनय पदावली—प्रभूदयाल मीतल १।।)

कहानियाँ

पूरे चाँद की रात—कृष्णचन्द्र एम० ए० ३)
गरजन की एक शाम— ,, ३)
अन्नदाता— ,, ३)
मनोरञ्जक कथाएँ—आनन्दकुमार १।)
नीति कथाएँ— ,, १।)

उपन्यास

अन्तिम चरण—यज्ञदत्त शर्मा ३)
मृदुला—सत्यवतीदेवी ३)
अनागत—सर्वदानन्द वर्मा २।।)

जीवनी

स्वामी श्रद्धानन्द—धर्मदेव विद्या वाचस्पति १)

स्फुट

भारत में मूर्ति पूजा—राजेन्द्र २)

शिक्षा सम्बन्धी

शिक्षा प्रणालियाँ और उसके प्रवर्तक—सीताराम चतुर्वेदी

बालोपयोगी

जादू का दीपक—यज्ञदत्त शर्मा ।।)
मुन्नी रानी— ,, ।)
बच्चों के भाव गीत—कुञ्जदादा ।।)
टर्र टर्र मामा— ,,

हिन्दी की सभी पुस्तकों के मिलने का एक मात्र स्थान—साहित्य-रत्न-भण्डार आगरा।

वर्ष १३] आगरा—फरवरी १९५२ [अङ्क ८

हमारी विचार-धारा

ब्रज-साहित्य-मण्डल का अधिवेशन—

इस महीने में २३, २४ तथा २५ फर्वरी को हाथरस में ब्रज साहित्य-मण्डल का वार्षिक अधिवेशन हो रहा है। हम इसकी सफलता चाहते हैं।

ब्रज साहित्य-मण्डल ने अपने लघु-जीवन में इतने ठोस कार्य की ओर प्रवृत्ति दिखायी थी कि सभी ने उसकी सराहना की थी। आज भी मण्डल जीवित है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपनी यथार्थ भूमि से विचलित हो रहा है। मण्डल का मुख्य ध्येय साहित्यिक और सांस्कृतिक जन-जागरण को उत्तेजित करने और सफल बनाने का है। उसे गाँव-गाँव और नगर-नगर में अवशिष्ट साहित्य तथा संस्कृति के बीजों को आधार बना कर मन के उस स्वास्थ्य, सौन्दर्य और सुरुचि का पोषण करना है जो जीवन की एकाङ्गिता को ही न नष्ट करे 'मानव' का उद्धार करे। मण्डल ने एक 'पञ्च वर्षीय योजना' प्रस्तुत की थी। एक वर्ष उसके अनुसार कार्य किया गया। उस योजना का मूल महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह था कि वह 'मानव' के मूल केन्द्र मन और उसकी अभिव्यक्ति के आधार और स्वरूपकालीन था, साहित्य की ऐतिहासिक तथा प्रगतिमय सर्वाङ्गीण उन्नति को साथ-साथ आगे बढ़ाने में सचेष्ट थी। पञ्च वर्षीय योजना में दिये गये शिक्षण-शिविर का बहुत मूल्य था। एक नयी दृष्टि सम्पन्न और शिक्षित व्यक्ति को उसके द्वारा गाँवों के इस साहित्यिक-सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन का केन्द्र बनाया जा रहा था। पर मंडल के आगे के कार्यकर्त्ताओं की दृष्टि वहाँ से हट गयी। आज 'ब्रज के पुनर्निर्माण' को आवाज फिर उठायी जा रही है। अपने-अपने ढङ्ग से लोग उसे करने के सुझाव दे रहे हैं—और ये कर्मठ मनीषी भी समझते हैं कि सुझावों से ही पुनर्निर्माण हो लेगा। उसके साथ पिछले जनपदीय और स्थानीय संस्कृति के नारे के खतरे फिर लगाये जाने लगे हैं। मण्डल को बहुत ही सावधानी से अपना मार्ग निर्दिष्ट करना है। उसे पुनः एक पञ्चवर्षीय योजना बनानी होगी।

हाथरस एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। पं० श्रीधर पाठक जैसे मेधावी साहित्य-निर्माता ने बहुत पूर्व हाथरस के स्वांग-साहित्य को खड़ीबोली हिन्दी का वर्तमान कालीन प्रारम्भिक साहित्य माना था।

हम आशा करते हैं कि हाथरस के इस अधि-

वेशन से ब्रज साहित्य-मण्डल पुनः शक्तिवान होकर सेवा में प्रवृत्त हो सकेगा।

हिन्दी रङ्ग-मञ्च : राष्ट्रीय रङ्ग-मञ्च—

जिस भाषा के पास अपना रङ्ग मञ्च नहीं वह कला के मार्मिक तत्त्वों को मौलिक रूप में अपने साहित्य में नहीं उतार सकती। रङ्ग मञ्च पर ही साहित्यकार की साहित्य की मूल प्रेरक कल्पना अपने ही निर्मित जगत के यथार्थ का प्रत्यक्षीकरण करती है, और उसमें से कला-विकास के तत्त्वों का चयन करती है। हिन्दी में रङ्ग मञ्च का अभाव सदा खटका है। पत्रों में इस विषय पर चर्चायें हुई हैं, साहित्य-सम्मेलनों में प्रस्ताव रखे गये हैं, उप समितियाँ बनायी गयी हैं—सभी प्रयत्न असफल रहे हैं। आज हिन्दी राष्ट्र-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी है। हिन्दी के रङ्ग-मञ्च को ही यथार्थ में राष्ट्रीय रङ्ग-मञ्च बनना है। फलतः हिन्दी भाषा-भाषियों पर तो विशेष उत्तरदायित्व 'हिन्दी रङ्गमञ्च' के सफल निर्माण के विषय में आही गया है, भारत के समस्त साहित्यिकों को भी इसमें हाथ बँटाना आवश्यक है। जहाँ अब तक असफलताएँ हुई हैं, अब कई ऐसे तत्त्व दृष्टिगोचर हो रहे हैं जिससे सफलता की संभावना की आशा बँधती है। सिनेमाओं के गढ़ में सफल तथा यशस्वी अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने जो रङ्गमञ्च स्थापित किया है, उसमें एक महान् रङ्गमञ्च के लक्षण स्पष्ट हैं। 'पठान' आदि नाटकों के अभिनय देख कर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सिनेमा फिल्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। पृथ्वीराज कपूर ने अपने उद्योग से रङ्गमञ्च की विजय सिद्ध करदी है। इस बीज को यदि समस्त दिशाओं से प्रोत्साहन मिले तो हिन्दी का एक प्रबल रङ्गमञ्च शीघ्र ही विकसित हो सकता है। पृथ्वीराज कपूर में हमने उस उदारता के भी दर्शन किये हैं जो किसी पावन राष्ट्र-उन्नायक भाव की सिद्धि में सहायक हो सकती है। केवल समझदारी से समस्त विभूति का उपयोग करने की आवश्यकता है। उधर यूनेस्को जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की अन्तर्राष्ट्रीय थियेटर इन्स्टीट्यूट के अन्तर्गत भारत थियेटर सेन्टर भी सचेष्ट हुआ है, जिसके अन्तर्गत 'दिल्ली नाट्य संघ' की आयोजना हुई है। इस संघ के द्वारा कई नाटकों का अभिनय अभी तक कराया जा चुका है। हिन्दी रङ्गमञ्च अथवा राष्ट्रीय रङ्गमञ्च के विकास में रुचि रखने वालों का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे इस सङ्घ द्वारा आयोजित विविध भाषाओं के नाटकों के अभिनय के सम्बन्ध में एक उद्योग यह करायें कि जो बहुत ही श्रेष्ठ और सुन्दर नाटक हों, वे सभी हिन्दी में रूपान्तरित करके भी पुनः खेले जायँ और इस अभिनय में चेष्टा यह की जाय कि मौलिक अभिनय का स्तर न गिरने दिया जाय। अभिनय की कला और रङ्गमञ्च की समस्त व्यवस्था पूर्व जैसी हो केवल भाषा बदले और वह हिन्दी हो। ऐसे उद्योग से हिन्दी के राष्ट्रीय रङ्ग-मञ्च का विकास हो सकेगा।

उर्दू का नया कदम—

हम पिछले अङ्क में 'अंजुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू' के लखनऊ अधिवेशन में दिये गये उसके अध्यक्ष डा० जाकिरहुसैन के भाषण पर टिप्पणी दे चुके हैं। इस लखनऊ सम्मेलन में एक प्रस्ताव द्वारा 'उर्दू को उत्तर-प्रदेश के निवासियों के प्रचुरांश की मातृभाषा माना गया है और प्राइमरी स्कूलों, दफ्तरों और अदालतों में उर्दू का प्रयोग निषिद्ध कर दिये जाने से यह आशङ्का प्रकट की गयी है कि 'इस प्रदेश के अनेक निवासियों की नयी पीढ़ियाँ मानसिक पक्षाघात से पीड़ित हो जायेंगी और उनके व्यक्तित्व वाञ्छित विकास को नहीं प्राप्त हो सकेंगे।' (अँगरेजी मूल-प्रस्ताव से 'प्रतीक' द्वारा दिये गये हिन्दी रूपान्तर का अंश) एक अन्य प्रस्ताव में राष्ट्रपति द्वारा उर्दू को उत्तर-प्रदेश की प्रादेशिक भाषा घोषित करने के लिए बद्ध करने का भी निश्चय किया गया है। दोनों ही प्रस्तावों का सम्बन्ध

'सरकार' से है। इन समस्त प्रस्तावों से एक बात तो यह स्पष्ट होती है कि स्वतन्त्र भारत के उत्तर-प्रदेश में 'उर्दू' और उर्दू भाषी जनता के साथ बड़ा अत्याचार हो रहा है। दूसरे यह कि यह प्रदेश दो 'मातृभाषाओं' वाला प्रदेश है—जिसका अर्थ है जातियाँ, दो संस्कृतियाँ और इसके साथ अन्य अनुमेय भावनायें। सरकार को और राष्ट्रपति को भूत और वर्तमान पर ही भली प्रकार नहीं विचार करना होगा, उसे भविष्य को भी ध्यान में रख कर ऐसे आन्दोलनों के सम्बन्ध में अपना रुख निर्धारित करना होगा।

हिन्दी के विद्वान् और असम—

डिब्रूगढ़ (असम) से प्रकाशित होने वाली राष्ट्रभाषा प्रचार साहित्य पत्रिका के वर्ष १ अङ्क २ में उक्त शीर्षक टिप्पणी की ओर हम हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। इसमें सम्पादक महोदय ने लिखा है—"हम हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित कर निवेदन करना चाहते हैं कि वे लोग समय-समय पर असम में पधार कर राष्ट्रभाषा के प्रचार और विकास में अपना सहयोग प्रदान करें। हमारी तो इच्छा थी कि असम में भी एक बार सुसङ्गठित रूप में हिन्दी के विद्वानों की बैठक एवं परिभ्रमण हो, ताकि यहाँ के लोग भी हिन्दी के विद्वानों से परिचय बढ़ाकर उनसे निकट सम्बन्ध स्थापित कर सकें। इससे हिन्दी को एकरूपता देने में हमें बहुत कुछ सुविधा मिल सकती है। आशा है हमारे विद्वद्गण इस विषय पर अवश्य विचार करेंगे।

हमारा नवीन साहित्य—

साहित्य-सन्देश के गताङ्क में हमने १६५१ में प्रकाशित हिन्दी की नवीन पुस्तकों की सूची प्रकाशित की थी। इस अङ्क में हम उस पर दो टिप्पणियाँ छाप रहे हैं। एक तो हमारे ही सहयोगी डा० सत्येन्द्र ने लिखी है, दूसरी पटना से प्रकाशित प्रसिद्ध पत्रिका 'नई धारा' से उद्धृत है। इस सम्बन्ध में हमें दो निवेदन करने हैं—

ऐसी सूची हम पिछले दस बारह वर्ष से बराबर प्रकाशित कर रहे हैं। इस सूची का बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा पाठक जान सकते हैं हिन्दी की गति किस ओर है और कैसी है। वह यह भी जान सकते हैं कि अमुक विषय पर इस वर्ष में किन-किन विशिष्ट लेखकों ने क्या क्या लिखा। इस सूची से पाठक अपनी-अपनी रुचि के विषय और अपनी-अपनी पसन्द के लेखकों की रचनाओं को छाँट सकते हैं। सभा-संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए पुस्तकें छाँटने में भी इस सूची से बड़ी सहायता मिल सकती है। नए लेखक भी इस सूची के द्वारा अपने लिखने का मार्ग निर्धारित कर सकते हैं। इस प्रकार अनेकों दृष्टियों से यह सूची अपना बड़ा महत्व रखती है।

हिन्दी के प्रकाशकों से—

पर यह सूची बनाने में हमें पूर्ण सफलता नहीं मिलती। इस कार्य में हिन्दी के सभी प्रकाशक हमें सहयोग नहीं देते। यह जानते हुए भी कि साहित्य-सन्देश का प्रचार बहुत अधिक है, उसमें प्रकाशित नई पुस्तकों की सूचना से प्रति मास नई पुस्तकें बड़ी संख्या में बिक जाती हैं (चाहे किसी भी पुस्तक विक्रेता द्वारा बिकें)—कुछ लोग अपनी नई पुस्तक छपने की सूचना हमें नहीं देते। हमारे यहाँ समालोचना के लिए हर विषय के विशेषज्ञ नियत हैं। वे यथा सम्भव निष्पक्ष भाव से समालोचना करते हैं। नई पुस्तकों की सूचना हम हर अङ्क में छापते हैं। ऐसी दशा में प्रकाशक और लेखक के अपने हित में है कि वह साहित्य सन्देश के लिए अपनी पुस्तकें समालोचनार्थ अवश्य भेजें। और अधिकांश प्रकाशक भेजते हैं। जितनी पुस्तकें समालोचनार्थ हमें मिलती हैं और जितनी पुस्तकों की आलोचना हम प्रकाशित करते हैं उतनी अन्यत्र नहीं। अतएव हम निवेदन

करेंगे कि हमारे प्रकाशक बन्धु इस कार्य में हमें और अधिक सहयोग देने की कृपा करें।

लेखकों के सहयोग की अपेक्षा—

दूसरा निवेदन हमें अपने लेखक बन्धुओं से करना है। वे इस सूची पर अपनी स्वतन्त्र सम्मति भेज सकते हैं। उस पर कई तरह के स्वतन्त्र लेख लिखे जा सकते हैं। महत्वपूर्ण पुस्तकों की विस्तृत समालोचना हो सकती है। उदाहरण के लिए लेखों के लिए कुछ शीर्षक हम देते हैं—१६५१ के पाँच उत्कृष्ट उपन्यास, नाटक या कहानी संग्रह, विगत वर्ष में आलोचना साहित्य की प्रगति, अमुक विषय में साहित्य सृष्टि की कमी, किसी विषय विशेष को लेकर दूसरी दूसरी भारतीय भाषाओं के नए प्रकाशनों से तुलना, किसी लेखक की गतिविधि की चर्चा आदि। हम चाहेंगे कि ऐसे लेख विशेष अध्ययन करके लिखे जायँ और साहित्य सन्देश में प्रकाशनार्थ भेजे जायँ। हम ऐसे लेखों पर अच्छा पारिश्रमिक देने की चेष्टा करेंगे। उससे हिन्दी साहित्य का हित होगा। हिन्दी के लेखकों को मार्गदर्शन मिलेगा और हिन्दी के पुस्तकालयों का पुस्तक संग्रह करने वालों को सहायता मिलेगी।

हमारा आलोचना स्तम्भ—

हम अपने समालोचना-स्तम्भ को और दृढ़ करना चाहते हैं। और इसके लिए हिन्दी के यशस्वी लेखकों और विशिष्ट विद्वानों का सहयोग चाहते हैं। हम चेष्टा करते हैं कि पुस्तक अपने विषय के विशेषज्ञ द्वारा समालोचित हो। इसके लिए हम अच्छे लेखकों के पास पुस्तकें भेजते हैं परन्तु बहुधा पुस्तकें उनके पास पहुँच कर ही रह जाती हैं। उन पर लिखने का कष्ट वे नहीं कर पाते। इससे हिन्दी का बड़ा अहित होता है। हम चाहते हैं कि विद्वान लेखक इस कार्य में हमें सहयोग दें और जो महानुभाव ऐसा सहयोग देने को तैयार हों वे कृपा कर उसकी सूचना हमें देने का कष्ट करें। हम उनके अत्यन्त आभारी होंगे।

विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखक—

भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के लेखकों से भी हम सहयोग की आशा और अपेक्षा करते हैं। हम चाहते हैं कि साहित्य सन्देश में प्रतिमास एक-दो लेख दूसरी भाषाओं के साहित्य विषयक रहें। यह लेख उन्हीं भाषाओं के विद्वान हिन्दी लेखक लिख सकते हैं। आलोचनाङ्क में हम चाहते थे कि बङ्गला, कन्नड़, मलयालम, तमिल और तेलगु आदि भाषाओं के साहित्य में प्रकाशित आलोचना साहित्य पर लेख हमें मिलें। कितने ही लेखकों से लिखा पढ़ी करने पर भी अभी तक हमें उपर्युक्त लेख नहीं मिल सके। इसका हमें खेद है। यही कारण है कि हम अभी तक आलोचनाङ्क का परिशिष्ट अङ्क नहीं छाप सके हैं। इन पंक्तियों के द्वारा हम अपने पाठकों से, जिनकी संख्या अब साठ-सत्तर हजार से कम नहीं, निवेदन करेंगे कि वे इस दिशा में हमें सहायता देने अथवा उपयुक्त विद्वानों के नाम सुझाने की कृपा करेंगे।

अपने प्रेमी पाठकों से—

साहित्य-सन्देश के गताङ्क में हमने अपनी एक कठिनाई की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था। हमें हर्ष है कि उस ओर हमारे अनेक पाठकों का ध्यान गया और कितने ही सज्जनों ने नवीन ग्राहक बनाकर हमारी सहायता की है। कई महानुभाव स्थायी ग्राहक या सहायक भी बने हैं। हम इन सब सज्जनों के बहुत आभारी हैं और उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हम यह भी आशा करते हैं कि हमारे शेष ग्राहक भी हमें विशेष रूप से इस विषय में सहयोग देकर आभारी करेंगे। हम चाहते हैं कि हमारे सभी साथी हमें कम से कम एक नवीन ग्राहक अवश्य प्रदान करें और जो लोग समर्थ हैं वे १००) भेज कर हमारे सहायक ग्राहक बन जायँ। इससे हमें बहुत बल मिलेगा।

सौन्दर्यशास्त्र तथा उसकी विभिन्न पद्धतियाँ

प्रो० भोलाशङ्कर व्यास एम० ए०, एल-एल० बी०

काव्य के आलोचकों के सम्मुख सौन्दर्य-शास्त्र ठीक उसी तरह एक सहायक शास्त्र बन कर आता है, जिस प्रकार मनोविज्ञान। काव्यशास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र तथा मनःशास्त्र तीनों का एक-दूसरे से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा एक शास्त्र दूसरे शास्त्र के अध्ययन में बड़ी सहायता पहुँचाता है। काव्य-शास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र तो एक दूसरे से इतने अधिक संश्लिष्ट समझे जाते हैं कि कभी-कभी विद्वान् काव्य-शास्त्र (Poetics) के लिए सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) का प्रयोग करते देखे जाते हैं। वैसे, सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्यशास्त्र से कुछ अधिक विस्तृत है। सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन का विषय न केवल काव्य या कला का ही सौन्दर्य है किन्तु सौंदर्य-मात्र है। सौन्दर्यशास्त्र की प्रणाली विज्ञान से सम्बन्धित है या दर्शन से, यह एक स्वाभाविक प्रश्न सबसे पहले हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के दो दल देखे जाते हैं। आदर्शवादी इसे शुद्ध दर्शन मानता है। प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री बोसाँके (Bosanquet) लिखता है, "सौन्दर्यशास्त्र का विषय जीवन में सौन्दर्यप्रवृत्ति की मीमांसा है, तथा यह सौन्दर्यानुभाव अन्य प्रकार के मौलिक अनुभवों से कितना भिन्न है तथा जीवन में इसका क्या मूल्य है इसका विवेचन करता है।"[1] आगे जाकर इस दार्शनिक पद्धति को विज्ञान से भिन्न बताते हुए वह कहता है, "किन्तु विज्ञान—कार्यकारण विश्लेषण तथा सामान्य नियमों का ज्ञान, एवं दर्शन—तथ्यों एवं उनके मूल्यों की मीमांसा—हमारे लिए भिन्न वस्तुएँ हैं। और हमारा सौन्दर्यशास्त्र दर्शन की ही एक शाखा है।"[1] कुछ विद्वान् दर्शन और विज्ञान में कोई भेद न समझ कर इसे Philosophy of Aesthetics तथा Science of Aesthetics दोनों कहेंगे। किन्तु ये विद्वान् बोसाँके जैसे विद्वानों के मतों को दार्शनिक न मान कर केवल "मेटाफिजिकल" (तत्त्वज्ञानीय) मानेंगे। इनके मत से तर्क, बुद्धि तथा कार्य-कारण सम्बन्ध से विहीन मीमांसा मनः कल्पना है जो वास्तविक तथ्य से कोसों दूर है।

सौन्दर्यशास्त्र का सबसे प्रमुख विषय 'सौन्दर्य' के अस्तित्व की मीमांसा है। जब हम कोई चित्र देखते हैं, तो वह हमें 'सुन्दर' क्यों लगता है। क्या इसलिए कि उसमें सौन्दर्य है, अथवा इसलिए कि हम उसे सुन्दर समझते हैं। कहते हैं कि लैली सूरत शक्ल से काली थी, पर मजनूँ के लिए वही खूबसूरत थी। "लैली की खूबसूरती को देखने के लिए मजनूँ के चश्म चाहिये।" तो क्या सौन्दर्य का सम्बन्ध लैली (विषय) से न होकर मजनूँ (विषयी) से है? इसी प्रश्न का विवेचन सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में विभिन्न पद्धतियों के उदय का कारण है। प्रथम पद्धति सौन्दर्य का अस्तित्व सर्वथा विषय में मानती है। कोई चित्र हमें सुन्दर इसलिए लगता है कि वस्तुतः उसमें सौन्दर्य है। ये लोग सौन्दर्यानुभूति में विषय (Object) को प्रधानता देते हैं। दूसरे लोग सौन्दर्यानुभूति में विषयी (Subject) को प्रधानता देकर उसके भावों में सौन्दर्य निहित समझते हैं। तीसरे लोग इस सम्बन्ध में विषय-विषयी का मेल कर सौन्दर्य का आधार "सम्बन्ध" (relation between Subject and object) मानते हैं। चौथे व्यक्ति शुद्ध सौन्दर्य तक ही सीमित न रह उससे भी आगे बढ़कर विषयी तथा विषय दोनों को समान महत्त्व देते

1—Bosanquet: Three lectures on Aesthetic. P. 2–3.

हुए उनके देश काल पर प्रमुख ध्यान देते हैं, तथा दोनों को एक दूसरे के गुण-परिवर्तन का कारण मानते हैं। ये चारों दार्शनिक या वैज्ञानिक पद्धतियाँ द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी के शब्दों में यों नामाकृत की जा सकती हैं—

(१) यान्त्रिक पद्धति (Mechanical Method)

(२) आदर्शात्मक पद्धति (Idealistic Method)

(३) विधिवादी पद्धति (Positivistic Method)

(४) तर्कात्मक या द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method)

(१) यान्त्रिक पद्धतिः—यान्त्रिक सौन्दर्यशास्त्री कलात्मक कृति का अध्ययन विच्छिन्न विषय (detached object) के रूप में करते हैं। उनके कला सम्बन्धी सिद्धान्तों में विषयी अथवा कलाकार की सर्वथा अवहेलना की जाती है। ये सिद्धान्त कला की 'टेकनीक' के रूपमें निबद्ध किये जाते हैं। काले बाल और छोटे पाँव, या भूरे बाल या नीली आँखों तक ही उनका सौन्दर्य सीमित रहता है। वे सौन्दर्य को "वाटरटाइट कम्पार्टमेन्ट" में बन्द करने की चेष्टा करते हैं। अमुक अलङ्कार, अमुक गुण, अमुक रीति तक ही उनकी काव्य या कला की मीमांसा रहती है। यह पद्धति "आकृतिवादी" (Formalism) के नाम से भी प्रसिद्ध है। शुद्ध दर्शन की यान्त्रिक भौतिकवादी (Mechanical materialism) पद्धति से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। कलाकृति का आलोचन शुद्ध कला क्षेत्र के नियमों के आधार पर हो, जिनके आधार पर प्रत्येक कलाकृति का सौन्दर्य-असौन्दर्य परखा जा सकता है, यह संक्षेप में इस पद्धति का मत है। प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ही, ऐसा जान पड़ता है, सौन्दर्य का अस्तित्व विषय में ही मानते हैं। लेकिन प्लेटो विषयी की अवहेलना करता नहीं जान पड़ता क्योंकि अन्य स्थानों पर वह "विचार" को अत्याधिक महत्व देता है।[1] किन्तु अरस्तू के विषय में कोई सन्देह नहीं कि वह इस पद्धति को स्वीकार करता है। काव्य या कला का सौन्दर्य वह स्पष्ट रूप से "अनुकृति" में मानता है। वह कहता है—'जब हम "अनुकृति" सुनते हैं, तो हम संवेदनपूर्ण भावनाओं का अनुभव करते हैं।'[2] एक प्रसिद्ध आंग्ल आलोचक अरस्तू की इस पद्धति के विषय में कहता है :—

"अरस्तू, कवि के मानस की उपेक्षा करता है, तथा काव्य की रचना एवं अनुशीलन चेतन प्रक्रिया है इस पर ध्यान ही नहीं देता। काव्य की परीक्षा वह परिणामों (कृतियों) से करता है। वह उन्हें प्रणालीबद्ध करता है, विश्लेषित करता है, तथा नियमों तक सीमित कर देता है।"[3]

(२) आदर्शवादी पद्धतिः—आदर्शवादियों के मतानुसार काव्य या कला की मीमांसा विषयी से सम्बन्धित है। कलाकार या सहृदय (appreciater) के मन के भाव ही "सौन्दर्य" के कारण हैं। इस दल के लोगों पर उन दार्शनिकों का प्रभाव पड़ा है, जो विश्व को "विचार-मात्र" समझते हैं। कान्ट तथा शोपेनहावर की पद्धति कुछ सीमा तक ऐसी ही है पर फिर भी ये दोनों विषय की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते, क्योंकि उनकी "विचार" संबंधी भावना में वे "विचार" को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानते हैं। अतः उन्होंने मध्यम मार्ग का आश्रय लिया जान पड़ता है यद्यपि इसमें भी आदर्शवाद का पलड़ा भारी है। शुद्ध आदर्शवादी के रूप में हम बर्कले को पाते हैं जो विश्व को केवल 'फ्लोटिंग आयडियाज' मानता है। ठीक ऐसे ही विचार हमारे यहाँ के

१—देखो मेरा लेख साधारणीकरण पर पुनर्विचार (साहित्य सन्देश)

२—Aristotle: Potitics v. viii. 5

३—Codwell: Illusion & Reality p. 51.

योगाचार बौद्धों के ये, जो बाह्य मौतिक जगत् का निषेध कर, विज्ञान को महत्त्व देते हैं।[१]

इस दल के सौन्दर्यशास्त्री कला के आलोचन में शुद्ध वैयक्तिक तथा विषयिगत दृष्टिकोण का आश्रय लेते हैं। यह पद्धति "भावनावाद" (Emotionism) मी कहलाती है। यह पद्धति कुछ आगे जाकर एक दूसरे रूप में भी परिणत हो जाती है, जहाँ यह आदर्शवाद, भौतिकवाद में परिणत होता जान पड़ता है। इस कोटि के लोग "भावनावाद" से बढ़कर सौन्दर्यानुभव के समय हमारे देह पर जो-जो विकार होते हैं उनकी भी मीमांसा करने लगते हैं। हमारे स्नायु-विकार की परीक्षा भी इस पद्धति का कार्य हो जाता है। यहाँ आकर यह "Emotionism" एक दूसरे ही रूप को धारण कर Physiology बन जाता है। प्रसिद्ध आंग्ल लेखकद्वय ऑड्गन तथा रिचर्ड्स की पद्धति इस प्रकार की आदर्शवादिता है, जो भाव से आरम्भ होकर देहज विकारों तक पहुँच जाती है।[२] एक स्थान पर कहते हैं :—

"गायक के लिए ध्वनियों के मौतिक सम्बन्ध का महत्व न होकर, उनके द्वारा उद्दीप्त भाव तथा प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न संवेदन का तथा असंवेदन का महत्त्व है।" (लि० क्रि० परि० १८) प्रसिद्ध रोमन दार्शनिक प्लोतिनुस (Plotinus) तथा नव्य सौन्दर्यशास्त्री बोमगार्टन के मत मी इसी कोटि में आयेंगे।

सौन्दर्य के रूप में हम अपनी आत्मा का ही प्रतिबिम्ब देखते हैं" (प्लोतिनुस)

"वासना ही काव्यमय विचारों का कारण है।" (बोमगार्टन)

१—उपाध्याय : बौद्ध दर्शन पृ० २६४.

२—देखो ऑड्गन तथा रिचर्ड्स "मीनिंग ऑव् मीनिंग, तथा रिचर्ड्स प्रिंसिपल्स ऑव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म", तथा मेरा लेख "शब्द, अर्थ और वाक्य" (सा० सं०)

(३) विधिवादी पद्धति :—तीसरे दल वाले शुद्ध यान्त्रिक तथा आदर्शवादी दोनों पद्धतियों में समझौता कर आगे बढ़ते हैं। चूँकि यह समझौता कई ढङ्ग से होता है अतः इस पद्धति के अन्तर्गत पुनः कई स्वतन्त्र कोटियाँ पाई जाती हैं। ये विधिवादी विषय तथा विषयी दोनों में समझौता कर उनके सम्बन्ध पर ध्यान देते हैं। स्थूल रूप से इस कोटि में भी हम दो तरह की कोटियाँ मान सकते हैं; एक वे जिनमें भौतिक वादी पलड़ा भारी है, दूसरे वे जिनमें आदर्शवादी पलड़ा भारी है। एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी आलोचक इन दोनों ही विधिवादी पद्धतियों की कटु आलोचना करता हुआ कहता है, "विधिवाद, या तो प्रायः प्रच्छन्नमुख आदर्शवाद है, अथवा कभी-कभी प्रच्छन्नमुख भौतिकवाद (Mechaincal Materialism) है।"[१]

सुविधा की दृष्टि से हम इस पद्धति को चार कोटियों में विभक्त करेंगे।

(१) अभिव्यञ्जनावादी पद्धति, (२) नीतिवादी पद्धति, (३) वैज्ञानिक तथा प्राणिशास्त्रीय पद्धति; (४) लावण्यवादी पद्धति।

प्रथम कोटि के अन्तर्गत क्या प्रतीकवादी तथा क्या 'कला के लिए कला' वादी का समावेश होगा। ये सौन्दर्यशास्त्री विषयी तथा विषय के सम्बन्ध—प्रतीक या अभिव्यञ्जना, में सौन्दर्य मानते हैं। क्रोचे कहता है, "अभिव्यञ्जना तथा सौन्दर्य दो न होकर एक हैं।" (एस्थे० परि० १) प्रतीकवादी कवि W. B. Yeats भी कलात्मक सौन्दर्य प्रतीकों में मानता है।[२] कहना न होगा क्या प्रतीक तथा क्या अभिव्यञ्जना दोनों ही विषय के सम्पर्क से अनुभूति विषयी की आभ्यन्तर भावनाओं का प्रकाशन है, जो एक प्रकार से विषय तथा विषयी का "सम्बन्ध" (relation) है। कुछ सीमा तक

१—Codwell P. 10.

२—C. M. Bowra : The Heritage of Symbolism P. 185.

व्यञ्जनावादी की पद्धति भी इसमें आ सकती है। दूसरी कोटि के विद्वान् सौन्दर्य 'नीति' में मानते हैं, और यहाँ आकर सौन्दर्यशास्त्र कर्त्तव्यशास्त्र (ethics) का पिछलग्गू बन जाता है। इनके मत से प्रत्येक "शिव" (Good) स्वतः "सुन्दर" (Beautiful) है। प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक तथा लेखक तालस्ताय का मत ऐसा ही है।[1] तीसरी कोटि के विद्वानों के मतानुसार कलाकृति के सौन्दर्य की परख देश तथा काल के आधार पर होनी चाहिए। इनके मत से जिस प्रकार किसी देश का जलवायु वहाँ के प्राणी तथा बनस्पति के उत्पादन में प्रमुख तत्त्व हैं, इसी प्रकार किसी कलाकृति के उत्पादन में देश-काल का विशेष हाथ है। किन्तु ये देश-काल को ही खास चीज मान लेते हैं। इस प्रकार की पद्धति का श्रेय फ्रेंच आलोचक तैन तथा उसकी कृति "फीलोसोफी द लार" (Phlosophic de l'art) को है।[2] आंग्ल आलोचक हडसन-विलियम्स भी इसी मत का मानने वाला है। चौथी पद्धति जिसे कदाचित् कुछ विद्वान् प्रथम पद्धति के "कलावाद" में ही सम्मिलित करना चाहें—लावण्यवाद है। यह कोटि सौन्दर्य की स्थिति विषय में तो मानती है पर वह विषयी से भी अत्यधिक सम्बन्धित है। इनके मत से विषय में सौन्दर्य है अवश्य पर वह स्थूल न होकर, सूक्ष्म है। यह सूक्ष्म सौन्दर्य 'लावण्य' है, जो किसी एक अङ्ग में न होकर सम्पूर्ण विषय के अंतस में निहित है :—

मुक्ताफलेषु च्छायाया स्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमितोच्यते ॥

मोती के पानी की परख हर एक न कर पारखी ही कर सकता है, और इसी प्रकार कला-कृति के 'लावण्य' की अनुभूति 'सहृदय' ही कर पाता है। इस प्रकार लावण्यवादी विषयी को भी प्रधानता देता है। कहना न होगा कि भारतीय साहित्य-शास्त्र का व्यञ्जनावाद या ध्वनिवाद सौन्दर्यशास्त्र की इस कोटि में आयगा।

(४) द्वन्द्वात्मक पद्धति:—द्वन्द्वात्मक पद्धति सौन्दर्यानुभव के आनन्द का निषेध कभी नहीं करती। किन्तु जहाँ तक इस आनन्द का प्रश्न है, यह या तो केवल कलाकार या केवल 'सहृदय' से ही सम्बन्धित है। यहाँ तक तो सौन्दर्यशास्त्र 'शुद्ध' है। किन्तु जब हम कला की रचना या कला के अनुशीलन से आगे बढ़कर उसका आलोचन करने लगते हैं तो यहाँ हम शुद्ध कला के क्षेत्र से बाहर आ जाते हैं। अर्थात् इस दशा में हम बाहर से उस कृति की परीक्षा करने लगते हैं। कला का यह बाहरी आलबाल हमारा समाज है। कॉडवेल एक स्थान पर कहता है कि "कला समाज की ठीक उसी तरह उद्भूति है, जिस प्रकार मोती शुक्ति की, और कला से बाहर खड़े होने का तात्पर्य समाज में खड़ा होना है।"[1] काव्य या कला की परीक्षा इसीलिए शुद्ध काव्यानुशीलन से भिन्न है, क्योंकि यह समाज वैज्ञानिक प्रणाली का आश्रय लेती है। चूँकि भौतिक-विज्ञान, इतिहास, प्राणिशास्त्र, दर्शन, अर्थशास्त्र, मनः शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र, भी समाज की उद्भूति है, अतः कला के आलोचक को समाज-विज्ञान के इन सभी उपांगों का आवश्यक उपयोग करना होगा। ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर ही इस प्रकार की सर्वाङ्गीण आलोचना सम्भव है। ऐतिहासिक भौतिकवादी कलात्मक दृष्टिकोण मार्क्स तथा एंजिल्स के कला सम्बन्धी लेखों में निर्दिष्ट हुआ है। इस पद्धति का सबसे प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जिसमें काव्य का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्लेषण हुआ है, आंग्ल आलोचक क्रिस्टोफर कॉडवेल की अमर कृति 'इल्यूजन एन्ड रीयलिटी' है, जो रचयिता का निधनान्तर (Posthumous) प्रकाशन है।

१—देखो Tolstoy : What is Art ?
२—देखिए मेरा लेख "काव्य में प्रतीकवाद" (सा० सं०)

१—Illusion and Reality P. II.

भारतीय सौन्दर्य-शास्त्रः—जैसा कि भारतीय साहित्य-शास्त्र के छात्रों को ज्ञात ही है, यहाँ दृश्य काव्य तथा श्रव्य-काव्य आरम्भ में दो भिन्न आलोचन प्रणालियाँ लेकर आते हैं, किन्तु दोनों में ही मत-विकास एक सी अवस्था में पाया जाता है। श्रव्य काव्य में अलङ्कार, रीति, गुण या वक्रोक्ति को प्रमुख समझा जाता था, जो तत् २ सम्प्रदाय के मत थे। रस वहाँ गौण था, जबकि दृश्य काव्य में 'रस' की सत्ता मानी जाती थी पर यह 'रस' किसमें है इस विषय पर भी विभिन्न मतसरणियाँ पाई जाती हैं। भामह, उद्भट तथा दण्डी जैसे आलंकारिकों की सौन्दर्यशास्त्रीय प्रणाली सर्वथा यान्त्रिक तथा 'टेकनिकल' है। काव्य की आत्मा 'रस' भी वहाँ 'रसवत्', प्रेम या ऊर्जस्विन् की 'टेकनीक' में निबद्ध हो गया था। काव्य का सौन्दर्य सर्वथा विषय के कलेवर-शब्द या अर्थ तक ही सीमित था। इसीलिए इन यान्त्रिक भौतिकवादियों की समता चार्वाकों से करते हुए विद्याधर ने अपनी 'एकावली' में कहा था—"चार्वाकैरिव कैश्चिदस्य न पुनः सत्ताऽपि संभाव्यते।" रीति या गुण वाले वामन भी यान्त्रिक पद्धति वाले ही हैं, जो दूसरी पद्धति लेकर आये हैं, जहाँ 'रस' कान्ति नामक गुण में समाहित हो गया है। कुन्तक की वक्रोक्ति को शुक्लजी के अनुयायी क्रोचे के साथ रखना चाहें, पर मैं उसे भी इसी पद्धति की मानना चाहूँगा, क्योंकि क्रोचे जितना महत्त्व विषयी की भावना को देता है, उतना महत्त्व कुन्तक देते नहीं जान पड़ते। यहाँ भी रस का समावेश भाववक्रता के अन्तर्गत हुआ है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि रसवादी दृश्य काव्यालोचकों में यान्त्रिक पद्धति का अभाव है। भट्ट लोल्लट तथा शंकुक के 'उत्पत्तिवाद' तथा अनुमितिवाद दोनों शुद्ध यान्त्रिक एवं विषयनिष्ठ हैं। लोल्लट रस की स्थिति विषय (वास्तविक पात्र दुष्यन्तादि) में मानता है। साथ ही वह नाटक का सौन्दर्य अरस्तू की भाँति "अनुकृति' में मानता जान पड़ता है, जो उसके 'शुक्तिरजतन्याय' से स्पष्ट है। शुक्ति में केवल रजत की अनुकृति मात्र है, केवल भ्रान्ति है, अर्थात् वहाँ सौन्दर्य का वास्तविक तथ्य केवल यही भ्रान्ति है। उसका 'रस' सहृदय में नहीं। शङ्कुक भी विषयी का इस दृष्टि से तिरस्कार ही करता है। वह भी लोल्लट की भाँति 'रस' (सौन्दर्य) की स्थिति वास्तविक पात्रों में ही मानता है, फिर भी वह अपने मत में चित्रकला के दृष्टान्त का प्रयोग करता है। उसके मतानुसार नट दुष्यन्त न होकर भी 'दुष्यन्त' इस ढङ्ग से दिखाई देता है, जैसा हम चित्र के घोड़े को देखते हैं (चित्र का घोड़ा घोड़ा न होते हुए भी घोड़ा है—चित्रतुरंगादिन्याय)। सहृदय बेचारे को यहाँ भी उपेक्षित रक्खा गया है, लड्डू का अनुमान कराके ही उसका मुँह मीठा करा दिया गया है।

आदर्शवादी कोटि में भारतीय साहित्य-शास्त्र में हम 'भट्टनायक' के 'मुक्तिवाद' को लेंगे जहाँ वह सहृदय-विषयी को महत्त्व देता है। भावना तथा भोजकत्व के आधार जब सहृदय की बुद्धि में रजस् तथा तमस् का लोप होकर सत्त्व का उद्रेक होता है, तब सहृदय को 'रस' की भुक्ति होती है। सबसे पहले विषयी की ओर भट्टनायक ही ध्यान देता है। भट्टनायक की पद्धति शुद्ध विषयिनिष्ठ है।

ध्वनिवादी तथा व्यञ्जनावादी रस-पद्धति का संस्कृत साहित्य में सबसे अधिक महत्त्व इसीलिए है कि उसने उस समय प्रचलित यान्त्रिक तथा आदर्शवादी दोनों पद्धतियों का समावेश करते हुए मध्यम मार्ग का आश्रय लिया है। श्रव्य काव्य में "रस" को आत्म रूप में प्रतिष्ठापित करते हुए भी उसने यान्त्रिकता का पल्ला पकड़े रक्खा और अलङ्कार, गुण एवं रीति को समुचित स्थान दिया। वैसे देखा जाय तो व्यञ्जनावादी ने "ध्वनि" के रूप में हमें एक दूसरी 'टेकनीक' तथा वाटरटाइट कम्पार्टमेण्ट वाली पद्धति दी तथापि इस पद्धति में सहृदय (विषयी) को भी विशेष महत्त्व देने के कारण इसे यान्त्रिक पद्धति मानना भूल होगी। रस के अन्तर्गत अभिनव ने

विषयी तथा विषय को समान महत्व देते हुए "आदर्शात्मक यथार्थवादी" मत (Idealistic Realism) का प्रचार किया। इन्होंने काव्य की सौन्दर्यानुभूति को "ब्रह्मास्वादसहोदर" बताया, तथा 'रस-ब्रह्म-वाद" की प्रतिष्ठापना की। इसी के आधार पर आगे जाकर सङ्गीत तथा वास्तु में भी इस प्रकार की सौन्दर्य-धारणा प्रचलित हुई तथा "नाद-ब्रह्म-वाद" एवं "वास्तु-ब्रह्म-वाद" का प्रचार हुआ। शार्ङ्गदेव ने १४ वीं शताब्दी में लिखे अपने ग्रन्थ "सङ्गीतरत्नाकर" में सङ्गीत को नाद-ब्रह्म की प्राप्ति तथा "विमुक्तिद" बताया है।

हिन्दी का काव्यालोचन सम्बन्धी सौन्दर्य-शास्त्र—हिन्दी साहित्य के आलोचनाशास्त्र में सौन्दर्य-विश्लेषण की इस प्रकार की चारों पद्धतियाँ पाई जाती हैं। रीति काल के समस्त काव्यालोचन को बिना किसी हिचकिचाहट के यान्त्रिक कोटि के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है। दण्डी के ही नहीं जयदेव तथा अप्पय दीक्षित के भी शिष्यों के लिए रस भी 'टेकनीक' में निबद्ध होकर आया। काव्य के शरीर के भूषणों की 'टेकनीक' की तरह "रस" के विभावादि भी "टेकनीक" में ही निबद्ध हुए जिसका विस्तार नायक-नायिका भेद के रूप में पाया जाता है। यद्यपि इसकी प्रेरणा भी इन्हें भानुमिश्र जैसों से ही मिली, इनका अपना इसमें कुछ न था। व्यञ्जना तथा ध्वनिवादियों की विधिवादी पद्धति का प्रचार काव्यालोचन में इतना न बढ़ा और इस पद्धति के कुछ संकेत भिखारीदास के "काव्यनिर्णय" में ही पाये जाते हैं। प्रतापसाहि की "व्यंग्यार्थ मञ्जूषा" लक्षण ग्रन्थ न होकर लक्ष्यों का संग्रह मात्र है। साथ ही इन कृतियों में भी ध्वनिवादी के शैवाद्वैत वाले रस-सौन्दर्य का विवेचन न कर ध्वनिवाद के "टेकनीक" वाले अंश का ही अनुसरण हुआ जहाँ ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के भेदोपभेद तथा चित्र काव्य के अलङ्कारवर्ग तक ही काव्यालोचन सीमित रहा। ध्वनिवाद ने आत्मा के सम्बन्ध में विधिवादी प्रणाली का आश्रय लेते हुए भी यान्त्रिक टेकनीक को नहीं छोड़ा था, यह हम बता आये हैं।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में इन्हीं रीतिकालीन यान्त्रिकों की परिपाटी को लेकर आलोचक आये। मिश्रबन्धु तथा लाला भगवानदीन इस पद्धति के प्रमुख प्रचारकों में हैं। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी भी इसी पद्धति के आलोचक थे। इस पद्धति का एक नया परिष्कृत रूप हम पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की "विहारी की वाग्विभूति" तथा पद्माकर तथा घनानन्द की कृतियों के सम्पादन में मिलता है। पर मिश्रजी की कृति पर अलङ्कारवादी "टेकनीक" तथा व्यञ्जनावादी "टेकनीक" दोनों का समान प्रभाव पाया जाता है।

शुद्ध आदर्शवादी पद्धति का एक प्रकार से हिन्दी साहित्य में अभाव ही हैं। हाँ कुछ पद्धतियों पर ऑड्गन तथा रिचर्ड्स का प्रभाव पड़ा है, यह हम आगे देखेंगे।

हिन्दी विधिवादी आलोचना को हम सीधे दो कोटियों में विभक्त कर देंगे :—(१) कलावादी, (२) शुद्ध विधिवादी। सर्व प्रथम हम शुद्ध विधिवादी विवेचन करेंगे। हिन्दी की इस तरह की काव्यालोचन पद्धति वस्तुतः शुद्ध न होकर रिचर्ड्स के 'भावनावाद', ताल्स्ताय के 'नीतिवाद', तथा तैन के 'विज्ञानवाद' की खिचड़ी है। फिर भी 'कलावाद' की कट्टर विरोधिनी होने के कारण इसे हमने 'शुद्ध विधिवादी' कहा है। हिन्दी साहित्य में इस पद्धति का अपना विशेष महत्व है और यही हमारे आचार्यों के शब्दों में 'सैद्धान्तिक आलोचना' के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना इसी कोटि की है। चिन्तामणि के प्रथम भाग में संगृहीत निबन्धों से उन पर रिचर्ड्स के 'भावनावाद' का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है, यद्यपि वह संस्कृत साहित्य के 'रसवाद' का भी पल्ला पकड़ कर आया है। शुक्लजी के छात्र यह तो जानते ही हैं कि शुक्लजी प्रथम कोटि

के 'नीतिवादी' थे। शुक्लजी का इतिहास एवं उनकी तुलसी, सूर तथा जायसी की आलोचनाएँ पढ़ने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तेन की 'विज्ञानवादी' तथा प्राणिशास्त्रीय पद्धति का भी वहाँ समावेश हुआ है, काव्य की पृष्ठ भूमि के रूप में। यह पद्धति अँगरेजी आलोचक हडसन से आई जान पड़ती है, जो शुक्लजी में ही नहीं डॉ० श्यामसुन्दरदास में भी पाई जाती है। किन्तु शुक्लजी की आलोचना में एक चौथा अंश और है, वह है 'अलङ्कारवाद', जिसे भी शुक्लजी ने नहीं छोड़ा है। वस्तु-व्यञ्जना, अलङ्कार-व्यञ्जना तथा भाव व्यञ्जना जैसी शब्दावली का प्रयोग कर वे व्यञ्जनावादी के भी मत को मिलाने की चेष्टा करते जान पड़ते हैं, किन्तु यह कभी नहीं भूलना होगा कि शुक्लजी कट्टर 'अभिधावादी' थे, ठीक लोल्लट और धनिक जैसे।

कुछ कलावादी मनचले क्रोचे तथा आस्कर वाइल्ड के प्रभाव से स्वजर्न की जनानी आलोचना (Feminine Criticism) भी हिन्दी में लेकर आये। इनके मतानुसार 'उच्च अङ्ग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य-देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।' विश्वकवि रवीन्द्र तक इस सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य मत के पोषक थे। वे सौन्दर्य का कोई प्रयोजन नहीं मानते हुए कहते हैं, "प्रयोजन के सम्बन्ध में हमारी दीनता है; आनन्द के सम्बन्ध में हमारी मुक्ति है" ब्रेडले भी इसी 'कलावाद' का पोषक है। हिन्दी साहित्य में छायावाद तथा रहस्यवाद के प्रारम्भ के साथ ही साथ यहाँ इस प्रकार के स्पिंजर्नी समीक्षक भी आये। स्वयं महादेवी, पन्त तथा वर्मा की 'आधुनिक कवि' की भूमिकाओं में इसका प्रकाश मिलता है। डॉ० नगेन्द्र तथा शान्ति-प्रिय द्विवेदी के रूप में इन 'कलावादी' कवियों के पोषक हमारे सामने आते हैं। नगेन्द्र की पन्त की आलोचना और द्विवेदी की 'युग और कवि', 'संचारिणी' एवं 'सामयिकी' में इस पद्धति का अनुसरण पाया जाता है। नगेन्द्र ने इस पद्धति में फ्रायड के मनोविश्लेषण का समावेश किया है और इस प्रकार कुण्ठाओं के आधार पर व्यक्तिवादी सौन्दर्य-पद्धति का प्रयोग किया है, जो उनके निबन्धों के 'संग्रह' से स्पष्ट है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति का आरम्भ शिवदानसिंह के लेखों से होता है। इस पद्धति के आलोचकों में प्रमुख लेखक माचवे तथा डॉ राम-विलास की 'प्रेमचन्द' की आलोचना तथा 'प्रगति और परम्परा' एवं 'संस्कृति और साहित्य' में संग्रहीत लेखों में इस तर्कात्मक प्रणाली का प्रयोग हुआ है। डॉ० रामविलास ने अपने इन दो पुस्तकों में संग्रहीत लेखों में तुलसी, कबीर आदि कवियों पर तत् समाज की गति विधि को ध्यान में रखते हुए प्रकाश डाला है। इन व्यावहारिक लेखों के अतिरिक्त उन्हीं संग्रहों में उनके इस प्रणाली से सम्बन्धित सैद्धान्तिक लेख भी हैं। उनकी 'प्रेमचन्द' की आलोचना तो हिन्दी साहित्य में एक अपना स्थान रखती है, जिसके आधार पर ही डॉ० मदान की 'प्रेमचन्द' की आलोचना लिखी गई प्रतीत होती है।

नोट:—इस विषय पर विशेष अध्ययन के लिए निम्न सभी पुस्तकें साहित्य-रत्न-भण्डार, से प्राप्त हो सकती हैं:—

हिन्दी साहित्य और उसके अङ्ग—श्रुतिकान्त शास्त्री एम० ए० .... १।।)
काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—जयशङ्कर प्रसाद .... १।।)
आलोचना के सिद्धान्त—पं० कृष्णानन्द पन्त .... २।।)
आधुनिक काव्य में सौन्दर्य भावना—कुमारी शकुन्तला शर्मा एम० ए० .... ४)

भेदीकरण का नियम

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०

'अभूततद्भाव' के द्योतनार्थ 'च्वि' प्रत्यय का प्रयोग हुआ करता है। 'भेदीकरण' में यही 'च्वि' प्रत्यय है। पहले जहाँ भेद न हो, वहाँ भेद स्थापित कर लेने के अर्थ में 'भेदीकरण' शब्द का प्रयोग होता है। भेदीकरण का नियम अर्थ-विज्ञान (Semantics) का एक प्रसिद्ध नियम है जो 'बौद्धिक नियमों' के अन्तर्गत है।

उदाहरण के लिए दो शब्दों पर विचार कीजिये। 'तात' और 'चाचा'। दोनों शब्दों के अर्थ में अन्तर है। 'तात' पिता को और 'चाचा' पिता के छोटे भाई को कहते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो 'चाचा' शब्द भी 'तात' शब्द से ही निकला है। 'तात' के स्थान में 'तात्च' हुआ किन्तु 'तात्च' के उच्चारण करने में कठिनाई होती है, इस-लिए पर-सावर्ण्य (Regressive Assimilation) द्वारा 'चाच' या 'चाचा' होगया।

इसी प्रकार 'दादा' और 'ताऊ' शब्दों को लीजिए। ये दोनों शब्द भी 'तात' से निष्पन्न हैं। 'तात' के स्थान में 'ताद' और फिर वैसे ही पर-सारूप्य द्वारा 'दादा' बन गया।

'ताऊ' पिता के बड़े भाई को कहते हैं। 'तात' से 'ताअ' बना; फिर 'ताअ' से 'ताऊ' होगया। ध्वनि की दृष्टि से भी 'ताऊ' शब्द 'तात' के बहुत निकट पड़ता है।

'बाबा' फारसी भाषा का शब्द है, 'हिन्दी शब्दसागर' में इसे तुरकी भाषा का शब्द बतलाया है। वृद्ध और पूज्य व्यक्ति के लिए 'बाबा' शब्द का प्रयोग होता है। मेरा खयाल है कि 'बाप' शब्द इसी 'बाबा' शब्द से आया होगा, यद्यपि हिन्दी शब्दसागर में 'बाप' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'वाप' से की गई है जिसका अर्थ होता है 'बीज बोने वाला'। इसी प्रकार 'बापू', 'बापा' तथा 'बाबू' आदि सभी शब्द 'फारसी बाबा' से ही निकले होंगे।

किसी भाषा में पर्याय शब्द वास्तव में कोई होते ही नहीं, हर एक शब्द में कुछ न कुछ सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर पाया जाता है। अपने यहाँ के विष्णुसहस्रनाम की तरह अरबी में 'उष्ट्रसहस्रनाम' है। किन्तु हर एक शब्द में ऊँट के विभिन्न गुणों के कारण अर्थ भेद है। भाषाशास्त्र एक शब्द के रहते हुए उसी भाव के बोधक दूसरे शब्द को सहन नहीं कर सकता।

'दया' 'कृपा', 'अनुकम्पा' और 'अनुक्रोश' इन चार शब्दों को लीजिए। दया एक बड़ा आदमी छोटे के प्रति दिखाता है। 'कृपा' में कार्पण्य का भाव है, 'कृपण' और 'कृपा' एक ही धातु से बने शब्द हैं।

'अनुकम्पा' शब्द पहले 'Sympathy' (समानु-भूति) के अर्थ में प्रयुक्त शब्द था। जैसे हर्ष से आपके हृत्कम्पन होता हो, पीछे मेरे भी होने लगे तो यह हुई 'अनुकम्पा'। आजकल 'अनुकम्पा' के स्थान में 'सहानुभूति' का ही प्रयोग हो रहा है यद्यपि शब्दार्थ की दृष्टि से 'सहानुभूति' का यह अर्थ होता नहीं। राम खुशी की दशा में है और श्याम शोक की दशा में तब भी 'सहानुभूति' तो हो गई किन्तु 'सहानुभूति' आज कल 'समानुभूति' के अर्थ में चल रहा है। इस शब्द का प्रचार बँगला वालों ने किया। 'अनुक्रोश'—जैसे बड़ों को रोते देख बच्चे भी रोने लग जाते हैं, यह हुआ अनुक्रोश।

एक शब्द के जब बहुत से पर्याय होते हैं तो जनता अर्थ में थोड़ा थोड़ा भेद कर लेती है या उनको 'माने पहना देती है।' तत्सम और तद्भव पर्यायों के अर्थ में भी भेद कर लिया जाता है,

दूसरी भाषा शब्दों के अर्थ में भेद कर लेती है; एक अर्थमूलक एक धातु से विभिन्न प्रत्यय लगाकर तथा विकृत रूप बना कर विभिन्न अर्थ बोधित किये जाते हैं। इन सबके मूल में यही भेदीकरण का नियम पाया जाता है।

'पत्तल' और 'पत्तर' दोनों निकले हैं संस्कृत 'पत्रम्' से, पर एक ही भाषा में ये दोनों शब्द विभिन्न अर्थों में कैसे प्रयुक्त होने लगे, इसका कारण ध्वनि-विचार (Phonology) द्वारा नहीं मालूम किया जा सकता। जो ध्वनि-विचार से सिद्ध नहीं किया जा सके, जो परिवर्तन बुद्धि-संसिद्ध हो, उसकी व्याख्या बौद्धिक नियम के अन्तर्गत आती है। बौद्धिक नियम ही इन दोनों शब्दों के अर्थ-भेद को बतला सकता है—

"अर्थभेदात् शब्दभेदः"। 'स्मि' धातु से 'स्मितम्' और 'स्मयः' दोनों शब्द बनते हैं किन्तु पहले शब्द का अर्थ है 'हँसी' और दूसरे का अर्थ है 'घमण्ड'। अर्थ में यह अन्तर क्यों? इसका भी उत्तर यही है—"अर्थभेदात् शब्दभेदः।"

राजा के पुत्र को राजस्थानी भाषा में 'कँवरजी' कहते हैं। यह शब्द तो 'कुमार' से व्युत्पन्न किया जा सकता है किन्तु कँवरजी के पुत्र 'भँवरजी' और भँवरजी के पुत्र 'तँवरजी' की व्युत्पत्ति कैसे की जाय? ध्वनि-विचार भी यहाँ सहायक नहीं हो सकता! केवल अर्थ भेद से ही शब्द-भेद कर लिया गया है जिसे बौद्धिक नियम के द्वारा ही समझाया जा सकता है।

भेदीकरण का नियम एक महत्वपूर्ण बौद्धिक नियम है।

———

(पृष्ठ ३४२ का शेषांश)

चैतन्य देव की दृष्टि में कीर्त्तन के उपयुक्त सिद्ध हुए। उन्होंने राधा-कृष्ण के उपासक होने के नाते इनके तत्सबन्धी पदों को अपनी भक्ति-गद्गद् वाणी से असंख्य वार दुहराया।

चैतन्य महाप्रभु वासना-मलिन भौतिक धरातल से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक जगत् के उन्मुक्त वायु-मण्डल में विचरण करने वाले महापुरुष थे। इसलिए महाकवि विद्यापति के अतृप्त वासनाओं को उत्तेजित करने वाले तथा शृङ्गार रस की सरसता से ओतप्रोत पदों में भी इन्हें वासना के बदले भक्ति ही दिखाई पड़ी। संसार का बड़े से बड़ा आकर्षण भी योगियों के साध्य-साधन में सहायक ही बन जाता है।

उपर्युक्त विवेचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति शैव होते हुए भी शृङ्गारी कवि थे। चाहे कुछ भी हो लेकिन हिन्दी साहित्य के लिए यह बड़े गर्व का विषय है कि उसे कवि-शेखर विद्यापति जैसे रस-सिद्ध कवि का प्रसाद प्राप्त है।

———

छायावाद

श्री तिलकराज चोपड़ा 'साहित्यालंकार'

वह द्विवेदी युग था। द्विवेदीजी के व्यक्तिगत जीवन की नैतिकता ने साहित्य को भी पर्याप्त प्रभावित किया था। साहित्य के किसी भी अङ्ग अथवा रचना की श्रेष्ठता का श्रेणी-विभाजन उसकी उपयोगिता एवं नैतिकभावनाओं की अनुकूलता पर ही निर्भर था। जो साहित्यिक रचना जितनी ही उपयोगी एवं नैतिक-भावनाओं के अनुकूल होती थी, उसी के अनुसार उसे श्रेष्ठता का प्रमाण-पत्र दिया जाता था। यही कारण था कि साहित्य की प्राणस्वरूपा 'भावुकता' (अथवा 'कल्पना') के महत्व को स्वीकार करने में आनाकानी की जाती थी। दूसरे शब्दों में तत्काल यथार्थवादी एवं उपयोगितावादी रचनाओं को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि द्विवेदी-युगीन कवियों का नैतिक-मन (Super Ego) अधिक जाग्रत था, एवं अचेतन-मन (Id) सुषुप्त-प्राय। किन्तु मनोविश्लेषण-शास्त्र के विद्यार्थी भली भाँति जानते हैं कि नैतिक-मन अधिक काल तक नहीं जाग्रत रह सकता, कभी न कभी व्यक्तिगत कुण्ठाओं को अपने में समेटे रखने वाला अचेतन-मन भी जाग्रत होता है और वे सभी भावनाएँ प्रकाशित होती हैं जो नैतिक-मन द्वारा कुण्ठित होकर अचेतन मन में जा चुकीं थीं।

यही दशा द्विवेदी-युग के परवर्ती कवियों की हुई। ऊपर लिखा जा चुका है कि द्विवेदी-युग में नैतिकता का बोलबाला था, अतएव कोई भी ऐसी भावना कुण्ठित करदी जाती थी जो कि तत्कालीन नैतिकता के विरुद्ध होती थी; किन्तु परवर्ती कवि कुछ भावुक थे और वे अपने व्यक्तित्व का प्रकटीकरण भी चाहते थे तथा वे रमणी के सौन्दर्य का स्वच्छन्द रूप से आस्वादन करने के भी इच्छुक थे। कहने की अवश्यकता नहीं कि इनकी सभी इच्छाएँ द्विवेदी-युगीन नैतिकता के विरुद्ध थीं। फल स्वरूप साहित्य में एक क्रान्ति-सी हो गयी—एक विद्रोह हो गया। इस विद्रोह की संज्ञा विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न रूप से निश्चित हुई। कुछ इसे 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कह कर स्मरण करते थे और कतिपय सज्जन द्विवेदी-युग की घोर-उपयोगितावादिता पर क्रुद्ध होकर इस क्रान्ति को 'उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह' भी कहने लगे थे।

इस क्रान्ति का नाम अथवा स्वरूप जो भो रहा हो, हमारा इससे कोई विशेष अभिप्राय नहीं, हमें देखना केवल यह है कि इस क्रान्ति के पश्चात् साहित्य का रूप क्या हुआ।

साहित्य में तत्काल दो धाराएँ प्रवाहित हुईं—जिनका नामकरण किंचित हास्य एवं व्यंग्य के साथ 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' हुआ। यह नामकरण (यद्यपि व्यंग्य में हुआ था) सार्थक ही हुआ। ऊपर लिखा जा चुका है कि द्विवेदी युगीन नैतिकता ने नव युवक कवियों की व्यक्तिगत भावनाओं को कुण्ठित कर दिया था। किन्तु अब वे भावनाएँ अचेतन-मन से (क्रान्ति के आगमन के कारण) प्रकाशन का मार्ग पा गईं थीं, अब वे अपने मूल-रूप में प्रकट न हो कर केवल छाया-रूप में प्रकट हुईं। अतएव इस प्रकार की रचनाओं को छायावादी रचनाएँ कहना उपयुक्त एवं सार्थक ही हुआ।

यद्यपि दो धाराएँ—रहस्यवाद तथा छायावाद, पृथक्-पृथक् प्रवाहित हुईं थीं, किन्तु कुछ विद्वानों को उसमें भी सन्देह हुआ। उन्होंने छायावाद को एक ही मान लिया। किंचित गम्भीरता-पूर्वक विचार करने से पता चलेगा कि यह विचार कितना निराधार है।

'जिस प्रकार प्रकृति की गोचर सीमाओं को पार कर उसमें दृश्यमान इतिवृत्तात्मक भौतिकता की अपेक्षा एक अलौकिक अगोचर भावुकता के दर्शन करने की प्रवृत्ति को छायावाद कहते हैं उसी प्रकार दृश्य सम्बन्धों के अतिरिक्त एक लोकोत्तर सत्ता के साथ सम्बन्ध-स्थापन की प्रवृत्ति को रहस्यवाद कहते हैं। छायावाद जिस प्रकार प्रकृति को मनुष्य के सम्बन्ध में लाता है, रहस्यवाद उसी प्रकार मनुष्य तथा मनुष्येतर जगत को उससे अतीत करने वाली श्रेष्ठतम सत्ता के साथ सम्बन्धित करता है। वह ससीम और असीम का एक प्रकार से समन्वय कराता है। छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही दृश्य की संकुचित सीमाओं को पार करने की ओर अग्रसर होते हैं।............छायावाद में केवल भावुकता ही रहती है, रहस्यवाद भावुकता से कुछ ऊपर जाता है और उसमें सान्त और अनन्त और नश्वर और शाश्वत का सम्मिलन रहता है।'

छायावाद में कवियों का व्यक्तित्व खूब उभरा है। व्यक्तिवाद अथवा व्यक्तित्व प्रकाशन के भी दो रूप हैं। एक, किसी भी वस्तु को अपने ही रँग में रँग कर देखना अर्थात् किसी भी विषय का प्रकटीकरण निजी भावनाओं के अनुकूल ही करना। दूसरा, समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में ही लीन रहना। द्विवेदी-युगीन कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी, फलस्वरूप अब व्यक्तित्व-प्रकाशन की प्रवृत्ति के कारण कविता का स्वरूप भावात्मक एवं आत्मगत हुआ। तब कविता का विषय मुख्यतः बहिरङ्ग सामाजिक जीवन था, अब कविता का विषय अन्तरँग व्यक्तिगत जीवन हो गया। यही व्यक्तिवाद पृथक् पृथक् कवियों में पृथक् पृथक् रूप में प्रकट हुआ—प्रसाद में आनन्द भाव, निराला में अद्वैतवाद, पन्त में आत्मरति और महादेवी में परोक्षरति के रूप में इसकी अभिव्यञ्जना हुई।

मनोविश्लेषण-शास्त्र के विद्यार्थी भली प्रकार से जानते हैं कि व्यक्तिगत कुण्ठाएँ बहुत कुछ काम-भावना (Libido) के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। द्विवेदी-युग में तो ऐसी भावनाएँ दब ही चुकी थीं, किन्तु अब वे प्रकाशन का मार्ग पा जाने पर निश्चल न रह सकीं; किन्तु, अपने मूल रूप में तो नहीं वरन् विकृत और विवृत्त रूप में—मनोविज्ञान की भाषा में परिशोधित एवं संशोधित (Sublime) रूप में—अभिव्यक्ति हुईं। अब वे स्पष्ट-रूप से नारी के सौन्दर्य पर न केन्द्रित थीं वरन् उनका केन्द्र नारी के भावों का अशरीरी अथवा अमांसल सौन्दर्य था।

यह सौन्दर्य-प्रियता अथवा शृङ्गारिकता दो रूपों में अभिव्यञ्जित हुई। एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा—प्रकृति पर नारी के भावों के आरोपण द्वारा; दूसरे, नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य चित्रण द्वारा अर्थात् नारी के मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।

'छायावाद में शृङ्गार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर, विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझ कर एक रहस्यमयी चेतना समझता है।'

छायावाद में प्रकृति के चित्रों की इतनी प्रचुरता है कि कतिपय आचार्य तो इसे 'प्रकृति पर विजय' पा जाना तक कहते हैं, किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं। 'यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपक वातावरण न मानकर ऐसी चेतन-सत्ता माना है जो अनादि काल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान प्रदान कर रही है। परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि स्पष्टतः छायावाद प्रकृति काव्य नहीं है। और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया चित्र उठें उनका चित्रण है।'

क्या विद्यापति भक्त कवि थे ?

श्री उमेशचन्द्र मिश्र

मैथिल कोकिल विद्यापति हिन्दी साहित्य के अभिनव जयदेव माने जाते हैं। जिस तरह संस्कृत साहित्य जयदेव की 'ललित-कोमल-कान्त-पदावली' से अलंकृत है; उसी तरह हिन्दी साहित्य मैथिल-कोकिल कविरत्न विद्यापति की कलित काकली के सुमधुर रस से आप्लावित है। कहना न होगा कि इन्होंने राधा-कृष्ण के उद्दाम श्रृङ्गार का जैसा विशद वर्णन किया है, वैसा वर्णन जयदेव के अतिरिक्त संस्कृत या हिन्दी साहित्य का दूसरा कोई कवि नहीं कर सका है। यही कारण है कि श्रृङ्गारी कवियों में इनका महत्व-पूर्ण स्थान है। यद्यपि इनकी रचनाएँ भक्तिस्रोतस्विनी के सरस तरंगायित प्रवाह की कल-कल ध्वनि से पूर्णतः परिपूर्ण दिखाई पड़ती हैं; फिर भी कई कारणों से इन्हें श्रृङ्गारीकवि ही कहना उचित मालूम पड़ता है। साथ ही अपने जिन पदों के द्वारा ये भक्त कवियों की श्रेणी में प्रवेश करते हैं, वे हैं दुर्गा, गंगा और शिव से सम्बन्ध रखने वाले। अतः ये शाक्त या शैव कहे जा सकते हैं। (वास्तव में तो ये शाक्त नहीं शैव ही थे।) राधा-कृष्ण की यौवन लीलाओं से सम्बन्धित पदों में आध्यात्मिकता का आभास बताकर इन्हें 'वैष्णव' कवि मानना उचित नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इस सम्बन्ध में निम्न-विचार प्रकट किये हैं:—

"आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीत-गोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है; वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी।"

इनके वैष्णव न होने का प्रमाण इन्हीं के निम्न-लिखित पद से मिल जाता है :—

"आन चान गन हरि कमलासन,
सब परिहरि हम देवा।
भक्त बछल प्रभु बान महेसर,
जान कएलि तुअ सेवा॥"

कोई किसी देवता के सम्बन्ध में कुछ कविताएँ लिख देने मात्र से ही उसका भक्त नहीं हो सकता। अगर ऐसा ही होने लगे, तब तो भिन्न-भिन्न देवताओं के सम्बन्ध में कविताएँ लिखने के कारण सूर और तुलसी को भी भिन्न-भिन्न देवताओं के उपासक मानना अनिवार्य हो सकता है; जो उचित नहीं है।

महाराज शिवसिंह के दरबारी कवि होने के कारण इनके जीवन का महत्व-पूर्ण अंश राज-परिवार के वैभव-विलास में बीता था। महाराज और उनकी पत्नी 'लखिमा देवी' दोनों ही इनसे विशेष प्रभावित थे। इसलिए उन्हीं की प्रेरणा से ये राधा-कृष्ण की यौवन लीलाओं का उत्तेजक वाङ्मय चित्र उनकी अतृप्त वासनाओं की पूर्ति के लिए अंकित किया करते थे। मूलतः ये श्रृङ्गार रस के कवि थे और श्रृङ्गार के अधिनायक देवता अब तक राधा-कृष्ण ही माने जाते रहे हैं। इसलिए प्राचीन परम्परा के अनुसार अपने पूर्ववर्त्ती कवियों की ही तरह श्रृङ्गार-वर्णन का एक-मात्र आधार इन्होंने भी इन्हीं युगल मूर्त्तियों को बनाया और इन्हीं के यौवन-विलास के वर्णन में अपनी रस-सिद्धता का परिचय देना उचित समझा।

भक्त-शिरोमणि महात्मा सूरदास भी भगवान् श्रीकृष्ण के अन्यतम उपासक थे। ये अपने उपास्य देवता की उपासना सख्य भाव से किया करते थे। फलतः इनके पदों में राधा कृष्ण के प्रणय, मान, विप्रलम्भ आदि श्रृङ्गार के विविध अंगों से सम्बन्धित

भावों की चरम परिणति हुई है। साथ ही बाल-लीलाओं की भी अभिव्यञ्जना में इन्होंने पूरी सफलता प्राप्त की है। उपासक तो अपने उपास्य के प्रत्येक रूप से पूर्ण प्रभावित होता है।

विद्यापति केवल भगवान श्रीकृष्ण की यौवन-लीलाओं से प्रभावित थे। उन्हें उनकी बाल-लीलाओं में कोई आकर्षण नहीं मालूम पड़ा। इससे भी उनकी श्रृङ्गारिकता का ही परिचय मिलता है। अन्यथा वे सूर की तरह उनकी अन्य लीलाओं को लेकर भी कुछ पद अवश्य लिखते। यद्यपि विद्यापति के—

"तातल सैकत वारि-बिन्दु सम,
सुत-मित-रमनि समाज।
तोहे बिसारि मन ताहि समरपिनु,
अब मझु हब कोन काज॥"

"माधव हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जग तारन दीन दयामय,
अतए तोहर बिसवासा।
आध जनम हम नींद गमायनु,
जरा सिसुकत दिन गेला;
निधुवन रमनि-रभस-रंग मातनु,
तोहे भजब कोने बेला।"

"ए हरि बन्दौं तुअ पद नाय।
तुअ पद परिहरि पाप-पयोनिधि,
पारक कओन उपाया।"

इन पदों में अपने पूर्व कृत कर्मों पर पश्चात्ताप तथा भगवान के जगतारण और दीन-दयामय होने के कारण अपने उद्धार के विषय में पूर्ण विश्वास के साथ ही भक्ति की भी चरम अभिव्यक्ति पाई जाती है; तथापि राधा-कृष्ण-सम्बन्धी ऐसे पद इतने कम हैं, कि उनके आधार पर इन्हें वैष्णव कवि नहीं माना जा सकता।

वासना कलुषित श्रृङ्गार के वर्णन के उद्देश्य से लिखे गये श्लोकों के अन्तिम चरणों में जिस तरह जयदेव आदि प्राचीन कवियों ने 'राधा वचः पातु वः' आदि भक्ति-परक वाक्यों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है; उसी तरह विद्यापति के भी कतिपय पदों में 'हरि मजु हृदय हुलसिया' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग हुआ है। लेकिन ऐसे प्रयोगों को परम्परा-निर्वाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इन पदों में भक्ति की गन्ध भी नहीं मिलती।

परिणाम को दृष्टि में रखकर भी अगर विचार किया जाय तो श्रृङ्गार-वर्णन-परक पदों का आधिक्य भी उनकी श्रृङ्गार-प्रियता का ही समर्थन करता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि विद्यापति विशुद्ध शैव थे। इसलिए इनके शिव के सम्बन्ध में लिखे गये पदों में हमें भक्ति की जो अनोखी छटा दिखाई पड़ती है; वह दूसरों की बात तो दूर रहे, इनके अपने ही अन्य पदों में नहीं मिलती। फिर भी शिव या विष्णु के वन्दना गीतों में भी यत्र-तत्र भक्ति की अपेक्षा श्रृङ्गार ही प्रधान हो गया है।

विद्यापति रस-सिद्ध कवि थे। अतः प्रत्येक रस में सफलता से ये कविताएँ लिख सकते थे। इसीलिए भक्ति, श्रृङ्गार, वीर आदि भिन्न-भिन्न रसों में कविताएँ लिखते समय इनके विषय में यह समझना कठिन हो जाता है, कि ये किस रस के कवि थे। सब कुछ होते हुए भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ये चाहें किसी भी रस की कविताएँ लिखते हों, किन्तु अपनी श्रृङ्गाराभिरुचि का अपह्नव करना इनकी शक्ति के बाहर का काम था। 'पुरुष परीक्षा' में इन्होंने धर्म तथा नीति के उपदेश भी श्रृङ्गार के ही सहारे दिये हैं।

महाकवि कालिदास अपने मूल रूप में श्रृङ्गारी कवि थे, लेकिन रस-सिद्ध होने के कारण वे सभी रसों में पूरी सफलता के साथ कविताएँ लिखते थे। फिर भी वे अन्य रसों की कविताओं में भी अपने श्रृङ्गार-प्रेम का संवरण नहीं कर पाते। ताड़का-वध के प्रसङ्ग में लिखा गया उनका यह श्लोक "राम-मन्मथ-शरेण-ताडिता" इस कथन का ज्वलन्त प्रमाण है। यही बात विद्यापति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

विद्यापति के अधिकांश (भक्ति तथा शृङ्गार से सम्बन्ध रखने वाले) पदों के अन्तिम चरणों में महाराज शिवसिंह और रानी लखिमादेवी के नाम आये हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राधा-कृष्ण की यौवन लीलाओं के वर्णन में इन्होंने जितने पद लिखे थे, वे सभी महाराज की प्रेरणा से उन्हीं को प्रसन्न करने के लिए लिखे गये थे। और उसी अभ्यास के फल-स्वरूप भक्ति के पदों में भी यत्र-तत्र उनके नाम आही गये हैं। दरबारी कवियों की तरह ये भी राजा की मिथ्या प्रशंसा करने में नहीं हिचकते थे। इनके कीर्त्तिलता, भू परिक्रमा, शैव सर्वस्वःसार आदि ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न राजाओं के यशोगान ही तो हुए हैं।

तुलसी की वाणी जहाँ प्राकृत जनों के गुण-गान में शिर धुन कर पछताने लगती है।

"कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना,
सिर धुनि गिरा लागि पछताना।"

सूर का अन्तःकरण जहाँ सम्राट् अकबर के स-सम्मान बुलावे पर ध्यान न देकर "कहा मोकों सीकरी सों काम" की ध्वनि में नकारात्मक उत्तर दे देता है वहाँ विद्यापति अपने इस "भनइ विद्यापति कवि कण्ठ हार, रस बुझ सिव सिंघ सिव अवतार" पद्य खण्ड में अपने आश्रयदाता महाराज शिवसिंह को शिव का अवतार मानने में ही अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। महाराज की प्रसन्नता ही उनके लिए उपास्य देवता की प्रसन्नता हो जाती है। गङ्गा, दुर्गा आदि देवताओं के स्तुति-परक अधिकांश पद भी महाराज की ही कल्याण-कामना से लिखे गये मालूम पड़ते हैं। उदाहरण के लिए कुछ पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"सकल-पाप कला-परिच्युति, सुकवि-विद्यापति कृति-स्तुति; तोषिते शिवसिंह-भूपति-कामना-फलते।"

"सहज-दयालुतया तातकि-जन-नरक-विनाशन-निपुणे; रुद्रसिंह-नरपति-वरदायक-विद्यापति-कविभणित-गुणे।"

यह भी सही है कि इनके बहुत से ऐसे स्वतन्त्र पद भी हैं, जो किसी की प्रेरणा या मङ्गल कामना से लिखे गये से नहीं प्रतीत होते और उनमें इनके भक्तिरसाप्लावित अन्तःकरण की अनुभूत्यात्मक भावनाएँ भी पूर्णतः अभिव्यक्त दिखाई पड़ती हैं, फिर भी अपने इन पदों के द्वारा ये शैव ही हो सकते हैं? इनके विष्णु कृष्ण सम्बन्धी पदों से तो सुप्त वासनाओं को उत्तेजना ही मिलती है। भगवद्विषयक रति भाव की पुष्टि तो होती नहीं। अतः इन्हें वैष्णव कवि कहना तो उचित हो ही नहीं सकता। साथ ही हमें इस बात का भी स्मरण रखना चाहिए कि ये शैव होते हुए भी मूलतः शृङ्गारी कवि थे।

विद्यापति के पद स्वर, ताल, लय आदि से पूर्णतः बँधे होने के कारण गेयता की कसौटी पर कसे जाने पर पूरे खरे उतरते हैं। इसी कारण से इनके पदों का प्रचार चारों ओर बड़े जोर से हुआ। बंगाल के घर-घर में इनके गीत गाये जाते थे। चैतन्य महाप्रभु (जो विष्णु के अवतार माने जाते हैं) ने बड़े प्रेम से इनके पदों को अपनाया और उनकी शिष्य-परम्परा में भी इनके पद गाये जाने लगे। कहा जाता है कि वे इनके पदों को गाते-गाते इतने अधिक तन्मय हो जाते थे कि इनके शरीर की सुध बुध भी खो जाती थी।

भक्त शिरोमणि चैतन्य महाप्रभु के द्वारा इनके पदों के सम्मानित होने तथा आदर के साथ गाये जाने के कारण ही लोग इन्हें भक्त कवि मानते हैं। लेकिन तथ्य यह है कि चैतन्य महाप्रभु ने कीर्तन-प्रेमी होने के कारण इनके पदों की गेयता, मधुरता तथा पद-शुष्ठुता पर ही मुग्ध हो कर इन्हें अपने कीर्तन में स्थान दिया था। संगीत के स्वर, ताल तथा लय आदि से बँधे होने के कारण इनके पद

(शेष पृष्ठ ३३७ पर)

आलम

डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी में आलम नाम के दो कवि हुए यह माना जाता है। [१५८३ ई०] एक आलम अकबर महान के समय में, दूसरे औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम के समय में। कुछ लोगों का कहना है कि अधिकांश इतिहासकारों ने इन्हें भ्रमात एक माना है। 'हिन्दी के कवि और काव्य' के प्रणेता श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी ने यह लिखा है कि हिन्दी के सभी इतिहासकारों में यह भ्रम प्रस्तुत है, और सभी ने आलम की रचना बिना देखे आलम का उल्लेख किया है। किन्तु द्विवेदीजी का यह कथन ठीक नहीं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में और खोज रिपोर्टों में इसका स्पष्ट उल्लेख हो चुका था। "माधवानल काम कंदला" से रचनाकाल वाला दोहा भी शुक्लजी ने उद्धृत किया था। इस बात को मानने वाले व्यक्ति यह कहते हैं कि अकबर के समकालीन आलम ने 'माधवानल काम कंदला' नाम का 'प्रेम-आख्यानक काव्य' लिखा है। इस आलम ने 'अकबर' का भी उल्लेख किया है, और अपने आश्रयदाता टोडरमल का भी। ग्रन्थ के निर्माण कालकारी—वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

जगपति राज कोटि जुग कीजै।
सहज लाल छाजे छिति कीजै॥
दिल्लिय पति अकबर सुरताना।
सप्त दीप में नाकी आना॥

× × ×

इक छत राजु विधाता कीनौं।
कहुँ दुर्जन कोउ रह्यौ न चीन्हौं॥
धर्मराजु सब दुऐ चलावा।
हिन्दू तुरक पन्थ सबु लावा॥
आगरेंबु महामनि मंडनु।
नृप राजा टोडरमल डंडनु॥

× × ×

सन नौसै इक्यानवै आइ।
करौं कथा अब बोलौं भाहि॥

यह ग्रन्थ सन् ९९१ हिजरी, अर्थात् संवत् १६४० या सन् १५८३ ई० में लिखा गया।

यह कथा संस्कृत से ली गयी है। कवि ने स्वयं कहा है—

"कछु अपनी कछु परकृति चोरौं
जथा सकति करि अच्छर जोरौं
सकल सिंगार विरह की रीती
माधौ काम कंदला प्रीती
कथा संस्कृत सुनि कछु थोरी
भाषा बांचि चौपही जोरी॥"

संस्कृत में माधवानल काम-कंदला नाटक भी है और वृहत्कथा में इसी का आख्यान भी है। यहीं कहीं से यह वृत्त आलम ने लिया, और अवधी भाषा में यह प्रेम-आख्यान प्रस्तुत किया।

इस कवि का भक्ति की रस-रीति से कोई सम्बन्ध नहीं, न इसकी यह रचना निरगुनिये प्रेम-मार्गी सूफी सन्तों की परम्परा की है। कवि ने इस प्रेम-कहानी के द्वारा किसी आध्यात्मिक तथ्य को प्रकट करने की चेष्टा नहीं की। उसने तो अपना अभिप्राय आदि और अन्त में बहुत स्पष्ट कर दिया है।

प्रथमहि पारब्रह्म के सरनै।
पुनि कछु रीति जगत रस बरनै॥

वह तो 'जगत-रस' का वर्णन करना चाहता है—वह अन्त में कहता है :—

"सुनत स्रवन यह कथा सुहाई
अतिरसाल पण्डित मन भाई।"
प्रीतिवत है सुनै सो कोई

बाढ़ैं प्रीति हिए सुख होई
कामी पुरिष रसिक जे सुनहीं।
ते या कथा रैनि दिन सुनहीं ॥

इस प्रकार यह कवि मात्र प्रेम-आख्यान का कवि है। भक्तों की परिपाटी में नहीं आ सकता। किन्तु यह निस्संदेह उल्लेखनीय है कि मुसलमान होते हुए भी इस प्रकार जग की रस-रीति पर इस कवि ने लिखा। इसी के साथ यह भी कि इस कवि की भाषा अवधी ही नहीं संस्कृत निष्ठ अवधी है—छन्द दोहा-चौपाई और सोरठा हैं।

इसी कवि के दो ग्रन्थ और माने जाते हैं। स्याम-सनेही तथा रुक्मिणी ब्याहुली।

टोडरमल के आश्रय में रहने वाले और अकबर के राज्यकाल-काल में होने वाले इस 'आलम' से शेख से सम्बन्धित आलम को भिन्न मानकर उसका वृत्त कुछ इस प्रकार दिया जाता है।

यह पहले ब्राह्मण था। 'शेख' नाम की रँगरेजिन के पास इसने एक बार अपनी पगड़ी रँगने के लिए डाली। उस पगड़ी के एक छोर में कागज का टुकड़ा बँधा था, और उसमें कविता का एक ही चरण लिखा हुआ था—

'कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन'

सम्भवतः कवि इसका दूसरा चरण जोड़ नहीं पाया था। 'शेख' भी कविता करने की प्रतिभा रखती थी। उसने दूसरा चरण लिखकर कविता पूरी कर दी—

'कटि को कञ्चन काटि विधि,
कुचन मध्य धरिदीन।'

और पगड़ी रँगकर वह कविता पुनः उसके एक छोर में बाँध दी। आलम शेख की इस पूर्ति से इतने प्रभावित हो गये कि मुसलमान होकर शेख को अपना लिया। अब दोनों मिलकर काव्य-रचना करने लगे।

यह समस्त वृत्त किंवदन्ती के आधार पर है। कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आलम और शेख दोनों की कविताएँ साथ-साथ मिलती हैं, और इसमें भी कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता कि दोनों में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम था। दोनों ही प्रेमोन्मादी कवि थे। आलम अथवा शेख के कुल अथवा स्थान के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं, हाँ, इनके समय के विषय में पर्याप्त विवाद रहा है।

इनका जन्म सं० १७०० वि० सन् १६४३ के हुआ होगा।* किन्तु यथार्थतः दोनों आलम एक ही हैं। यह आलम अकबर के ही समय में हुआ। और १५८३ ई० से पूर्व ही इनका जन्म हुआ।

---

* अ—डा० रामकुमार वर्मा ने जन्म स० १६-४८ वि० माना है। (हि० सा० आ० इतिहास)

आ—शिवसिंह सरोज ने इनका जन्म सं० १७-१२ माना है।

इ—पं० रामचंद्र शुक्ल ने इनका समय १७४०-१७६० वि० माना है।

"ये औरङ्गजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम के आश्रय में रहते थे जो पीछे बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। अतः आलम का कविता काल सं० १७४० से १७६० तक माना जा सकता है। [हि० सा० का इतिहास]

ई—लाला भगवानदीनजी ने सं० १७४० से १७७० तक कविता काल माना है।

उ—डा० श्यामसुन्दरदास तथा उनके शिष्य डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल इनका समय १७५३ विक्रमी (सन् १६६६ ई०) मानते हैं।

ऊ—'ब्रज-भारती' में दो लेख लिखकर प्रो० कण्ठमणि शास्त्री ने आलम कवि के दो ग्रन्थों का परिचय दिया है और लिखा है कि 'चतुः शती' १७१२ सं० से पूर्व की है, क्योंकि उसमें यह पुष्पिका है; "इति शेख आलम के कवित्त संपूर्ण, संवत् १७१२ वर्ष भाद्रपद मासे शुक्ल पक्षे बुध वासरा तायां लिखित श्रीधर वैष्णव ब्रह्मचारी श्री मधुपुर्या नमः पुस्तक स्वामी गोविदास को श्री....श्री....श्रा"

टिप्पणी—पं० मयाशङ्कर याज्ञिक को एक 'दोहासार' नामक ग्रन्थ मिला, जिसमें रचनाकाल यों दिया है—

सतरह सौ बीसोत्तरा मास चैत्र गुरुवार
शुक्ल पक्ष द्वितीया तिथि रच्यौ सो दोहासार

इस ग्रन्थ में भी शेख और आलम के छन्द संग्रहीत हैं। सं० १७१२ वाली पुस्तक में जो कवित्त हैं, वे निश्चय ही शेख के पति आलम के ही हैं। इन सब बातों से यह प्रमाण मिलता है कि आलम १७१२ संवत् से पूर्व हुए। और इस सम्बन्ध में इतने प्रमाण उपलब्ध हैं। इन प्रमाणों पर तभी शंका की जा सकती है जब दूसरे मत के प्रमाण इनसे भी प्रबल हों। दूसरा मत जो इन्हें औरङ्गजेब के पुत्र मुअज्जम के आश्रित मानता है, उसके पास केवल 'सरोज' कार का मत प्रमाण है। सरोजकार ने एक छन्द संग्रहीत किया है, जो मुअज्जम की प्रशंसा में है, और आलम का है। वस्तुतः इस प्रमाण को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता। सरोजकार के पास ऐसी कोई साक्षी नहीं जिससे वह 'कवित्त' 'आलम' का ही है, यह सिद्ध हो सके। 'आलम' मात्र की छाप विश्वसनीय नहीं हो सकती। 'आलम' के स्थान पर 'पीतम' भी हो सकता है। इन सब बातों से निष्कर्ष यही निकलता है कि आलम शेख मुअज्जम के समय से पूर्व हुए, सं० १७१२ से बहुत पूर्व इन्होंने रचना करना आरम्भ किया होगा।

दूसरे लेख "आलम कृत सुदामाचरित' पर विचार करते हुए लेखक ने यह बताया है कि ये ग्रन्थ १७२० के पूर्व के होने चाहिए क्योंकि—

१—सरस्वती भण्डार में यह पुस्तक सं० १७२० के लगभग गोकुल से साथ में आई है।

२—इसी पुस्तक के साथ इसी लिपिकार की दूसरी पुस्तकें है जिनमें से एक की पुष्पिका में लिखा है—

"इति करुणाभरण नाटक सम्पूर्ण लच्छीराम कृत लिखितं अभयमन चिरंजीवी लालजी वाचनार्थ।" ये लालाजी श्री व्रजभूषणलालजी हैं, जिन्हें श्री गिरिधरलालजी महाराज ने सं० १७०७ में गोद लिया था।

इस प्रकार इस लेखक ने यह संकेत किया है कि यह आलम भी वही हैं जो अकबर कालीन आलम हैं—माधवानल कामकन्दला के लेखक। 'शेख आलम' के ४०० छन्द जिस ग्रन्थ में संग्रहीत हैं, उसकी पुष्पिका में सं० १७१२ पड़ा है। इतने छन्द सरलता से नहीं लिखे जा सकते, और कितने ही वर्षों का परिणाम होने चाहिए।

जहाँ तक 'दोहासार' का सम्बन्ध है, वहाँ तक कोई यह आपत्ति कर सकता है कि 'आलम' के दोहे, उसकी माधवानल कामकंदला नामक रचना से संग्रहीत किये गये होंगे, अथवा यह दोहे लिखने वाला 'आलम' 'कवित्त सवैया' लिखने वाले आलम से भिन्न है। पर यह युक्ति भी अधिक मूल्य की इसलिए नहीं ठहरती कि साथ में 'शेख' के भी दोहे हैं, फलतः दोहे वाला आलम शेख पति आलम ही हो सकता है। इन दोनों का प्रेम सम्बन्ध भी तो 'दोहे' के द्वारा ही हुआ। किन्तु उन चारसौं 'कवित्तों' के सम्बन्ध में तो कोई शक कर ही नहीं सकता।

अब यह स्पष्ट है कि १७१२ से पूर्व तक शेख-आलम की धाक जम चुकी थी। संग्रह कर्त्ताओं को उनके यश से प्रेरित होकर उनकी रचनायें अपने संग्रहों में सम्मिलित करनी पड़ीं।

अब जब 'मुअज्जम' के आश्रय में रहने को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता, और १७१२ से बहुत पूर्व इनका होना संभव प्रतीत होता है, तो माधवानल कामकंदला' के लेखक 'आलम' से इन्हें भिन्न मानने के क्या कारण हो सकते हैं? दो बातें कही जा सकती :—

१—वह आलम 'प्रेम गाथा' का लेखक है।

२—उसकी भाषा अवधी है।

जहाँ तक 'प्रेम गाथा' का सम्बन्ध है, निश्चय ही

'मा० का०' सूफी परम्परा की प्रेम गाथा नहीं। शुद्ध प्रेम-काव्य है, और वह आलम के उसी प्रेमी मन का प्रतिबिम्ब कही जा सकती है, जिसने उसे शेख पर रिझाया। इस रचना में शेख का कहीं कोई उल्लेख नहीं। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि यह 'शेख' से सम्बन्ध होने से पूर्व की रचना है। किन्तु शेख 'माधवानल कामकन्दला' से परिचित हैं, जो उसके इस कवित्त से प्रकट होता है—

मानस को कहा बसि कीजतु है बावरी सु,
बासी सुरबास हू को बास कै बसाऊँ री।
मनका कौ स्वामी कामकन्दला कौ कामी भोरि,
मैन हू की यामिनी कौ मन मोहि लाऊँ री॥
'शेख' मनमोहन के मोहन के मन्त्र जन्त्र,
मोहि जे न आवें ते विधाता पै न पाऊँ री।
आखननि लेत हाथ चन्दा चल्यो आवे साथ,
नदिन कौ नीर बीर उलटि बहाऊँ री॥

यदि 'माधवानल कामकंदला' आलम की लिखी पुस्तक न होती तो 'शेख' उसका इस प्रकार उल्लेख कर पाती, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

अवधी भाषा इस काल में गाथाओं की रचना के लिए उपयुक्त मानी जाती रही है। इसीलिए आलम ने अवधी में यह गाथा रची, यह रचना परीक्षा से किसी प्रेमी महाकवि की आरम्भिक रचना प्रतीत होती है। यह कवि भी इस रचना के दोहों में चौपाइयों से अधिक कवित्व ला सका है। इसी ने इस कवि को आगे इस बात के लिए प्रेरित किया होगा कि वह 'दोहों' में विशेष आयास करे। आरम्भिक रचना से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि 'आलम' अवधी भाषा के क्षेत्र का, पूर्व का ही रहने वाला हो, और राज्याश्रय की तलाश में दिल्ली में आरहा हो, और राजा टोडरमल का आश्रित हुआ हो। दिल्ली-आगरा में यह युग 'कृष्ण-प्रेम' का युग था। यहाँ आकर आलम को अपने मन के अनुकूल कृष्ण प्रेम का विषय रुचिकर लगा और वह कृष्ण-प्रेम की रचनाएँ करने लगा—और इसी ब्रज क्षेत्र की भाषा का मुहाविरा शीघ्र ही ग्रहण कर लिया। 'ब्रजभाषा' इस समय साहित्य-अभिव्यक्ति का सबल माध्यम थी—तुलसी को ब्रजभाषा में रचना करनी पड़ी। आलम ने भी ऐसा ही किया। ऐसा होने पर भी आलम की भाषा में पूरबी के छींटे मिल ही जाते हैं—इसे स्वयं शुक्लजी ने स्वीकार किया है—"भाषा भी इस कवि की परिमार्जित और सुव्यवस्थित है पर इसमें कहीं-कहीं कीन, दीन, जीन आदि अवधी या पूरबी हिन्दी के प्रयोग भी मिलते हैं। कहीं-कहीं फारसी शैली के रस-बाधक भाव भी इनमें मिलते हैं।" इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'माधवानल-कामकन्दला' का लेखक आलम नहीं हो सकता है जिसने 'आलम के कवित्त' लिखे और आलम केलि लिखी। अतः श्याम-सनेही, रुक्मिणी व्याहुलो और सुदामा चरित का लेखक भी यही आलम हो सकता है। तब तो इसका रचना काल १६४० सं० (सन् १५८३ ई०) निश्चित है।

——

महादेवी की विरह-भावना

श्री कृष्णनन्दन प्रसाद 'अभिलाषी'

वेदना का स्वरूप—महादेवी हिन्दी काव्य-साहित्य की चिर-विरहिणी कवयित्री हैं। इनके गीतों में विरह की वेदना है, हृदय की करुणा है, नैनों का नीर है और मन की आकुलता है। इनकी प्रेम-पीर बाहर से आरोपित नहीं आत्मजा है, क्योंकि इनका प्रियतम निराकार और अवगत है। वह कौन है और उससे कब आकर मिलेगा कवयित्री को कुछ भी पता नहीं। ऐसी अवस्था में विरह की वेदना में विदग्धा होना स्वाभाविक ही है।

आत्मा-परमात्मा :—कवयित्री का जन्म ही विरह में हुआ है। आत्मा और परमात्मा दोनों एक हैं, दोनों अभिन्न हैं। यदि कोई अन्तर है तो यही कि ब्रह्म पुञ्जीभूत है—बड़ा और विशाल है, पर जीव अंशमात्र है, दोनों के बीच यही सम्बन्ध स्थित है जो सागर और लहरियों के बीच है। जिस प्रकार लहरें सिन्धु में ही उठती और गिरती हैं, बनती और बिगड़ती हैं—उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म की गोद में बनता बिगड़ता रहता है। वे दोनों पूर्ण परिचित हैं। इसलिए—

सिन्धु का क्या परिचय दे देव,
बनते बिगड़ते बीचि विलास।
क्षुद्र हैं मेरे बुद्-बुद् प्राण,
तुम्हीं में सृष्टि, तुम्हीं में नाश। —रश्मि

वियोग जन्मसिद्ध है—यही जीवन जब ब्रह्म से किसी प्रकार वियुक्त हो पृथ्वी पर आता है—तब वह मानव कहलाता है। कवयित्री की दृष्टि में जीव ब्रह्म का उच्छ्वास मात्र है जिसे विश्व समीर ने चुरा लिया है। मानव जीवन में यहीं से विरह वेदना का श्रीगणेश होता है—

जन्म ही जिसका हुआ वियोग,
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास।
चुरा लाया जो विश्व-समीर,
वही पीड़ा की पहली साँस। —रश्मि

इतना ही नहीं, जन्म तो वेदना में हुआ ही, उसका निवास भी करुणापूर्ण वातावरण में हुआ। परिणामस्वरूप उसके नयनों से इतने अश्रु बिन्दु गिरने लगे कि दिन उन्हें समेटने लगा और रात उन्हें गिनकर रखने लगी। इस प्रकार जीवन का जन्म विरह की जलबिन्दुओं में हुआ अतः उसे विरह का जलजात कह कर ठीक ही पुकारा गया है—

वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात।
जीवन विरह का जलजात।
—नीरजा

जीवन-दीप :—स्वभावतः कवयित्री की आत्मा प्रिय ब्रह्म के वियोग में उसी दिन से तड़प रही है। उसका जीवन दीप उसी बिछुड़ने की घड़ी से जल रहा है। अनादि काल से जलता हुआ यह दीप यदि थक कर कभी शिथिल भी हो जाता है तो कवयित्री उसे साहस देती हुई कहती है—

हे अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझ में भरती हूँ आँसू जल।
—नीरजा

यह दीप जितना ही जल-जल कर मिटेगा। प्रियतम उतना ही निकट आता जायगा—

तू जल-जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलन मय।
—नीरजा

इसलिए कवयित्री का दीपक से आग्रह है कि—

मधुर मधुर मेरे दीपक जल
युग युग प्रति-दिन प्रति-क्षण प्रति-पल,

प्रियतम का पथ आलोकित कर।
—नीरजा

विरह-विदग्ध जीवन की महत्ता :—इस विरह वेदना ने उसके जीवन को इतना मूल्यवान बना दिया है कि उसके आगे प्रकृति की सारी सुषमा फीकी है। यदि उसका करुणेश प्रकृति के सारे वैभव से भी उसका प्राण क्रय करना चाहे तो उसे निराश ही लौट जाना पड़ेगा। एक भिक्षुक की तरह असहाय बनकर वह स्वयं कहती है—

भिक्षुक से फिर जाओगे,
जब लेकर अपना यह धन।
करुणामय तब समझोगे,
इन प्राणों का मँहगापन। —नीहार

इसका कारण है कि विरहाग्नि में जल कर उसके प्राण ने प्रकृति की अपेक्षा अधिक स्थायित्व प्राप्त कर लिया है जिसके फल स्वरूप उसका जीवन-दीप तारों की अपेक्षा अधिक सजीव और सजग है। इसीसे कवियित्री कहती हैं—

आलोक यहाँ लुटता है
बुझ जाते हैं तारागण
अविराम जला करता है
पर मेरा दीपक सा मन —नीहार

इसके अतिरिक्त विश्व के लिए वह प्रकृति से किसी भी अंश में कम कल्याणकारी नहीं है। वह स्वयं कहती है—

(१) सजनी मैं उतनी करुण हूँ,
करुण जितनी रात! —सांध्य गीत में
(२) सुभग मैं उतनी मधुर हूँ,
मधुर जितना प्रात! " "
(३) सजनी मैं उतनी सजल,
जितनी सजल बरसात! " "

उसके जीवन में विरह की वेदना इस प्रकार मिलकर उसका एक अङ्ग बन गई है कि इससे शून्य प्रियतम के उपहार स्वरूप स्वर्ग का संसार भी आज उसे स्वीकार नहीं। वह उसकी उपेक्षा करती हुई कहती है—

ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद
जलना जाना नहीं, नहीं—
जाना जिसने मिटने का स्वाद!
क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार!
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार!
—नीहार

पलायन :—कभी-कभी इस निरन्तर पीड़ा से उसका जी घबड़ा जाता है और तब वह संसार के इन झंझटों से इसकी कठिनायों से दूर भाग जाना चाहती है—क्षितिज के उसपार पलायन कर जाना चाहती है। पर मन में एक प्रश्न उठता है—

'कौन पहुँचा देगा उस पार!' —नीहार

उस पार जिसने यह प्रश्न उठाया—मानों वही मन उत्तर देता हुआ कहता है—

'विसर्जन ही है कर्णाधार'

अर्थात् अपनी सारी कामनाओं को जगन्नियंता के चरणों में समर्पित कर दो। यह समर्पण ही तुम्हारा बेड़ा पार कर देगा। किन्तु कवियित्री कामनाओं का इस प्रकार अन्त करना नहीं चाहती। उसकी दृष्टि में अभाव ही जीवन है—

'यह अतृप्ति ही जीवन' —रश्मि

अस्तु उसे प्रिय के प्रेम में जलना ही अधिक रुचिकर है।

प्रिय की प्रतीक्षा :—अपने प्रियतम की प्रतीक्षा वह उसी दिन से कर रही है—

जिस दिन नीरव तारों से,
बोली किरणों की अलकें;
'सो जाओ अलसाई हैं
सुकुमार तुम्हारी पलकें!' —नीहार

पर कोई परिणाम न निकला। तब से न जाने—

कितनी बीती पतझारें
कितने मधु के दिन आये,
मेरी मधुमय पीड़ा को
कोई पर ढूँढ़ न पाये।

—नीहार : प्रतीक्षा

निरन्तर प्रतीक्षा में खुली रहने के कारण आँखें थक गई हैं। अतएव कवियित्री से मनुहार करती—

झिप-झिप आँखें कहती हैं
यह कैसी है अनहोनी?
हम और नहीं खेलेंगी
उनसे यह आँखमिचौनी।

—नीहार : प्रतीक्षा

कवयित्री भी ऊब कर उन्हें भूल जाने की चेष्टा करती है, किन्तु यद्यपि वे नयनों से दूर है, पर उनकी स्मृति मानस पटल पर नित्य-प्रति खटका करती जिसके कारण वह चाहती हुई भी भूल नहीं पाती। उसके साथ बड़ी लाचारी छोड़ रक्खी है उस निष्ठुर ने—अपनी निष्ठुरता की याद दिलाने के लिए ही—

वे स्मृति बनकर मानस में,
खटका करते हैं निशिदिन।
उनकी इस निष्ठुरता को
जिससे मैं भूल न जाऊँ। —रश्मि

क्षणिक मिलन की स्मृति :—उसकी पीड़ा उस दिन से और भी बढ़ गई है जिस दिन उसके जीवन में उसके प्रियतम केवल दो क्षणों के लिए आकर चले गये—सदा के लिए। उन दो क्षणों का उपयोग भी वह नहीं कर पाई—क्योंकि वे उसके सम्मुख उस समय आये थे—

इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीड़ा का, —नीहार

परिणाम स्वरूप सर उठाकर वह देख न सकी। अतः—

साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का! —वही

मानो इसी पीड़ा के साम्राज्य को आलोकित करने के लिए उसका जीवन दीप निरन्तर जलता जारहा है। ऐसी अवस्था में यदि बुझ उसका प्राणांत कर देता है तो इसमें उसकी हानि नहीं, अपितु स्वयं उसका यह साम्राज्य तमपूर्ण हो जावगा इसी कारण वह बड़े गर्व से, एहसान जताती हुई निर्मम शब्दों में कहती है—

चिन्ता क्या है, हे निर्मम!
बुझ जाये दीपक मेरा;
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा! —नीहार

वह क्षण भर का संयोग उसके जीवन में स्वप्न के समान सुन्दर और सरस था। यद्यपि—

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते!

—नीहार : मेरा राज्य

किन्तु उसी क्षण की याद में, उस मूक-मिलन की स्मृति में, उसकी—

आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते;

—नीहार : मेरा राज्य

अतः उस मूल्यवान मूक मिलन को सचमुच स्वप्न कहकर—मिथ्या कहकर टाला नहीं जा सकता और ऐसा कहने का कारण ही क्या है?—

कैसे कहती हो सपना है,
अलि! उस मूक मिलन की बात?

—नीहार : मिलन

जबकि उसकी सत्यता के प्रमाण में हैं—

भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास! —वही

प्रिय-आगमन का आभास :—प्रियतम के प्रेम में विश्वास रखने वाली यह विरहिणी कभी-कभी प्रकृति के विभिन्न उपादानों में अपने चिर-वियुक्त प्रियतम की सत्ता का आभास पाती है, जो उसे अपनी ओर बुलाती हुई प्रतीत होती है। ऐसी अनु-

भूति के पश्चात् जिज्ञासामूलक विस्मय के ये दो शब्द आपसे आप निकल पड़ते हैं उसके मुख से—

× × बुला जाता मुझे उस पार जो,
दूर के संगीत सा वह कौन है? —रश्मि

और कभी उसी प्रकृति के उपादानों के पुलक में, काकाश की मुस्कुराहट में, उसे उनके आगमन का संकेत भी मिलता है—

मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं? —नीरजा

इस अनुमान मात्र से ही उसका रोम-रोम पुलकित हो जाता है। उसका अंग-अंग प्रियतम के प्रेम में तन्मय हो नाच उठता है। और वह स्वयं प्रियतम हो जाती है।

नयन श्रवणमय-श्रवण नयनमय,
आज हो रही कैसी उलझन?
रोम रोम में होता री सखि,
एक नया उरका सा स्पन्दन?
पुलकों से भर फूल बन गये
जितने प्राणों के छाले हैं! —नीरजा

प्रिय के स्वागतार्थ सजावट और श्रृङ्गार :—

प्रकृति के सुन्दर सजीले वातावरण को देखकर उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि आज प्रियतम अवश्य आयेंगे। और चूँकि वह यह अच्छी तरह जानती है कि—

करुणामय को भाता है
तम के परदों में आना —नीरजा

इसलिए आकाश में झिल-मिलाते तारों से अनुरोध करती है—

हे नभ के दीपावलियों
तुम पल भर को बुझ जाना!

अंधकार के अतिरिक्त उसका प्रियतम शान्ति भी चाहता है। अतः कवयित्री उसका भी प्रबन्ध कर आती है—

मैं आज चुपा आई चातक
मैं आज सुला आई कोकिल
—सांध्यगीत : अभिसार

प्रकृति उसकी चिर सहचरी है। अतः एक शुभचिन्तक सखी की तरह वह भी उसके इस शुभ कार्य में हाथ बटाती है। परिणाम-स्वरूप उसके—

कण्टकित मौलश्री हरसिंगार
रोके हैं अपने श्वास-शिथिल!
सोया समीर नीरव जग पर
स्मृतियों का भी मृदु भार नहीं॥

इतना करने के पश्चात्, उनके स्वागतार्थ, अब स्वयं प्रकृति की सहायता से उसके माध्यम से अपने को सुसज्जित करती है :—

शशि के दर्पण में देख-देख?
मैंने सुलझाये तिमिर केश,
गूँथे चुन तारक पारिजात।
अवगुण्ठन कर किरणें अवशेष;

किन्तु अभाग्यवश प्रेयसि की प्रेम भरी इतनी तैयारी के बाद जब वह नहीं आया, तो उसे अत्यधिक चिन्ता होती है। उसकी प्रतीक्षा में उसकी आकुल आत्मा अपने आप से प्रश्न करती है—

'क्यों वह प्रिय आया पार नहीं?' —वही

यह चिन्ता आत्म-क्षोभ में बदल जाती है। उनके नहीं आने का कारण वह अपने श्रृङ्गार में ही किसी अभाव का अनुभव करती है। जिसके कारण वह उन्हें रिझा न सकी। ऐसी दशा में उसकी यह चिन्ता स्वाभाविक है—

क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव श्रृङ्गार नहीं? —वही

किन्तु उसे अपने श्रृङ्गार और अनुमान पर विश्वास है कि वे आये अवश्य—पर उन्हें वह देख न सकी, यह मूल सत्य है। क्योंकि उनके आगमन के प्रमाण-स्वरूप रज-कण में उनके पद चिन्ह अङ्कित हैं—

पथ के रज में है अंकित,
तेरे पद चिन्ह अपरिमित! —नीरजा

इसलिए उसका प्रेमाशा बल प्राण सींच रहा है कि—

मैं क्यों न इसे अञ्जन कर,
आँखों में आज बसाऊँ। —वही

अभिसार:—किन्तु इसमें वह सन्तोष कहाँ जो प्रत्यक्ष 'दरस-परस' (दर्शन और स्पर्श) में है। अतः अपने सारे साधनों को एकत्रित कर, जीवन के सारे सम्बल को सम्भाल कर वह स्वयं एक बार उनके पास जाने को तैयार होती है। ऐसे अवसरों पर उसे सहायता देने वाली एक-मात्र सखि-प्रकृति ही है। अस्तु, वह उसी से बड़े नम्र शब्दों में अनुरोध करती है—

अलि मेरी कबरी सँवार!
पाटल के सुरभित रंगों से रंगदे,
हिम सा उज्ज्वल दुकूल।
गुथ दे रसना में अलिगुञ्जन से,
पूरित झरते वकुल फूल॥
रजनी से अञ्जन मांग सजनि
दे मेरे अलसित नयन सार! —सांध्यगीत

सन्देश:—परन्तु उस प्रियतम तक पहुँचना क्या सम्भव है जो अज्ञात है, अगोचर है और अलौकिक है? नहीं, स्थूल रूप में कभी नहीं। अस्तु कवयित्री भी अनन्त पथ को पार कर उसके निकट नहीं पहुँच पाई। और तब अपना दुःख दर्द सुनाने को उसके पास एक सन्देश भेजना चाहती है—किन्तु वह—

'कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती?' —नीरजा

क्योंकि उसे ऐसा कोई चिरपरिचित, पूर्ण विश्वासी व्यक्ति नहीं मिलता जिसे वह निर्भय और निःसङ्कोच भाव से अपने हृदय की सारी गुप्त बातें खोलकर रख दे—

मिलता न दूत वह चिर परिचित
जिसको उसका धन दे आती —वही

परिणाम स्वरूप उसका निराश और निःसहाय प्रेमाकुल हृदय अपने भीतर ही प्रियतम को ढूँढ़ने लगता है, और भाग्यवश जब उसका आभास पा लेता है, वह आनन्द से कह उठता है—

प्रिय मुझ में ही खो गया अब
दूत को किस देश भेजूँ? —दीपशिखा

परन्तु सावन के सजीले सजल नवीन घन को देखकर उसकी आशा फिर एक बार नई हो जाती है। और ऐसा अनुमान करती हुई कि सम्भव है उसके प्रियतम ने ही विरही यक्ष के समान उन्हें दूत बना कुछ सन्देश भेजे हों—वह उनसे सन्देश याचना करती है—

'लाये कौन सन्देश नये घन?' —नीरजा

स्वप्न दर्शन:—जाग्रत जगत का अभाव मानव प्रायः स्वप्न संसार में पाया करता है। इसी तथ्य पर विश्वास करती हुई कवयित्री ने भी कभी उसे स्वप्न में भी पाने की कामना की होगी, तभी एक दिन उससे अश्रु माँगने—

नींद में वह पास आया!
स्वप्न सा हँस पास आया! —सांध्यगीत

परन्तु जिस प्रकार स्वप्नों का सुन्दर और मनमोहक रूप बन वह पास आया, उसी प्रकार, सपनों की ही तरह दो क्षणों में विलीन भी हो गया। अतः न तो चिर-तृषित नयन ही तृप्त हुए और न प्रेम विह्वल हृदय को ही शान्ति मिली। इसी कारण वह सोचती है। काश—

तुम्हें बाँध पाती सपनों में!
तो चिर जीवन-प्यास बुझा-
लेती उस छोटे क्षण अपने में —नीरजा

यद्यपि वह स्वप्निल संसार विनष्ट हो गया, किन्तु विरहिणी के मानस पटल पर छोड़ गया एक अमिट छाप। कवयित्री का विश्वास है कि आकाश के अनन्त पथ में इन सस्मित सपनों की जो कहानी वह लिख रही है—उसे एक क्या, अनेक रातों के आँसू भी नहीं धो पायेंगे—

मैं अनन्त पथ में लिखती जो
सस्मित सपनों की बातें,

उनको कभी न धो पायेगी
अपने आँसू से रातें! —नीहार

पर उसके जीवन को सन्तोष नहीं, शान्ति या सुख नहीं। वह प्रयत्न कर हार गई—पर प्रियतम उसके हाथ न लगे। उसकी प्रत्येक साँस में यही निराशा और यही लाचारी छिपी है जो यदाकदा आत्मीय जनों से अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार कर गाती है—

'अलि कैसे उनको पाऊँ ?' —रश्मि

यही उसके जीवन का प्रश्न है—जिसमें वह उलझी है।

मानस का सूनापन :—प्रियतम के अभाव में उसका सारा जीवन मरुभूमि के समान सुनसान बन गया है। यह सूनापन ईश्वर का दिया है—अतः इसमें अति व्यापकता है। कवयित्री के मानस का सूनापन आज कण-कण में बिखरा है—उसका ऐसा कोई कोना नहीं जहाँ उसके विषाद की रेखा न हो—

कन कन में बिखरा है निर्मम
मेरे मानस का सूनापन! —नीहार

सूनेपन का यह अभिशाप कवयित्री के लिए वरदान बन गया। इसने उसके जीवन को इतना मूल्यवान बना दिया कि उसके बल वह स्वयं करुणेश के जीवन के समक्ष अपने जीवन को गर्वपूर्वक रखने में तनिक नहीं संकोच करती और पूर्ण विश्वास और तर्क के साथ वह तो चुनौती देती हुई कहती है—

उनसे कैसे छोटा है
मेरा यह भिक्षुक जीवन?
उनमें अनन्त करुणा है,
इसमें असीम सूनापन। —नीहार

प्रियतम के बाद विरहिणी के जीवन का एक-मात्र साथी यही अँधेरापन है जो उसके आकुल प्राण को कुछ सहायता कर सके—

प्राण आकुल के लिए,
सङ्गी मिला केवल अँधेरा। —सांध्यगीत

अश्रुघन—जिस प्रकार सूनापन उसके जीवन में व्याप्त है उसी प्रकार आँसू के कण भी उसमें इतने परिमाण में सम्मिलित हैं कि उनसे पूर्णरूपेण प्लावित हो आज वह यह कहने को लाचार है—

मैं नीर भरी दुःख की बदली। —सांध्यगीत

ये कीमती भी उसी स्तर के हैं जिस स्तर का सूनापन है। कवयित्री इसे इतना मूल्यवान मानती है कि इसके दो-चार बूँदों के लिए वह अपने युग युग से संचित सारी निधियाँ मृत्यु के चरणों में अर्पित कर सकती है—

कितने युग बीत गये,
इन निधियों का करते संचय।
म थोड़े से आँसू दे,
इन सबका कर लेना क्रय।
—रश्मि

ये आँसू निष्प्रयोजन नहीं हैं। यदि प्रिय ने प्रेम का उपहार दिया—तो प्रेयसी ने उसके उपलक्ष में आँसुओं का उपहार दिया, नयन की नीलम तुला पर तोल कर। मानो उसने अश्रु मोतियों से प्रेम को खरीद लिया है—

नयन की नीलम तुला पर,
मोतियों से प्यार तोला। —सान्ध्यगीत

इसके अतिरिक्त ये आँसू उसके जीवन रस हैं जिनमें उसके यौवन का वह उल्लास है और उसकी प्रेम-पीर की वह मस्ती है जिसके नशे में शराबोर हो क्या विश्व और क्या नक्षत्र माला सभी झूम रहे हैं—

घुल गई इन आँसुओं में देव जाने कौन हाला।
झूमता है विश्व पी-पी घूमती नक्षत्र-माला।
—वही

विरहिणी का शिवरूप—कवयित्री के तिल-तिल जलने में उसका शिवरूप छिपा है, वह आँ

मिस स्वयं तो विश्ववेदना पीती जाती है—किन्तु बदले में स्नेह रस बाँटती है—

आँसुओं का क्षार पी मैं,
बाँटती नित स्नेह का रस !

—सान्ध्यगीत

कवयित्री की विरह-वेदना में कितनी विविधता है, उसके चित्त में कितनी उदारता और उसके हृदय में कितनी विशालता है—ये पंक्तियाँ स्पष्ट बताती हैं। उसके व्यक्तित्व की यह विशेषता एक और स्थान पर देखने को मिलती है, जहाँ वह अपने प्रियतम विश्व-नियन्ता को—अपने व्यक्तिगत दुःख-दर्द की उपेक्षा कर विश्व के विषाद की ओर आकृष्ट करती है—जिसमें उनका दुःख शीघ्र ही दूर हो जाय। इसीलिए वह उनसे निवेदन करती है—

मेरे हँसते अधर नहीं जग
की आँसू लड़ियाँ देखो !
मेरे गीले पलक छूओ मंत,
मुरझाई कलियाँ देखो ! —नीरजा

इन्हीं कारणों से वह विरह वेदना से अथवा स्वयं इस कष्टपूर्ण संसार से मुक्ति नहीं चाहती। वह तो मुक्ति का आगमन भी बन्धनों के साथ चाहती है—

आज वरदो मुक्ति आवे,
बन्धनों की कामना ले।

—सान्ध्यगीत

निरन्तर साधना के पश्चात् कवयित्री की विरह वेदना उसके जीवन में इस प्रकार घुल-मिल गई है कि वह स्वयं उसी को साध्य समझने लगी। दूसरे शब्दों में साधक (कवयित्री) की साधना (विरह-वेदना) ही साध्य (प्रिय-ब्रह्म) में परिणत हो गई। अतः प्रेयसि, प्रियतम और प्रेम (विरह) तीनों एकाकार हो गये। तभी तो वह ऐसा कह पाई—

(१) विरह बना आराध्य,
द्वैत क्या, कैसी बाधा !

—सान्ध्यगीत

(२) हो गई आराध्यमय मैं
विरह की आराधना ले !

—सान्ध्यगीत

(३) पथ मेरा निर्वाण बन गया,
प्रति पग शत वरदान बनगया।

—दीपशिखा

चिर मिलन :—जब ससीम जीव रूपी वियोगिनी प्रेयसी असीम ब्रह्मरूपी प्रियतम में लय हो गई तो फिर विरह कैसा ? यह तो चिरमिलन का श्रीगणेश है—

अब विरह की रात को तू
चिरमिलन का प्रात रे कह। —नीरजा

क्योंकि यहाँ जीवन अपने 'अहं' से मुक्त हो जाता है जो ब्रह्म से वियुक्त होने के समय ही उसके जीवन में प्रवेश कर गया था। यह वह माया-दर्पण है जो जीव और ब्रह्म के बीच व्यवधान रूप में स्थित रहता है। साधना की चरम सीमा पर आज वह टूट गया। फलतः दोनों एकाकार हो गये—

आज कहाँ मेरा अपना पन
तेरे छिपने का अवगुण्ठन !
मेरा बन्धन तेरा साधन
तुम मुझ में अपना सुख देखो
मैं तुम में अपना दुख प्रियतम

—नीरजा

और जब दोनों एकाकार हो गए तब फिर प्रिया और प्रियतम का भेद-भाव कैसा ?

काया छाया में रहस्यमय
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?

—नीरजा

हिन्दी गद्य-साहित्य के युग निर्माता

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम० ए०, डी० लिट्०

हिन्दी गद्य के निर्माण में द्वितीय* महापुरुष पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी थे। यों तो उन्होंने लिखना ई० सन् १८६४ के पूर्व ही आरम्भ कर दिया था पर उस समय संस्कृत की पद्धति ही उनकी भाषा शैली पर छाई हुई थी। कालान्तर में उनकी लगन, तपस्या और परिश्रम का स्वरूप दिखाई पड़ा। आधुनिक गद्य-साहित्य की आज जो अभिवृद्धि हो सकी है अथवा भाषा का जो परिमार्जन और परिष्कार आज मिल रहा है उसका बहुत कुछ श्रेय उन्हीं को है। भारतेन्दु-युग की बाढ़ को स्थिर गति पर लाने में द्विवेदीजी ने साधना की थी। भाषा सम्बन्धी जितना भी लचरपन उनके सामने आया उसकी उन्होंने अच्छी खोज खबर ली। जहाँ एक ओर वे नवीन लेखकों और कवियों को प्रोत्साहन देकर निर्माण-कार्य में लगाने की चेष्टा करते रहते थे वहीं दूसरी ओर उनको रचना के समस्त दोषों से बचाने के लिए कठोर नियन्त्रण और आलोचना भी करते रहे। इसके अतिरिक्त विभिन्न साहित्यों में जहाँ भी कुछ विशेष बात लिखी उनको मिलती थी उसको हिन्दी माध्यम से निरन्तर लिख-लिख कर हिन्दी के पाठकों को ऊपर उठाने की तपस्या वे जीवन भर करते रहे। यदि उनके संपूर्ण साहित्यिक जीवन का विचार किया जाय तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है। ई० सन् १९२५ तक हिन्दी में उनका राज्य था। वे निर्माता थे, नियामक थे और साथ ही कठोर शासक भी थे। हिन्दी की गद्यनिर्मिति में उनके व्यक्तित्व का एक महत्व विशेष है।

द्विवेदीजी के साथ ही बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया था। एक ओर उन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन ऐसी संस्थाएँ स्थापित कीं और दूसरी ओर हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों की खोज और नागरी न्यायालय का प्रश्न भी उठाया। इनका कृतित्व ई० सन् १९००-१९३५ तक मानना चाहिए। इसके भीतर बाबू साहब ने जिस प्रकार का सम्मानित स्वावलम्बन, साहित्य-साधना और हिन्दी के प्रति एकनिष्ठता का भाव दिखाया वह अद्वितीय था। गम्भीर चिन्तन और प्रौढ़ रचना शैली का जो स्थिर स्वरूप इन्होंने सामने रखा वही कालान्तर में स्फुट होकर साहित्यालोचन का मुख्य माध्यम बनने में सक्षम हो सका। निरन्तर एक के बाद दूसरा ग्रंथ निकालने में ही वे लगे रहते थे। विविध विषयों पर अनेकानेक सुन्दर रचनाएँ नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होती रहीं और हिन्दी गद्य का भाण्डार समृद्ध शाली होता गया।

साहित्य-स्रष्टा के अतिरिक्त बाबू साहब का अध्यापन कार्य काल बड़े महत्व का है। वर्तमान आलोचना के युग का निर्माण उन्होंने ही किया था-कराया था। उनका व्यक्तित्व गतिशील शक्ति से सम्पूर्ण था। उनको अनेक यशस्वी कृतिकारों के बनाने का श्रेय प्राप्त था और वे बहुत ऊँचे दर्जे के सङ्गठन कर्ता थे। उन्हीं की अध्यक्षता में हिन्दू विश्वविद्यालय ने सर्वप्रथम विधिवत् रूप से हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की पूर्ण व्यवस्था के लिए हिन्दी-विभाग की स्थापना की। पढ़ाई-लिखाई के सर्वोच्च स्तर की रूप-रेखा निश्चित करना, उसकी परीक्षा का मानदण्ड निर्दिष्ट करना और उसके अनुरूप विशिष्ट साहित्य की निर्मित उनके अध्यापन काल की प्रमुख विशेषताएँ हैं। विश्वविद्यालयों के गढ़ का आधिपत्य प्राप्त

*हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माताओं में प्रथम स्थान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है।

कर ही आज हिन्दी उस सुदृढ़ आधारशिला पर खड़ी हो सकी है जिसके कारण उसे अभिनव निर्माण में योग मिल सकता है। इस आधार पर बाबूसाहब का कार्य और उसका महत्व अपूर्व हो जाता है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व और उनकी साहित्यिक कृतियों का आज अत्यधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है, क्योंकि यह मुख्यतः आलोचना का युग है। इस क्षेत्र में उन्होंने ही पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है, उनके पूर्व सैद्धान्तिक समीक्षा का कोई विहित स्वरूप नहीं देखने में आया था, साथ ही समालोचना का व्यावहारिक प्रयोग भी अत्यन्त दुर्बल और क्षीणकाय था। लाला भगवानदीन, पं० पद्मसिंह शर्मा और मिश्र-बन्धुओं द्वारा स्थापित पद्धति ही चल रही थीं। इन आलोचनाओं में तथ्यातथ्य निरूपण की उस अन्तःस्पर्शी मार्मिकता का उद्घाटन नहीं हो सका था जिसको आदर्श मानकर कुछ दूर चला जा सकता अथवा जिसका अनुसरण कर समीक्षा की विभिन्न प्रणालियों को बल मिलता। उक्त कृतिकारों में व्यक्तिगत दृष्टि का प्रसार ही अधिक स्फुट हुआ था और इसलिए उन्हें विवेचना का सामान्य मानदण्ड नहीं बनाया जा सकता था।

शुक्लजी की तुलसीदास, सूरदास और जायसी की विस्तृत समीक्षाओं में सर्वप्रथम समीक्षा का शुद्ध रूप दिखाई पड़ा। इनमें यथास्थान आलोचना के विविध प्रकारों की प्रकृत रूपरेखा सामने आई और उनका तारतमिक स्वरूप एवं उपादेयता समझने में सरलता होगई। अभी तक कृति से अधिक कृतिकार का दोष-दर्शन होता रहा पर शुक्लजी ने श्रेष्ठ कवियों की अन्तःशयिनी प्रवृत्तियों और उनके सम्पूर्ण कवि-कर्म की सहृदयतापूर्ण व्याख्या आरम्भ की। इस प्रकार उन्होंने समालोचना-युग के आदर्श अग्रदूत का काम तो किया ही साथ ही विवेचना परक शास्त्रीय चिन्तन का अभिनव महत्व भी समझाया। आज जिस स्वच्छन्दता से उत्साही समालोचकगण विचरण कर रहे हैं और नितनूतन रङ्गढङ्ग से कृतियों की भी मीमांसा करने में प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं उसका सारा श्रेय शुक्लजी को ही दिया जायगा। थोड़े में यही कहा जा सकता है कि आधुनिक आलोचना-युग के निर्माता वही थे।

आलोचना के अतिरिक्त निबन्ध रचना के क्षेत्र में भी उनकी अपनी देन थी। उनके समय तक अनेक यशस्वी निबन्ध लेखक हो चुके थे और अपनी अपनी प्रणाली से उन्होंने गद्यभारती का भण्डार भरा था पर जिस ठाठ को लेकर शुक्लजी आगे आए वह विषय और शैली के विचार से सर्वथा नवीन था। उनके पूर्व सामान्यतः सरल एवं व्यावहारिक विषयों पर ही अपनी मौज और तरङ्ग के अनुसार लोग निबन्ध लिखते रहे। प्रतिपाद्य भी दैनिक जीवन से सम्बद्ध और प्रतिपादन की पद्धति भी मनोरञ्जक और सीधी सरल रहती थी। निबन्ध रचना को गम्भीर स्तर पर ले जाने का श्रेय भी शुक्लजी को ही मिलना चाहिए। सुव्यवस्थित प्रणाली पर व्यक्तिगत विशेषताओं से सर्वथा भरी-पूरी भाषाशैली में विचारों को कस-कस कर एक सुनिश्चित क्रमन्यास पूर्वक उपस्थित करने की परिपाटी सर्वप्रथम शुक्लजी ने आरम्भ की और उसे साहित्य की एक चीज बनाई।

हिन्दी की गद्य रचना के क्षेत्र में जयशङ्कर 'प्रसाद' और प्रेमचन्दजी के आगमन से साहित्य का महत्व बहुत बढ़ गया। 'प्रसाद' की प्रतिभा से पोषित कल्पना और भावुकता ने और प्रेमचन्द की युगधर्म से अनुप्राणित लेखनी अपनी अपनी व्यक्तिगत निर्मिति से गद्य की धारा को गतिशील एवं पीनकाय बनाया। दोनों लेखकों के अपने क्षेत्र थे और दोनों में अपना जीवन दर्शन था। दोनों ने मानव जीवन को अच्छी तरह देखा था और उनकी वाणी में परिष्कार और बल था। 'प्रसाद' में काव्यतत्व प्रबल था और प्रेमचन्द में व्यावहारिक जीवन की प्रधानता ही मुख्य थी।

जहाँ प्रकृत और यथार्थ का स्पष्ट बोध दोनों में मिलता है वहीं आदर्शों और आकांक्षाओं के चित्रण में भी दोनों प्रवीण थे। दोनों को साहित्य ने बनाया था और दोनों ने साहित्य को बनाया सँवारा था। कृतिकारों की ऐसी जोड़ी बड़े सौभाग्य से रचना के क्षेत्र में अवतरित होती है। दोनों में साध्य साधन की एकस्वरता अवश्य थी पर दोनों में शैली भेद भी स्पष्ट और मौलिक था। दोनों एक होकर भी पृथक थे।

'प्रसाद' जी में अतीत के अन्तराल में प्रवेश करने की अद्‌भुत क्षमता थी। इस क्षेत्र के विविध चित्रों के मार्मिक उद्घाटन और उन्हें सजीव बनाने में उनकी प्रतिभा विशेष रमती थी। उनकी छोटी और बड़ी कहानियाँ इस कथन की पुष्टि करती हैं, 'ग्राम' से लेकर 'सालवती' तक इस प्रकार के चित्र मिलते रहते है। आरम्भ से ही 'प्रसाद' की यह वृत्ति बल पकड़ती आई थी। 'अशोक' और 'गुलाम' का बीज 'आकाशदीप' और 'सालवती' में पल्लवित हुआ था। इस रचना प्रसार में कहानियों की अनेक शैलियाँ और विविध भाव भङ्गिमाएँ दिखाई पड़ती है। 'प्रतिध्वनि' की पद्धति 'आकाशदीप में नहीं है और 'इन्द्रजाल' में और 'आकाश दीप' में शैलीगत साम्य कम है। पर कल्पना एवं भावुकता की प्रमुखता के कारण सभी प्रकार की उक्त कहानियों में काव्यतत्व की ही अधिकता है। इस आधार पर यदि विचार किया जाय तो 'प्रसाद' का अपना एक वर्ग है।

कहानियों के लघु प्रसारगामी इतिवृत्त की रचना तक ही 'प्रसाद' की प्रतिभा परिमित नहीं रह सकी। उपन्यासों के व्यापक विस्तार-क्षेत्र में भी वह खुल-खेलती दिखाई पड़ती है। अवश्य ही इतिवृत्त संघटन की कुशलता 'कङ्काल' में कुछ उलझी सी मालूम पड़ती है। वहाँ कथाक्रम के बहुमुखी बन जाने के कारण इतिवृत्त की एकरसता कुछ बिखर सी उठी है पर 'तितली' में आकर प्रबन्धकौशल सर्वथा संयत और सुगठित दिखाई पड़ता है। इसमें उपन्यास के सम्पूर्ण अवयवों का पूर्ण विकास संघटन और मुखरित हो गया है। तितली के रूपमें भारतीय जीवन के आदर्शों और आकांक्षाओं की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। क्रियाकल्प विषयक सभी गुण इस उपन्यास में स्फुट हो उठे हैं। 'इरावती' में आकर तो 'प्रसाद' का प्रसादत्व निखर उठा है। अपूर्ण होकर भी यह रचना लेखक की पूर्णता का अनुमानाश्रित स्वरूप स्पष्ट कर देती है, यदि कृति कहीं पूरी हो जाती तो अवश्य ही जयशङ्कर 'प्रसाद' उपन्यास रचना क्षेत्र में अमर हो जाते, पर उसका वर्तमान रूप-रङ्ग उनकी विषय-पटुता का पूरा प्रतिनिधित्व कर देता है।

कहानियों और उक्त उपन्यासों के अतिरिक्त 'प्रसाद' का विशेष महत्व उनके श्रेष्ठ नाटकों के कारण मानना चाहिए, यों तो कुछ मत्सरी और प्रतिद्वन्द्वी सामान्य समालोचक इन नाटकों के दोष-दर्शन में ही प्रवृत्त हुए हैं और आत्मघातों की बाढ़ को अभारतीय कहकर मीनमेष करते हैं पर बात ऐसी है नहीं। इन युगान्तरकारी नाटकों ने प्राचीन भारत की गौरवगाथा को प्रभावशाली रूप में उपस्थित कर अपने लक्ष्य की पूर्ति की है और सफलतापूर्वक अतीत की नाट्य रचना की पद्धति के मेल में आ गए हैं। इतिहास की पूर्ण संगति, काव्य-भावना का उन्मेष और सजीव जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति के कारण इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय कम है। साध्य-साधन का इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही है। चाहे रस-निष्पत्ति के विचार से यह की विवेचना हो चाहे व्यक्ति-वैचित्र्यवाद के आधार पर देखा जाय, इनका महत्व किसी रूप में दुर्बल नहीं मालूम पड़ेगा। उत्तर महाभारत काल से लेकर हिन्दुओं के उत्थान के परवर्ती समय तक का इतना भव्य स्वरूप इतने काव्यात्मक ढङ्ग से किसी ने सामने रखा नहीं। प्राचीन की तुलना में वर्तमान के नव-रूप का इतना स्पष्ट चित्रण अपूर्व प्रतिभा और कौशल का कार्य है। इन नाटकों में रस-प्रसार के

साथ क्रियाशीलता का पूर्ण सामञ्जस्य 'प्रसाद' ने बैठाया है। अपनी भाषा-शैली, वस्तुविधान और अभिव्यञ्जना सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा के द्वारा 'प्रसाद' ने युग-निर्माता का काम किया है।

कथा साहित्य के निर्माण में प्रेमचन्दजी का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण मानना चाहिए। 'प्रसाद' की तुलना में इनकी कहानियों ने अधिक प्रसार पाया, इनके पाठक भी अधिक थे और लिखा भी उन्होंने अधिक। जन जीवन की वास्तविक और अनुभूति-पूर्ण अवतारणा के कारण उनकी कहानियाँ जन-साधारण को अधिक प्रिय प्रमाणित हुई। साधारण जन के जीवन और जगत् की कौटुम्बिक और सामाजिक विविध घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण ही इन कहानियों की विशेषता है। इस प्रकार की रचना के जितने भी अवयव हैं उनका अच्छा संघटन प्रेमचन्द में मिलता है। उनके वस्तुविधान में भारतीय जीवन के अनुभूतिमूलक स्वरूप की बड़ी प्रकृत अभिव्यञ्जना हुई है। इस देश के क्षीणकाय नागरिकों और पीड़ित ग्रामीणों को ही प्रेमचन्द ने अपना विषय बनाया। उनकी सामाजिक एवं व्यक्तिगत हीनताओं और दैन्य का कारुणिक तथा सहृदयतापूर्ण वर्णन तो उन्होंने किया ही पर उनकी भावनाओं और आकांक्षाओं की ओर संकेत करना भी वे भूले नहीं। इसीलिए उनके वस्तुप्रसार में संघर्ष एवं जीवन भरा मिलता है। मानव सुलभ चारित्र्यदोष जहाँ अंकित किया गया है वहाँ उसके आधार भूत-कारण की भी आलोचना की गई है। इस प्रकार अपनी कहानियों को प्रेमचन्द ने भारत की वर्तमान कहानी बनाया है। उनकी साहित्यिक कृति में यही अपनापन विशेष है।

लघु इतिवृत्तों के अतिरिक्त उपन्यास के विस्तृत क्षेत्र में उतरकर उन्होंने जीवन के संश्लिष्ट और नानामुखी स्वरूप की प्रतिष्ठा में भी पूरी सफलता प्राप्त की है। लेखक अपने समय का सर्वोत्तम प्रतिनिधि होता है इस कथन की यथार्थता के अच्छे उदाहरण प्रेमचन्द थे। उनकी कहानियों और उपन्यासों को साक्षी रूप में रखकर यदि कोई तत्कालीन भारत का इतिहास लिखे तो सम्पूर्ण राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विवरण उसे मिल सकता है। इस समय का सारा ढाँचा दो पक्षों में बंटा था ग्राम और नगर, धनिक एवं दरिद्र। दोनों का अपना अपना स्वरूप और अपनी-अपनी कथा थीं। दोनों में संतुलन की महती आकांक्षा ही लक्ष्य था प्रेमचन्द के साहित्य का। उन्होंने समान सहानुभूति के साथ दोनों पक्षों का चित्रण किया और दोनों को समझने-समझाने का अवसर दिया था। अपने सभी उपन्यासों में उन्हीं दोनों द्वन्द्वों को उन्होंने सामने रखा था। उनके भीतर-बाहर का पूरा अन्तर्भेद उन्होंने उपस्थित किया था और उसकी सर्वाङ्गीण परीक्षा की थी। यों तो वस्तु-निर्वाचन के विचार से उनका विषय एक देशीय और परिमित कहा जा सकता है पर अनेक उपन्यासों में अवतरित होने के कारण उसमें सम्पूर्णता और विविधता आ गई थी।

प्रेमचन्द के 'रङ्गभूमि', 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम' एवं 'गोदान' में एक ही वस्तु, एक ही प्रकार का वर्ग विभाजन, एक ही प्रकार का जीवन था और उसकी समस्या भी एक ही थी। इस दृष्टि से प्रेमचन्द की कृतियाँ नवनवता के पूर्ण उन्मेष विहीन हैं। विषय सम्बन्धी यह एकाङ्गिता अवश्य खटकती है पर अपनी इस परिमिति के कारण उन्होंने उपन्यास के रचना सौन्दर्य को कहीं भी विकृत नहीं होने दिया। भले ही कथानक और परिस्थिति-योजना एकदेशीय मालूम पड़े पर जीवन संघर्ष का स्वरूप और युग दर्शन में जो उत्कर्षोन्मुख विकास दिखाई पड़ता है वह भारत के राजनीतिक वातावरण का पूरा प्रतिनिधित्व करता गया है। ई० सन् १९२१ से लेकर ई० सन् १९३५ की सभी विचारधाराओं की सजीव झलक उनकी रचनाओं में मिलती है।

(शेष पृष्ठ ३६१ पर)

विचार विमर्श

एक भ्रम निवारण—

'साहित्य सन्देश' अक्टूबर–नवम्बर ५१ के अंक में एक लेख पं० ललिताप्रसाद सुकुल का प्रकाशित हुआ है। पृष्ठ २०६ की ३३-३४ पंक्तियाँ ऐसी भ्रामक हैं जिनसे पं० रामदहिन मिश्र की कृतियों पर पानी फिर जाता है। अपने लेख में श्री सुकुलजी पृष्ठ २०६ में लिखते हैं—

"इसके प्रमाण के लिए किसी को दूर न जाना पड़ेगा। अँग्रेजी शासन की धौंस और पाश्चात्य साहित्य की चकाचौंध से खींचे हुए और प्रभावित युगों तक उसी की साधना में रत भारतीय मनीषी जन भी, अब हिन्दी साहित्य के अध्ययन की ओर झुक पड़े थे। इस कोटि के प्रमुख विद्वानों में सबसे पहले और सबसे अधिक गौरव युक्त नाम हमारे सामने आता है पण्डित शिवाधार पाण्डेय का। क्या योरपीय, क्या प्राचीन और क्या नवीनतम—साहित्य का मर्मज्ञ यह विद्वान हिन्दी के क्षेत्र में क्या उतर आया कि उच्च स्तर की तुलनात्मक समीक्षा का नवीन द्वार ही खुल गया। यहीं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं नाम पण्डित रामदहिन मिश्र और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के।"

इस उद्धरण से मालूम होता है कि पं० शिवाधार पाण्डेय ने जो मार्ग अपनाया उसी मार्ग के अनुयायी ये दोनों विद्वान पं० रामदहिन मिश्र और श्री पोद्दार हुए। पर यह बात एक दम गलत है। पढ़ने से यह स्पष्ट विदित होता है कि पाश्चात्य और पौरस्त्य साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा का कोई ग्रन्थ श्री पाण्डेयजी ने प्रस्तुत किया है और वही इन दोनों विद्वानों का मार्ग है। ऐसा विश्वास होते ही मैंने श्री शुक्लजी को पत्र लिखा और पूछा कि श्री पाण्डेयजी का कौन सा ऐसा ग्रन्थ है। वहाँ से जो उत्तर मिला वह यों है—

"अपने लेख में जिनकी ओर मैंने संकेत किया है, उन्हें यदि आप देखना चाहें तो वंगीय हिन्दी परिषद द्वारा प्रकाशित मीरा स्मृति ग्रन्थ तथा भारतेन्दु कला देख लें।"

पत्र मिलने के पश्चात् मैंने 'मीरा स्मृति ग्रन्थ' को देखा। उसमें श्री पाण्डेयजी का एक लेख है, 'मिस्टिक लिपिस्टिक और मीरा'। वह एक तुलनात्मक अध्ययन है। उसमें उक्त विद्वानों के जैसे शास्त्रीय विषय उपस्थित नहीं किये गये हैं और न उनकी परीक्षा-समीक्षा की गयी है।

प्रो० ललितप्रसाद सुकुल के लेख पढ़ने पर मुझे जैसा सन्देह हुआ था वैसा ही किसी अन्य साहित्यिक के मन में भी न उठ खड़ा हो कि पण्डित रामदहिन मिश्र और पोद्दारजी शिवाधार पांडेय के नकाल हैं या इन दोनों का ग्रन्थ एक ही प्रकार का है; इसीसे ये पंक्तियाँ 'साहित्य सन्देश' के लिए लिखी गयीं।

सुकुलजी के कथन का केवल इतना ही अभिप्राय है कि पश्चात्य साहित्य के मर्मज्ञों में पाण्डेयजी पहले विद्वान थे जो हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए थे। पीछे आने वाले लोगों का महत्व कम नहीं होता है और न वे नकाल ही होते हैं। पाण्डेयजी और पोद्दारजी तथा मिश्रजी की कोई तुलना नहीं। ये लोग आचार्य कोटि में आते हैं। पाण्डेयजी हिन्दी के प्रेमी रहे हैं और उनका यही महत्व है कि अँग्रेजी पढ़े-लिखों को वे पहले-पहल हिन्दी की ओर आकृष्ट कर सके थे।

—जयनारायण पांडेय।

प्रेमी कवि या आध्यात्मिक—

श्री सम्पादकजी,

आपके लोक-प्रिय एवं आलोचनात्मक पत्र के द्वारा मैं अपनी एक प्रार्थना की ओर हिन्दी साहित्य

के मर्मज्ञ विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

श्रद्धेय श्री जयशङ्कर प्रसाद कवि के रूप में अपने समय तथा मानवता के प्रतिनिधि थे। भौतिकवाद और विकासवाद के पंजे में फँसी हुई उस मानवता का, चिरन्तन तथ्यों तथा शाश्वत जीवन-दर्शन के समस्त तत्वों की निधि वेदों व उपनिषदों की सभ्यता अथवा संस्कृति के भीतर से वे शुभचिन्तन भी किया करते थे। उनके साहित्य में सर्वत्र यह शुभचिंतन देखा जा सकता है। 'आँसू' और 'कामायनी' इस कथन के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

यह महान् कवि व्यक्तिगत सुख-दुःखों आदि से काफी ऊपर उठता ही नहीं, बल्कि उनको अपनी कला में एक कल्याणकारी सौन्दर्य लाने का सुलभ साधन भी बना लेता है। भला ऐसा कवि कभी किसी प्रेयसी के 'काले अलकों' व 'नीली आँखों' में उलझने या रमने वाले प्रेम व सौन्दर्य का गान कर सकता है? भले ही कोई पाश्चात्य जगत का कवि ऐसा 'गान' कर सके पर प्रसादजी जैसे भारतीय कलाकार नहीं।

इसके अतिरिक्त आज आलोचना-क्षेत्र में एक प्रवृत्ति बड़े व्यापक रूप में पायी जाती है, जो अपनी ओर तो कम देखती है, किन्तु दूसरों की ओर न सिर्फ बहुत देखती है, बल्कि अपनी हर एक बात का दूसरों की किसी न किसी बात से मेल करने निरन्तर दौड़ती है। इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि 'आँसू' में पाश्चात्य जगत् का प्रेम और सौन्दर्य का वर्णन तो देखा जाता है, पर अपने इतिहास के बुद्ध भगवान की वाणी और उनके युग के प्रभाव को नहीं देखा जाता, जो एक 'आँसू' में नहीं उनकी (प्रसादजी की) अन्य अनेक रचनाओं में भी स्पष्ट रूप से मिलता है।

श्री विनोदशङ्करजी व्यास के शब्दों में 'प्रसाद' ने 'आँसू' में जितना अपने को स्पष्ट किया है, उतना शायद और किसी ग्रन्थ में नहीं। ऐसी अवस्था में विद्वानों से मेरी प्रार्थना है कि वे प्रेम, यौवन और सौन्दर्य की उन मृदुलताओं तथा रोचकताओं का मोहक वर्णन देखकर 'आँसू' को प्रेम-काव्य और 'प्रसाद' को सौन्दर्य का कवि मानने वाले जैसे भ्रमपूर्ण निष्कर्षों पर यथाशीघ्र ध्यान दें और अपने प्रामाणिक मत के द्वारा पाठकों का पथ-प्रदर्शन करें, जिनका कारुणिक अन्त निश्चित है।

विनीत—
वज्झल सुब्रह्मण्यम् अध्यापक
हिन्दी विशारद विद्यालय वरंगल।

नोट—यह बात विवाद-ग्रस्त है कि प्रसादजी कहाँ तक प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं और कहाँ तक आध्यात्मिक। उनका लौकिक प्रेम अध्यात्मोन्मुख अवश्य है। इसलिए व्यासजी आदि के कथन नितान्त भ्रमपूर्ण नहीं कहे जा सकते। —सम्पादक

भ्रमरगीत परम्परा की मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि (प्रत्यालोचना)—

श्री देवीशरण रस्तोगीजी लिखित एक लेख 'साहित्य-सन्देश' के गत दिसम्बर ५१ के अङ्क में प्रकाशित हुआ है। विद्वान् लेखक ने लेख का निर्वाह अच्छे ढङ्ग से किया है। परन्तु लेख में कुछ ऐसी विरोधी बातों का भी समावेश हुआ है, जो सर्वमान्य एवं वैज्ञानिक नहीं।

लेख की प्रथम पंक्ति "भ्रमरगीत ज्ञान मार्ग पर प्रेम मार्ग का विजय घोष है" विवादास्पद है। आगे चल कर लेखक ने मनोविज्ञान के 'प्रेम', 'विरह' और 'ज्ञान' सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या सी करदी—ऐसा प्रतीत होता है। लेकिन इससे भ्रमरगीत की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ सका।

सूर, नन्द, रत्नाकर प्रभृति कवियों ने जो भ्रमर-गीत की रचना की उसमें ज्ञान और प्रेम की बात पीछे आती है, पहले तो सगुण और निर्गुण का

प्रश्न उठ खड़ा होता है। इसके लिए मुझे 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' के पृष्ठों को उलटना होगा। भक्तिकाल के पूर्व भावी वीरगाथा काल में ही गोरखपन्थी, योगमार्गी संत तरह तरह के ढोंगों द्वारा जनता को ठगा करते थे। योग और साधना के नाम पर वासना और व्यभिचार का बाजार गर्म हो रहा था। सूर, नन्द, तुलसी प्रभृति कवियों ने उन योगमार्गी सन्तों के सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रतिक्रिया भ्रमरगीत के माध्यम से किया। क्योंकि जनता के बीच कृष्ण और गोपियों के विरह भक्ति एवं प्रेम का काफी प्रचार श्रीमद्भागवत की रचना के बाद ही 'गीत गोबिन्द' एवं विद्यापति की पदावलियों द्वारा हो चुका था। इसके अतिरिक्त अपनी प्रतिक्रिया को रोचक, साहित्यिक एवं पूर्ण अभिव्यक्ति देने के लिए एक कथानक तो चाहिए ही। इन कवियों ने सगुण मार्ग पर जोर दिया। सूर ने अपने भावमयी गेय पदों में उस ढोंगी योग का खण्डन तथा सगुण प्रेम मार्ग का समर्थन किया। यह तो हुई भ्रमरगीत की परिस्थिति जन्य भूमिका। लेकिन उनकी भक्ति क्या कोरा 'प्रेम' था जैसा कि विद्वान् लेखक ने बताया है, नहीं। सूर ने प्रतिपादित किया कि भक्ति की भी वही चरमावस्था है जो ज्ञान की—

"अहो अज्ञान! ज्ञान उपदेसत,
ज्ञान रूप हमहीं।
निसि दिन ध्यान सूर प्रभु को,
अलि! देखत जित तितहीं॥"

भक्त भी जब भक्ति के उस विन्दु पर पहुँच जाता है जहाँ उसे ईश्वर का साक्षात्कार होता यानी ब्रह्म की अनुभूति होती है। वहीं उसकी अभिव्यक्ति और जिज्ञासा मिट जाती है और वह ब्रह्ममय हो जाता है। वहाँ निर्गुण, सगुण, कृष्ण, राम, आत्मा परमात्मा का भेद नहीं। ऐसी बात प्रेममार्गी भक्त एवं ज्ञानमार्गी दोनों के साथ समान है। इस बिन्दु तक पहुँचने के लिए योगमार्गियों ने साधना और ज्ञान का मार्ग अपनाया, सूर ने विरह और प्रेम का; वस्तुतः प्रेममार्ग और ज्ञानमार्ग तो दो मार्ग ही हैं—लक्ष्य एक! यहाँ जीत कैसी, हार कैसी!

प्रेम के साथ तो ज्ञान रहेगा ही—दोनों एक दूसरे के पूरक (Compliment) हैं। भक्त-कवियों का प्रेम ज्ञानोन्मुख प्रेम है। ज्ञानमार्ग अवश्य सर्व-साधारण की वस्तु नहीं, लेकिन वह अपने आप में पूर्ण है। दूसरी ओर सगुण साकार रूप को लेकर सभी आगे बढ़ सकते हैं। "सगुण उपासना निर्गुण उपासना का सोपान है।" (श्यामसुन्दरदास)। लेखक के उस कथन को अगर इस प्रकार प्रतिपादित किया जाता—"भ्रमरगीत निर्गुण मार्ग पर सगुण मार्ग का विजय घोष है" तो ज्यादा अच्छा होता।

क्योंकि कबीर ज्ञान मार्गी होकर भी प्रेम में विश्वास रखते थे। (हजारी प्र० द्विवेदी)

महादेवी का रहस्यवाद निर्गुण निराकार के सूक्ष्मज्ञान का पक्षपाती होकर भी प्रेममयी और करुणामयी है:—

"मैं कण-कण में डाल रही अलि!
आँसू के मिस प्यार किसी का!
मैं पलकों में पाल रही हूँ।
यह सपना सुकुमार किसी का!"
(दीपशिखा)

भागवतकार की गोपियाँ प्रेममार्गी होकर भी उद्धव के ज्ञानमार्ग को अपनाने के लिए तैयार है क्योंकि सधना भिन्न-भिन्न हो सकती है—लेकिन ब्रह्म एक है। यही कारण की "रहस्यवादी कवियों के समान सूर की कल्पना भी कभी-कभी इस लोक का अतिक्रमण करके आदर्श लोक की ओर संकेत करने लगती है, जैसे—

चकई री! चलि चरन-सरोवर,
जहाँ न प्रेम वियोग।
निसिदिन राम-राम की वर्षा,
भय रुज नहिं दुख सोग॥"
—शुक्ल

अब पाठक स्वयं निर्णय करे—किस मार्ग पर किस मार्ग का विजय घोष है। साधना और प्रेम तो अपनी जगह, मार्ग में, रह जाता है—प्रश्न है सगुण और निर्गुण का। रत्नाकर की गोपियाँ प्रेम-मार्गी होकर भी उद्धव के ज्ञानमार्ग को अपनाने के लिए तैयार हैं। लेकिन शर्त है :—

"सहि हैं तिहारो कहैं सांसति सबै प बस
ऐती कहि देहु के कन्हैया मिलि जायेगो।"

और इस सगुण निर्गुण का समाधान भक्तिकाल के तीन महामानव—कबीर, सूर, तुलसी के पास है।

(१) "निर्गुन की सेवा करो,
सगुन का करो ध्यान;
निर्गुन सगुन से परे तहाँ कबीरा न्यान।"
—कबीर

(२) सूर का मत मैं ऊपर दे चुका हूँ :—

(३) तुलसीः—"भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कुछ भेद।"

× × ×

"सिया राममय सब जग जानी।"

कहा भी है—सभी महापुरुषों के चिन्तन में समानता होती है। उपर्युक्त कथन का निम्न चित्र द्वारा और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

—विष्णुकिशोर 'बेचन'

(पृष्ठ ३५७ का शेष)

प्रेमचन्दजी इस विचार से बड़े भावुक और जागरूक द्रष्टा और चिंतक थे। महात्मा गांधी के दर्शन से प्रभावित होकर निरन्तर अपनी भावनाओं और आदर्शों का परिष्कार करते गए थे। यह वृत्ति उनकी प्रगतिशीलता का अच्छा उद्घाटन करती है। वे सामान्य जन जीवन के सच्चे पारखी थे और जन-साहित्य के श्रेष्ठ निर्माता थे।

'गोदान' उनकी अन्तिम कृति थी और उस रचना तक आते-आते उनकी समस्त अनुभूतियाँ, विचार, आकांक्षाएँ और मान्यताएँ अपने निखार पर आ चुकी थीं। इसलिए जब अन्तिम बार वे अपनी चिर-परिचित वस्तु को लेकर सम्मुख आए तो नये उत्साह, नई योजना और तात्विक परिष्कार के साथ। इस उपन्यास में जहाँ उनकी सारी पूर्व कृतियों का सार एकत्र हुआ मिलता है वहीं बहुवस्तु स्पर्शी प्रतिभा का पूर्ण विकसित स्वरूप भी आलोकित हो उठा है। भारतीय जीवन की सर्वाङ्गीण परीक्षा, विवृति और स्वरूप विन्यास ही इस कृति का मुख्य लक्ष्य था। वस्तुतः इसी स्थल पर आकर प्रेमचन्द पूर्णतया शुद्ध बुद्धि से प्रेरित निर्लिप्त कलाकार बन सके हैं। उनके वस्तु-प्रसार में आने वाली जीवन की विभिन्न परिस्थितियाँ, विचार-प्रवाह और भावनाएँ यहीं खुल कर खेल सकी हैं और अपने कृतिकार को अमर बना सकी हैं।

सन् १९५१ का साहित्य

(एक सिंहावलोकन)

—१—

जनवरी के 'साहित्य सन्देश' में प्रकाशित '१९५१ में प्रकाशित हिन्दी की नई पुस्तकों' की सूची छपी है। उस पर कुछ विचार प्रकट करना यहाँ हितकर होगा।

सन् १९५१ बीत गया। आज सन् १९५२ आरम्भ हो गया है। हम आज वर्ष भर के अपने साहित्य-कार्य पर सरसरी दृष्टि डाल सकते हैं। सन् १९५१ को हम एक अच्छा वर्ष मान सकते हैं क्योंकि आलोचना-क्षेत्र में तो एकाडेमिक शैली में कई अभूतपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित हुए, जिनमें से पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी का 'नाथ-सम्प्रदाय' विशेष उल्लेखनीय है। परशुराम चतुर्वेदी का 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' ग्रन्थ भी आकर्षित करता है। परशुराम चतुर्वेदी की अन्य कृतियाँ भी हिन्दी साहित्य के लिए देन है। इस वर्ष 'परशुराम चतुर्वेदी' ही नये रूप में हिन्दी में चमके हैं। १९५१ से पूर्व इनसे बहुत कम लोग परिचित थे, और इनकी देन ने भी विशेष आकर्षित नहीं किया था। यों आलोचना के क्षेत्र में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० रामरतन भटनागर, डा० सुधीन्द्र, डा० सत्येन्द्र, बा० गुलाबराय, विश्वम्भर 'मानव' आदि के द्वारा भी उपयोगी वस्तुएँ मिली हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के साहित्यिक निबन्धों का संग्रह विशेष उल्लेखनीय माना जा सकता है। आलोचनात्मक ग्रंथों में एक नयी शैली के विशेष दर्शन हुये। किसी एक कवि को लेकर उस पर विविध विद्वानों के लेखों के संग्रह को पुस्तक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास 'सियारामशरण गुप्त' नाम की पुस्तक में मिलता है। किन्तु आगे इस प्रकार के संग्रह को बहुत कम परिश्रम की वस्तु समझ कर इसी वर्ष कुछ अन्य कवियों पर भी संग्रह प्रस्तुत कर दिये गये हैं। प्रथम पुस्तक का दृष्टिकोण तो मुख्यत: 'कवि' पर केन्द्रित था। बाद के संग्रहों में ध्यान ग्राहक अथवा विद्यार्थी पर केन्द्रित है। आलोचना-क्षेत्र की अधिकांश रचनाएँ विद्यार्थियों और परीक्षार्थियों के लिये लिखी गयीं, अत: ऐसी रचनाओं में विश्लेषण बहुत, मौलिकता कम रही। विद्यार्थियों को दृष्टि में रख कर बहुत से अध्ययन भी प्रस्तुत किये गये, पर इनमें से अधिकांश का स्तर बहुत निम्नश्रेणी का रहा। पी-एच० डी० की उपाधि के लिए प्रस्तुत की गयी अध्ययन विषयक रचनाओं में विशेष अध्यवसाय और शोध से लिखी गयी 'राम-कथा' नाम की पुस्तक है, जिसे रेवरेंड फादर कामिल बुल्के ऐस० जे०, एम० ए०, डी० फिल्० ने प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में राम-कथा की उत्पत्ति और उसके विकास पर यथासम्भव पूर्ण विचार किया गया है। राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित होने वाली 'आलोचना' पत्रिका भी आलोचना-जगत में एक महत्वपूर्ण घटना मानी जा सकती है।

कविता अभी सन् १९५० के आगे बढ़ी नहीं प्रतीत होती। यों बहुत सी रचनाएँ प्रकाशित हुईं और बड़े तथा छोटे सभी लेखकों ने अपनी कृतियों से हिन्दी के भण्डार को भरा है, पर अभी दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' से आगे कोई रचना नहीं बढ़ सकी। यही अवस्था कहानियों की कही जा सकती है। संस्मरण-शैली की कहानियों की ओर विशेष झुकाव रहा। नये लेखकों में राजेन्द्र यादव में कुछ मौलिक चमक दिखायी पड़ती है। यही दशा एकांकियों की है। संलग्न अश्क पूर्ववत् उत्साह से एकाङ्कियों के सृजन में संलग्न दिखायी पड़े, डा० रामकुमार वर्मा ने भी 'ध्रुव-तारिका' प्रस्तुत की। और भी कुछ लेखकों ने प्रयत्न किए।

उपन्यास के क्षेत्र में अवश्य कुछ देन की बातें

हुई। साधारणतः तो वृन्दावनलाल वर्मा ही छाये रहे हैं, किन्तु यशपाल ने 'मनुष्य के रूप' और डा० देवराज ने 'पथ की खोज' के द्वारा एक संजीवता भर दी है। मराठी लेखक 'अनन्त शेवड़े' की हिन्दी देन 'मृगजल' भी श्लाघ्य है।

नाटक के क्षेत्र में कोई प्रतिभा चमकती नहीं दिखायी पड़ी। पुराने नाटककारों के प्रयत्न भी बहुत दुर्बल और निराशाजनक रहे।

हास्यरस के पुराने लेखक अन्नपूर्णानन्द की एक नयी कृति 'मन-मयूर' इस वर्ष प्रकाश में आयी, पर वह अधिक आकर्षित नहीं कर सकी। गोपालप्रसाद व्यास की 'मैंने कहा' ने कुछ गद्यकाव्य की कमी की पूर्ति अवश्य की। गद्यकाव्य की कुछ अन्य रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

इस प्रकार सन् १९५१ में हर दिशा में साहित्य-सर्जन की सोत्साह चेष्टा हुई, पर प्रत्येक क्षेत्र प्रखर प्रतिभाओं के प्रकाश की बाट जोहता रहा। सन् १९५२ से आशा है कि वह हिन्दी की समृद्धि में चार चाँद लगायेगा। —सत्येन्द्र

—२—

आगरा से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'साहित्य सन्देश' का एक अङ्क सामने है। शुरू के पृष्ठों में १९५१ में प्रकाशित पुस्तकों की एक छोटी-सी सूची दी गयी है। उसे देखने पर कुछ विचित्र निष्कर्ष निकलता-सा लगता है, हालांकि यह सूची सर्वथा पूर्ण नहीं ही कही जा सकती, लेकिन उसने दिशा की ओर संकेत कर ही दिया।

नई पौध के लेखक अधिकतर आलोचना की ओर झुके हैं। मौलिक रचना जैसे कविता कहानी, उपन्यास या नाटक की ओर अपेक्षाकृत कम लोगों का ध्यान गया है, जिन लोगों का गया भी है, उनको क्रम से रखा जाय तो सबसे पहले कविता, फिर कहानी, तब उपन्यास और अन्त में नाटक का नम्बर आता है। इस क्रम को समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती। कविता और कहानी में किसी एक छोटी-सी चीज को लेकर काम चलाया जाता सकता है। उपन्यास और नाटक का दायरा बड़ा होता है और उसे सम्हालना कठिन काम है। नाटक तो विशेष प्रकार की प्रतिभा की अपेक्षा रखता है और उस क्षेत्र में आनेवालों की संख्या हमेशा कम रहती ही है। आलोचना के नाम पर जो चीजें आई हैं उनकी छानबीन की जाय, तो पता चलेगा कि कुछ वादों या आलोचना के सूत्रों को ध्यान में रख कर ही अधिकांश आलोचनाएँ लिखी गई हैं और आलोच्य पुस्तक को काट छाँट कर उस साँचे में फिट किया जाता रहा है। मौलिक रचनाओं का भी बहुत-कुछ यही हाल है। दल विशेष की निश्चित परिपाटी के अनुकूल अधिकांश रचनाएँ हैं। इनके समर्थक दलों द्वारा उनका ढिंढोरा पीटा जाता है तथा विरोधी दल वाले कीचड़ उछालते हैं। रचना विशेष का अपना अस्तित्व धीरे-धीरे नगण्य सा हो जाता है।

पुराने और जाने-माने लोगों का ध्यान ऐतिहासिक कृतियों की ओर अधिक गया है। प्रसादजी ने अपने ऐतिहासिक नाटक लिख कर जो लीक निकाली और जिस पर चल कर श्री भगवतीचरण वर्मा की चित्रलेखा को इतनी ख्याति मिली उसी लीक को लोग आज भी पीट रहे हैं। क्यों? मैंने हिन्दी के एक लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यिक से ऐसा प्रश्न पूछने की धृष्टता की थी। धृष्टता इसलिए लिखता हूँ कि हिन्दी में ख्याति पा जाने के बाद साहित्यिक अपनी चीजों पर बात करना भी अपमानजनक समझने लगता है, फिर अपनी रचना के मूल स्रोत के सम्बन्ध में इस तरह के प्रश्न उसे रुच ही नहीं सकते, बर्दाश्त भी नहीं होते। खैर, उन्होंने उत्तर दिया कि आदमी बढ़ती उम्र में दर्शन और चिन्तनप्रिय हो जाता है। यह बात कुछ ठीक भी जँची। लेकिन इससे पहले प्रश्न का समाधान तो नहीं होता! दर्शन, चिन्तन प्रधान रचना के लिए इतिहास के पन्ने कुरेदना क्या अनिवार्य है? दिनकरजी ने कुरुक्षेत्र में कबूल

किया है कि महाभारत की कथा के बिना भी यह काव्य लिखा जा सकता था। तो महाभारत की शरण उन्होंने क्यों ली?

मेरे पहले प्रश्न का उत्तर उस तरह की रचनाओं को पढ़ने के बाद मिलेगा। अधिकांश ऐतिहासिक रचनाओं में यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि इतिहास द्वारा प्राप्त प्रामाणिक चरित्रों की हत्या की गई है। इस प्रश्न को अभी हम अलग छोड़ दें कि ऐसा करना निंद्य है या श्लाघ्य! सवाल है इसकी जरूरत ही क्या थी। और सहसा आपको स्पष्ट हो जायगा कि राजनीति, दर्शन, अर्थनीति, मनोविज्ञान इत्यादि कठिन से कठिन विषय पर भी अपने अधिकार का विज्ञापन करने वाले वे लोग अपने बचकाना विचारों को भावुकता से मण्डित कर ऐतिहासिक पात्रों के बहाने हमारे दिल तक उतरना चाहते हैं और अपनी सर्वज्ञता का सिक्का जमाना चाहते हैं। इतिहास का सहारा वे इसलिए लेते हैं कि ऐतिहासिक व्यक्तित्वों से हमें मोह है और उन व्यक्तित्वों के साथ-साथ 'सर्वज्ञ' साहित्यिक के विचारों को भी हम हेय नहीं समझेंगे! बात बहुत कड़वी है लेकिन सत्य तो कड़ुवा होता ही है। क्या किया जाय? नहीं तो आज इन कृतियों का क्या अर्थ है? हमारा जीवन भीतरी और बाहरी समस्याओं से इतना आलोड़ित है कि आज का साहित्यकार हमारी आज की समस्याओं को लेकर साहित्य में ऐसे चाँद लगा सकता है जिसका जोड़ा नहीं मिले। सभी जीवंत साहित्यों में यही हो रहा है। जो साहित्य मानव-जीवन से सम्बन्धित है वह इस सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकता।

उम्मीद थी नई पीढी से। लेकिन अभी तो निराशा ही हाथ लगी है। संक्रान्तिकाल में नई पीढी से बहुत उम्मीद करना ही गलत है। उसके सामने कला के सीधे और कंटकाकीर्ण पथ के अलावा आकर्षक 'शार्ट कट्स' की कमी नहीं। वह तुरन्त ख्याति पाना चाहता है। टेकनिक के जो प्रयोग चल रहे हैं, वे स्वयं अपने में बुरे नहीं होते हुए भी इसी मनोवृत्ति के सूचक हैं। नई टेकनिक उतनी आवश्यक नहीं जितनी कि किसी एक टेकनिक में दक्षता। टेकनिक का आकर्षण दो-चार दिनों का होता है, दक्षता कला को स्थायित्व देती है। लेकिन मैं चिर-निराश नहीं। अपने जेल जीवन में मैंने श्री सतीनाथ भादुड़ी को 'जागरी' (बंगला उपन्यास) लिखते देखा था। पूरे तीन वर्ष तक वह उस पर मिहनत करते रहे। डेढ या दो सौ पृष्ठों के उपन्यास के लिए उन्होंने १३०० से कम पृष्ठ नहीं रंगे होंगे। यह ठीक है कि उन्होंने टेकनिक बड़ा कठिन चुना लेकिन इतने से ही सन्तुष्ट न होकर उसमें कमाल हासिल करने के लिए खून और पसीना एक करते रहे। तभी सिर्फ एक किताब लिखकर वह बंगला के चोटी के लेखकों की कतार में आ सके। जिस दिन हिन्दी लेखकों की नई पीढी इस सत्य को समझ पायगी उस दिन उसका रास्ता बदल जायगा, मुझे पूरा विश्वास है।

—नई धारा

आलोचना

झाँसी की रानी : एक दृष्टि—लेखक-श्री श्याम जोशी, प्रकाशक--मोहन न्यूज एजेन्सी कोटा । पृष्ठ ६७+६६, मूल्य १।।।)

इस पुस्तक के दो खण्ड हैं एक सिद्धान्त और दूसरा समीक्षा । सिद्धान्त खण्ड में उपन्यास के तत्व और उसके विकास का इतिहास वेदों से लगाकर आज तक का प्रवृत्ति रूप से दिया है। यह खण्ड समीक्षा को समझने के लिए एक आवश्यक भूमिका है। यह अलग भी उपन्यास सिद्धान्त के रूप में छपा है। इसमें उपन्यास के सिद्धान्तों का संक्षिप्त पर आवश्यक विवेचन आ गया है। समझाने की शैली स्पष्ट और सुबोध है। दो एक स्थलों में शायद असावधानी या दूसरों के मत से विचलित हो गए हैं। जैसे निबन्ध को लेखक महोदय ने भावात्मक-साहित्य (Literature of Power) के विरुद्ध प्रज्ञात्मक साहित्य (Literature of Knowledge) में रक्खा है। निबन्ध भी वैसे तो भावात्मक साहित्य में आते हैं और फिर भावात्मक निबन्धों को तो विशेषरूप से भावात्मक साहित्य में ही स्थान मिलेगा। सम्भव है एवरक्रोम्बी ने ऐसा माना हो किन्तु यह ठीक नहीं। उपन्यासों का विभाजन एक जटिल समस्या है। इसमें पूरी तार्किकता न आ सकना कोई आश्चर्य की बात नहीं। समीक्षा का अंश अधिक मौलिक है (सिद्धान्त भाग में विवेचन का ढंग ही मौलिक हो सकता है) उसमें सिद्धांत भाग का व्यावहारिक प्रयोग है। पूरे उपन्यास का तत्वों के आधार पर विश्लेषण किया गया है। पात्रों आदि वर्ग (Type) और व्यक्ति (Individual) में किया और यह भी दिखाया है कि उनमें कितना आदर्श का पुट है और कितना यथार्थ का। लेखक ने समीक्षा को विचारपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है और उपन्यास के सम्बन्ध में दो एक वाद ग्रस्त समस्याओं को सुलझाने का भी प्रयत्न किया है। एक समस्या तो यह है कि रानी स्वराज्य के लिए लड़ी या केवल निजी राज्य के लौटाने के लिए। दूसरी समस्या यह है कि उपन्यास में एतिहासिकता अधिक है या उपन्यासत्व। पहली समस्या में तो हम मूल लेखक श्री वर्माजी का ही मत प्रामाण्य मानेंगे कि वह स्वराज्य को ही लड़ीं। दूसरी समस्या के सम्बन्ध में थोड़ा मत भेद हो सकता है। आलोचक महोदय ने उसमें उपन्यासत्व ही अधिक माना है। इस मत का आधार यह है कि उसमें कल्पना से पर्याप्त काम लिया गया है। कुछ लोग इस में ऐतिहासिकता का पुट अधिक मानते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास में एतिहासिकता और उपन्यासत्व का मिश्रण तो रहता ही है किन्तु दोनों तत्वों की मात्रा में अन्तर रहता है। यह मत भेद की बात हैं। आशा है यह पुस्तक वर्माजी की कृति को समझने और उसके रसास्वाद करने में सहायक होगी।

—गुलाबराय

मराठी-साहित्य का इतिहास—लेखक-श्री नारायण वासुदेव गोडबोले। प्रकाशक-प्रबंधी गया-प्रसाद एण्ड सन्स, आगरा। पृष्ठ १६५, मूल्य ३)

हिन्दी, बङ्गाली, गुजराती आदि के साथ मराठी

भी संस्कृत की दौहित्री है और इनमें पारिवारिक सम्बन्ध है। खेद है कि हम दूसरी भाषाओं के साहित्य के प्रति उदासीन से रहे हैं। मराठी की ज्ञानेश्वरी और दासबोध से तो हम लोगों का थोड़ा-बहुत परिचय है। कुछ आधुनिक उपन्यासों से भी, किन्तु काव्य से हमारा बहुत कम परिचय है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने के पश्चात् हमारा उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है कि हम भारत की समस्त भाषाओं का और विशेषकर संस्कृत परिवार की भाषाओं का घनिष्ट परिचय प्राप्त करें। प्रस्तुत पुस्तक मराठी साहित्य से परिचय प्राप्त कराने में विशेष रूप से सहायक होगी और इससे प्राप्त जानकारी से हमारे कार्यकर्त्ताओं को मराठी ग्रन्थों से सहायता लेने में विशेष सहायता भी मिलेगी। मराठी में १३ वीं शताब्दी के अन्त में (मराठी साहित्य का पहला ग्रन्थ विवेक-सिन्धु लगभग १३११ का है) ही ग्रन्थ-रचना का आरम्भ हुआ है किन्तु हिन्दी की अपेक्षा गद्य का रूप कुछ शीघ्र व्यवस्थित होगया और जहाँ हमारे यहाँ की प्रारम्भिक गद्य धर्म-प्रधान ही रही वहाँ के गद्य ने इतिहास और विज्ञान (विशेषकर चिकित्सा विज्ञान) की ओर रुचि दिखाई। वहाँ भी अँग्रेजी शिक्षा का कुप्रभाव देशी साहित्य के विकास में बाधक ही रहा, किन्तु बम्बई के उदार गवर्नर एलफिन्सटन (जिनके नाम से वहाँ कालेज है) के कारण देशी भाषा को विशेष प्रोत्साहन मिला और मराठी शीघ्र ही उर्दू के प्रभाव से मुक्त होगई। राजकीय कार्यों में हम वहाँ के बने हुये कोषों से सहायता ले सकते हैं।

गोडबोले ने साहित्य के विभिन्न अङ्गों का ब्युरेवार वर्णन दिया है जिससे हमारे पाठक मराठी साहित्य की गति विधि का दिग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। अन्त में कुछ प्रतिनिधि ग्रन्थों की सूची भी दी है जो साधारण पाठक के लिए विशेष उपयोगी होगी। साहित्य-रत्नादि की परीक्षाओं में जहाँ प्रान्तीय-साहित्य का अध्ययन एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है ऐसे ग्रन्थ का स्थान पाना वाञ्छनीय है।

—गुलाबराय

रोमांटिक साहित्यशास्त्र—लेखक-प्रो० देवराज उपाध्याय, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ०/सं० ६+४+१२+२००+४, मू० ३॥)

इस पुस्तक के आरम्भ में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की विद्वतापूर्ण भूमिका है, फिर अपनी बात में लेखक ने स्वतन्त्र भारत में अँगरेजी के लोप के भय से अपने इस उद्योग का अभिप्राय सिद्ध किया है जिससे हिन्दी को प्रबल भावी से हानि न उठानी पड़े। इस पुस्तक में आठ अध्याय हैं।

१—शास्त्रीय और स्वच्छन्दतावादी साहित्य—शास्त्रीय शब्द क्लासिकल के लिए और 'स्वच्छन्दतावाद' रोमान्टिसिज्म के लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल का दिया नाम है।

२—क्लासिकल युग—इस अध्याय में क्लासिकल भाव धारा का ही स्पष्टीकरण नहीं किया गया, रोमांटिक कविता की सामान्य विशेषतायें भी बतायी गयी हैं। इन दो सामान्य अध्यायों के उपरान्त एडिसन, लेसिंग, परसीविशी शेली, विलियम वर्ड्स्वर्थ, कालरिज, रस्किन पर अध्याय है। जिनमें इनके रोमांटिसिज़म पर गम्भीर विचारों का स्पष्टीकरण किया गया है। पुस्तक के आरम्भ में इन लेखकों का परिचय दिया गया। पुस्तक में लेखक के अध्यवसायपूर्ण अध्ययन का प्रतिफल है, जो सर्वथा स्वागत योग्य है। यथार्थ में यह पुस्तक विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखती है, जो यहाँ देना हमारे लिए असम्भव है।

—सत्येन्द्र

साहित्य-समीक्षा—लेखक-साहित्य वाचस्पति सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, प्रकाशक-जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पृष्ठ २०६, बड़ा साइज, मूल्य २॥)

साहित्य वाचस्पति सेठ कन्हैयालाल पोद्दार उन व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने व्यापारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी बड़ी लगन के साथ साहित्य

साधना की है। प्रस्तुत पुस्तक में आपके साहित्य समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध हैं। इनमें प्रारम्भिक निबन्ध तो साहित्य शास्त्र सम्बन्धी सैद्धान्तिक आलोचना से सम्बन्धित हैं और शेष का विषय है संस्कृत और हिन्दी कवियों की व्यावहारिक आलोचना। साहित्य शास्त्र के जिन विषयों को सेठजी ने चुना है वे प्रायः गम्भीर और विवादास्पद ही हैं। अलङ्कारों के सूक्ष्म भेदों और शास्त्रीय विवेचन की ओर आपकी अधिक रुचि है और हिन्दी के ग्रन्थों की आलोचना में भी आपने गोस्वामी तुलसीदास जी तथा बिहारी को छोड़ कर हिन्दी के अलङ्कार शास्त्रियों को ही अपनी आलोचना का विषय बनाया है। यद्यपि आजकल अलङ्कारों के सूक्ष्म भेदों के सम्बन्ध में आजकल का शिक्षित समाज उतनी ही रुचि लेता है जितना कि प्राचीन पण्डित आजकल के अनुसन्धानों में तथापि पाण्डित्य के इस अङ्ग का भी आदर करना आवश्यक है। रस के सम्बन्ध में पोद्दारजी ने एक विचारणीय विषय यह उठाया है कि भक्ति रस है या भाव है। पोद्दारजी ने उसे स्वतन्त्र रस माना है। आचार्य मम्मट ने भक्ति को भाव संज्ञा दी है यह चाहे ठीक न हो किन्तु भक्तिरस को शान्तरस से पृथक मानने के कारण स्पष्ट नहीं किए गये हैं। दो लेख भाव साम्य के सम्बन्ध में हैं, एक में गो० तुलसीदासजी का कालिदास की छाया की झलक दिखाई गई और दूसरे का क्षेत्र कुछ व्यापक है। उसमें संस्कृत कवियों के पारस्परिक भावसाम्य का विवेचन है किन्तु यह भावसाम्य साम्य प्रदर्शन तक ही सीमित है। उपकृत कवि की उत्कृष्टता या अपकृष्टता दिखाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। संस्कृत के कवियों और काव्य-शास्त्र की सूक्ष्म गुत्थियों से परिचित होने के लिए यह बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है और इसमें पोद्दार जी के पाण्डित्य की अमिट छाप है। —गुलाबराय

निबन्ध

काव्याङ्ग-प्रकाश—लेखक-श्री शुकदेव दुबे 'साहित्यरत्न', प्रकाशक-प्रयाग पब्लिशिङ्ग हाऊस, प्रयाग। पृष्ठ १११, मूल्य १।)

प्रस्तुत पुस्तक में इण्टरमीजिएट, मध्यमा तथा तत्सम-स्तर के परीक्षार्थियों के लिए पर्याप्त उपयोगी सामग्री है। काव्य, रस, अलङ्कार और छन्दों को लेखक ने सरल और बोधगम्य भाषा में समझाने का प्रयास किया है तथा अधिकांश स्थलों में खड़ी बोली से उदाहरण देकर पुस्तक को और भी उपयोगी एवं मनोरञ्जक बना दिया है किन्तु कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जहाँ विद्वानों में मतभेद हो सकता है। जैसे—

"एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।
बहुत तारे थे अँधेरा कब मिटा,
सूर्य का आना सुना जब तब मिटा।"

'साकेत' के उक्त पद्य को 'दृष्टान्त' अलङ्कार के उदाहरणार्थ रखा गया है किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो यह 'अर्थान्तरन्यास' का उदाहरण है। प्रथम दो चरणों में जो सामान्य कथन है, उसका अन्तिम दो चरणों के विशेष कथन द्वारा समर्थन किया गया है। दृष्टान्त अलङ्कार में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव पाया जाता है, अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य समर्थक भाव। गुप्तजी के उक्त छन्द में समर्थ्य-समर्थक भाव ही मुख्य है।

'हेत्वपन्हुति' के स्थान में 'हेत्वापन्हुति' लिखा गया है जो खटकता है।

नव-निबन्ध—लेखक-श्री परशुराम चतुर्वेदी, प्रका०—लोक सेवक प्रकाशन, बनारस। पृ० १६८, मूल्य ३)

श्री चतुर्वेदीजी सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ और लब्धप्रतिष्ठ पण्डित हैं। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं के समय समय पर लिखे गये ६ निबन्धों का संग्रह है। विद्यापति, आलम और शेख, बिहारी, देव, घनानन्द, बोधा, ठाकुर, भारतेन्दु आदि प्रेमी कवियों पर ही प्रायः सब निबन्ध लिखे गये हैं। 'अष्टछापी

बिहारी' शीर्षक अपने निबन्ध में अनेक उद्धरणों द्वारा लेखक ने स्पष्ट किया है कि बिहारी केवल श्रृङ्गारी कवि ही नहीं थे, वे संस्कृत के कवि भर्तृहरि की भाँति नीति, भक्ति तथा वैराग्य जैसे विषयों पर भी एक ही प्रकार की निपुणता के साथ उत्तम कविता कर सकते थे। वैज्ञानिक शोध और गम्भीर अध्ययन की छाप प्रायः सभी निबन्धों पर है।

अंत में एक परिशिष्ट है जिसमें 'चंड कौशिक' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' की तुलना की गई है। इस तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' भारतेन्दु का मौलिक नाटक नहीं है। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में 'चन्ड कौशिक' के कुछ अंश ज्यों के त्यों उद्धृत हैं, कुछ इधर-उधर कर दिये गये हैं, कई स्थलों पर भाव दूसरे प्रकार से रख दिये गये हैं, और बहुत से स्थल अक्षरशः अनुवाद करके ही भर दिये गये हैं किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी संस्कृत वाले नाटक की शिथिलता हिन्दी नाटक में नहीं है और यहीं भारतेन्दु के कौशल का पता चलता है! पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

मूल्याङ्कन—लेखक-श्री हरिशङ्कर उपाध्याय, प्रकाशक-आदर्श प्रेस, छापरा। पृ० १६२, मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ तो साहित्य-विषयक सैद्धान्तिक निबन्ध हैं और कुछ निबन्ध ऐसे हैं जिनमें 'अपराजिता', 'लाल चूनर', 'अन्तर्नाद', 'शेफालिका' आदि की परिचयात्मक समीक्षाएँ हैं। 'प्रयोग कालीन कवि' और 'नवोदित प्रतिभाएँ' इस पुस्तक के दो विशेष अध्याय हैं। पता नहीं, उनमें से कितने लेखक और कवि कब साहित्याकाश में जगमग जगमग करने लगेंगे? किन्तु लेखक ने उन्हें उपेक्षित समझकर सहानुभूति और सहारा देने के उद्देश्य से ही बहुतकर ये निबन्ध लिखे होंगे। सभी प्रकार के निबन्धों को एक ही पुस्तक में समाविष्ट कर देना कुछ उचित नहीं जान पड़ता। पुस्तक की साजसज्जा साधारण है।

—कन्हैयालाल सहल

बारह बातें—लेखक-प्रो० कपिल, प्रकाशक-ज्ञानपीठ प्रकाशन, पटना ४। पृष्ठ १०६, मूल्य १)

बारह बातें में बारह विभिन्न विषयों पर स्वतन्त्र लेख हैं। विषयों की दृष्टि से इन लेखों में कोई तारतम्य नहीं है पर एक दृष्टि से सब लेख सम्बन्धित हैं। इनमें वर्णित विषयों को लेकर लेखक ने समाज को चेतावनी दी है। पहले लेख में राजनीतिक पुरुषों को स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा की याद दिलाई है। दूसरे में अँग्रेजी का सम्पूर्ण बहिष्कार करने का विरोध किया है। 'मन्दिर और महन्त' में उनकी जायदाद का सम्यक उपयोग करने का प्रस्ताव है। चौथे में परीक्षाओं की आलोचना है। 'शिक्षा और शिक्षक' में शिक्षकों को चेतावनी दी गई है। 'होली' में होली के कुत्सित वातावरण की निन्दा करके उसे शुद्ध रूप देने की चर्चा करना लेखक भूल गया है। पुस्तक के विचार पठनीय और मननीय हैं।

साहित्य-प्रदीप—लेखक-प्रो० कपिल, प्रकाशक-बुकलैंड लिमिटेड, १ शङ्कर घोषलेन कलकत्ता। पृष्ठ १५४, मू० सजिल्द २)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के १८ लेखों का संग्रह है। यह लेख साहित्य के विभिन्न विषयों पर आलोचना स्वरूप हैं। कुछ लेखों के शीर्षक हैं:—हिन्दी काव्यधारा की लहरें, कबीर की पृष्ठभूमि, विद्यापति शृङ्गारी कवि, भूषण कवि या आचार्य, प्रियप्रवास में प्रकृति, यशोधरा में उद्गार, अजातशत्रु के गीत आदि। लेख विद्यार्थियों के हित को दृष्टि में रख कर लिखे गए हैं और उनके लिए उपयोगी हैं। —न

कविता

वर्द्धमान—रचयिता महाकवि अनूप, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृष्ठ ५८५, मूल्य ६)

जैन-धर्म के २४ वें तीर्थंकर आदरणीय भगवान महावीर के जीवन को लेकर महाकवि अनूप का वर्द्धमान महाकाव्य के रूप में संस्कृत साहित्य की परिपाटी पर अतुकान्त छन्दों में लिखा गया है।

भगवान महावीर के सरल जीवन में उन सांसारिक घटनाओं का अभाव होने के कारण जो काव्य में रोचकता उत्पन्न करती है, कवि को अपनी कल्पना का प्रयोग भगवान् के माता-पिता के प्रणय और क्रीड़ा-विलास तथा आध्यात्मिक विवाह प्रसंग को लेकर शृङ्गार रस के लिए, और कामदेव के प्रसङ्ग की कल्पना से वीर-रस के लिए करना पड़ा है। शान्त-रस प्रधान तो भगवान् का सारा जीवन स्वयं ही था। इस प्रकार तीनों प्रधान रसों का प्रवेश महाकाव्य में होगया है।

पुस्तक में कुल १७ सर्ग हैं जिनमें उनके जीवन की सूक्ष्म-सी घटना-प्रधान कथा यत्र-तत्र ही बिखरी हुई है। शेष परिपाटी के अनुसार वर्णन, प्रकृति-चित्रण, प्रेम शृङ्गार तथा वैराग्य उपदेशात्मक हैं जो कथा के विस्तार से कहीं अधिक है। इससे पढ़ते-पढ़ते जी तो ऊबता है परन्तु भावों के उपयुक्त अलंकारों से सुसज्जित कल्पना पाठक को अपने प्रवाह में बहा लेती है।

भाषा में वही मिठास और सौन्दर्य है जो हरिऔधजी के प्रिय-प्रवास तथा कवि के सिद्धार्थ में है। आदि से अन्त तक अलङ्कारों की एक सुन्दर माला-सी दृष्टिगोचर होती है।

तथा तथा लोचन डालती हुई,
विलोकती श्याम सरोज वृष्टि थी।
गिरे नहीं ईक्षण भार से कहीं,
सुमध्य में संस्थित अस्ति नास्तिके।

आदि भावों को जायसी, तुलसी, बिहारी और रत्नाकर आदि में सरलता से ढूँढ़ा जा सकता है।

वर्णन प्रायः सभी सजीव और सुन्दर तथा उत्कृष्ट कल्पना के उदाहरण हैं।

असेत वेणी बन सर्पिणी-समा
नितम्ब से मस्तक पै चढ़ी हुई।
सिन्दूर जिह्वा अपनी पसारती,
सुखेन्दु पीयूष रसावलेहिनी।

पर कहीं-कहीं संस्कृत के हिन्दी में अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भाषा को अधिक कठिन बना देता है और खटकने लगता है।

ऐसी एक दो बातों को छोड़ कर प्रथम बार श्री महावीर भगवान के जीवन पर लेखनी उठाकर लेखक के महान प्रयास ने इस ओर हिन्दी-जगत की चिर-अपूर्णता को पूर्ण कर दिया है।

—दयाप्रकाश एम० ए०

नाटक

बुझता दीपक—लेखक-भगवतीचरण वर्मा। प्रकाशक—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस प्रयाग। पृ० सं० १०८, मूल्य २)

यह वर्माजी के चार नाटकों का संग्रह है। इनमें से तीन एकाङ्की हैं और एक सम्पूर्ण नाटक। एकाङ्की नाटक हैं—दो कलाकार, सबसे बड़ा आदमी, और चौपाल में। 'बुझता दीपक' सम्पूर्ण नाटक है जो चार दृश्यों में समाप्त हुआ है।

लेखक को 'एकाङ्की' नाटकों में विशेष श्रद्धा नहीं—उसने उन्हें चुटकुलों के रूप में लिखा है। किन्तु इनके मित्रों ने इन्हें बताया कि इनके 'एकाङ्की नाटक अपना एक विशेष स्थान रखते हैं।' हम वर्माजी के इन मित्रों से सहमत हैं, सचमुच जिन चुटकुलों को वर्माजी ने 'एकाङ्की' का रूप दिया है, उनसे एकाङ्की कला में रचनात्मक साहित्य की भूमि परिपुष्ट हुई है। तीनों एकाङ्कियों से वर्माजी ने डाक्टर की भाँति रोगी को विनोद में बहला कर गम्भीर नश्तर लगाने का काम लिया है। जातीय जीवन की व्यथा और मर्म-पीड़ा प्रत्येक नाटक में व्यंग्य है। 'दो कलाकार' हैं एक चित्रकार और दूसरा कवि। नाटककार इन दो शोषितों में साहस तथा तत्पर-बुद्धि दिखाता है जिससे वे विनोद परिहास में ही अपने दो शोषक धनपतियों को राहे-रास्त पर ले आते हैं। शोषक जब तक किसी भय की, हानि की, वह यश की ही क्यों न हो, आशंका नहीं समझता

तब तक सीधे मार्ग पर नहीं आ सकता। कलाकार के पास भी हानि पहुँचाने के साधन हैं। 'सबसे बड़े आदमी' में शेली, नेपोलियन, गांधी, लेनिन सम्बन्धी गम्भीर वार्त्तालाप में विनोद और व्यंग्य का समावेश करते हुए एक चोर को, जो सभी पर हाथ सफा कर गया है, 'सबसे बड़ा आदमी' बताया गया है। 'चौपाल में' नामक एकाङ्की असवर्ण सम्बन्ध और उसका विरोध करने वालों की मनोभूमि की व्यञ्जना करता है। तीनों एकाङ्की जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखते हैं, और मनुष्य को अपना हृदय टटोलने को बाध्य करते हैं। अन्तिम नाटक 'बुझता दीपक' तो काँग्रेस की आधुनिक भ्रष्ट स्थिति पर तीखा व्यंग प्रस्तुत करता है, और उन तत्वों और तथ्यों को प्रकाश में लाता है जिससे मानव के उद्धार की आशा हो सकती है और नया दीपक बुझते दीपक का स्थान ले सकता है।

इस संग्रह की भूमिका विशेष द्रष्टव्य है, क्योंकि लेखक ने अपने नाटकों की मूल-प्रेरणा के स्रोतों का संकेत उसमें किया है।

शपथ—ले०—हरिकृष्ण प्रेमी, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृ० सं० ८+१५२, मू० २॥)

श्री हरिकृष्ण प्रेमी हिन्दी के आज के प्रतिष्ठित नाटककार हैं। उनका यह नाटक उनके कला-विकास का एक अभिराम उदाहरण माना जा सकता है।

यह नाटक ऐतिहासिक है, और सांस्कृतिक भी। विष्णुवर्द्धन ने जन-नेता बन कर देश के उस राजा का विरोध किया जिसने अपनी स्वार्थ लिप्सा के लिए आततायी विदेशी हूणों के सम्राट की दासता स्वीकार की। विष्णुवर्द्धन के इस जनोपयोगी कार्य में वत्स नाम के कवि ने, और कंचनी नाम की वेश्या ने बहुत सहायता की। यथार्थतः वत्स और कंचनी ही इस नाटक में प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं। विष्णुवर्द्धन तो एक प्राचीन परिपाटी का आदर्श चरित्र है जो अपने गुण-कर्म की अपेक्षा लेखक की अपनी भाव-भूमि के कारण मान्य हुआ दीखता है, पर मिहिरकुल जैसे हूण आततायी के चरित्र-चित्रण में नाटककार ने मौलिकता दिखाई है। मन्दाकिनी की सपत्नी ईर्ष्या बहुत उथली और अकारण उग्र है। विष्णुवर्द्धन की बहिन में इस ईर्ष्या का स्तर भी ऊँचा रखा जा सकता था।

नाटक की सामयिक राजनीति और समाज-नीति दोनों के लिए उपयोगिता है। इस नाटक में लेखक की कथोपकथन कथा का विकास अभिनन्दनीय है, उसने अपने आरम्भ के ओज की रक्षा भी की है, पर गाम्भीर्य और युक्ति चमत्कार का संयोजन मननीय किया है।

पाँच एकाङ्की—सम्पादक—मि० आर० श्रीनिवास शास्त्री, प्रकाशक—मैसूर हिन्दी प्रचार परिषत् बँगलोर ४। पृ० सं० ७६, मूल्य ।॥)

इस संग्रह में वफातीचाचा पं० रामनरेश त्रिपाठी का, तानाजी का बलिदान श्री हरिकृष्ण प्रेमी का, उदयसिंह का राजतिलक श्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त का, लक्ष्मी का स्वागत श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का, महात्मा ईसा का अवसान श्री पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र' का है। सभी लेखक यशस्वी हैं और 'लक्ष्मी का स्वागत' के अतिरिक्त सभी सम्पूर्ण नाटकों में से लिये गये हैं। 'लक्ष्मी का स्वागत' यथार्थ एकाङ्की है। श्री सुदर्शनजी ने 'सम्मति' में ठीक ही लिखा है कि 'मैं उस सुरुचि की सराहना करता हूँ, जिसने पूरे नाटकों में से इन छोटे नाटकों को ऐसे ढब से छाँटा है कि पाठक को स्वतन्त्र एकाङ्कियों का मजा आ जाए और उनका मनोरञ्जन-क्रम टूटने न पाये।

अमिट रेखाएँ—लेखक—श्री विन्ध्याचल प्रसाद गुप्त, प्रकाशक—राहुल पुस्तक प्रतिष्ठान, अशोक राजपथ, पटना ६। पृष्ठ ६१, मूल्य १)

इसमें सात ऐतिहासिक रेडियो नाटकों का संग्रह है। शकुन्तला, सम्राट अशोक, हार-जीत, मरकर भी अमर, सिराजुद्दौला, भाई-बहिन तथा कुँवरसिंह। इन रेडियो नाटकों में इतिहास के साधारण चित्र प्रस्तुत हुए हैं। नाटककार ने एक-एक

नाटक में दीर्घ समय को समेटने की चेष्टा की है, फलतः शैथिल्य आ गया है। अन्तिम दो नाटक कुछ रोचक बन पड़े हैं। भूमिका लेखक ने डा० रामकुमार वर्मा की चारुमित्रा में तिष्यरक्षिता के समावेश की ऐतिहासिक भूल पर जितनी पंक्तियाँ लिखी हैं, उतनी इस संग्रह के ऐतिहासिक नाटकों की ऐतिहासिकता दिखाने में व्यय करते तो इस संग्रह की उपयोगिता विशेष बढ़ती।

ये नाटक कला की दृष्टि से तो उतने श्लाघ्य नहीं, पर नाटककार की भाव-भूमि सामयिक है।

गुरुदक्षिणा—लेखक—साहित्याचार्य डा० जनार्दन मिश्र एम० ए०, डी० फिल०, प्रकाशक—ग्रन्थ-माला कार्यालय पटना ४। पृष्ठ ४७, मूल्य ॥)

'गुरदक्षिणा' एक छोटा नाटक है। इसमें पुराण प्रसिद्ध गुरु-भक्त 'एकलव्य' की कथावस्तु है। नाटककार ने 'एक लव्य' की गुरु-भक्ति को बहुत ऊँचा सिद्ध करने की चेष्टा की है। जैसे राम ने अपने पिता की आज्ञा का उनके भाव के अनुकूल पालन किया था, उसी प्रकार 'एकलव्य' को अँगूठा काटने की आज्ञा देने गुरु द्रोण नहीं आये, एकलव्य को अर्जुन के द्वारा जब यह सुनने को मिलता है कि गुरूजी ने अर्जुन को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनाने का बचन दिया है तो एकलव्य स्वयं ही अपना अँगूठा काटकर अपने गुरू की मूर्ति के चरणों में भेंट कर देता है—उस समय 'एकलव्य' कहता है :—'गुरुदेव !....आज मैं गुरुदक्षिणा देना चाहता हूँ....इसलिए आपकी प्रतिज्ञा का पालन ही मेरी गुरुदक्षिणा होगी।' एकलव्य की प्रचलित कथा में नाटककार ने यह सुन्दर परिवर्तन किया है, पर नाटक में न तो पात्रों के चरित्र का विकास हो सका है, और न कथावस्तु के अनुकूल गौरव ही आ सका है।

ध्रुवतारिका—लेखक—डॉ० रामकुमार वर्मा, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ४७, मूल्य १)

यह प्रसिद्ध एकांकी लेखक डा० रामकुमारवर्मा का नया एकाङ्की 'ध्रुवतारिका' मारवाड़ के यशस्वी कथानकों में से लिया गया है।

कहानी की कथावस्तु का मूलाधार स्वर्गीय महाराज जसवन्तसिंह के उत्तराधिकारी राजकुमार तथा शाहजादा अकबर की पुत्री सफीयत-उन-निसा का प्रेम है। जसवन्तसिंह की मृत्यु औरङ्गजेब के षडयन्त्र से हो चुकी है, अजीतसिंह वीरवर दुर्गादास राठौर की देख-रेख में है। अकबर अपने पिता औरङ्गजेब के भय से भारत छोड़कर ईरान चला गया है, और वह भी अपनी पुत्री सफीयत को दुर्गादास की देख-रेख में छोड़ गया है। सफीयत में 'हिन्दू मुस्लिम' के सांस्कृतिक ऐक्य के सूत्र आरोपित हुए हैं, पर वह अजीत के प्रेम की प्रेरणा से संभवतः हिन्दू-सांस्कृतिक आधारों में विशेष निष्ठा रखने लगी है। इस एकाङ्की में जिस दिन की घटना है, उस दिन अजीत सफीयत से मिलने आया है। मिलकर वे दोनों एक-दूसरे को वरण करने के लिए गले में माला डालना ही चाहते हैं कि 'परतन्त्रता' में दुर्गादास आकर अजीत को प्रेम लीला में भर्त्सना करता है और सफीयत को प्रेरणा देता है कि वह अपने प्रेम को भाई-बहिन के प्रेम में परिणत कर दे। वह स्वीकार करती है और अजीत को भी स्वीकार करना पड़ता है। नाटक बहुत सफल है। —सत्येन्द्र

उपन्यास

मरु-प्रदीप—ले०—श्री रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल' प्र०—साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। पृ० सं० २५३, सजिल्द. मू० ३॥)

प्रगतिवादी कवि 'अञ्चल' का यह उपन्यास कल्पना-प्रवण काव्य है जिसमें कथानक न के बराबर है। मध्यवर्ग की बाल-विधवा की समस्या इसमें अङ्कित की गई है। दर्शन-शास्त्र के अध्यापक यथा नाम तथा गुण विमल बाल-विधवा शान्ति के सन्निकट हैं। फिर भी सम्बन्ध निर्दोष है यद्यपि आकर्षण विहीन नहीं। सारे उपन्यास में विमल ने चेष्टा की है कि शान्ति विवाह कर ले पर शान्ति को

विमल से दूर रहना अच्छा नहीं लगता । विमल की स्त्री उषा निष्कपट और सीधी-सादी है । विमल की अनुपस्थिति में विमल के शिष्य कमलाकान्त के साथ शान्ति का जरा अमर्यादित सम्बन्ध हो जाता है जिसकी ग्लानि के मारे वह गलने लगती है। विमल उसे 'अपनी' बना नहीं सकता । उपन्यास की समाप्ति के लिए भी शान्ति ससुराल चली जाती है। इने गिने चरित्रों का यह संक्षिप्त कथानक है । आदर्श की बात है कि शान्ति सरीखी विधवाएँ विवाह करके सुखी हों पर शान्ति का ससुराल चले जाना इसी बात का संकेत है कि यथार्थ में यह भी घटित नहीं हो पाता । यही इस उपन्यास की समस्या है। विधवा-विवाह के समर्थन में भाषा ओजस्विनी और सर्वत्र काव्योपयुक्त है यथा "जिस निवृत्ति की तुम आज तक दुहाई देती रही हो वह पूर्णता की पुकार नहीं रिक्तता की रंकता है । शून्यता का सन्ताप है। आत्मप्रसाद नहीं—आत्मप्रताड़ना है यह । स्वभाव बनाने की चेष्टा तुम करती रहो पर अभाव कभी स्वभाव बन सका है....." (पृ० २१४) विमल का चरित्र अधिक आदर्श और कुछ असंभाव्य सा हो गया है। वैधव्य है मरुस्थल जिसका प्रदीप है विमल । पर यथार्थ की आँधी झेलने में वह भी जैसे सक्षम नहीं। सब मिलाकर उपन्यास वैसे ही रुचिकर है जैसे कविता।

अर्थ-शास्त्र

व्यवसायिक-सङ्गठन—लेखक-प्रो० केदारनाथ प्रसाद एम० ए०, प्रकाशक—पुस्तक भण्डार, पटना। पृष्ठ ३८३, मूल्य ३)

यह पुस्तक हिन्दी में अपने विषय की प्रथम पुस्तक है, और लेखक की अर्थ-शास्त्र प्रथम पद्म की चार पुस्तकों में से प्रथम है । उत्पादन के पश्चात जो सबसे बड़ी समस्या सामने आती है वह है उसके वितरण और ग्राहकों तक पहुँचने की । इस विषय पर पूँजीवादी, व्यक्तिवादी तथा समाजवादी दृष्टिकोणों से मूल्य-निर्धारण की समस्या को देखते हुए उससे उत्पन्न लाभ और उसमें उत्पादन के भिन्न-भिन्न अङ्गों के भाग पर पूर्ण विवेचन किया गया है। श्रमविभाजन, औद्योगिक निपुणता, एकाधिकार स्थानीयकरण और वैज्ञानिक प्रबन्ध आदि विषयों को इस प्रकार सम्बन्धित किया गया है कि विषय अत्यन्त सरल हो गया है।

साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव से पूँजीवाद के उखड़ते हुए मकान को रोकने वाले सहयोग आन्दोलन, राष्ट्रीयकरण आदि स्तम्भों को दृष्टि में रखते भारत की आर्थिक समस्याएँ सुलझाई गई हैं। अँग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को कोष्टकों में देने के साथ साथ लेखक ने इस पुस्तक में प्रमुख लेखकों के उद्धरणों को अँग्रेजी में ज्यों का त्यों रख दिया है।

मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र—लेखक-प्रो० केदारनाथ प्रसाद एम० ए०, प्रकाशक—पुस्तक-भंडार पटना । पृ० सं० २६५, मूल्य ६)

यह पुस्तक लेखक की आधुनिक अर्थशास्त्र (प्रयुज्य-पद्म) का चौथा भाग है जिसमें लेखक ने अपनी दूसरी पुस्तकों की तरह इसे भी हिन्दी में विषयानुसार बनाने का पर्याप्त परिश्रम किया है। विषय को वैज्ञानिक ढङ्ग से विभाजित कर प्रत्येक विभाग पर समुचित प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक के दो भाग हैं । पहिले में केवल मुद्रा सम्बन्धी तथा दूसरे में बैंक सम्बन्धी बातें हैं। दोनों दृष्टिकोणों से आधुनिकतम अर्थशास्त्रियों के मतों को देकर भारतीय आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। लन्दन और न्यूयार्क के मुद्रा बाजारों के समानान्तर विवेचन ने भारतीय स्थिति के अध्ययन को और भी सरल बना दिया है।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचना केन्स के दृष्टिकोण से समीकरण आदि देकर की गई है तथा प्रो० मार्शल, पीगू और फिशर के समीकरणों को देकर चारों के दृष्टिकोणों को स्पष्ट कर दिया गया है।

—दयाप्रकाश एम० ए०

विमल से दूर रहना अच्छा नहीं लगता । विमल की स्त्री उषा निष्कपट और सीधी-सादी है । विमल की अनुपस्थिति में विमल के शिष्य कमलाकान्त के साथ शान्ति का जरा अमर्यादित सम्बन्ध हो जाता है जिसकी ग्लानि के मारे वह गलने लगती है । विमल उसे 'अपनी' बना नहीं सकता । उपन्यास की समाप्ति के लिए भी शान्ति ससुराल चली जाती है । इने गिने चरित्रों का यह संक्षिप्त कथानक है । आदर्श की बात है कि शान्ति सरीखी विधवाएँ विवाह करके सुखी हों पर शान्ति का ससुराल चले जाना इसी बात का संकेत है कि यथार्थ में यह भी घटित नहीं हो पाता । यही इस उपन्यास की समस्या है । विधवा विवाह के समर्थन में भाषा ओजस्विनी और सर्वत्र काव्योपयुक्त है यथा "जिस निवृत्ति की तुम आज तक दुहाई देती रही हो वह पूर्णता की पुकार नहीं रिक्तता की रंकता है । शून्यता का सन्ताप है । आत्मप्रसाद नहीं—आत्मप्रताड़ना है यह । स्वभाव बनाने की चेष्टा तुम करती रहो पर अभाव कभी स्वभाव बन सका है......" (पृ० २१४) विमल का चरित्र अधिक आदर्श और कुछ असंभाव्य सा हो गया है । वैधव्य है मरुस्थल जिसका प्रदीप है विमल । पर यथार्थ की आँधी झेलने में वह भी जैसे सक्षम नहीं । सब मिलाकर उपन्यास वैसे ही रुचिकर है जैसे कविता ।

अर्थ-शास्त्र

व्यवसायिक-सङ्गठन—लेखक-प्रो० केदारनाथ प्रसाद एम० ए०, प्रकाशक—पुस्तक भण्डार, पटना । पृष्ठ ३८३, मूल्य ३)

यह पुस्तक हिन्दी में अपने विषय की प्रथम पुस्तक है, और लेखक की अर्थ-शास्त्र प्रथम पद्ध की चार पुस्तकों में से प्रथम है । उत्पादन के पश्चात जो सबसे बड़ी समस्या सामने आती है वह है उसके वितरण और ग्राहकों तक पहुँचने की । इस विषय पर पूँजीवादी, व्यक्तिवादी तथा समाजवादी दृष्टिकोणों से मूल्य-निर्धारण की समस्या को देखते हुए उससे उत्पन्न लाभ और उसमें उत्पादन के भिन्न-भिन्न अङ्गों के भाग पर पूर्ण विवेचन किया गया है । श्रमविभाजन, औद्योगिक निपुणता, एकाधिकार स्थानीयकरण और वैज्ञानिक प्रबन्ध आदि विषयों को इस प्रकार सम्बन्धित किया गया है कि विषय अत्यन्त सरल हो गया है ।

साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव से पूँजीवाद के उखड़ते हुए मकान को रोकने वाले सहयोग आन्दोलन, राष्ट्रीयकरण आदि स्तम्भों को दृष्टि में रखते भारत की आर्थिक समस्याएँ सुलझाई गई हैं । अँग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को कोष्टकों में देने के साथ साथ लेखक ने इस पुस्तक में प्रमुख लेखकों के उद्धरणों को अँग्रेजी में ज्यों का त्यों रख दिया है ।

मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र—लेखक-प्रो० केदारनाथ प्रसाद एम० ए०, प्रकाशक—पुस्तक-भंडार पटना । पृ० सं० २६५, मूल्य ६)

यह पुस्तक लेखक की आधुनिक अर्थशास्त्र (प्रयुज्य-पद्ध) का चौथा भाग है जिसमें लेखक ने अपनी दूसरी पुस्तकों की तरह इसे भी हिन्दी में विषयानुसार बनाने का पर्याप्त परिश्रम किया है । विषय को वैज्ञानिक ढङ्ग से विभाजित कर प्रत्येक विभाग पर समुचित प्रकाश डाला गया है ।

पुस्तक के दो भाग हैं । पहिले में केवल मुद्रा सम्बन्धी तथा दूसरे में बैंक सम्बन्धी बातें हैं । दोनों दृष्टिकोणों से आधुनिकतम अर्थशास्त्रियों के मतों को देकर भारतीय आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है । लन्दन और न्यूयार्क के मुद्रा बाजारों के समानान्तर विवेचन ने भारतीय स्थिति के अध्ययन को और भी सरल बना दिया है ।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचना केन्स के दृष्टिकोण से समीकरण आदि देकर की गई है तथा प्रो० मार्शल, पीगू और फिशर के समीकरणों को देकर चारों के दृष्टिकोणों को स्पष्ट कर दिया गया है ।

—दयाप्रकाश एम० ए०

Sahitya Sandesh, Agra.
FABRUARY 1952.
REGD. NO. A. 263.
Licence No. 16.
Licensed to Post without Prepayment

हमारे सहायक बन कर

साहित्य-सन्देश बराबर मुफ्त पढ़ें।

जनवरी मास में 'हमारी विचार धारा' के अनुसार हमें अब तक निम्न तीन सज्जनों से सौ-सौ रुपये मिले हैं जिनके हम आभारी हैं।

१—श्री रघुवेन्द्र राय (मैंढर)
२—श्री विद्याप्रकाश विद्यार्थी (जयपुर)
३—श्री महेन्द्र प्रकाश 'कौशिक' (गुड़गाँव)

इन सज्जनों को हमने अपना स्थाई ग्राहक बना लिया है। इनके जब तक रुपये हमारे यहाँ जमा रहेंगे तब तक साहित्य-सन्देश निःशुल्क भेजा जायगा। और जब वे रुपया वापिस मँगायेंगे उन्हें अङ्क भेजना बन्द कर देंगे और पूरा १००) सहर्ष लौटा दिया जायगा।

जो सज्जन इस सुविधा से लाभ उठाना चाहें वे आज ही १००) भेज कर हमारे सहायक बन कर हमें सहयोग दे सकते हैं—हम ऐसे ग्राहक १०० से अधिक नहीं बनायेंगे।

सञ्चालक—साहित्य-सन्देश कार्यालय,
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

र्ष १३] आगरा—मार्च १९५२ [अ

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

सत्येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी.

महेन्द्र

*

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

*

मुद्रक

साहित्य-प्रेस, आगरा।

*

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के द्वितीय सप्ताह में निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

हिन्दी का नया प्रकाशन : फरवरी, १९५२

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं

आलोचना

हिन्दी कवियों की काव्य साधना—
पं० दुर्गाशङ्कर मिश्र ४।।)

[illegible] विज्ञान—भोलानाथ तिवारी एम० ए० ५)

पन्त का युग और काव्य—यशदेव ५)

चन्द्रगुप्त—फूलचन्द्र पान्डेय २।।)

दिनकर—प्रा० शिवबालकराय एम० ए० ५)

तुलसी व्यक्तित्व और विचार—
श्रीहरिकृष्ण अवस्थी १)

साहित्य समीक्षा—
प्रा० देवेन्द्रनाथ शर्मा एम० ए० २।।।)

निबन्ध

निबन्ध रत्नाकर—
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी० २।।।)

कहानी

इन्सान पैदा हुआ—राँगेय राघव २।।।)

पञ्च तन्त्र—सत्यकाम विद्यालङ्कार ३।।)

नरक का न्याय—मोहनसिंह सेंगर २।।)

राजनीति

संविधान की रूपरेखा—श्रीपालचन्द्र जैन ।।)

इतिहास

भारतवर्ष के स्वातन्त्र्य संग्राम का इतिहास—
सुख सम्पतिराय ८।।।)

उपन्यास

चीवर—राँगेय राघव ५)

प्रतिदान— ,, २।।)

क्रौंचवध—वि० स० खाँडेकर ६)

विविध

विलुप्त जीव जन्तु—जगपति चतुर्वेदी २)

समुद्री जीव जन्तु— ,, २)

वनस्पति की कहानी— ,, २)

बिजली की कहानी— ,, २)

कारागार से पिता के पत्र—देवकीनंदन विभव २)

मानसिक शक्ति के चमत्कार—
सत्यकाम विद्यालङ्कार २।)

नूरजहाँ की टीका—रामखेलावन चौधरी २।)

सटीक कबीर बचनावली—तेजनरायण टन्डन २।।)

आत्मकथा सार— ,, ,, ।।।)
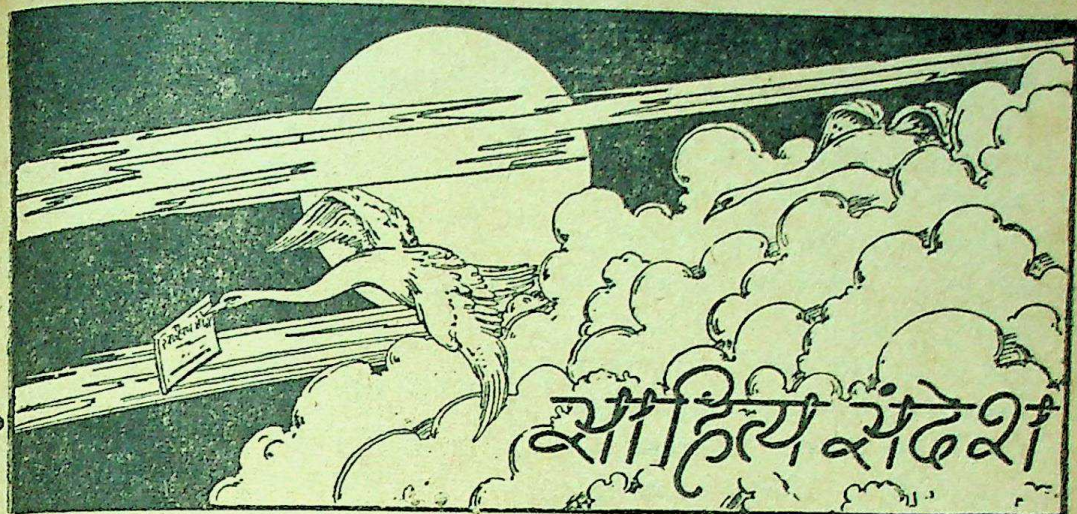
वर्ष १३] आगरा—मार्च १९५२ [अङ्क ९

हमारी विचार-धारा

कवियों की स्मृति का प्रश्न—

कवियों की स्मृति का प्रश्न बहुत पुराना है। हिन्दी में इस विषय में कभी प्रबल आन्दोलन चला था। किन्तु यहाँ प्रत्येक बात क्षणिक महत्व प्राप्त करके समाप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में हम एक निजी पत्र में से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं। पत्र पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का है। वे लिखते हैं—

"२४ फर्वरी सत्यनारायण का जन्म-दिन है। ना० प्र० सभा द्वारा यह दिवस मनाया जा सकता है।....यह खेद का विषय है कि 'हृदयतरंग' की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए कोई विशेष उद्योग नहीं किया गया। .. और मेरी सत्यनारायण की जीवनी अब अप्राप्य है, क्या अपने कवियों को स्मरण रखने की यही विधि है?"

साथ ही 'नईधारा' से ये पंक्तियाँ भी ध्यान आकर्षित करती हैं :—

"प्रसादजी पूजा के पात्र थे, आज भी हम उनकी जन्म और निधन तिथि मनाकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं। उनकी पुस्तकें स्कूलों, कालिजों के लिए स्वीकृत हुई हैं, [illegible] उनकी कृतियों पर लिखे ग्रन्थों की कमी नहीं। [illegible] जब जब उनकी याद आती है, एक बात हृ[illegible] बड़ी कसक पैदा करती है। अभी तक प्रसादजी के जीवन पर कोई ऐसी पुस्तक नहीं निकल सकी जिससे उनके अलौकिक व्यक्तित्व पर पूर्ण प्रकाश पड़ सके।"

एक तो सत्यनारायण कविरत्न के सम्बन्ध में समस्या यह है कि उनकी रचनाओं की खपत कराने का कोई प्रयत्न नहीं, तथा उन पर लिखी जीवनी का नया संस्करण कराने की कोई चेष्टा नहीं।

दूसरे प्रसाद के सम्बन्ध में यह शिकायत है कि कोई अच्छी जीवनी नहीं। हमारा तो यह विचार है कि प्रसादजी की रचनाऐं विश्वविद्यालयों में पाठ्य-ग्रन्थ हैं, इससे उन पर कोई उनके कृतित्व का यथार्थ मूल्याङ्कन करने वाली रचनाएँ भी नहीं लिखी गयीं। प्रत्येक लेखक के समक्ष कालेज के विद्यार्थियों की ही आवश्यकता पूर्ति का दृष्टिकोण रहा है। इस दृष्टिकोण ने साहित्य के मौलिक और महत्वपूर्ण अध्ययन में बहुत बाधा डाली है, और साहित्य-कर्म बहुत कुछ लुब्ध हुआ है, उसका स्तर ऊँचा नहीं उठ सका है। हिन्दी सेवकों को इधर ध्यान देने की आवश्यकता है।

श्री जोहन ब्रॉफी की योजना—

जोहन ब्रॉफी की योजना का मर्म यह है कि जब कोई पाठक किसी पुस्तकालय से पुस्तक ले तो उससे एक पैनी ली जाय। यह पैनी उस पुस्तक के लेखक को भेज दी जाय। इस प्रकार लेखक के प्रति होने वाले अन्याचार का कुछ परिमार्जन हो सकता है। इस योजना की ओर संकेत करते हुए 'दी इण्डियन पी० ई० एन०' में लिखा है कि यह भारत में विशेष उपयोगी सिद्ध होगी क्योंकि भारत में जो पुस्तक कहीं से उधार मिल सकती है उसे खरीदने का मन नहीं किया जाता।

यदि यह योजना भारत में चलाई जाय और यह सफलता पूर्वक चल सके तो लेखकों के लिए अवश्य ही लाभदायक सिद्ध होगी, और अन्ततः साहित्य के लिए भी। किन्तु दरिद्र भारत में यह भी [illegible] है कि फिर पुस्तकालयों की भी उपेक्षा होने लगे।

[illegible]भविष्यवाणी—

पं० बनारसीदास चतुर्वेदीजी ने आगामी पन्द्रह वर्षों की हिन्दी साहित्यिकों के लिए घोर सङ्कट का बताते हुए, यह भविष्यवाणी की है:—

'रीडरबाजी खूब पनपेगी, साहित्य-क्षेत्र में चोर बाजारी का साम्राज्य रहेगा, सत्तात्मक राजनीति के चक्कर में पड़कर बीसियों लेखक आत्मसम्मान खोदेंगे और सजीव कवियों को भोजन के भी लाले पड़ जायँगे —चोर बाजारी ही नहीं साहित्य में गिरह कटी और डाकेजनी के भी नये रूप खड़े होंगे। पारिश्रमिक का प्रलोभन देकर आप से लेख लिया जायगा, और फिर आपके पत्रों तक के उत्तर नहीं दिये जायँगे इधर-उधर के प्रश्न जोड़कर आपसे उनके उत्तर लिए जायँगे, लिखकर या आपके बहुमूल्य समय पर छापा मारकर और उसे प्रश्नकर्त्ता अपना लेख बनाकर प्रकाशित करायेंगे तथा पारिश्रमिक और रायल्टी स्वयं लेंगे, आपके प्रकाशित अप्रकाशित लेखों को आपसे पूछ के या बिना पूछे संग्रहों में सम्मिलित करेंगे, और स्वयं सम्पादक बनकर रायल्टी अपनी गाँठ बाँधेंगे। ये ठगने का कार्य लेखक ही लेखकों के प्रति करेंगे। बिना श्रम के धन, नाम और यश सभी मिले तो किसे बुरा लगेगा? इस स्थिति से देखें उद्धार का मार्ग कब निकलता है? बिना उद्धार हुए हिन्दी साहित्य उज्ज्वलता, प्रकाश और ऊँचा स्तर नहीं प्राप्त कर सकता।

प्रयोगशील साहित्य—

प्रयोगशील-साहित्य को कई नाम देकर व्याख्या की गयी है—शिवदानसिंह चौहान इसे 'प्रतीकवादी' साहित्य कहते हैं। इन्होंने इसमें 'बिम्बवाद' भी माना है—'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' के नाम पर 'प्रतीकवाद' (सिम्बालिज्म) और 'बिम्बवाद' (इमेजिज्म) की जो मिली जुली प्रवृत्ति, विशेषकर इन दिनों, हिन्दी-काव्य की एक विशेषधारा बनती जा रही है।'....आदि। शमशेर बहादुरसिंह प्रयोग-बाद लफ्ज को गलत बताते हुए प्रयोगवाद से जो समझा जाने लगा है उसे सिंबालिज्म तथा फार्मेलिज्म का कोई भी रूप मानते हैं।

'प्रयोगशील' साहित्य आज विशेष चर्चा का विषय बना है, 'अज्ञेय' के व्यक्तित्व के कारण। अज्ञेयजी ने पहले एक 'तार सप्तक' प्रकाशित किया, और उसके कुछ वर्षों बाद अब 'दूसरा सप्तक' नाम का एक संग्रह प्रकाशित किया। इन सप्तकों की भूमिका में उन्होंने प्रयोग की चर्चा की। बस, इन चौदह कवियों की इन कुछ कविताओं के इस प्रकाशन से यह चर्चा आरम्भ हुई है, इसने अनेकों साहित्य महारथियों को व्यस्त किया है। इन कविता के प्रयोगों को 'प्रयोगवाद' का नाम भी दिया गया है। वाद के घेरे में बाँध देने से स्थिति भयंकर हो उठी है। यों अज्ञेयजी ने भूमिकाओं में यह बताने की चेष्टा की है कि इन रचनाओं में 'प्रयोग' है, प्रयोगवाद नहीं। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है 'प्रयोग' द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी जान सकता है, और अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर

सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फल प्रद होता है।

इन रचनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत करने और इस प्रकार की भूमिका देने में कोई आपत्तिजनक बात नहीं दिखायी देती है। प्रत्येक ऐसे कवि की ऐसी रचनाएँ जो किसी परम्परा अथवा प्रथित-पथ अथवा स्थिर मतवाद के अनुकूल नहीं; तथा जो किसी अहंकार के साथ भी प्रस्तुत नहीं की गयी, पर जिनमें कुछ चमक हैं, 'प्रयोगशील' रचनाएँ ही कही जायेंगी। इन दोनों सप्तकों में साधारणतः ऐसे ही प्रयोग संग्रहीत हैं—वस्तु तथा रूप दोनों में। किन्तु जब इन समस्त प्रयोगों की पृष्ठभूमि में अज्ञेयजी के व्यक्तित्व और उनकी भाव-धारा की कल्पना प्रतिष्ठित करली जाती है, तो स्थिति बदल जाती है। तब जिन्हें अज्ञेयजी की कला-दृष्टि से ही असंतोष है, और जो यह समझकर कि यह 'प्रगतिवाद' की शुष्क रचना-प्रतिभा को काव्य रस से युक्त करने की चेष्टा भी है, भयभीत भी होते हैं; क्योंकि वे समझते हैं—कि इस प्रकार 'वस्तु' की ओर से दृष्टि हटाकर 'रूप' की ओर पतित को जा रही है। वे इसमें प्रतीकवाद और विषयवाद की झलक पाकर और प्रेषणीयता की कमी पाकर इस पर आक्रमण करते हैं।

प्रयोगशील सम्बन्धी नवीन उद्वेलन की यह वस्तु स्थिति है; इसे पाठक हृदयङ्गम करलें।

हिन्दी के विकास की सरकारी योजनाएँ—

'सम्मेलन पत्रिका' का नया रूप अभिनन्दनीय और पठनीय है। उसमें हिन्दी के विकास की सरकारी योजनाओं पर जो सम्पादकीय टिप्पणी है वह ध्यान देने योग्य है। हम उसे यहाँ अविकल देते हैं:—

भारत सरकार ने जैसे अन्य क्षेत्रों में विकास की पंच वार्षिक योजना बनाई है वैसे ही भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी के विकास के लिए भी एक योजना बनाई है। इसके लिए वह पाँच वर्षों में १७,०८,००० रुपये व्यय करेगी।

हिन्दी को वैज्ञानिक, सांस्कृतिक और शास[illegible] सम्बन्धी तात्पर्यों की अभिव्यक्ति का योग्य स[illegible] बनाने के प्रयत्नों को प्राथमिकता दी जायगी। अ[illegible] भाषी प्रान्तों में राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए विशेष प्रयत्न किया जायगा। सरकारी योजना के अनुसार दिल्ली में एक केन्द्रीय संस्था होगी जिसके अधीन चार प्रादेशिक सङ्गठन होंगे। केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय में एक हिन्दी विभाग खोला जायगा। केन्द्रीय सरकार के अहिन्दी भाषी कर्मचारियों को हिन्दी सिखाने के लिए कक्षाएँ खोली जायँगी तथा एक एक हिन्दी पुस्तकालय भी स्थापित किया जायगा। इसके अतिरिक्त देवनागरी वर्णमाला में सुधार करने, वैज्ञानिक शब्दकोषों का निर्माण करने, श्रेष्ठ ग्रन्थों का अनुवाद करने तथा उच्च कोटि की मौलिक रचनाओं पर पुरस्कार देने की भी योजना है।

हिन्दी में तार—

डाक एवं तार विभाग ने अपने [illegible] को हिन्दी में उपलब्ध करके इस दिशा में जनता के लिए एक सुविधा कर दी। इसके साथ ही हिन्दी में तार भेजने की मोर्स पद्धति के आविष्कार के बाद से इस ओर तेजी से प्रगति हुई है तथा उन नगरों की संख्या बराबर बढ़ती गई है जहाँ से तार हिन्दी में भेजे और मँगाये जा सकते हैं। जबलपुर शिक्षण केन्द्र में हिन्दी टेलीप्रिंटर को नवीन एवं विकसित रूप देने की भी चेष्टा की जा रही है। इन कार्यों में जनता से यथेष्ट सहयोग नहीं मिल रहा है परन्तु जब तक सभी स्थानों में हिन्दी में तार देने की व्यवस्था नहीं होती इसमें विशेष सफलता की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि तार देने वाली जनता के लिए सदा उन स्थानों के नाम याद रखना जहाँ तार हिन्दी में भेजे जा सकते हैं, कठिन ही है।

सेना में हिन्दी—

पर इस दिशा में सबसे अच्छा काम तो भारतीय सेना में किया जा रहा है। हमारे प्रधान सेनापति श्री करिअप्पा अहिन्दी भाषा भाषी होते हुए भी

...च्छी हिन्दी बोल लेते हैं और उनकी नागरी हस्त-...पि बहुत सुन्दर होती है। वह राष्ट्रभाषा के प्रेमी... सेना विभाग में हिन्दी का अपनाना कठिन होते हुए भी वह उसमें हिन्दी प्रचार के लिए बराबर चेष्टा कर रहे हैं। रक्षा-सचिवालय (मिनिस्ट्री ऑव डिफेंस) ने आदेश प्रचारित किया है कि भारतीय सेना में काम करने वाले सभी स्थायी अफसरों को १ जुलाई १९५२ तक हिन्दी में एक परीक्षा अनिवार्य रूप से पास करनी पड़ेगी और १३ सितम्बर १९५२ तक सभी लोगों को देवनागरी लिपि सीख लेनी आवश्यक होगी। १ अक्तूबर १९५६ के बाद प्रमाणपत्र वाली सभी सैनिक परीक्षाएँ देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा में ली जाया करेंगी। अनेक सैनिक छावनियों एवं शिक्षण केन्द्रों में हिन्दी के शिक्षण का प्रबन्ध किया गया है और पाठ्यक्रम में हिन्दी को कई ...खी गई हैं। इस वर्ष जल सेना में ...ने की व्यवस्था की जा रही है और ...धिक से अधिक १९५३ तक जल सेना के सम्पूर्ण अफसरों के लिए नियत परीक्षाएँ पास कर लेना आवश्यक होगा। वायुसेना के अफसरों के लिए भी हिन्दी सीख लेने की अवधि अक्तूबर १९५२ तक है। रक्षा विभाग ने यह भी निश्चय किया है कि आगे से शिक्षण-सम्बन्धी सब पुस्तिकाएँ हिन्दी भाषा एवं देवनागरी लिपि में ही प्रकाशित की जायँगी। इसके लिए एक सैनिक शब्दकोश भी तैयार कराया जा रहा है।

अन्य कार्य—

रेलवे सचिवालय ने डा० रघुवीर की सहायता से रेलवे में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों के लिए हिन्दी कोष तैयार करवाया है और इन हिन्दी शब्दों के प्रयोग एवं प्रसार की चेष्टा शीघ्र ही की जायगी। संसदीय विभाग में भी इस तरह का कुछ कार्य हो रहा है।

राज्य सरकारों एवं विश्वविद्यालयों ने भी इस दिशा में कुछ प्रगति की है। साहित्य निर्माण के उद्देश्य से बिहार सरकार ने पिछले दो वर्षों से बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की स्थापना कर रखी है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री शिवपूजन सहायजी इसके मन्त्री हैं। हमें खेद है कि उत्तर प्रदेश में हिन्दुस्तानी एकेडेमी उसी पुराने एवं शिथिल ढङ्ग से चलाई जा रही है—जब हमारे प्रान्त के शिक्षा मन्त्री श्री संपूर्णानन्द सरीखे प्रखर विचारक, लेखक और हिन्दी तथा संस्कृत में गहरी निष्ठा रखनेवाले महानुभाव हैं। पंजाब एवं पेप्सू राज्यों में अफसरों के लिए हिन्दी का ज्ञान आवश्यक कर दिया गया है; पुस्तकालयों में हिन्दी के पत्र एवं पुस्तकें रखी जा रही हैं। त्रावनकोर-कोचीन राज्य ने स्कूलों में राष्ट्र-भाषा प्रचार को गति देने के लिए एक विशेष हिन्दी शिक्षाधिकारी की निमुक्त की है। मैसूर विश्वविद्यालय ने बी० ए० के विषयों में हिन्दी को स्थान दिया है। पञ्जाब में मैट्रिक परीक्षा के लिए हिन्दी अनिवार्य कर दी गई है तथा इंटर, बी० ए० एवं एम० ए० में उसे वैकल्पिक विषयों में स्थान दिया गया है। उस्मानिया विश्वविद्यालय ने हिन्दी में श्रेष्ठ ग्रन्थों के अनुवाद एवं प्रणयन की योजना बनाई है। उसकी देख-रेख में अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोष भी बनाया जा रहा है। कुछ विषयों में हिन्दी माध्यम से शिक्षा देने की योजना बनाई गई है। इलाहाबाद विश्वविद्याय ने भी हिन्दी माध्यम से शिक्षण आरम्भ कर दिया है। यू० पी० बोर्ड भी दिन-दिन हिन्दी को अधिकाधिक महत्व दे रहा है।

इस प्रकार सरकारी एवं अर्द्ध सरकारी संस्थाएँ राष्ट्रभाषा के प्रचार एवं विकास के कार्य में धीरे-धीरे आगे बढ़ रही हैं। यद्यपि हमारे राष्ट्र की विशालता को देखते हुए सरकार के हिन्दी सम्बन्धी कार्य की गति बहुत धीमी है फिर भी हम इस शुभारम्भ पर उसे बधाई देते हैं। यदि सच्ची निष्ठा एवं लगन से कार्य किया गया और इन कार्यों में उन सब संस्थाओं का हार्दिक सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की गई जिन्होंने आज तक इस दिशा में कार्य किया है तो कोई कारण नहीं कि विधान में निश्चित अवधि के पूर्व ही हिन्दी अपने पद पर प्रतिष्ठित न हो।

साधारणीकरण पर पुनर्विचार

श्री भोलाशङ्कर व्यास, एम० ए०, शास्त्री

शुद्ध ध्वनिवादी पद्धति की दृष्टि से काव्य के वास्तविक 'चमत्कार' (आत्म-स्वरूप) रस का विशद विवेचन किसी भी हिन्दी पण्डित के द्वारा नहीं किया गया है। वैसे इन सभी पण्डितों के मत अभिनव गुप्त के मत से कम या अधिक रूप में प्रभावित तो हुए हैं, पर वे शुद्ध रूप में अभिनव गुप्त पादाचार्य के मत का प्रतिपादन नहीं। सर्वप्रथम कई हिन्दी के पण्डितों ने रस तथा साधारणीकरण को अभिन्न मान लिया है। उनके मतानुसार साधारणीकरण की स्थिति ही रस की स्थिति है, जो वस्तुतः अभिनवगुप्त को पूरा न समझने के कारण हुआ है। कुछ विद्वान् रस स्थिति को योग की मधुमती भूमिका से जोड़ने की चेष्टा करते हैं, तो दूसरे रस की (?) दो उत्तम तथा मध्यम स्थितियाँ स्वीकार करते हुए अपने नीतिवादी मत के कारण व्यक्तिवैचित्र्य को साधारणीकरण से भिन्न सिद्ध करते हैं। तीसरे विद्वान् रस में केवल विषयपक्ष को प्रधानता देते हैं तथा विषय-पक्ष का सर्वथा तिरस्कार करते से जान पड़ते हैं। ऐसा जान पड़ता है यह सारा गड़बड़ झाला रस-सिद्धान्त में प्रयुक्त इस 'साधारणीकरण' शब्द को न समझने के कारण हुआ है। 'साधारणीकरण' शब्द को अधिकतर ध्वनिवाद के सम्बन्ध में भी लोगों ने ठीक नहीं समझा है, जो भट्ट नायक का 'साधारणीकरण' व्यापार, जिसके लिए उसने दो शक्तियों की कल्पना की थी। पर अभिनव का साधारणीकरण इससे कुछ अधिक है। साधारणीकरण को न समझने के ही कारण कई पण्डितों ने, जिन्होंने वस्तुतः रस के मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विषयों पर खोजें की हैं, इस विषय में, जहाँ तक अभिनव गुप्त के रस-सम्बन्धी 'अभिव्यक्तिवाद' का प्रश्न है कन्नी काट ली है। वे केवल भट्ट नायक के ही सम्बन्ध में साधारणीकरण का विवेचन कर आगे बढ़ गये हैं। उदाहरण के लिए डॉ० राकेश के डी० फिल्० उपाधि वाले निबन्ध में, जो 'रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' है, हमें साधारणीकरण पर विशेष आशा थी, किन्तु पृष्ठ ७०-७१ पर वे आचार्य शुक्लजी के मत का उल्लेख कर चुप हो गये हैं।[1] वस्तुतः शुक्लजी जिस प्रकार 'साधारणीकरण' तथा रस के विषय में डॉ० राकेश को अन्धकार में छोड़ गये हैं, उसी प्रकार डॉ० राकेश भी हमें अन्धकार में ही छोड़ गये हैं।

अभिनवगुप्त की व्यञ्जनावादी रस-पद्धति को पूरा न समझने का खास कारण उसकी दार्शनिक विचार-धारा से परिचय न होना है, जो इस पद्धति [illegible] जान है। अभिनवगुप्त की रस-पद्धति को कुछ [illegible] वेदान्तियों की दार्शनिक पद्धति तथा कुछ सांख्य की पद्धति से जोड़ते हैं। वस्तुतः ये दोनों ही मत असमीचीन हैं। डॉ० राकेश ने अभिनवगुप्त की रस-मीमांसा को सांख्य दर्शन पर आधारित मानते हुए कहा है:—

"अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में वह (अभिनवगुप्त) स्पष्टतः सांख्यों के सिद्धान्तों का अनुसरण करता है, जो यह मानते हैं कि मानसिक शान्ति से ही समस्त सुख, संविदविश्रान्ति तथा समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं।"[2] सांख्यों की दार्शनिक पद्धति वस्तुतः द्वैतवादी है। वे प्रमाता तथा प्रमेय—पुरुष तथा प्रकृति को भिन्न मानते हैं। दूसरे सांख्यों का पुरुष एक न होकर अनेक हैं। तीसरे सांख्यों का

१—डॉ० राकेश 'साइकोलोजिकल स्टडीज इन रस' (१९५०), पृ० ७०–७१

२—वही, पृ० ६७

प्रमाता निष्क्रिय है, तथा उसका प्रमेय (प्रकृति) जड़। अभिनवगुप्त का प्रमाता व प्रमेय अद्वैत है, वे दोनों क्रियाशील हैं, चेतन हैं। साथ ही वहाँ प्रमाता केवल एक है, अनेक नहीं, अनेकता केवल आभासमात्र है। इसलिए अभिनवगुप्त के रस-विवेचन को समझने के लिए हमें शैवों के अद्वैत दर्शन की आवश्यक पद्धति से परिचय प्राप्त करना होगा। शैवों की इस दार्शनिक पद्धति की खोज म० म० पं० गोपीनाथ कविराज तथा डॉ० पाण्डेय जैसे व्यक्तियों ने की है और यह आवश्यक है कि हम इस शुद्ध दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक सामग्री का उचित उपयोग करें। इसके अतिरिक्त हम अभिनवगुप्त की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा'—कारिका की टीका 'विमर्शिनी' आदि का भी प्रयोग कर सकते हैं।

ध्वनिवादियों की सौन्दर्य-सम्बन्धी मतसरणि का अध्ययन करते समय मेरा शोपेनहावर की सौन्दर्य-शास्त्रीय पद्धति की ओर भी ध्यान आकृष्ट [illegible] जिसका कला-सम्बन्धी मत उसके दार्शनिक [illegible] मनोवैज्ञानिक मत पर आधारित है। जिस प्रकार शोपेनहावर के दार्शनिक मत ने ही काव्य तथा कला के क्षेत्र में 'प्रतीकवाद' (Symbolism) को जन्म दिया,[१] ठीक उसी तरह शैवों की दार्शनिक सरणि ने 'ध्वनिवादी' सौन्दर्य-शास्त्र को जन्म दिया। पर जैसा कि हम देखेंगे शोपेनहावर के दार्शनिक मत की अपूर्णता ने 'प्रतीकवादी' को भी अपूर्ण रहने दिया जब कि शैवों की दार्शनिक सरणि की पूर्णता ने 'ध्वनिवादी' रस-सिद्धान्त को पूर्ण तथा एक मात्र सौन्दर्य का वास्तविक मापदण्ड बना दिया जिस पर सभी काव्य-प्रकारों की परीक्षा हो सकती है। प्रतीकवादी कविताएँ तथा सौन्दर्य-शास्त्री मापदण्ड एकाङ्गी है। जबकि रसवादी कसौटी एकाङ्गी नहीं है। उसका आनन्द 'शृङ्गार' तक ही सीमित है, वह जीवन के रस से अछूता है, पर रसवाद ऐसा नहीं। रसवादी का रसानुभव वीभत्स, भयानक, रौद्र तथा करुण में भी होता है। प्रगतिवादी आलोचन प्रतीकवाद को 'पलायनवाद' घोषित कर सकता है, पर रसवाद को ऐसा कहने से पहले उसे रुकना होगा। जिस प्रकार कालिदास का दुष्यन्त या मल्ल का वर्णन हमें रसमग्न कर सकता है, ठीक उसी तरह ध्वनिवादी के मत में प्रेमचन्द का होरी, गोर्की के पावेल तथा निलोव्ना एवं पर्ल बर्क के ईवान तथा एनलान के वीर चरित्र भी हमें रसमग्न करके प्रभावित करने में समर्थ हैं, इसमें सन्देह नहीं। प्रतीकवादी की आलोचनसरणि काव्य तक ही सीमित है, वह नाटक या उपन्यास या कहानी के क्षेत्र में काम नहीं आ सकती, किन्तु रस-सिद्धान्त एक मात्र आलोचन-पथ है, जिसका मापदण्ड सभी स्थानों पर काम में आ सकता है, इसे शुद्ध ऐतिहासिक भौतिकवादी भी अस्वीकार न करेगा। हाँ वह रस के अलौकिकत्व में कुछ हेर-फेर करना चाहे।

शोपेनहावर के Volantarism तथा Menifestationism के साथ-साथ शैवों के 'स्वातन्त्र्यवाद' तथा 'आभासवाद' का अध्ययन हमें यह बताने में सहायक सिद्ध होगा कि किस प्रकार साधारणीकरण वस्तुतः रसानुभूति में एक अवस्था विशेष है, जहाँ स्थायिभाव का साधारणीकरण होता है। रस की आनन्दात्मक स्थिति साधारणीकरण वाली अवस्था के आगे की सीढ़ी है और यह भी आवश्यक नहीं कि साधारणीकरण सदा रस में ही परिणत हो, वह भाव या रसाभास ही बना रह सकता है, जिस दशा में चमत्कार इसी अवस्था में है, वास्तविक रस वाली अन्तिम अवस्था वाला चमत्कार नहीं। यह समझ लेने पर यह भी सिद्ध हो जायगा कि जहाँ शुक्लजी व्यक्ति वैचित्र्य मानते हैं, वहाँ शीलद्रष्टा वाला रूप वह साधारणीकरण की स्थिति है जो किन्हीं विघ्नों के कारण रस न [illegible] सकी है। शुक्लजी का व्यक्तिवैचित्र्य या तो भावध्वनि होगा या रसाभास ध्वनि।

१—देखो मेरा लेख 'काव्य में प्रतीकवाद' (सा० सं० आलोचनाङ्क)

...नी के भरत या हनुमान् के चरित्र में हम भाव-...नि का अनुभव करेंगे, रावण के चरित्र में रसा-...स का। ठीक यही प्राकृतिक दृश्यों के अनुभव में ...ता, जहाँ हम भावध्वनि का ही अनुभव करेंगे। ...य ही सम्पूर्ण प्रमाताओं में एकता, सम्पूर्ण प्रमेयों ...एकता हो जाने पर भी प्रमाता व प्रमेय वाला ...व साधारणीकरण की स्थिति तक बना ही रहता ... रस की स्थिति में वे एक हो जाते हैं, विषयी ...था विषय का भेद नहीं रहता। पर जो साधारणी-...ण रस की अवस्था में परिणत नहीं हो पाता, ...में वाला आनन्द सचा आनन्द न होकर आनन्दा-...स होता है, वह ठीक वैसा ही है जैसा सांख्यों के ...ष तथा प्रकृति के द्वैत तत्त्व का अनुभव। यहाँ हम ...यह भी कह दें शोपेनहावर का काव्य या कला वाला ...आनन्द इसी कोटि का आनन्दाभास है, जहाँ साधा-...रणीकरण तो हो गया है, लेकिन प्रमाता व प्रमेय का भेद ...नहीं गया है। प्रमाता प्रमेय का भेद मिट जाने पर ...मैं (अहमिति) केवल इसी रूप का अनुभव होता ...है, वहाँ विश्व भी 'मैं' हो जाता है, 'मैं' का आभास ...मात्र (Menifestatiou) नहीं रहता, जो ...स्तुतः शैव वेदान्ती के लिए दूसरी प्रक्रिया है, ...वास्तविक तत्व नहीं। कहना न होगा शोपेनहावर ...विश्व को 'मैं' न मान कर 'मैं' का आभास (Die ...Welt ist meine Vorstelling) मानता है। ...यही कारण है कि प्रतीकवादी का काव्य सचा रस न ...होकर ध्वनिवादी के मतानुसार 'आनन्दाभास' है, ...र भाव ध्वनि है। तभी तो कविवर प्रसाद ने ...हिन्दी प्रतीकवाद (रहस्यवाद) को 'अहं' का 'इदम्' ... समन्वय करने का प्रयत्न माना है, दोनों का ...विलय नहीं।[१]

...शैव, अद्वैत परम शिव तत्त्व केवल एक मानता ..., जहाँ प्रमाता तथा प्रमेय—शिव तथा शक्ति का भेद नहीं रहता। शैव अद्वैतवादी इसकी पर्वाह नहीं करेगा कि आप उस तत्व को प्रमाता कहें; या प्रमेय कहें। वह दोनों है, फिर भी अखण्ड 'एक' है, दो नहीं। यही कारण है कि आनन्द का अनुभव न कर वह स्वयं 'आनन्द' है, 'अनुभव' शब्द के प्रयोग से तो अनुभावक तथा अनुभाव्य के द्वैध की पूर्वसिद्धि हो जाती है। यही 'आनन्द' की स्थिति शैवों ने 'मैं' के विमर्श में समस्त कर दी है।[१] यह स्थिति वह है, जब कि 'मैं' (परम शिव) में केवल चित् तथा आनन्द ही है, कोई इच्छा नहीं। इच्छा के अभाव के कारण ही उसे विषयी तथा विषय के द्वैत की आश्यकता नहीं, वह 'एक' के आभास 'द्वैत' (शिव तथा शक्ति) के ज्ञान से सर्वथा रहित है, क्योंकि उसमें इच्छा शक्तिजनित ज्ञान का अभाव है, जो 'तुम' और 'मैं' के भेद का कारण है। यही स्थिति पूर्ण निराभास कहलाती है। इसके बाद जब इच्छा का उदय [illegible] है, जो वस्तुतः परम शिव तत्व की 'स्वतन्त्रा इच्छा' है; तब शिव तथा शक्ति-प्रमाता तथा प्रमेय का आभास उत्पन्न होता है, जो दूसरा तत्व है। यह परम शिव की 'स्वतन्त्रा इच्छा' ही 'कामायनी' के प्रसाद का 'काम' है। साधारणीकरण की स्थिति में प्रमाता यह शिव तत्व (नतु परमशिव तत्व) बन जाता है, तथा प्रमेय शक्ति तत्व बन जाता है, जो आभास तथा इच्छा के क्षेत्र के अन्तर्गत है। इस दशा तक 'मनु' का 'इड़ा' (ज्ञान शक्ति) साथ नहीं छोड़ती है। वह यह अवश्य अनुभव करने लगता है कि शक्ति मेरा आभास है, किन्तु 'मैं' ही हूँ यह नहीं। 'मैं' तथा 'मेरा' में बड़ा भेद है। सच्चा तत्व दोनों का एकीकरण है शिव भी है, शक्ति भी।[२]

१—दे० प्रसाद : 'काव्य और कला एवं अन्य निबन्ध' पृ० ६६

१—विमर्शो हि सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानमपि परीकरोति, उभयं एकीकरोति एकीकृतं द्वय मपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः ॥
—ई० प्र० वि० पृ० २१२

२—निराभासात् पूर्णा दहमिति पुरा भासयति यत्

डॉ० पाण्डेय ने एक स्थान पर बताया है कि 'आभास' शैव दर्शन की परिभाषा में Universal Idea है। इस प्रकार इसे हम शोपेनहावर का 'प्लेतोनिक आयडिया' मान सकते हैं, जिसे शोपेनहावर समस्त कलाओं का प्रतिपाद्य मानता है। अतः इस 'Universal Idea' के भाव को समझने के लिए दोनों दर्शनसरणियों को थोड़ा समझ लेना होगा। शोपेनहावर के मत से यह समस्त विश्व 'अहं' का 'वोर्स्तेलूँग' (आभास) है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दवर्ल्ड एज विल एण्ड आयडिया'' की प्रथम पुस्तक 'द वर्ल्ड एज आयडिया' में वह हमें बताता है कि 'विचार' दो प्रकार के हो सकते हैं—अनुभवगम्य विचार तथा ज्ञानगम्य विचार। कान्त के मतानुसार अनुभव गम्य विचार ही दृश्यमान् जगत् हैं, जो किन्हीं विशेष अवस्थाओं में निबद्ध रहते हैं। कान्त ने यह भी बताया कि प्रथम कोटि के विचार न केवल अवस्थानिबद्ध रूप में ही, अपितु अवस्थानवच्छिन्न रूप में भी हमारे अनुभव के विषय बन सकते हैं। ज्ञानगम्य (abstract) विचार अनुभव से सम्बन्धित न होकर तर्क से सम्बन्धित हैं। किन्तु अनुभवगम्य विचार स्वतः प्रकाश ज्ञान (Intuition) के विषय, स्वतः पूर्णरूप में तथा किसी बाह्य अनुभव से स्वतन्त्र रूप में बन सकते हैं।[१] कान्त का यही Idea of perception अफलातूँ का 'एइदे' (eidy) है जिसे वह शाश्वत विचार तथा अपरिवर्तनीय आकृति मानता है। प्लेतो ने कहा है,

'इस विश्व के पदार्थ जो हमारी इन्द्रियों के विषय बनते हैं, सत्य नहीं, वे सदा बनते हैं, हैं नहीं। उनकी केवल आपेक्षिक सत्ता है, यह सत्ता केवल एक दूसरे के सम्बन्ध में तथा सम्बन्ध के कारण है। इसी कारण इन्हें हम अविद्यमान कह सकते हैं। वास्तविक तत्व, वे शाश्वत विचार एवं समस्त व[स्तुओं] के मौलिक आकार हैं, जिनकी ये सब छायाएँ हैं। इन्हीं शाश्वत विचारों के सच्चे शब्दों में वि[द्यमान] (ओन्तोस् ओन्) कहा जा सकता है, क्योंकि सदा विद्यमान रहते हैं, न तो इनकी उत्पत्ति ही है, न विनाश ही।'[१]

इन शाश्वत विचारों का अनुभव प्रतिभा[शाली] व्यक्ति ही कर सकता है। प्रतिभा ही वह श[क्ति है] जिसके कारण वैयक्तिक वस्तुओं का ही ज्ञान न हो[कर] उन वस्तुओं के 'विचार' (Idea) का ज्ञान हो[ता] है। इसी कारण प्रमाता भी स्वयं उस विचार[से] सम्बन्धित हो जाता है, वह व्यक्तित्व को छो[ड़कर] शुद्ध प्रमाता बन जाता है (and thus [no] longer an individual, but the p[ure] subject of knowledge).[२] इस विचार [का] अनुभव करने की शक्ति (Genius) कम [या] अधिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान [है]। कलाकार की कलात्मक कृति में यही विचार प्रति[फलित] है। कला-कृति का वास्तविक सौन्दर्य यही वि[चार] है। शोपेनहावर इसी सम्बन्ध में 'सुन्दर' का विवे[चन] करता हुआ कहता है :—

'जब हम कहते हैं कि कोई वस्तु 'सुन्दर' है [तो] हम यह मानते हैं, कि वह हमारी सौन्दर्यानुभूति [का] विषय है और इसके दो अर्थ हैं। एक ओर इस[का] यह अर्थ है कि उस वस्तु का दर्शन हमें विषय[ी] बना देता है अर्थात् उसके मनन में हम आप[ने को] व्यक्ति के रूप में भूल जाते हैं, अर्थात् हम [शुद्ध] इच्छारहित प्रमाता रह जाते हैं। दूसरी ओर इस[का] यह अर्थ है कि हम उस विषय में, वस्तु के व्य[क्ति] को न पहचान कर, केवल विचार (Idea) [को] पहचानते हैं। यह तभी हो सकता है, जबकि हम[ारा] मनन तर्क के द्वारा नियन्त्रित नहीं है, साथ ही ...

द्विशाखा माशास्ते तदनु च विभक्तु निजकलाम्।
स्वरूपा दुन्मेषप्रसरणानिमेषस्थितिजुषस्
तदद्वैतं वन्दे परम शिव शक्त्यात्म निखिलम्॥
—वही पृ० १

१-शोपेन० भाग १, पुस्तक १, पृ० ७-८।

१-वही भाग १, पुस्तक ३, पृ०२२१-२२।

२-वही पृ० २५१।

...य के अतिरिक्त किसी अन्य बाह्य पदार्थ से सम्बन्धित ...होकर केवल विषय-मात्र में आश्रित रहता है।'[1] ...कलाओं की भाँति कविता का भी लक्ष्य विचार ...अभिव्यञ्जना (Revelation of Idea) ही ...इस अभिव्यञ्जना में छन्द तथा लय कवि के साधन ...यद्यपि छन्द तथा लय काव्य के बन्धन हैं, तथापि वे ...य के अवगुण्ठन भी हैं, जिसके अन्तर्गत कवि को ...विषयों को वर्णित करने की स्वतन्त्रता होती है, ...वह अन्य दशा में नहीं कर सकता। विचार की ...व्यञ्जना में इस प्रकार कवि की वर्णन प्रणाली ...साधन न बनकर लय व छन्द भी साधन बनते ...इस प्रकार शोपेनहावर के मत को, जहाँ तक ...न्दर्यानुभव' तक पहुँचने का प्रश्न है, हम इन ...ढ़ियों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) काव्य या कला के विषय के वैयक्तिक रूप ...रिचय।　　(प्रथम सोपान)

(२) प्रतिभा का उदय।　　(द्वितीय सोपान)

(३) विषयों का 'विचार' रूप में अनुभव करना।　　(तृतीय सोपान)

(४) विषयी का शुद्ध प्रमाता-मात्र रह जाना।　　(आनन्दानुभव)

अब हम शैव अद्वैत वेदान्ती के 'आभास' को ...। शैव वेदान्ती के मत में 'आभास' का अर्थ ...मान्य' जाति (Universal Idea) है। ...म आह्निक की अष्टम कारिका की 'विमर्शिनी' में ...भिनवगुप्त ने इस विषय में कोई सन्देह नहीं रक्खा ...कि आभास का अर्थ सामान्य है (आभासमात्र ...सामान्यम् इति निर्णेष्यते)। भास्करी में इसे ...स्पष्ट करते हुए बताया है कि प्रमाता 'गौ' में ...क्ष रूप से 'गोत्व' को देखता है, और अश्वादि ...में उसे न पाकर समस्त गो-व्यक्तियों में 'गोत्व' का निश्चय कर लेता है।[1] कहना न होगा कि शैव वेदान्ती सामान्य को अनुमतिगम्य न मान कर प्रत्यक्ष मानता है। वह गौ तथा गोत्व में धूम तथा अग्नि वाली सरणि का काम नहीं लेता कि 'यत्र यत्र गोः तत्र तत्र गोत्वं', अपितु 'गोत्व' का प्रत्यक्ष करता है, ठीक वैसे ही जैसे शोपेनहावर का प्रतिभाशील कलाकार या दार्शनिक Idea का प्रत्यक्ष करता है। यद्यपि शुद्ध तात्त्विक दृष्टि से यह Idea प्रमाता से भिन्न नहीं, फिर भी ज्ञानशक्ति के कारण वह उससे भिन्न आभासित होता है। इसी दशा को 'आभास' की अवस्था या विकल्प दशा कहा गया है। परम शिव दशा शुद्ध विमर्श की दशा है जहाँ केवल 'अहं' का प्रत्यवमर्श पाया जाता है। यह दशा निर्विकल्प दशा है, इसमें द्वैतता नहीं जबकि आभास वाली दशा में द्वैतता बनी रहती है।[2] शोपेनहावर का वास्तविक प्रतिपाद्य यही विकल्प दशा है। विमर्श की निर्विकल्प दशा में हमारा प्रमेय 'घट' भी चित् बनकर पूर्ण विश्वशरीर हो जाता है। (तद्विकल्पदशायां चित्स्वभावोऽसौ घटः चिद्देव विश्वशरीरः पूर्णः) किन्तु यह 'अहं' वाला विमर्श भी दो तरह का माना गया है—शुद्ध तथा मायीय। शुद्ध विमर्श केवल संवित् में ही होता है, जब कि अशुद्ध या मायीय विमर्श शरीर या अवयव आदि का ही होता है। इस प्रकार 'जो मैं मोटा हूँ' ऐसा विमर्श शुद्ध न होकर मायीय तथा विकल्प ही है। इस दशा में प्रमेय सर्वथा एक नहीं होता, चाहे वह 'मेरा' एवं 'चित्' बन जाय और इस प्रकार वह स्थिति भी 'आभास' के अन्तर्गत आती है तथा परमार्थ तत्त्व

१—वही पृ० २५१।

२—वही भाग १, पृ० ३१५ तथा, भाग ३ परि० ..., पृ० २०२

१—प्रमाता हि गोषु गोत्वं प्रत्यक्षेण पश्यन् अश्वादिषु तदनुपलभमानः सर्वगोव्यक्तिगतं गोत्वं निश्चिनोति।　—भास्करी पृ० २३३।

२—अहं प्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः। नासौ विकल्पः, स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः॥　—ई० प्र० का० १. ६. १. पृ० ३०२।

नहीं मानी जा सकती। लेकिन इस स्थिति में भी यह उसी परम तत्त्व का आभास है।

हमारी मनोवैज्ञानिक सरणि को हम स्मृति से आरम्भ कर सकते हैं, जिसमें हमें वासनात्मतया स्थिति पूर्वानुभूति वस्तु का स्मरण होता है। इस स्मरण में यह कार्य स्मृति शक्ति का है। आगे बढ़ कर यही स्मृति शक्ति ज्ञान शक्ति की सहायता करती है और हमें सविकल्प ज्ञान का अनुभव होता है। इसी सविकल्प ज्ञान को हम विकल्प विमर्श की दशा में पाते हैं। यहाँ तक ज्ञानशक्ति उस परम तत्त्व को अपोहित कर देती है। इसकी विजय कर लेने पर ही प्रमाता परम तत्त्व बन सकता है। 'इड़ा' को छोड़ कर ही 'श्रद्धा' के आश्रय से 'कामायनी' का 'मनु' आनन्द तत्त्व बना है। इतना होने पर भी यह ज्ञान तथा विकल्प विमर्श वाली दशा उस अन्ततत्त्व का आभास है।[१] शुद्ध आनन्द तत्त्व की स्थिति का वर्णन कविवर प्रसाद ने यों किया है—

हम अन्य न एक कुटुम्बी हम केवल एक हमीं हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नहीं कमी है।

× × ×

सब भेद-भाव भुलवा कर,
दुख-सुख को दृश्य बनाता।
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ',
यह विश्व नीड़ बन जाता॥
—(आनन्द सर्ग)

अब तक की रूक्ष दार्शनिक पृष्ठ-भूमि के लिए पाठक से क्षमा प्रार्थना करता हुआ अब मैं व्यक्तिवादी की रसपद्धति की ओर आता हूँ। चूँकि रस को समझने को कुछ पूर्वज्ञान अपेक्षित था अतः इतना विवेचन किया गया है। जैसा कि स्पष्ट है "विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस निष्पत्ति होती है।" (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः)। व्यञ्जनावादी के मत 'संयोग' का अर्थ 'व्यंग्यव्यंजकभाव' है तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'अभिव्यक्ति'। अर्थात् विभावादि के द्वारा स्थायिभाव रस रूप में अभिव्यक्त होता है। सबसे पहले काव्य में सहृदय या सामाजिक के लिए विभाव, अनुभाव तथा संचारी बनते हैं। नाटक में विभाव व अनुभाव चक्षुरिन्द्रिय के विषय बनते हैं। व्यभिचारियों में कई तो चक्षु के कई स्मृति एवं के। यहाँ तक ये सर्वथा वैयक्तिक रूप में ही हैं। इनका वास्तविक अस्तित्व है, यहाँ तक ये नगेन्द्र की कोरी 'मानसिक सृष्टि' नहीं। इसके बाद प्रतिभा एवं कल्पना के उदय के कारण ये सब विभावादि वैयक्तिकता छोड़कर 'अभासमात्र' (सामान्यमात्र) बन जाते हैं, सकुन्तला वहाँ 'नायिकामात्र' तथा शकुन्तला विषयक व्रीडा 'व्रीडामात्र' बन जाती है। इसी प्रकार उद्दीपन विभाव भी, यथा मालिनी तट, देश तथा काल से सीमित न रहकर 'उद्दीपन स्थान-मात्र' या 'काल-मात्र' रह जाता है। विभावादि की इस निर्वैयक्तिकता के लिए यद्यपि भट्ट नायक 'साधारणीकरण' का प्रयोग करता है, तथापि अभिनव के मत में, मैं इन्हें 'आभासमात्र' कहना उचित समझता हूँ। 'साधारणीकरण' शब्द को 'स्थायिभाव' के लिए रिजर्व रखना चाहता हूँ। 'स्थायिभाव' के साधारणीकरण की सीढ़ी 'आभासमात्र' के बाद की सीढ़ी है। यहाँ यह कह दिया जाय कि ध्वनिवादी ने रसानुभूति की अवस्था को 'असंलक्ष्यक्रम' माना है, अर्थात् ध्वनिभेदों की भाँति यहाँ व्यञ्जक से व्यंग्य तक पहुँचने का क्रम ज्ञात नहीं होता। इसका 'स्पष्ट तात्पर्य' यह है कि यहाँ 'क्रम' है तो सही, पर वह इतनी द्रुतगति से होता है कि हमें पता नहीं लगता। यहाँ हमने द्रुतगति वाले उसी क्रम को बताया है। इस असंलक्ष्य क्रम को ध्वनिवादी ने 'शतपत्रपत्रभेदन्याय' से स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

विभावादि का 'आभास' हो जाने पर स्थायि

१—एवं स्मृतौ विकल्पे वाप्यपोहनपरायणे।
ज्ञाने वाप्यन्तराभासः स्थित एवेति निश्चितम्॥
—वही का १६६, पृ० ३३३

भाव का 'साधारणीकरण' होता है। मन के द्वारा जब विभावादि विशेषाभाव रूप में आते हैं, तब वे अवचेतन मन के अन्दर वासनात्मतया स्थित स्थायिभाव के साधारणीकृत रूप को उद्बुद्ध करते हैं। यहाँ हम साधारणीकरण का अर्थ यह लेते हैं कि इस दशा में आकर विभावादि का भी लोप हो जाता है, केवल स्थायिभाव के 'साधारणीकृत' रूप का ही अनुभव प्रमाता को होता है। इसके बाद जाकर यदि स्थायिभाव की रसनिष्पत्ति में कोई विघ्न नहीं तो वह रस बनकर स्वयं प्रमाता में समाहित होकर उसे भी रसस्वरूप, आनन्दस्वरूप बना देता है। यहाँ यह भी कह दिया जाय कि 'साधारणीकृत' स्थायिभाव ही होता है, तथापि उपचार से 'साधारणीकृतत्व' विभावादि के 'आभास' का भी मानते हैं। वैसे 'साधारणीभावना' में विभावादि केवल साधन हैं।[1]

यहाँ हम अभिनव के द्वारा नाट्यशास्त्र की व्याख्या 'भारती' में उदाहृत प्रसिद्ध पद्य को लेकर रसानुभव की इन असंलक्ष्यक्रम स्थितियों को उसी के आधार पर निर्दिष्ट करेंगे। इस पद्य में दुष्यन्त के बाण के डर से भागते हुए हरिण का चित्र है, जो सहृदय में भयानक रस को व्यक्त करता है। यहाँ यह भी कह दिया जाय कि सहृदय को रस की स्थिति में 'यह भयानक है' इस प्रकार का अनुभव न होकर, 'रस है' ऐसा भाव होता है, किन्तु उपचार से शृङ्गार रस, वीर-रस इस प्रकार का व्यवहार होता है।

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहु रनुपतति,
स्यन्दने बद्धदृष्टिः,
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्,
भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृत,
मुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा;
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं
स्तोकं मुर्व्यां प्रयाति ॥

इस पद्य के रस की स्थिति को हम अभिनव के मत में यों विभक्त कर सकते हैं :—

१—काव्य-वाक्य से वाक्यार्थप्रतीति,

२—उस वाक्य में प्रयुक्त देशकालादिविभाग से रहित मानसी प्रतीति का प्रत्यक्ष (साक्षात्कारात्मिका); —(डॉ० नगेन्द्र की मानसिक सृष्टि)

३—मृगपोत के विशेषाभाव रूप के कारण, तथा भयकर्त्ता के अपारमार्थिक होने पर 'यह डरा है' (भीत इति) इस ज्ञान के अभाव के कारण, केवल देशकालानवाच्छिन्न 'भय' ही का अनुभव;

—(साधारणीकरण दशा)

४—तब, 'मैं भीत हूँ', 'यह शत्रु, वयस्य या मध्यस्थ भीत है' इस प्रकार के सुख-दुख वाले भाव से (जिसमें कई विघ्न होते हैं) विलक्षण, निर्विघ्न-प्रतीतिग्राह्य, 'भय' ही, हृदय के सम्मुख ठीक उसी तरह जैसे मानों आँखों के आगे नाचता [illegible] —'भयानक' रस है। —[रस स्थि[illegible]

यहाँ 'साधारणीकरण' दशा तीसरी दशा है, जिसमें स्थायिभाव का ही साधारणीकरण होता है, जिस साधारणीकरण के साधन वस्तुतः विभावादि का सामान्यीभूत रूप ही है। अतः विभावादि का सामान्यीभूतत्व ही साधारणीकरण है, यह मत

१—साधारणीभावना च विभावादिभ्यः। (न तु विभावादीनाम्) अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८७, (कोष्ठक के शब्द मेरे हैं)।

१—तस्यच 'ग्रीवाभंगाभिराम' मित्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्ते रनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका-पह्सिततद्वाक्योपात्तदेशकालादिविभागा तावत् प्रतीति रूपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेष रूपत्वाभावाद् भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितं, तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वेत्यादि प्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतभानादिबुध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषो रिव विपरिवर्त्तमानं भयानको रसः।—अभिनवभारती पृ० २६०

अपूर्ण है। डॉ० नगेन्द्र अपनी 'रीतिकाव्य की भूमिका' में यही विभावादि का सामान्यीभूत रूप साधारणीकरण मानते हैं, जो अभिनवगुप्त की ऊपर की नं० २ वाली प्रक्रिया है। वे लिखते हैं:—

"हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है, जिससे हमको किसी प्रकार का सङ्कोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसिक सृष्टि है, अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है। बस, इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं, वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण जो भट्टनायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है।[१]

स्पष्ट है डा० नगेन्द्र भी अभिनव की साधारणी- [illegible]वाली सरणि को न समझ पाये हैं। ऊपर का [illegible]की अनुभूति का साधारणीकरण' डा० नगेन्द्र का प्रतिपाद्य हो सकता है, अभिनवगुप्त का नहीं। डा० नगेन्द्र का मत विषयिगत है, वे विषय का पूर्णतः तिरस्कार करते जान पड़ते हैं। शायद इसका कारण क्रोचे तथा 'स्पिंजर्न' की विषयिनिष्ठ आलोचन पद्धति हो, जिसका प्रभाव डा० नगेन्द्र की अन्य आलोचनात्मक कृतियों तथा निबन्धों में स्पष्ट है। डा० नगेन्द्र का सौन्दर्यशास्त्री मत पूर्णतः विषयिनिष्ठ (Subjective) तथा आदर्शवादी (Idealistic) है, जबकि अभिनव का मत विषय-विषयिनिष्ठ (Objecto-Subjective) तथा व्यवहारात्मक आदर्शवाद (Realistic-Idealism) है, इसे कभी नहीं भूलना होगा। उसकी अनुभूति का विषय समस्त जड़ या चेतन के रूप में वाह्य विश्व में भी प्रतिफलित हो रहा है, केवल कवि की मानसिक सृष्टि नहीं। हाँ वह कवि की मानसिक सृष्टि की उपेक्षा नहीं करता, क्योंकि उसकी रसानुभूति में यह भी एक स्थिति है। पर इसमें एक बात और समझ लें। डा० नगेन्द्र कवि को महत्त्व देते हैं, पर शैवों की रस-स्थिति में तो कवि, श्रोता, पाठक या सामाजिक में कोई भेद नहीं रहता, सभी को 'सहृदय' के नाम से पुकारा जा सकता है। और मानसिक सृष्टि कवि की बपौती न होकर 'सहृदय' मात्र के अवचेतन मन की सृष्टि है, हाँ कवि उस सृष्टि के लिए मिट्टी जुटा देता है, पर वह कुम्भकार नहीं, कुम्भकार तो अवचेतन मन है। शैव वेदान्ती भी 'महेश्वर' के रूप में अवचेतन मन को स्वीकार करता है, जो सारे विश्व में एक है तथा प्रातिम अनुभवों का प्रत्यक्ष यही 'महेश्वर' करता है।[१] यद्यपि विषय इसी महेश्वर का अङ्ग है, फिर भी वैयक्तिक मन से स्वतन्त्र होने के कारण उसका निजी अस्तित्व (Real) भी माना जायगा, यह बात ध्यान देने की है।

प्रश्न उठता है रस दशा में पहुँचने तक हमारा 'विषय' क्या है? काव्य, या विभावादि। शैव ध्वनिवादी के मत से दोनों ही मत ठीक नहीं। काव्य या विभावादि दोनों हमारे 'विषय' के प्रत्यक्षीकरण के साधन हैं। उदाहरण के लिए अँधेरे में एक घड़ा पड़ा है। यद्यपि वहाँ घड़ा विद्यमान है, तथापि उसके प्रत्यक्ष के लिए 'ज्ञापक' कारण की आवश्यकता होती है। दीपक यह ज्ञापक कारण है। ठीक इसी तरह हमारे अवचेतन मन में वासनात्मक रूप में स्थायिभाव छिपा है, उसे प्रत्यक्ष कराने के साधन ये काव्य या विभावादि हैं। वाल्मीकि की सीता, या कालिदास की शकुन्तला,

२—डॉ० नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ५०

(१) तदैक्येन बिना न स्यात् संविदां लोकपद्धतिः।
प्रकाशैक्यात् तदेकत्वं मातैकः स इति स्थितम्॥
स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः॥
—ई० प्र० का० १, ८, १०-११ पृ० ४२१

जिन्हें डॉ० नगेन्द्र रसानुभूति का विषय मानते जान पड़ते हैं, विषय न होकर विषयरूप 'रति स्थायिभाव' के साधन (अभिव्यञ्जक) हैं, जिसका प्रत्यक्ष वे 'सहृदय' को कराते हैं। यह स्पष्ट होने पर न तो सीता या शकुन्तला से 'रति' करने का दोष ही लगेगा, न पंडितराज जगन्नाथ की भाँति रसानुभूति के लिए दोष की कल्पना ही करनी पड़ेगी। सहृदय किसी से 'रति' न कर केवल 'रति' का अनुभव करता है। अभिनव इस विषय में लेश मात्र भी सन्देह नहीं रखते कि साधारणीकरण प्रमाता के विषय (स्थायिभाव) का होता है, और यही विषय, विषयी में समाहित हो जाने पर 'रस' हो जाता है :—

'रति नामक स्थायिभाव की प्रतीति हम तटस्थ रूप में करते हैं, उसमें नियतकारणता नहीं रहती, ·······साथ ही परात्मता के नियत रूप का भी मान नहीं रहता, जिससे दुःख तथा द्वेष का उदय होता है। इस प्रकार एकमात्र संवित् के द्वारा प्रत्यक्षीकृत साधारणीभूत रति ही शृङ्गार है। यह साधारणीकरण विभावादि के कारण होता है (अर्थात् ये उसके साधन (व्यञ्जक) हैं)'।[1]

सौन्दर्यशास्त्र की यही 'साधारणीकरण' दशा शैवों की शुद्ध दार्शनिक पद्धति में 'समरसानन्द' कहलाती है, जिसका वर्णन शैव आगमों में निम्न रूप में मिलता है:—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
स्त्रियो रिव दम्पत्यो जीवात्मपरमात्मनोः ॥

इस 'समरसानन्द' की दशा में भी 'जीवात्मा' का साधारणीकरण तो हो जाता है, फिर भी सर्वथा वह अपने आपको 'परमात्मा' में समाहित नहीं करता। शोपेनहावर का कलाकार या कवि इसी दशा तक पहुँचता है, जहाँ वह 'अमृतोपम' द्वैत का ही अनुभव करता है। वैसे यह दशा आनन्दमय अवश्य है इसका स्पष्ट निर्देश 'द्वैत मप्यमृतोपमम्' के द्वारा हुआ है। यहाँ जलालुद्दीन रूमी का लोहे का गोला आग तो हो जाता है, पर लौहत्व नहीं छोड़ता। फ्रेंच कवि वालेरी इसी दशा का उल्लेख यों करता हैः—

न आते पा से आक्त ताँद्र
दूसो द्त्र ए द नेत्र पा
का जै वेसी द वू जातांद्र
ए मों कोर नेतै के वो पा ॥[1]

शीघ्रता न करो, यह कोमल क्रिया,
अस्तित्व एवं अनस्तित्व का माधुर्य,
क्योंकि मुझे तुम्हारी प्रतीक्षा करनी पड़ी
और मेरा हृदय केवल तुम्हारी पद[illegible]

इन पंक्तियों में वालेरी ने बताया उसकी प्रिया आकर उसका चुम्बन करेगी, तो वह रहेगा भी न भी रहेगा। रूमी के ही मत का दूसरे ढङ्ग से कथन है।

इसके बाद यदि कुछ विघ्न नहीं, तो यह स्थिति रस में बदल जाती है। अभिनव ये रसविघ्न ७ प्रकार के मानता है :—

(१) सम्भावना विरह,
(२) स्वगतत्व देशकालविशेषावेश,
(३) परगतत्व देशकालविशेषावेश,
(४) निजसुखादिविवशीभाव,
(५) प्रतीत्युपायवैकल्यस्फुटत्याभाव,

१—अतएव तटस्थतया रत्यवगमः, न च नियत कारण तया,·······न च नियत परात्मगततया येन दुःखद्वेषाधुदयस्तेन-साधारणीभूता सन्तानवृत्ते रेकस्या एव वा संविदो गोचरीभूता रतिः शृङ्गारः। साधारणी भावना च विभावादिभिरिति।

—भारती पृ० २६७

१—Na Late pas cet acte tandre,
Douceur d'etre et de n'etre pas,
Car j'ai ve'cu de vousattendre
Et mon caur n'etait que vos pas.
(Paul Valery)

(६) अप्रधानता,

(७) संशययोग ।

अभिनव की वह भावध्वनि या रसाभासध्वनि रस नहीं बन पाती, इसी तालिका में से किसी एक या अधिक विघ्न के कारण । रस दशा को अभिनव सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित् मानता है, जिसे वह चमत्कार, रस, स्फुरत्ता आदि कई नामों से अभिहित करता है । इस दशा में शैवों की विमर्शदशा का अनुभव सहृदय करता है । इस विमर्श दशा का वर्णन शैवागमों में किया गया है । इस दशा में देशकाल से रहित चमत्कार तथा आनन्द का अनुभव होता है तथा इस दशा को शैव वेदान्ती 'परमेष्ठी' (परम शिव) का हृदय मानता है ।[१] शैव ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों के मतानुसार यही काव्यानन्द की 'रस दशा' है जब 'सहृदय' 'अहं' का अनुभव करने लगता है । एक स्थान पर रसदशा' के इसी भाव को यों कहा गया है—

> या स्थायिभावरवि रेव निमित्तभेदा
> च्छृङ्गार मुख्यनवनाट्यरसीभवन्ती ।
> सामाजिकान् सहृदयान्नट नायकादी
> नानन्दयेत् सहजपूर्ण रसो ऽसी सो ऽहम् ॥
> (स्वान्मयोगप्रदीप)

इस निबन्ध में जहाँ तक मैंने अभिनव के ही शब्दों में उसके व्यक्तिवादी रससम्बन्धी मत को रक्खा है, जो उसकी दार्शनिक सरणि पर निर्मित हुआ है । भविष्य में 'रसदशा के बाद' नाम से मैं अपना रससम्बन्धी मत भी साहित्यिकों के सम्मुख रखने की चेष्टा करूँगा ।

१—सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥
—ई० प्र० का० १-५-१४ ।

शंकुक का रस-सिद्धान्त

प्रो० आनन्दप्रकाश दीक्षित, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) साहित्य-रत्न

आचार्य शंकुक के रस-सिद्धान्त का नाम अनुमिति-वाद के नाम से प्रचलित है। शंकुक न्याय-दर्शन के अनुयायी थे। अतएव न्यायानुमोदित अनुमान-प्रमाण को ही स्वीकार करते हुए उन्होंने रस को अनुमेय माना। इससे पूर्व कि हम उनके रस सम्बन्धी विचारों पर दृष्टिपात करें यह उचित होगा कि हम अनुमान-सिद्धान्त को समझ लें।

जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं तब उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराने में जो साधक वस्तु काम में आती है, उसे लिंग अथवा हेतु कहा जाता है। लिंग के द्वारा होने वाला ज्ञान ही अनुमान ज्ञान कहलाता है। लिंग परामर्शी अनुमान—यह अनुमान तीन प्रकार का होता है:—१—पूर्ववत्, २—शेषवत् तथा ३—सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् अनुमान वहाँ होता है जहाँ भविष्यत् कार्य का अनुमान वर्तमान कारण से होता है जैसे, दृश्यमान मेघ से होने वाली वृष्टि का अनुमान। २—शेषवत् अनुमान कार्य देखकर विगत कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे, कोई नदी की गंदी तथा वेगवती धारा को देखकर विगत वृष्टि का अनुमान करे। ३—सामान्यतोदृष्ट अनुमान इन दोनों से भिन्न प्रकार का है। उपरिलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि इन दोनों के साधन-पद तथा साध्य-पद के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध विद्यमान रहता है। किन्तु सामान्यतोदृष्ट में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। इसको उदाहरण के द्वारा यों समझा जा सकता है कि—समय समय पर देखने से ज्ञात होता है कि चन्द्रमा आकाश के भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहता है। इससे उसकी गति को प्रत्यक्ष नहीं भी देखकर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि चन्द्रमा गतिशील है। इस अनुमान का आधार यह है कि अन्यान्य वस्तुओं [illegible] परिवर्तन के साथ-साथ उनकी गति का भी [illegible] होता है।

अनुमान में कम से कम तीन बातें आ[illegible] मानी गई हैं:—१—पक्ष, २—साध्य तथा ३[illegible] पक्ष अनुमान का वह अङ्ग है जिसके लिए [illegible] की सृष्टि होती है। साध्य वह है जो पक्ष के [illegible] में सिद्ध किया जाता है। जिसके द्वारा [illegible] सम्बन्ध में साध्य सिद्ध किया जाता है, व[illegible] कहलाता है। वाक्यों द्वारा व्यक्त करते सम[illegible] मान का निम्न क्रम रहता है। सबसे पहले प[illegible] सम्बन्ध साध्य के साथ स्थापित किया जात[illegible] जैसे:—पर्वत वह्निमान है। तदुपरान्त उस[illegible] बतलाया जाता है। जैसे:—[illegible] है। अन्त में साध्य के साथ [illegible] सम्बन्ध बताया जाता है। जैसे:—जहाँ जहाँ [illegible] है वहाँ वहाँ आग है, जैसे चूल्हे में।

अनुमान के लिए दो बातें परम आवश्य[illegible] १—पक्ष में हेतु का होना अर्थात् पर्वत में धु[illegible] होना। २—हेतु और साध्य में व्याप्ति सम्बन्ध [illegible] अर्थात् धुआँ और आग का अविच्छेद्य सम्ब[illegible] होना।

अन्य व्यक्ति को समझाने के लिए अनु[illegible] पंचावयव वाक्य से काम लिया जाता है। यह [illegible] क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा [illegible] हैं। जैसे:—

१—राम मरणशील है। (प्रतिज्ञा)
२—क्योंकि वह मनुष्य है। (हेतु)
३—सभी मनुष्य मरणशील हैं। जैसे [illegible] आदि। (उदाहरण)
४—राम भी मनुष्य है। (उपनय)

—अतः वह मरणशील है। (निगमन)
तिज्ञा का अर्थ यहाँ किसी विशेष बात का
हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा का कारण स्पष्ट किया
। उदाहरण स्पष्ट ही है। उपनय इस बात
क है कि उक्त उदाहरण प्रस्तुत विषय में भी
होता है। निगमन को निष्कर्ष कहा जा
है।

हम शंकुक के मत को समझने का प्रयत्न
अनुमान के तीन भेद पूर्ववत् आदि का
किया जा चुका है। उनको दृष्टि में रखते
चार्य शंकुक तथा अभिव्यक्तिवाद के प्रबल-
महिम भट्ट के अनुसार कहा जा सकता है
व, अनुभाव और संचारियों के द्वारा रस
ते होती है, अर्थात् वह रस के लिए कारण-
। इनको क्रमशः कारण, कार्य तथा सह-
ना जायगा। उदाहरणतः सीता आदि
, वि[illegible]था उपवन, चन्द्रिका आदि
[illegible]यी भाव के कारण माने
तथा भौंह की गति तथा कटाक्ष आदि उसी
अनुराग के कार्य-स्वरूप हैं एवं लज्जा,
दि सञ्चारी भाव रति के सहकारी समझे
इस प्रकार विभाव रूपी कारण के द्वारा
कार्य की सिद्धि होती है। अतएव यह
नुमान से भिन्न नहीं है। रति कार्य सिद्ध
ने पर शेषवत् से भिन्न नहीं है। तथा सञ्चारी
ारी होना सामान्यतोदृष्ट का ही स्वरूप है।
ह कि जब कहीं सुन्दर, स्वच्छ चन्द्रिका में
द्वारा सीता के दर्शन का वर्णन, कटाक्ष
निरूपण तथा लज्जा, हास आदि का
दर्शन होता हो तो हम झट से अनुमान
अमुक के हृदय में रति का उद्बोध हुआ है।
वयव-वाक्य से इसे इस प्रकार समझाया
—

-सीता के हृदय में राम के प्रति रति उत्पन्न
रतिज्ञा)

२—राम को देखकर सीता ने प्रेम भरी दृष्टि से
मुस्कराते हुए दृष्टिपात किया। (हेतु)

३—जिसे राम से रति नहीं, वही इनकी ओर
इस प्रकार दृष्टिपात नहीं करती, जैसेः—मन्थरा।
(उदाहरण)

४—सीता विलक्षण कटाक्षादि से युक्त है।
(उपनय)

५—अतः सीता, राम विषयक रति से युक्त है।
(निगमन)

इस मत के स्वीकार करने में जो कठिनाई परवर्ती आचार्यों को हुई, वह यह कि अनुमान के अनुसार रस की प्रतीति स्थायी का अनुमान कर लेने पर सम्भव हो सकेगी। अर्थात् हम पहले भाव का अनुमान करते हैं। तब रस का आस्वाद लेते हैं। दूसरे शब्दों में इन दोनों में कारण-कार्य भाव है। किन्तु, एक तो रस की प्रतीति में इस प्रकार के क्रम ज्ञान की सम्भावना नहीं की जा सकती, वह तो पानक-रस के समान हैं जिसमें गुड़ादि का मिश्रण होते हुए भी वह सब अलग-अलग अपना स्वाद नहीं देते बल्कि एक विचित्र ही स्वाद देने लगते हैं। दूसरे, भाव का अनुमान हो जाने पर भी यह आवश्यक नहीं कि रस की प्रतीति हो ही। क्योंकि एक तो रसानुभूति का सम्बन्ध सहृदय से ही है दूसरे अनुमान की सिद्धि में परम आवश्यक व्याप्ति भी यहाँ घटित नहीं होती। उक्त अनुरागज्ञान सदा रस के साथ नहीं रहता। पुराने वेदपाठी तथा वेदान्ती आदि रति का अनुमान तो कर लेते हैं, किन्तु उनके शुष्क हृदय पर इसका कोई भी प्रभाव लक्षित नहीं होता। अतएव, भाव के अनुमान मात्र से रस-प्रतीति सम्भव नहीं। सारांश यह कि व्याप्ति से विभावादि के द्वारा रामादि गत अनुरागादि का ज्ञान हो सकता है किन्तु वह ज्ञान रस रूप हो यह आवश्यक नहीं। अतएव अनुमान के द्वारा रस प्रतीति का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

इसी सम्बन्ध में शंकुक के चित्र-तुरंग-न्याय-

सिद्धान्त पर भी विचार कर लिया जाय । उनका मत है कि अनुमान के मूल में यही न्याय है । अर्थात् जिस प्रकार चित्रलिखित घोड़े को दर्शक घोड़ा ही कहता है और चित्र देखते समय इस बात का विचार भी नहीं लाता कि यह वास्तविक घोड़ा नहीं है, उसी प्रकार नाटक देखते हुए प्रेक्षक भी नटादि को ही वास्तविक समझकर उनकी रति आदि के अनुमान से रसास्वाद करने में समर्थ होता है । अर्थात् अनुमित स्थायी वास्तविक के अनुकृत रूप मात्र हैं । मूलतः भाव वास्तविक पात्र में ही होता है । नटादि माध्यम मात्र हैं ।

प्रस्तुत मत के खण्डन में यह कहना भी पर्याप्त होगा कि चित्र-लिखित घोड़े को देखकर उसे घोड़ा ही कहना व्यवहार में इस कारण अनुचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहाँ लक्षणा-शक्ति से काम लिया जाता है । और इस प्रकार उसे चित्रलिखित घोड़ा ही माना जाता है । अतएव रस-प्रतीति के लिए यह उदाहरण संगत नहीं ।

शंकुक ने इस न्याय को स्वीकार करते हुए, एक प्रकार से, अनुकरण सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया है । किन्तु, किसी के भावों का अनुकरण संभव नहीं माना जा सकता । जिन नटों ने रामादि को कभी नहीं देखा वह अनुकरण कर सकेंगे, यह तो दूर की बात है, किन्तु यह मानना कि प्रेक्ष उन्हें वही अनुमान करके रसास्वाद करेंगे, अ बड़े अविवेक का परिचय देना है । अनुम[illegible]म जैसा कि कह आए हैं, कभी अनुभूति उत्प होती । यदि होती तो मुझे लड्डू खाते देखक स्वयं लड्डू खाने का अनुमान कर लिया करें उसी से आपको आनन्द मिल जाया करता । ऐसा होता कब है ? फिर, अलौकिक कार्यों देवतादि के कार्यों की अनुकृति भी नट द्वारा नहीं । ऐसी स्थिति में किसी और तर्क की लेनी होगी और अनुकरण स्वयं विला जा साथ ही करुण दृश्यों का सुखद अनुभव कैसे इसका उत्तर देने में भी यह मत असमर्थ है । के अनुमान से आनन्द होना तो सम्भव ही नह तात्पर्य यह है कि शंकुक का यह मत नट, प्रेक्षक की दृष्टि से रसास्वाद के सिद्धान्त पर कोई प्रकाश नहीं डालता । उनकी बात से यह तो प्रतीत होता है कि रसास्वाद में [illegible] नय-कौशल का कम हाथ नहीं है किन्तु यह निःसंदिग्ध रूप से माना जायगा कि उन्होंने की स्वानुभूति को स्थान न देकर सिद्धान्त को ही रह जाने दिया ।

हिन्दी साहित्य में अपभ्रंश काव्य

श्री ज्योतिभूषण श्रीवास्तव

न्दी साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश काव्य एक अलग विशेष महत्व रखता है। हिन्दी का इतिहास जानने के पूर्व हमें अपभ्रंश का ज्ञान रखना अति आवश्यक-सा प्रतीत है। अतः हम इस अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी के इतिहास की पूर्व-पीठिका कह सकते हैं। ब से प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गई अपभ्रंश साहित्य का आविर्भाव समझना। इस पुरानी प्रचलित काव्यधारा में नीति, और वीर आदि की कविताएँ तो निरन्तर ी आती थीं। इसके अतिरिक्त जैन तथा बौद्ध वर्मों के आचार्य अपने मतों की रक्षा एवं के हेतु उपदेश आदि की रचनाएँ करते थे से [illegible] अन्दर शीघ्रातिशीघ्र प्रचारित चाहते थे और प्रयत्न भी करते थे। प्राकृत से कर जो रूप भाषा ने ग्रहण किया वह गे चल कर पुराना पड़ गया। साथ ही साथ रे काव्य रचना के लिए भी रूढ़ हो गया। ाषा जब तक बोलचाल में थी तब तक तो देश कहलाती थी किन्तु जब यह साहित्य की भाषा तो इसका नामकरण 'अपभ्रंश' कर दिया अपभ्रंश का चिन्ह सबसे पहले वलभी के धारसेनु द्वितीय के शिलालेख में मिलता है। की सातवीं शताब्दी में भामह ने भी तीनों ों का उल्लेख किया है। कवि बाण ने भी रित' में संस्कृत कवियों के साथ-साथ भाषा का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार अप- या प्राकृताभास हिन्दी में रचना होने का विक्रम के सातवीं शताब्दी से ही प्राप्त है।

ं० ९९० में देवसेन नामक एक जैन-ग्रन्थकार हुये हैं। उन्होंने 'श्रावकाचार' नाम की एक पुस्तक दोहों में बनाई थी जिसकी भाषा अपभ्रंश का अधिक प्रचलित रूप लिये हुये है जसे :—

जो जिण सासण भाषियऊ, सो मइ कहियऊ सारू
जो पाले सइ भाऊ करि, सो तरि पावइ पारू

देवसेन ही ने 'दव्व-सहाव-पयास' (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) नामक एक और ग्रन्थ दोहों में बनाया था, जिसका पीछे से 'माइल्लधवल' ने 'गाथा' या साहित्यिक प्राकृत में रूपान्तर किया।

इस प्रकार की रचनाएँ हमें सिद्ध तथा योगियों से प्राप्त होती हैं। व्रजयानी में आकर महासुखवाद का प्रवर्त्तन हुआ। निर्माण के तीन अवयव ठहराये गये—शून्य, विज्ञान और महासुख। उपनिषद में तो ब्रह्मानन्द के सुख का परिमाण का बोध कराने के लिए उसे सहवास सुख से भी सौ गुना कहा गया था, पर व्रजयान में निर्माण के सुख का स्वरूप ही सहवास सुख के समान बताया गया है। शक्तियों सहित देवताओं के युग नग्न स्वरूप की भावना चली और इनकी नग्न मूर्तियाँ सहवास के अनेक अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं जो कहीं-कहीं अब भी मिलती हैं। ऊँचे नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्य-पान के साथ अनेक वीभत्स विधान व्रजयानियों के साधना के प्रधान अङ्ग थे जिन्हें प्रायः सत्ययोगिनी या महामुद्रा कहा करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में मुसलमानों के आगमन के समय देश के पूर्वी भागों में धर्म के नाम पर बहुत ज्यादा दुराचार फैला हुआ था। कौल का पारियान इन्हीं व्रजयानियों से निकले थे। कैसा भी, शुद्ध और सात्विक धर्म क्यों न हो, गुहि और रहस्य के प्रवेश से वह विकृत और पाखण्डपूर्ण हो जाता है। भारत के कई भागों में बौद्धमत (महायान शाखा) का संस्कार बहुत पीछे

तक रहा। योगमार्गी बौद्धों का 'सहजिया', नामक सम्प्रदाय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक रहा और अब भी गोरखपन्थी शैव सम्प्रदाय के रूप में उत्तर-भारत के कई खण्डों में पाया जाता है। गोरखपन्थ भी इसी वज्रयान से ही निकली हुई एक प्रमुख शाखा है। पुराने 'सहजिया' सम्प्रदाय की कुछ पुरानी पोथियों का संग्रह श्री हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्धगान ओ दोहा' के नाम से प्रकाशित किया है। जिसमें कान्ह (कृष्ण) और सरह (सरोज व्रज) के दोहे पुरानी प्राकृताभास हिन्दी या अपभ्रंश में हैं। एक दोहा देखिये—

जहि मन पवन न संचरइ,
रवि ससि नाहिं पवेस।
तहि वट चित्त विसाम करू,
सरहे कहिअ उवेस॥

शास्त्रीजी के अनुसार ये दोहे हजार वर्ष पुराने हैं। पर प्रसिद्ध पुरातत्वविद् श्रीयुत् राखालदास वंद्योपाध्याय इन्हें विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के मानते हैं।

इस काल के साहित्य के अध्ययन करने से यह पता चलता है कि उस समय की भाषा देश भाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्य भाषा है। उस समय गुजरात, राजपूताने और व्रजमण्डल से लेकर विहार तक जो शिष्ट भाषा फैली हुई थी उसी का व्यवहार उसमें हुआ है। इनकी रचनाओं में शौर्यसेनी-प्रसूत, अपभ्रंश (पश्चिमी-हिन्दी) के बहुत से प्रयोग मिलते हैं। लेकिन इसमें एक ऐसी परम्परा दिखाई देती है कि उनके उपदेश की भाषा तो पुरानी टकसाली हिन्दी है पर गीति की भाषा पुरानी बिहारी या पूर्वी बोली है। इस साहित्य के द्वारा एक प्रकार की सांस्कृतिक प्रकृति और उसके संस्कार की परम्परा प्रायः निम्न श्रेणी की अशिक्षित जनता के बीच चल पड़ी है। वाह्य-पूजा, जाति-पाँति, तीर्थाटन आदि का प्रचार करके सिद्धों ने जो रहस्यमयी पहेलियाँ बुझाईं, वही आगे चलकर आगे के साहित्य में भी परिलक्षित हुईं। कबीर आदि सन्तों ने यहीं से साखी और बानी शब्द को ग्रहण किया है। इसके साथ ही साथ नाना-प्रकार की सामग्री और सधुक्कणी भाषा को भी ग्रहण किया। इस काल की रचनाओं में जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं की कोई भी व्यञ्जना नहीं। नाम-मात्र भी कहीं दिखाई नहीं पड़ता। इन सब बातों पर हम ज्ञान को दौड़ाते हुये अब इस सारांश पर पहुँचे कि शुद्ध साहित्य की कोटि में इनकी गणना नहीं हो सकती। इस काल की जैन-आचार्यों की कुछ रचनाएँ अवश्य कुछ साहित्यिक सामग्री रखती हैं।

हेमचन्द्र, सोमप्रभु सूरि, जैनाचार्य मेरुतुङ्ग, नक्ष-सिंह भट्ट और शार्ङ्गधर आदि इस प्रमुख धारा के प्रमुख कवि हैं।

उपरोक्त धर्म सम्बन्धी तथा जटिल साहित्य सम्बन्धी रचनाओं की चर्चा छोड़ अब हम साधारण साहित्य की जो कुछ सामग्री मिलती है उनका उल्लेख उनके रचयिताओं के क्रम से करते हैं।

हेमचन्द्र—गुजरात के सोलङ्की राजा सिद्धराज जयसिंह (सं० ११५०-११९९) और उनके भतीजे कुमारपाल के यहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ करता था। ये अपने समय के सबसे प्रधान जैन आचार्य थे। इन्होंने एक बड़ा भारी व्याकरण-ग्रन्थ 'सिद्ध-हेमचन्द्र-शब्दानुशासन' सिद्धराज के समय में बनाया, जिसमें संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश तीनों का एक सुन्दर समावेश किया। अपभ्रंश के उदाहरणों में इन्होंने पूरे दोहे या पद्य उद्धृत किये हैं जिनमें से अधिकांश इनके समय से पहले के हैं। दो उदाहरण देखिये—

भल्ला हुआ जु मारिया,
बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु,
जइ भग्गा घरु एंतु॥

(भला हुआ जो मारा गया, हे बहिन ! हमारा

कन्त। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।)

पिय संगमि कउ निद्दड़ी,
पियहों परोक्खहों केव।
मइँ विन्नवि विन्नासिया,
निद्द न एँव न तेव॥

(प्रिय के सङ्गम में नींद कहाँ और प्रिय के परोक्ष में भी क्योंकर आवे ? मैं दोनों प्रकार से विनासिता हुई अर्थात् गई—न यों नींद न त्यों।)

अपने व्याकरण के उदाहरणों के लिए कवि हेमचन्द्र ने भट्टी के समान एक 'द्वयाश्रय काव्य' की भी रचना की है जिसके अन्तर्गत 'कुमारपाल-चरित' नामक एक प्राकृत काव्य भी है। इस काव्य में भी अपभ्रंश के पद्य रखे गये हैं।

सोमप्रभु सूरि—ये भी एक जैन आचार्य थे। इन्होंने सं० १२४१ में 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक एक गद्य-पद्यमय संस्कृत-प्राकृत काव्य लिखा, जिसमें समय-समय पर हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल को अनेक प्रकार के उपदेश दिये जाने की कथाएँ लिखी हैं। यह ग्रन्थ अधिकांश प्राकृत में ही हैं—बीच-बीच में संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे आये हैं। अपभ्रंश के पद्यों में कुछ तो प्राचीन हैं और कुछ दूसरे कवि के बनाये हैं। प्राचीन के दो दोहे देखिए:—

रावण जायउ जहि दिअहिं,
दह मुह एक सरीरु।
चिंताविय तइपहि जणणि,
कवणु पियावउँ खीरु॥

(जिस दिन दस मुंह एक शरीर वाला रावण पैदा हुआ उसी दिन माता चिन्तित हुई कि किसमें दूध पिलाऊँ।)

पिय हउँ थक्किय सयलु,
दिणु तुह विरहग्गि किलंत।
थोड़इ जल जिम मच्छलिय,
तल्लोबिल्लि करंत॥

(हे प्रिय ! मैं सारे दिन तेरी विरहाग्नि में वैसे ही कड़कड़ाती रही जैसे थोड़े जल में मछली तलवेली करती या तड़फड़ाती है।)

जैनाचार्य मेरुतुङ्ग—इन्होंने सं० १३६१ में 'प्रबन्ध चिन्तामणि' नामक एक संस्कृत-ग्रन्थ भोज-प्रबन्ध के ढङ्ग का बनाया, जिसमें बहुत से पुराने राजाओं के आख्यान संग्रहीत किए। इन्हीं आख्यानों के अन्तर्गत बीच-बीच में अपभ्रंश के पद्य भी मिलते हैं जो बहुत पहले से चले आते थे। कुछ दोहे तो राजा भोज के चाचा मुञ्ज के कहे हुए हैं। मुञ्ज के दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के बहुत ही पुराने नमूने कहे जा सकते हैं। इन्होंने प्रेममय रचनाएँ भी की थीं। दो प्रेममय दोहा देखिए:—

झाली तुट्टी किं न मुउ,
किं न हुएऊ छरपुंज।
हिंडइ दोरी बँधीयउ,
जिम मंकड़ तिम पुंज॥

(टूट पड़ी हुई आग से क्यों न मरा ? क्षारपुञ्ज क्यों न हो गया ? जैसे डोरी में बँधा बन्दर वैसे घूमता है मुञ्ज।)

मुंज भरमइ मुणालवइ !
जुव्वण गयु न झूरि।
जइ सक्कर सय खण्ड थिय,
तो इस मीठी चूरि॥

(मुञ्ज कहता है—हे मृणालवति ! गये हुये यौवन को न पछता। यदि शर्करा सौ खण्ड हो जाय तो भी वह चूरी हुई ऐसे ही मीठी रहेगी।)

नल्लसिंह भट्ट—ये सं० १३५५ में वर्तमान थे। इनका 'विजयपाल रायसो' नामक एक ग्रन्थ मिला है जिसमें सं० १०६३ में होने वाले करौली के विजयपाल राजा के युद्धों का विवेचन है। यह भी प्राकृताभास हिन्दी अर्थात् अपभ्रंश में है। यह अभी अप्रकाशित है।

शार्ङ्गधर—इस धारा के ये सर्वश्रेष्ठ कवि थे। ये अच्छे कवि और सूत्रकार भी थे। इन्होंने एक ग्रन्थ 'शार्ङ्गधर-पद्धति' के नाम से बनाया और

अपना परिचय भी दिया है। इस ग्रन्थ में बहुत से शावरमन्त्र और भाषा चित्र काव्य दिये हैं जिनमें बीच बीच में देशभाषा के वाक्य आये हैं।

परम्परा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने 'हम्मीर-रायसो' नामक एक वीरगाथा-काव्य की भी भाषा में रचना की थी।

अपभ्रंश की रचनाओं की परम्परा अब यहीं से समाप्त होती है। यद्यपि पचास-साठ वर्ष पीछे विद्यापति ने बीच-बीच में देशभाषा के भी कुछ पद्य रखकर अपभ्रंश में दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखी पर उस समय तक अपभ्रंश का स्थान देश-भाषा ले चुकी थी। जिस समय जार्ज ग्रियर्सन विद्यापति के पदों का संग्रह कर रहे थे उस समय इन्हें पता लगा था कि 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका' नाम की दो पुस्तक भी उनकी लिखी हैं, पर उस समय इनमें से किसी का भी पता न चला। लगभग २५ वर्ष हुये पं० हरप्रसाद शास्त्री नैपाल गये थे। वहाँ राजकीय पुस्तकालय में 'कीर्तिलता' की एक प्रति मिली, जिसकी नकल उन्होंने ली। इस पुस्तक में तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की वीरता एवं उदारता का वर्णन किया गया है। इसमें देषभाषा के पद्य, अपभ्रंश के दोहे, चौपाई, छप्पय, छन्द भी मिलते हैं। इस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि यह पूर्वी अपभ्रंश है।

दूसरी विशेषता विद्यापति के अपभ्रंश की यह है कि वह प्रायः देश-भाषा कुछ अधिक लिये हुये है और उसमें तत्सम संस्कृत शब्दों का वैसा बहिष्कार नहीं है।

अपभ्रंश की कविताओं के जो नये पुराने उदाहरण अब तक मिल चुके हैं उनसे इस बात का ठीक या पूर्ण रूप से अनुमान हो सकता है कि काव्य भाषा प्राकृत की रूढ़ियों से कितनी बँधी हुई चलती रही। बोलचाल तक के तद्भम-संस्कृत शब्दों का पूरा बहिष्कार उसमें पाया जाता है। 'उपकार', 'नगर', 'विद्या', 'वचन' ऐसे प्रचलित शब्द भी 'उअआर', "नअर", 'विज्जा', 'वअण' बनाकर ही रक्खे जाते थे। विशेषण विशेष्य के बीच विभक्तियों का सामसाधिकरण अपभ्रंश काल में कृदन्त विशेषणों से बहुत कुछ उठ चुका था, पर प्राकृत की परम्परा के अनुसार अपभ्रंश की कविताओं में कृदन्त विशेषणों में मिलता है। इस परम्परा पालन का निश्चय शब्दों की परीक्षा से अच्छी तरह हो जाता है। जब हम अपभ्रंश के पद्यों में 'मिट्ठ' और 'मीठा' दोनों का प्रयोग पाते हैं तब उस में 'मीठी' शब्द के प्रचलित होने में क्या सन्देह हो सकता है?

ध्यान देने पर यह बात भी लक्षित होगी कि ज्यों ज्यों काव्य भाषा, देश भाषा की ओर प्रवृत्त होती गई त्यों-त्यों तत्सम संस्कृत शब्द रखने में संकोच भी घटता गया। शार्ङ्गधर के पद्यों एवं कीर्तिलता में इसके प्रमाण मिलते हैं। इस काल का इतिहास यहीं से समाप्त हो जाता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश काल के बाद अन्य कालों का किस प्रकार प्रवेश होता है? 'इतिहास' शब्द का क्या अर्थ होता है? अथवा प्रत्येक काल किन विभिन्न शाखाओं में विभक्त हुआ है? इन सबों का संक्षिप्त विवरण, अपभ्रंश साहित्य के साथ ही साथ जान लेना मुझे तो अति आवश्यक प्रतीत होता है इसलिये यहाँ पर इन सबों का संक्षिप्त उल्लेख देना उचित समझता हूँ।

'इतिहास' का अर्थ—यद्यपि 'इतिहास' शब्द का अर्थ होता है घटनाओं का संग्रह, किन्तु इसे इतिहास न कहकर वृत्ति मात्र ही कहना चाहिये। प्राचीन काल के इतिहास लेखक इसी वृत्ति के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते चले आ रहे थे किन्तु बाद में उन्होंने घटनाओं और प्रभावों का वर्णन भी प्रारम्भ कर दिया। इसीलिये इतिहास के अन्तर्गत मानवी चित्तवृत्तियों का भी घटनाओं के साथ समन्वय किया गया है। साहित्य तो जन-वृत्तियों का सङ्कलित प्रतिबिम्ब होता है। अतः यह निश्चित है कि उन वृत्तियों के परिवर्त्तन से साहित्य में स्वरूपान्तर होता गया। अतः आदि से अन्त तक इन्हीं चित्र-

वृत्तियों की परम्परा को परखते हुये साहित्य परम्परा के साथ उनका समन्वय करना इतिहास कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य का इतिहास लिखते समय राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का भी ध्यान रखना अति-आवश्यक होता है। इन्हीं बातों का ध्यान रखकर हिन्दी साहित्य के ६०० वर्षों का इतिहास निम्नाङ्कित धाराओं में विभक्त किया गया है।
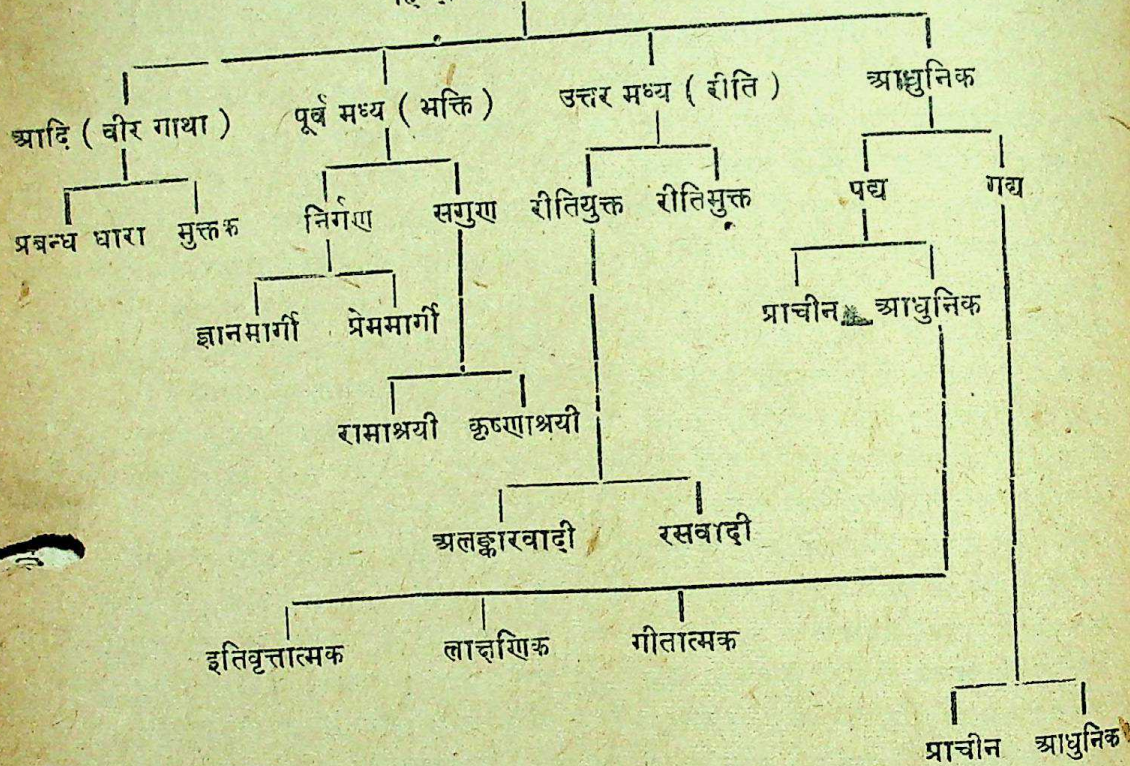
इन्हीं धाराओं पर अपने ज्ञान-राशि को दौड़ाते हुए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के सबसे पुराने लेखक मि० गारसीदत्ता (फ्रेन्च लेखक) थे। इनके बाद डा० जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा और पुनः इनके बाद शुक्लजी ने इस इतिहास के लेखक बनकर हिन्दी काव्य-क्षेत्र को उन्नतिशील और उज्ज्वलमय बनाया है।

भक्तवर सूरदास की लोक-संग्रह भावना

श्री बञ्कल सुब्रह्मण्यम्

हमारे यहाँ भक्ति शाश्वत तथा स्वस्थ जीवन-दर्शन के तत्वों के आधार पर चिरन्तन कल्याणकारी सौन्दर्य देखने की सदा आदी रही है। स्व० आ० रामचन्द्रजी शुक्ल अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं—'प्रेम और श्रद्धा अर्थात् पूज्य बुद्धि दोनों के मेल से भक्ति की निष्पत्ति होती है। श्रद्धा धर्म की अनुगामिनी है। जहाँ धर्म का स्फुरण दिखाई पड़ता है, वहीं श्रद्धा टिकती है। धर्म ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति हैं, उस स्वरूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है, जिसका आभास अखिल-विश्व की स्थिति में मिलता है! पूर्ण-भक्त व्यक्त जगत् के बीच सत् की इस सर्व-शक्तिमयी प्रवृत्ति के उदय का—धर्म की इस मङ्गलमयी ज्योति के स्फुरण का—साक्षात्कार चाहता रहता है। इसी ज्योति के प्रकाश में सत् के अनन्त रूप-सौन्दर्य की भी मनोहर झाँकी उसे मिलती है। लोक में जब कभी वह धर्म स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है, तब मानो भगवान उसकी दृष्टि से, उसकी खुली हुई आँखों के सामने से, ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अन्धकार फाड़कर धर्म की ज्योति अमोघ शक्ति के साथ फूट पड़ती है, तब मानो उसके प्रिय भगवान का मनोरम रूप सामने आ जाता है, और वह पुलकित हो उठता है। भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार कर पाता है, तब 'आनन्द' का आविर्भाव होता है और 'सदानन्द' की अनुभूति होती है।' इसी से गो० तुलसीदास कहते हैं—

> भनति विचित्र सुकवि-कृत जोऊ,
> राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
> बिधु-बदनी सब भाँति सँवारी,
> सोह न बसन बिना बर नारी॥

जब 'राम नाम' ही लोक में धर्म की मङ्गलमयी ज्योति के दर्शन का एक-मात्र साधन है, तब उस राम-नाम के बिना सचमुच कोई चीज किसी काम की नहीं रह सकती है। निश्चय ही वह वसनहीन नारी की ही भाँति अश्लीलता और अमङ्गल की निधि है। अस्तु।

भक्तवर सूरदास अपने समय के बहुत बड़े भक्त ही नहीं, लोक में 'धर्म की मङ्गलमयी ज्योति के स्फुरण' के लिये सदा विरहाकुल रहने वाले प्राणी भी थे। राजसी और तामसी प्रवृत्ति के कारण, उचित सम्मान, धर्म-कर्म, राज्य आदि से भ्रष्ट, अशान्त और निराश अपने समय के सम्मुख, मधुर एवं लोक-रञ्जनकारी कृष्ण भगवान का रूप रखकर अपनी स्वस्थ तथा वैज्ञानिक निदान-शक्ति का जो परिचय इस प्रज्ञाचक्षु (अंधे) कलाकार ने दिया, वह सर्वथा स्तुत्य और प्रशंसनीय है।

बात यह है कि मनुष्य का मन जहाँ स्वतः पतनोन्मुख रहता है, वहाँ वह आदत-प्रिय भी होता है, जो कभी सहसा अपनी पूर्व आदत को छोड़कर किसी नयी बात के ग्रहण के लिये तैयार नहीं रहता। अतः उसे उसकी प्रिय आदतों में बद्ध पतनोन्मुखता अथवा प्रवृत्ति की राजसता और तामसता से हटाकर उत्थान या सात्विकता की ओर ले जाना कोई सहज कार्य नहीं होता। ऐसी अवस्था में वल्लभाचार्यजी की प्रेम लक्षणा भक्ति ही उसे उत्थान की ओर ले जाने का पूरा सामर्थ्य रखती है, क्योंकि इसमें संयमादि नियमों का पालन आवश्यक और अनिवार्य होने पर भी हास-विलास की बातें निषिद्ध या त्याज्य न होने के कारण उसके लिये (शेष क

लिये) स्वाभाविक आकर्षण रहता है और इसमें आकर पहले जो अपने आराध्य का आलम्बन मात्र बदल करके अपनी शेष सभी आदतों को पूर्ववत् रखकर चलता है, वही बाद में—कालान्तर में—अपने को एक दम बदल लेता है, अपनी राजसी या तामसी प्रवृत्ति को सात्विक कर डालता है। आखिर उस सांगत्य का भी तो कोई प्रभाव होता है, जिसके कारण जल भी—

'होइ जलद जग-जीवन दाता'

सूरदासजी ने इसी प्रेम लक्षणा भक्ति के द्वारा भोगवासना आदि से पतित अपने समय (जो आ० शुक्लजी के अनुसार संवत् १५४० और १६२० के बीच में पड़ता है) तथा मानव हृदय को परिमार्जित करने का सफल प्रयत्न किया था। इनकी गोपिकायें तथा कृष्ण लोक-व्यवस्था और लोक-मर्यादा से अवश्य शून्य हैं, पर वे पतित को पावन बनने का सुगम रास्ता बतलाते हैं, जो मानव स्वभाव के [illegible]क निकट रहकर उसकी (पतित की) प्रवृत्ति में सात्विकता लाने को प्राथमिकता देते हैं और इस प्रकार लोक-हित और लोक-व्यवस्था का मार्ग सरल बनाते हैं। इनकी भी भक्ति में काम, क्रोध, लोभ आदि से मुक्ति, निर्मोहता, विवेक, दैन्य, आदि की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि गो० तुलसीदास आदि की भक्ति में है। देखिये, ये अपने आराध्य से क्या कहकर कृपा-भिक्षा मांगते हैं—

प्रभु मेरे गुण अवगुण न विचारो।
कीजै लाज सरन आये की,
रवि-सुत त्रास निवारो
जोग जग्य जप तप नहीं कीयो,
वेद विमल नहीं भाख्यो
अति रस लुब्ध स्वान जूठनि ज्यों,
कहूँ नहीं चित राख्यो
जिहि जिहि जोनि फिरयो संकटबस,
तिहि तिहि यहै कमायो
काम, क्रोध, मद, लोभ ग्रसित भये,
परम विषय विष खायो
जो गिरिपति-मसि घोर उदधि में,
लै सुरु तरु निज हाथ
ममकृत दोस लिखै वसुधा भर,
तऊ नहीं मित नाथ
कामी, कुटिल, कुदरसन,
अपराधी मति हीन
तुमहि समान और नहिं दूजो,
जाहि भजौं ह्वै दीन
अखिल अनन्त दयालु दयानिधि,
अविनासी सुखरास
भजन प्रताप मैं नहीं जान्यौं,
पर्‌यो मोह की फाँस
तुम सर्वग्य सबै विधि समरथ,
असरन सरन मुरारि
मोह समुद्र 'सूर' बूड़त है,
लीजै भुजा पसारि

भागवत् की कथा का, विशेष कर दशम स्कन्ध की कथा का अपनी पूरी तन्मयता तथा तत्परता के साथ सुन्दर और मनोहर पदों में सूर ने जैसा हृदयग्राही गान किया है, वैसा अन्य किसी ने नहीं किया। आ० रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं—"सूर-सागर में वास्तव में भागवत् के दशम स्कन्ध की कथा ही ली गयी है, उसीको उन्होंने विस्तार से गाया है। शेष स्कन्धों की कथा संक्षेपतः इतिवृत्त के रूप में थोड़े से पदों में कह दी गयी है। सूर-सागर में कृष्ण-जन्म से लेकर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यन्त विस्तार से फुटकल पदों में गायी गयी है। भिन्न-भिन्न लीलाओं के प्रसङ्ग लेकर इस सच्चे रस-मग्न कवि ने अत्यन्त मधुर और मनोहर पदों की झड़ी-सी बाँध दी है। इन पदों के सम्बन्ध में सब से पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सब से पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी

प्रगल्भ और काव्याङ्गपूर्ण है, कि आगे होने वाले कवियों की श्रृङ्गार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं।" नीचे के पद में तरल मातृत्व और भोली बाल्यावस्था का कैसा हृदयग्राही चित्र खींचा गया है—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो
मो सों कहत मोल को लीनों,
तू जसुमति कब जायो
कहा कहौं अब रिस के मारें,
खेलन हौं नहिं जातु
पुनि पुनि कहत कौन है माता,
को है तुमरो तातु
गोरे नन्द जसोदा गोरी,
तू कत स्याम सरीर
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब,
सिखै देत बलवीर
तू मोही को मारन सीखी,
दाऊहि कबहुँ न खीजै
मोहन को मुख रिसि समेत लखि,
जसुमति सुनि सुनि रीझै
सुनते कान्ह बलभद्र चबाई,
जनमत ही को धूत
'सूरस्याम' मो गोधन की सौं,
'हौं माता तू पूत'

इस पद का विशेष चमत्कार तब जान पड़ता है, जब इसे भागवत् कथा के प्रति श्रद्धालु जन पढ़ते या सुनते हैं। वे 'मो सों कहत मोल को लीनों, तू जसुमति को कब जायो', 'गोरे नन्द जसोदा गोरी, तू कत स्याम सरीर' आदि में अपने सर्वान्तरयामी और सर्वज्ञ भगवान के ही इस साधारण बालक के रूप में दर्शन पाकर आनन्द विभोर हो जाते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि 'स्याम सरीर' कृष्ण सचमुच 'गोरे नन्द' और 'गोरी' यशोदा के यहाँ उत्पन्न न होकर वसुदेव, और देवकी के यहाँ उत्पन्न हुए थे।

सूर ने 'हास विलास की तरङ्गों से परिपूर्ण अनन्त सौन्दर्य के समुद्र' अपने आराध्य कृष्ण तथा राधा आदि उनकी अनुचरियों का श्रृङ्गार रसपूर्ण रूप भी लोक के अत्यन्त निकट रखा है। उनमें वही प्रेम-भावना, वही विलास या भोगवृत्ति, वही तन्मयता आदि मिलती है, जो हम लोक में देखते सुनते हैं। सच पूछा जाय तो वह आकर्षण कृष्ण के इस प्रकार के सर्वथा लोक-विदित रूप में ही रह सकता है, जो स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक रीति से पतित का ध्यान उत्थान की ओर आकृष्ट करता है। एक उदाहरण पर्याप्त है :—

आँखिन में बसै, जियरे में बसै,
हियरे में बसत निसि दिन प्यारो
मन में बसै तन में बसै रसना में बसै,
बसै अङ्ग-अङ्ग में बसत नन्द बारो
सुधि में बसै बुधिहू में बस,
उरजन में बसत प्रिय प्रेम दुलारो
'सूरस्याम' बनहूँ में बसत रंग ज्यों,
जल रंग न होत नियारो

अपनी वाणी तथा भक्ति के प्रसार के लिए सूरदासजी ने मौखिक गीतों की परम्परा को अपनाया है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में 'जीवन के कैसे कैसे योग सामान्य जनता का मर्म स्पर्श करते आये हैं, और भाषा की किन-किन पद्धतियों पर वे अपने गहरे भावों की व्यञ्जना करते आये हैं—इसका ठीक पता हमें बहुत काल से चले आते हुए मौखिक गीतों से ही लग सकता है।' अतः स्पष्ट है कि कोई कवि सामान्य जनता के हृदय के पास जाना चाहेगा, तो अवश्य इन गीतों की परम्परा को अपनायेगा। सूरदास ने मौखिक गीतों की परम्परा को अपनाया ही नहीं, प्रत्युत उसका अपनी कला और कण्ठ में अभूतपूर्व विकास भी किया।

इसके अतिरिक्त गो० तुलसीदासजी ने जिस प्रकार 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग' कहकर, 'ईश्वर को अन्तस्थ मान कर अनेक प्रकार की अन्तस्साधनाओं में प्रवृत्त करने वाले' योग आदि की

भर्त्सना की, उसी प्रकार सूर ने भी अपनी गोपिकाओं के मुँह से 'जोग जोग हम नाहीं' कह कर ईश्वर की उपासना में गुह्य और रहस्य की धारणा लाने वाले हृदयपक्ष सूत्य हठयोग आदि को अप्रशस्त और नीरस माना है। मन, कर्म, और वचन की सरलता से की जाने वाली जो भक्ति तुलसीदासजी के लिए मान्य और स्वीकार्य थी, वही इन सूरदास के लिए भी मान्य और स्वीकार्य थी। देखिये, 'भ्रमरगीत' की गोपिकायें अपने हठयोग के उपदेशक उद्धव से क्या कहती हैं—

ऊधो, जोग जोग हम नाहीं
अबला सार ग्यान कहा जानें, कैसे ध्यान धराहीं
ते ए मूँदन नैन कहत हैं, हरि मूरति जा माहीं
ऐसी कथा कपट की मधुकर, हमने सुनी न जाहीं
स्रवन चीर अरु जटा बँधावहु, ए दुखकी न समाहीं
चंदन तजि अंग भसम बतावत, बिरह अनल अति दाहीं
जोगी भरमत जेहि लगि भूले, सो तो है अपु माहीं
'सूरस्याम' ते न्यारे न पल छिन, ज्यों घट ते परछाहीं

सारांश यह कि भक्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर भी सूरदास लोकपक्ष को नहीं भूले, बल्कि जिस दृष्टिकोण ने भारत में अवस्था और प्रवृत्ति के भेद से वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की, और स्त्री-पुरुषों के विविध कर्तव्यों तथा विधि-निषेधों के निर्माण किये, उसी सनातन, वैज्ञानिक और स्वस्थ दृष्टिकोण से इन्होंने कृष्ण के मधुर एवं मनोहर रूप की उपासना कर और करवाकर अपने समय तथा मानव मात्र के उद्धार का मार्ग साफ किया था और इस प्रकार ये भक्त शिरोमणि लोक में अपने प्रिय भगवान अर्थात् 'धर्म की मङ्गलमयी ज्योति के स्फुरण के साक्षात्कार' के लिए सदा तड़पते रहे।

इनकी यह सच्ची और रसमग्न तड़पन सफल और सार्थक भी कम नहीं हुई थी। अनेक शास्त्रार्थ-पटु, अक्खड़, उद्दण्ड, और भोगी लोग कृष्ण के अनन्य भक्त बन गये। व्यासजी, छीतस्वामी, और रसखान ने इस बात को कुछ नये रङ्ग में कहा है, जिसे समझा जाना चाहिये।

सूर की यह भक्ति या उपासना और भी सार्थक और सफल बनती, यदि आगे होने वाले कवि भी इसका ठीक-ठीक मर्म समझ कर दुरुपयोग न करते। पर खेद है कि उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने इसे 'लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषय-वासनापूर्ण' लोगों के मनोविनोद का ही विषय बनाया था।

(पृष्ठ ४०४ का शेष)

मनोरञ्जक सामग्री भी दे देते थे। एक बार जब ये खजुराहे के मन्दिर देखकर लौटे, तो तुरन्त ही डेरे पर आपने डायरी में निम्न पद रचकर रख दिया।

भाई कहि न जाय का कहिए।
दखत ही रचना विचित्र अति,
समुझि मनहिं मन रहिये।
तल तें शिखर शिखर ते तल लों
जहाँ जहाँ हम हेरे।
तिलकर ठौर दिखात कहूँ
वहिं जहाँ न चित्र घनेरे।
विश्व निकायी मनहुँ दिखायी,
शिल्पकार उत्साहे।
छिटकाई खजुराहे।
विविध कांति के चित्र
क्षिति पर अनुपम ओज समेतू।
रुचि सँवारि सुधर सदनन में,
धाये हरि वृष केतू॥

ठाकुर जगमोहनसिंह इस प्रदेश के साहित्यकारों के मार्ग दर्शक गिने जाते हैं। इनका रचनात्मक कार्य शांत और गम्भीर है। यह बात प्रत्यक्ष है कि इनकी रचनात्मक प्रणाली से हिन्दी के कई होनहार कवियों की सृष्टि हुई और आजीवन उनका उत्साह बढ़ाया था।

खेद है कि आज ऐसे श्रेष्ठकलाकारों की कृतियाँ अन्धकार में छिपी हुई हैं।

तुलसी का गीत-काव्य

डा० सुधीन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

गीत-पद्धति—तुलसीदास ने गीत-पद्धति का उपयोग दो प्रकार से अपने काव्य में किया है। एक में उन्होंने गीतों (गेय पदों) में आत्म-निवेदन किया है और आत्मगत (Subjective) गीतकाव्य की सृष्टि की है और दूसरे में उन्होंने पदों में आख्यान या कथा सुनाई है। इस दूसरे प्रकार में यह तो नहीं कहा जा सकता कि कथासूत्र उसी प्रकार अविराम है जैसा प्रबन्धकाव्य में होता है परन्तु कथासूत्र प्रच्छन्न अवश्य है। पहले प्रकार का उदाहरण है 'विनयपत्रिका' जिसमें एक भक्त का विनय निवेदन है और दूसरे प्रकार का उदाहरण है 'राम गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली'। गीतावली गीत काव्य राम-कथा का या कृष्ण-कथा का गीतात्मक अवतरण है। 'गीतावली' में गीत (या पद) रामकथा के सूत्र में पिरोये हुए पुष्प हैं।

गीतकाव्य में निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं—

(क) आत्मानुभूति और आत्माभिव्यक्ति (Subjectivity) (ख) भाव का केन्द्रीयकरण (Centralised thought) (ग) संक्षेप (Brevity) और (घ) गेयता (Lyrical element)।

गीतकाव्य में गेय पद या कविता के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति होती है क्योंकि गीत कविभावना के उच्छ्वसित होकर एक सङ्कलित भाव में केन्द्रित हो जाने का सहज परिणाम होता है। इसलिए उसमें ये विशेषताएँ अपने आप आ जाती हैं। आत्मानुभूति गीत के उद्गम का संकेत करती है, भाव का केन्द्रीयकरण और संक्षेप उनके स्वरूप को बताती है। गेयता उनकी शैली या रीति का निर्देश करती है। पहिली वस्तु 'रङ्ग' है, दूसरी 'रूप' और तीसरी 'रेखा'।

(१) गीतावली—गीतावली में आत्माभिव्यञ्जना तो नहीं है परन्तु भाव का केन्द्रीयकरण और गेयता के तत्व हैं। उनमें उनके आराध्य राम के जी[illegible]के वे ही अङ्ग गाये गये हैं जो मर्म-स्पर्शी हैं और [illegible] विविध राग रागनियों में गाये गये हैं। 'रामचरितमानस' में तो कवि ने घटना को प्रभविष्णुता देकर उसके द्वारा चरित्र की उदात्तता, उज्ज्वलता दिखाकर पाठक को रसमग्न किया है। परन्तु 'गीतावली' में जीवन के मर्मस्पर्शी प्रसंग चुनकर और सामान्य मानव की अनुभूति का चित्रण करके पाठक को रसमग्न किया है। दोनों दिशायें पृथक्-पृथक् हैं और एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकतीं। 'गीतावली' में तो एक ही दोष गीत काव्य की दृष्टि से मानना चाहिए कि उसमें आत्मगतता (Subjectivity) से अधिक परगतता (Objcetivity) है। उ[illegible]रीय पुरुष' का वर्णन है। गीत काव्य के लिए कथा की वर्णनात्मकता भारी पड़ती है, उसके लिए तो कोई भावात्मक प्रसङ्ग या स्थल ही अधिक उपयोगी होता है। अतः 'गीतावली' में वे ही पद मधुर हो सके हैं जिनमें भावात्मकता अधिक है और वर्णनात्मकता कम। 'गीतावली' में राम-जीवन के वे मार्मिक और हृदय स्पर्शी प्रसङ्ग गीतों के रूप में अङ्कित किये गये हैं जिनको पढ़कर लोक मानस रस-मग्न हो सकता है। उसमें कलित कोमल पदों में हृदय के ऐसे गूढ़ भावों की व्यञ्जना है जिनमें हृदय लीन हुए बिना नहीं रह सकता। प्रत्येक पद उसमें हृदयतन्त्री की झङ्कार है।

गीतावली के बालकाण्ड में सूर की बालकृष्ण-लीला से पूरा साम्य है। शिशु राम के लिए गाई हुई ('पौढ़िये लालन पालने हौं झुलाऔं'; 'सोइये लाल लाड़ले रघुराई', 'ललन लोने लेरु आ, बलि

मैया', 'सुखनींद कहत अलि आइ हौं') कुछ लोरियों के पश्चात् 'जसोदा हरि पालने झुलावै' की भाँति कौशल्या भी 'पालने रघुपति झुलावै'। कौशल्या के मुँह से माता की कामना गा उठती है—

हुँहैं हौं लाल कबहिं बड़े बलि मैया ?
हृदल विभूषन बसन मनोहर
अँगनि विरचि बनैं हौं।
सोभा निरखि निछावरि करि
उर लाइ बारने जैहौं॥
छगन मगन अँगना खेलि हौ
मिल ठुमुक ठुमुक कब धैहौ।
कलबल बचन तोतरे मँजुल
कहि मा मोहि बुलैहौ॥

इस गीत में कौसल्या माता की अपने लाल के लिए अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण बनाकर उनकी शोभा निरखने और न्योछावर होने की आकांक्षा पहिले है और आँगन में ठुमक ठुमुक दौड़ने और तुतले बचनों से माँ कहते दखने की कामना पीछे। तुलसी के राम राजा-रानी के कुमार थे, पर यशोदा के कृष्ण एक महरी के 'लाल' थे। तुलसी के पदों पर अवश्य ही सूर के कई गीतों का प्रभाव है। 'गोसाईं चरित' के अनुसार 'गीतावली' की रचना तब हुई थी जब सूरदासजी उनसे मिल चुके थे। सूर के पदों जैसी गेयता, कोमलता, मधुरता, सरसता और स्वाभाविकता तुलसी के पदों में कहाँ है? सूर का एक समानन्तर पद है—

जसुमति मन अभिलाख करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै
कब धरती पग द्वैक धरै?
कब द्वै दांत दूध के देखौं
कब तुतरे मुख बैन झरैं।
कब नन्दहि कहि बाबा बोलै
कब जननी कहि मोहिं ररै।
कब मेरो अँचरा गहि मोहन
जोइ सोइ कहि मोसौं झगरै?

तुलसी यह नहीं भूलते कि राम पर-ब्रह्म के अवतार हैं और लीला कर रहे हैं कौशल्या की गोदी में। सूरदास भूल जाते हैं कि कृष्ण अवतार है। वे तो उन्हें देखते हैं केवल बालक के रूप में—यही उनके वर्णन की सफलता का रहस्य है। दूसरा भेद यह है कि राम को देख कर 'पुरजन सचिव राउ रानी सब सेवक सखा सहेली' को लोलन-लाभ प्राप्त होता है और मनोरथ-वेली सफल होती है परन्तु

'पगनि कब चलिहौ चारो भैया' में जो मातृ-हृदय की अभिलाषा की अभिव्यक्ति हुई है वह मानवीयता के सामान्य स्तर पर उतर आई है—

सुन्दर तन सिसु बदन विभूषण
नख सिख निरख निकैया।
दलि तृण प्राण निछावरि-
करि-करि लैहैं मातु बलैया॥
किलकनि नटनि चलनि चितवनि-
भजि मिलन मनोहर तैया।
बाल बिनोद मोद मंजुल बिधु,
लीला ललित जुन्हैया॥
भूपति पुन्य पयोधि उमग,
घर-घर आनन्द बधैया।
ह्वैहै सकल सुकृत सुख भाजन·
लोचन लाहु लुटया॥

तुलसीदास राम का लोक रञ्जनकारी स्वरूप नहीं भूले हैं—उनको देख देखकर घर-घर में आनन्द बधाई होने और पुरवासियों के जन्म फल पाने का रहस्य यही है।

'आँगन फिरत घुटुरुवन धाये' पद में बाल चेष्टा की झलक है परन्तु या तो वहाँ केवल रूपवर्णन हुआ है या माता की चेष्टाओं का वर्णन, वात्सल्य के आलम्बन शिशु राम की चेष्टायें नहीं जो रसपरिपाक के लिए आवश्यक था। उधर सूर के 'किलकत कान्ह घुटुरुवन रेंगत' शीर्षक गीत में सूर की दृष्टि बालक

कृष्ण की चेष्टाओं पर भी केन्द्रित है और बाल-व्यापारों का एक चलचित्र ही प्रस्तुत हो जाता है—

मनिमय कनक नन्द के आँगन
मुख प्रतिबिम्ब पकरिबैं धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह को,
पकरन को चित चाहत।
किलकि हँसत राजत है दतियाँ,
पुनि-पुनि अवगाहत।

रूप वर्णन में उपमा-उत्प्रेक्षा आदि समता-मूलक अलङ्कार सूर और तुलसी दोनों को प्रिय हैं। तुलसी के बालक राम तो अवतार हैं जिनके हृदय पर श्रीवत्स का चिह्न है, स्वर्णमणि आभूषण भी है, कटि में मेखला है, हृदय में हार है, बाँहों में भी अलङ्कार हैं, सुन्दर चिबुक और दाँत, अधर और नासिका श्रवण और कपोल हैं और आँखों में तो दो कमल ही हैं। विशाल भाल पर ललित लटकन है, सिर पर गर्भ के बाल हैं, मानो शशि और मङ्गल को आगे करके तम के गण चन्द्रमा से मिलने आये हैं। जननी के द्वारा नील शरीर पर पीत पट उढ़ा देने पर मानो नील मेघ पर उगे हुए तारों को बिजली में छिपा लेने का दृश्य उपस्थित हो गया है; तो सूर के बाल कृष्ण भी जब घुटनों के बल चलते हुए हाथों और पाँवों को स्वर्ण भूमि पर टिकाये हुए, नीचे प्रतिबिम्बित होते हैं तो जैसे इन अनेक प्रतिमाओं के लिए पृथ्वी कमलासन सजाती हुई दिखाई देने लगती है।

यह एक आश्चर्य का विषय है कि 'रघुवर बाल-छवि कहौं वरनि' शीर्षक पद तो सूरदास में भी वैसा का वैसा ही मिलता है; केवल रघुवर और दशरथ घरनि के स्थान पर हरिजू और नन्दघरिन का परिवर्तन है। इसी प्रकार 'आँनद खेलत आनन्दकन्द' पद भी सूरदास में 'आँगन खेलत नन्द के नन्दा' के रूप में मिलता है।

सूर ने जो बाल क्रीड़ा के चित्रण में दूध पीने का चोटी बढ़ाने की उत्कण्ठा दिखने का, चन्द्रमा को खाने का हठ करने का, बालोचित प्रकृति-व्यापार चित्रित किया है वह तुलसी के पदों में नहीं मिलता इससे तो उनकी 'कवितावली' के बाल-वर्णन के सवैया—

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं,
कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत,
मातु सबै मन मोद भरैं॥

में व्यापार-चित्रण सुन्दर हुआ है।

तुलसी की 'गीतावली' में वर्णन (कथा कहने) की प्रवृत्ति है पर 'सूर सागर' में चित्रण (झाँकी दिखाने) की प्रवृत्ति। सूर की कविता मन के एक एक भाव को बड़े धीरज और मनोयोग के साथ अङ्कित करती चलती है—

'लै हौं री माँ, चन्द चहौंगो।'
'मैया मोहिं दाऊ बहुत खिजायो।'
'मैया मैं नाहीं दधि खायो।'
'मैया री मोहिं माखन भावै।'
'खेलन अब मेरी जात बलैया।'
'मैया कबै बढ़ैगी चोटी।'
'मैया मैं नहिं माटी खाई।'

आदि आदि शब्द चित्र ऐसी ही झाँकियाँ हैं।

तुलसी के बाल लीला के पद (जो संख्या में भी कम हैं) पाठक के मन में रागात्मक सृष्टि नहीं कर पाते और वात्सल्य भाव की पूर्ण व्यञ्जना नहीं होती, वे श्रद्धा और भक्ति का भाव उत्पन्न करके रह जाते हैं। मानव के हृदय में जो शिशु के प्रति लाड़ और दुलार का भाव है उसकी अनुभूति तुलसी से अधिक सूर को है और इसीलिए उनकी अभिव्यक्ति अधिक रसात्मक है।

मध्यप्रदेश के साहित्य-निर्माता श्री ठा० जगमोहनसिंह

श्री प्रयागदत्त शुक्ल

हिन्दी साहित्य के निर्माण में मध्यप्रदेश अन्य प्रदेशों से पीछे नहीं है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक नया अध्याय सन् १८६० से ही आरम्भ होता है जिसे लोगों ने 'भारतेन्दु युग' कहा है। इसी युग से आधुनिक साहित्य का श्रीगणेश हुआ है। इस युग के प्रतिनिधि साहित्यकारों में ठाकुर जगमोहनसिंह की गणना है जो कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के घनिष्ट मित्र भी थे। इस समय तक हिन्दी ने सार्वदेशिक स्वरूप नहीं पाया था। जहाँ जैसी बोली जाती थी वहाँ वैसी लिखी भी जाती थी। राजनैतिक स्थिति का प्रभाव साहित्य पर होना स्वाभाविक था तदनुसार हुआ भी और छापेखाने तथा कागज की सहूलियत ने उसे बल दिया। इसी युग से लेखकों ने वाक्य रचना, मुहावरे और एक स्वरूप देने की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। भाषा के इस नवीन संस्कार में हमारे प्रदेश के प्रमुख तीन साहित्यकार ठाकुर जगमोहनसिंह, पण्डित विनायक राव और बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने सक्रिय सहयोग दिया।

ठाकुर जगमोहनसिंह जबलपुर जिले के विजयराघवगढ़ राजवंश के वंशधर थे इनका जन्म संवत् १६१४ के सावन सुदी १४ को विजयराघवगढ़ के किले में हुआ था। दुर्भाग्यवश इनके जन्म के साथ ही साथ इनके पूर्वजों का राज्य अँग्रेजों के कब्जे में चला गया। इनके पितामह राजा प्रयागदाससिंह ने मैहर राज्य से अलग होकर विजयराघवगढ़ में एक छोटा सा राज्य स्थापित किया और उसे राजधानी का रूप दिया। अँग्रेजों से सहयोग के कारण इनकी स्वाधीनता को कोई आँच नहीं आयी। इस प्रतापी पुरुष का अन्तकाल सन् १८४६ में हुआ। उस समय उनका एक मात्र पुत्र सरयूप्रसाद पाँच वर्ष का था। ऐसी अवस्था में राजमाता ने जबलपुर के कमिश्नर से लिखा पढ़ी करके अपनी जायदाद का प्रबन्ध कोर्ट ऑफ वार्ड्स को सौंप दिया। तदनुसार सन् १८४८ से मुन्शी साबित अली को यहाँ का मनेजर बनाकर भेजा गया। सन् १८५७ की राजक्रांति का असर यहाँ पर भी हुआ। नाबालिग राजा के ठाकुरों ने मुन्शी साबितअली को मार डाला और किले पर तोपें लगादीं। यह समाचार पाते ही जबलपुर से एक छोटी सी सेना भेजी गयी और उसने वहाँ पहुँच कर किले पर अपना झण्डा जा चढ़ाया। राजा सरयूप्रसादजी पर विद्रोह का अभियोग लगाया गया और कोर्टमार्शल ने उन्हें आजन्म काले पानी की सजा दी किन्तु उन्होंने रास्ते में बनारस में आत्महत्या करली। यह रियासत जबलपुर जिले में जोड़ ली गयी और राजा के एक मात्र पुत्र जगमोहनसिंह को परवरिश पेंशन दी गई।

६ वर्ष की अवस्था में सरकार ने जगमोहनसिंह को पढ़ने के लिए बनारस भेजा। उस समय उनको सरकार २० रुपये पेंशन देती थी किन्तु बनारस के कमिश्नर ने भारत सरकार से लिखा पढ़ी करके यह पेंशन १०० रुपये करा दी। बनारस में इन्होंने १२ वर्ष तक अध्ययन किया और हिन्दी, अँग्रेजी और संस्कृत की अच्छी योग्यता प्राप्त की। इन्होंने अध्ययन काल से ही हिन्दी में पद्य रचना करना शुरू किया और कुछ पुस्तकें भी छपवा डालीं। इन्होंने लगभग १६ पुस्तकें लिखीं हैं और उनमें कुछ अप्रकाशित भी हैं। इनकी लिखी हुई पुस्तकें ये हैं—श्यामास्वप्न, श्यामसरोजिनी, श्यामलता, प्रेमसम्पत्तिलता, ओंकारचन्द्रिका, प्रलय, सज्जनाष्टक, प्रतिमाक्षरदीपिका, देवयानी, सांख्य सूत्रों की भाषा-टीका, ज्ञानप्रदीपिका, मेघदूत, ऋतु संहार, कुमार

सम्भव, हंसदूत, शिलनका बन्दी।

इन्होंने पद्य में ब्रजभाषा और गद्य में खड़ी बोली का सहारा लिया है किन्तु इनकी हिन्दी शैली एक नवीन धारा से प्रवाहित होती है। इनकी भाषा शैली व शब्दशोधन अनुप्रासयुक्त था। भाषा में जीवन का माधुर्य और हृदय में जमनेवाले सुन्दर शब्दों के चयन विशेषता रखते हैं। भाषा की प्रकृति की इन्हें पूरी परख थी। इनकी कविता में अविकतर प्रेम और शृङ्गार मिलता है किन्तु गद्य में उसकी प्रचुरता नहीं है। इनकी साहित्यिक अभिरुचि भारतेन्दु की मित्रता से ही वृद्धिगत हुई है। इनकी साहित्य साधना के सम्बन्ध में स्व० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

"हरिश्चन्द्र और प्रतापनारायण मिश्र आदि कवियों की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानव क्षेत्र तक ही सीमित थी। प्रकृति के ऊपर क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहनसिंह ने नरक्षेत्र के सौन्दर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेले में देखा है। क्या ही अच्छा होता यदि इस शैली का हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से विकास होता। तब तो बङ्ग साहित्य में प्रचलित इस शैली का शब्द प्रधान रूप जो हिन्दी पर कुछ काल से चढ़ाई कर रहा है ...और अब काव्य क्षेत्र का अतिक्रमण कर कभी कभी विषय निरूपक निबन्धों तक अर्थ ग्रास करने दौड़ता है—शायद जगह न पाता। प्राचीन संस्कृत साहित्य के अभ्यास और विन्ध्याटवी के रमणीय प्रदेश में निवास के कारण विविध भावमयी प्रकृति के रूप माधुर्य की जैसी सच्ची परख, जैसी सच्ची अनुभूति ठाकुर जगमोहनसिंह में थी, वैसी उस काल के किसी हिन्दी कवि या लेखक में नहीं पायी जाती। अपने हृदय पर अङ्कित भारतीय ग्राम्य जीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने 'श्यामास्वप्न' में व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के रुचि संस्कार [illegible] मन में बसाने वाले हिन्दी के पहले लेखक थे।"

इनकी प्रथम कविता शायद हमें ऋतुसंहार में ही मिलेगी। उसमें भारत की वन्दना की गयी है, जैसे—

सुरमधि जम्बूदीप दीप सम अति छवि [illegible]।
तामे भरतखण्ड मनहुँ विधि आपु [illegible] ॥
ताह में अतिरम्य आरजावर्त मनोहर।
सकल कर्म की भूमि धर्मरत जह के नरवर ॥
मनु वाल्मीकि व्यासादि से पूजनीय जहँ के अमित।
भै मनुज अवौ जग के सत्य मानत जिनकी आननित ॥
जहँ हरलिय अवतार राम कृष्णादि रूपधर।
जहँ विक्रम बलि भोज धरमनृप मे कीरतिकर ॥
जहँ की विद्या पाय भरा जग के नर सिच्छित।
जहँ के दाता सदा करत पूरन मन इच्छित ॥
जहँ गङ्गा सी पावन नदी हिम सो ऊँचो शैलवर।
जहँ रत्नखानि अगनित लसत
मानहुँ मनिमय सकलधर ॥

जगमोहनसिंह के पूर्व हिन्दी के अधिकांश कलाकार शृङ्गार और भक्ति के मार्ग से जाते हुए दिखायी देते हैं, किन्तु विदेशी सम्पर्क ने उन्हें वैज्ञानिक तौर पर सोचने और समझने का अवसर दिया और उससे हमारा साहित्य भी प्रगति की ओर बढ़ने लगा। ठाकुर साहब की रचनाओं में हमें कवि और दार्शनिक दोनों गुणों का असर मिलता है। इनकी पहली रचना ऋतुसंहार है जो कि संस्कृत का अनुवादित ग्रन्थ है और वह सन् १८७६ में बनारस में छपा था। इसके दो वर्ष पूर्व इनकी लिखी हुई, प्रमिताक्षरदीपिका पिंगल छपी थी। इसी तरह सन् १८७४ में पं० रामलोचनप्रसाद का जीवन वृतान्त और मेघदूत का हिन्दी अनुवाद छपे हैं। मेघदूत की भूमिका में ठाकुर साहब ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मित्रता और सहायता का उल्लेख किया है। इनके समय में भी हिन्दी और उर्दू की तानाकशी जारी थी और स्वयं ठाकुर साहब भी इससे अलिप्त [illegible] हैं। इन्होंने संस्कृत के कवियों को फारसी कवियों

से श्रेष्ठ ठहराने का प्रयास किया है। उन्होंने कवि निजामी की लैला मजनू काव्य से कालिदास के मेघदूत को ऊँचा दिखलाया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने श्री इलिफिन्स्टन साहब की पुस्तक का एक अवतरण भी दिया है जिसमें उन्होंने कालिदास की सराहना की है। इसके अतिरिक्त ठाकुर साहब ने श्री जेम्स-अ‍ॅटकिन्सन के अंग्रेजी अनुवाद लैला, मजनू से तीन अवतरण लेकर उसकी तुलना कालिदास की उपमाओं से की है। उनका यह बताने का प्रयास है कि निजामी से कालिदास की सूझ कितनी पैनी है। तभी ठाकुर साहब ने अन्त में लिखा है कि ऐसे गुणों की समालोचना फारसी वालों को कटु लगेगी, पर मैं बिना लिखे न रह सका।

काव्यों के सम्बन्ध में ठाकुर जगमोहनसिंह की धारणा यह थी कि जिसके श्रवण से मनोवृत्तियों पर आनन्दप्रद संस्कार हों और उसका रस सहज में ही अन्तःकरण में भिद जाय। फिर पद रचना में यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि न भी हो तो कोई हर्ज नहीं। इनकी कविता बड़ी सरस होती थी।

आई शिशिर बरोरू शालि अरु ऊखन संतुल धरती।
प्रमदा प्यारी ऋतु सुहावनी कोंच रोर मनहरनी॥
मूँदे मन्दिर उदर झरोके भानु किरन अरु आगी।
भारी वसन हसन मुखबाला नवयोवन अनुरागी॥

ठाकुर साहब की भाषा वही है सो सतपुड़ा और विंध्य की घाटियों से व्याप्त मध्यप्रदेश के १४ जिलों में बोली जाती है और उसका प्रचार मराठी भाषियों में भी है। खड़ी बोली और पुस्तकी हिन्दी में भेद का अन्तर नहीं है केवल व्याकरण की शुद्धता का अन्तर है। मध्यप्रदेश की हिन्दी के शब्द समूह में न तो शुद्ध संस्कृत शब्दों की अधिकता है और न उर्दू की। कुछ शब्द अवश्य ही मराठी से आये हुए जान पड़ते हैं जो स्वाभाविक हैं। इसी भाषा को सँवार कर इन्होंने अपनी गद्य की पुस्तकों में लिखा है। इनकी वाक्य रचना जरा बोझिल हो गयी है। जिसे पाठकों को समझने में देर लगती है। इनकी शैली के विषयों में पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने कहा है—'जगमोहनसिंह ने अपनी भाषा में स्व० पं० बदरीनारायण की साहित्यिक भाषा का अनुकरण किया है परन्तु उनके वाक्य अधिक लम्बे हो गये हैं और वाक्य के भीतर वाक्य खण्ड आकर उसको जटिल बना देते हैं। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने जिस प्रकार प्राकृत दृश्यों का वर्णन किया है वह संस्कृत कवियों के गम्भीर निरीक्षण का स्मरण दिलाता है।'

इनके गद्य ग्रन्थों में 'श्यामा स्वप्न' प्रमुख गिना जाता है। इस उपन्यास में चरित्र चित्रण तो नाम मात्र का है किन्तु प्रकृति का वर्णन अधिक है। इस प्रदेश के कुछ रमणीय स्थलों का वर्णन भी मिल जाता है। राजसी बू आचरण में टपकती थी। उनको अपने प्राचीन वैभव का स्मरण आ जाता था तब उनकी हृदय की टीस बाहर निकल पड़ती थी।

राजरहित सरसुति सहित रहत गङ्ग के तीर

आगे वे कहते हैं—

जा को सदा निवास है परदेस हिं में नित।
परबस गेह विहीन निसिदिवस पढ़न में चित॥

बनारस से शिक्षा पा लेने पर सरकार ने इनको मध्यप्रदेश में तहसीलदार नियुक्त किया और आजीवन उसी पद पर बने रहे। स्वतन्त्र राजसी प्रकृति होने के कारण उनकी पदवृद्धि न हो सकी। ये प्रदेश के कई स्थानों में तहसीलदार रहे। इनका देहान्त ४ मार्च सन् १८९९ में हुआ।

ठाकुर जगमोहनसिंहजी स्वभाव से विनोदी और आशुकवि थे। स्व० डा० हीरालालजी कहा करते थे कि एक बार उनके इजलास में मुकदमे की पैरवी करने के हेतु एक बड़े तोंदवाले वकील हाजिर हुए। उनके पेट को देखकर तुरन्त उन्होंने एक कविता रच डाली और उसको सुना देने के बाद मुकदमे की कार्यवाही शुरू हुई। ठाकुर साहब कभी-कभी मन की तरङ्ग में कविताएँ रचकर बैठक के लिये

(शेष पृष्ठ ३९८ पर देखिए)

आलोचना

हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण—लेखिका—डा० किरणकुमारी गुप्ता, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृष्ठ संख्या ४८४, मूल्य ६)

अपने ही सुख-दुख, भाव-अभाव, विस्तार सङ्कोच से प्रभावित न होकर जब मनुष्य ऐसी मानसिक भूमि पर पहुँच जाता है जहाँ मानव मात्र के सुख दुख आदि उसके सुख-दुख आदि बन जाते हैं, तो उसका हृदय कवि-हृदय कहलाता है। कवि हृदय केवल मानव-जगत् के ही लिए नहीं खुला रहता प्रत्युत मानवेतर जगत् की अनुभूतियों को भी ग्रहण कर सकता है; और क्योंकि मानव-जगत् की अपेक्षा मानवेतरजगत् अधिक पूर्ण है इसलिए सभी कवि प्रकृति के साथ तन्मय होते देखे गये हैं।

समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर जब कोई व्यक्ति स्नेहमयी जननी की गोद में बैठता है, तो जननी उसके सुख पर अपने को न्यौछावर कर देती है, परन्तु समाज से खिन्न एवं विपन्न सन्तान को छाती से चिपटाकर माता का हृदय स्वयं गद्गद् हो उठता है। ठीक यही दशा प्रकृति की है। जिन दिनों हमारा समाज सुखी एवं सम्पन्न था हमारे कवि प्रकृति से आशीर्वाद लेने जाते थे या अपने सुख से उसके चित्त का रञ्जन करने। परन्तु जब हमारा समाज विपद्ग्रस्त एवं क्षुब्ध है हमारे कवि या तो माता को अपनी विपत्कथा सुनाने जाते हैं या उससे कुछ याचना करने। जैसा कि स्वाभाविक है यह पिछली घटना ही अधिक द्रावक है। और यह हर्ष की बात है कि एक सहानुभूतिपूर्ण सहृदय विदुषी द्वारा उसका अच्छा विश्लेषण हुआ है।

वर्त्तमान युग में ज्यों ज्यों हमारे कवि प्रकृति की गोद में अपना भार हलका करने जाने लगे त्यों त्यों विद्वानों ने भी उनके मार्ग के मानचित्र बनाये, परन्तु जितनी सहृदयता से हमारी लेखिका ने इस कार्य में सफलता प्राप्त की है उतनी अन्यत्र न मिल सकेगी। निश्चय ही लेखिका के सिद्धान्तों से सब लोग सहमत न हो सकेंगे, निश्चय ही आलोचना में मत वैभिन्य को सदा गुञ्जायश रहती है; परन्तु शैली की सरसता, भाषा का प्रवाह, तथा विश्लेषण की सफलता लेखिका की संवेदनशीलता का अपूर्व परिचय देती है। कुछ वाक्य तो काव्य का-सा आनन्द देते हैं। दृष्टिकोण का विश्लेषण करते-करते डा० किरणकुमारी स्वयं उसी दृष्टि से देखने लग जाती हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में उन सभी सिद्धान्तों का व्यापक विवेचन है जिनको जानकर ही काव्य में प्रकृति-चित्रण का वैज्ञानिक अध्ययन हो सकता है; इस खण्ड में लेखिका का दृष्टिकोण भावुक न रहकर बुद्धिवादी बन गया है जो स्वयं एक गुण है। दूसरे खण्ड में हिन्दी के विभिन्न कवियों के काव्यों में चित्रित प्रकृति के रूप का दर्शन कराया गया है। दूसरे खण्ड को ऐतिहासिक आधार पर कालानुसार अध्यायों में विभक्त कर दिया गया है; हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों पर तो काफी काम मिलता ही है ठाकुर, आलम आदि सामान्य परन्तु सरस कवियों का भी सफल विश्लेषण है। इस प्रकार

वर्तमान पुस्तक विद्वानों के काम की तो है ही, विद्यार्थियों के लिए भी बड़ी उपयोगी है।

पुस्तक में केवल एक बात की कमी दिखलाई पड़ती है कि हिन्दी के दूसरे आलोचकों ने जो अध्ययन किया है उसकी चर्चा नहीं की गई, इसका कारण यह है कि वह चर्चा प्रस्तुत थीसिस के लिए विषयान्तर बन जाती। पुस्तक का अन्तिम अध्याय उस का उपयोगिता को और भी बढ़ा देता है।

—डा० ओमप्रकाश

कविता

रूपदर्शन—लेखक-श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ २६८, मूल्य ६)

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' हिन्दी के ख्याति प्राप्त नाटककार और कवि हैं। हिन्दी जगत उन्हें नाटककार के नाते ही मानता भी है। लेकिन हमारी सम्मति में वे नाटककार से पहले कवि हैं। उनका साहित्यिक जीवन कविता से आरम्भ हुआ था और ख्याति भी कवि के नाते ही मिली। बीच में भी वे कविताएँ लिखते रहे हैं और उनकी कविताओं ने एक नई चेतना और नया उत्साह पैदा किया था। 'रूपदर्शन' में वे फिर कवि के रूप में हमारे सम्मुख आये हैं। 'एक युग के बाद प्रेमी आगया है गीत गाने' की सूचना 'भूमिका' वाली कविता में देकर उन्होंने 'रूपदर्शन' के सम्बन्ध में सफाई देते हुए लिखा है—"रूपदर्शन के गीत रूप (सौन्दर्य) प्रीति और यौवन की वे अनुभूतियाँ हैं, जो मानव हृदय में सृष्टि के आदिकाल से झंकृत हो रही हैं और अन्तकाल तक होती रहेंगी, जो एक सम्राट के हृदय में नृत्य करती हैं तो एक भिक्षुक के हृदय में भी।" इस सफाई के मूल में कवि का वह भाव है, जो कवि से युग की भावनाओं को वाणी देने की माँग करने वाले कवि से हो सकता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रेमी जैसा प्रौढ़ कवि युग की विषमता के अनुकूल कोई प्रौढ़ कृति, जिसमें आज की समस्या का समाधान हो, न देकर एक किशोर की अनुभूति के गीत देगा, यह आश्चर्य की बात है। किसी सुन्दरी के रूप का आकर्षण कवि की आत्मा में हल-चल मचा गया। वह उसे पाने की आशा में रहा पर वह न मिली। केवल इतनी सी बात पर कवि ने १३४ गीत लिखे हैं। जहाँ आग और आँधी-पानी वाली कविताओं की माँग करने वाले को इन गीतों से निराशा होगी वहाँ शुद्ध कला के पारखी इस बात से अवश्य प्रसन्न होंगे कि प्रेमीजी की प्रतिभा की ताजगी अभी युगों तक बनी रहेगी। हमें तो वस्तुतः इस कृति से प्रेमीजी की कवित्वशक्ति का ही प्रमाण मिला। बच्चनजी के निशा-निमन्त्रण के गीतों में जो पूर्णता है, वही प्रेमी जी के रूपदर्शन के गीतों में है। इन गीतों का अंतिम 'बन्द' बड़ा चुभता हुआ है। गीत बड़े सरल और सीधे सादे हैं। इसके छन्द के विषय में स्वयं कवि ने कहा है—"उर्दू गजल और हिन्दी गीत का सम्मिश्रण मैंने इन रचनाओं में किया है। गीत की प्रत्येक दो पंक्तियों का जोड़ा अपने आप में पूर्ण है लेकिन अपूर्ण भी है क्योंकि आगे की पंक्तियों से सम्बन्ध की कामना है।" अपने इस प्रयोग को उन्होंने 'बचपन' कहा है पर हमारी सम्मति में उनका यह प्रयोग स्तुत्य है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ देखिए—

किसे मालूम था दिन दिन
उलझता जायगा जीवन,
बनी है बल्लरी विस्तृत
व्यथा नव जात छोटी-सी।
    चुभा करती सदा दिल में
    किसी की बात छोटी सी।

× × × ×

घोल मसि में दर्द दिल का
लिख दिए हैं छन्द मैंने,
स्तूप अपनी जिन्दगी का
कर लिया निर्माण मैंने।

आँसुओं को बोलने का
दे दिया बरदान मैंने।

इतना अवश्य है कि इन गीतों के अत्यधिक बाहुल्य ने ही इन्हें कुछ हलका कर दिया है। यदि कथन की कुछ भंगिमा लेकर प्रेमीजी चले होते तो इनमें और भी जान आजाती। फिर भी हम प्रेमीजी को इस रचना के लिए साधुवाद देते हैं।

प्रतिध्वनि—लेखक-श्री रघुवीरशरण 'मित्र'। प्रकाशक—अ० भा० राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशन परिषद, मेरठ। पृष्ठ सं० १५२, मूल्य ३)

श्री रघुवीरशरण 'मित्र' हिन्दी के जाने माने कवि हैं। उनके एक सौ एक गीतों का यह संग्रह बचन के निशा-निमन्त्रण की भाँति अपनी आत्मा की संगिनी के बिछुड़ने पर लिखा गया है। वह, जिसे कवि ने पाया था रूप का समुद्र था। कवि उसे पाकर धन्य हो गया था। लेकिन वह अधिक दिन तक साथ न रह सका। कवि का हृदय टूट गया और उसका जीवन शून्य हो गया। उसने गीतों द्वारा उसकी स्मृति, उसके सौन्दर्य, उसकी प्रेरणा और उसके सम्मोहन का अङ्कन किया है। जीवन और जगत की क्षणभंगुरता पर कवि के उद्गार बड़े स्वाभाविक हैं। इसके साथ ही जग को उसकी निष्ठुरता के लिए कवि ने जिस प्रकार धिक्कारा है वह बड़ी मार्मिकता लिए है—

मेरे प्राण बन गए आँसू,
मन चाही होगई तुम्हारी
लो अब जी भर खूब हँसो तुम,
वह तो सह-सह स्वर्ग सिधारी

और कवि की यह गर्वोक्ति देखिए—

मेरे गीत नहीं मरने के
तुम तो कल ही मर जाओगे
मेरी बीती हुई कहानी
मत छेड़ो तुम थक जाओगे

जीवन की परिभाषा देते हुए कवि कहता है—

अरे वह जीवन है जिसमें
अन्तर्ज्वाला का प्रकाश है।
पी जाओ तुम पाप धरा का,
अरे नहीं तो व्यर्थ प्यास है।

ऐसे ही उद्गारों से यह गीत भरे हैं। लेकिन कुछ गीत भरती के हैं। 'जाने वाले मेरी बिगड़ी बात बनाता जा' (७३) वाली पंक्ति का गीत [illegible] है। ऐसे ही कई दूसरे गीत इतने हलके हैं कि [illegible] गीतों की सुन्दरता को भी कम कर देते हैं। हमारा कवि से अनुरोध है कि ऐसे गीतों को आगामी संस्करण में निकाल दें। वैसे मित्रजी को अपने प्राणों की पीड़ा को गीतों में उतारने में असाधारण सफलता मिली है।

दीपिका—ले०-श्री ललितकुमारसिंह 'नटवर'। प्रकाशक-बम्बई बुकडिपो १६५/१, हरिसन रोड, कलकत्ता। पृष्ठ सं० ९६, मूल्य २॥)

श्री ललितकुमारसिंह 'नटवर' बिहार के पुराने साहित्य-महारथी और समाज सेवी हैं। वे एक ही साथ कवि, नाटककार, अभिनेता और संस्था संचालक हैं। उन्हीं की ४९ कविताओं का संग्रह [illegible] में किया गया है। इससे पूर्व उनके 'ललित राग संग्रह', 'गुलाल' और 'बाँसुरी' तीन संग्रह और प्रकाशित हो चुके हैं। इस चौथे संग्रह में जो कविताएँ संग्रहीत हैं, आधुनिक छन्दों में भी हैं और कवित्त-सवैयों में भी। उनमें भाषा भी विविध प्रकार की मिलती है। कहीं-कहीं तो खड़ी बोली और ब्रज तथा पूर्वी भाषा का एक ही साथ चमत्कार दिखाया गया है। यही नहीं उर्दू की शायरी का भी बीच-बीच में समावेश है। 'दीपिका' एक ऐसा 'गुलदस्ता' है, जिसे कोई माली बिना यह सोचे कि वह कैसा लगेगा, विभिन्न रङ्गों के छोटे बड़े फूलों से सजा देता है। इसकी कविताओं में कवि के हृदय के सारल्य की झलक ही ऐसी विशेषता है कि जिसके कारण यह संग्रह काव्य-रसिकों को आनन्द विभोर करने में समर्थ होगा।

कृष्णायन (सटीक)—टीकाकार-श्री विनयमोहन शर्मा, प्रकाशक–प्रतिभा प्रकाशन लिमिटेड, वर्धा रोड, नागपुर। पृष्ठ सं० १२५, मूल्य २)

श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र रचित 'कृष्णायन' महाकाव्य आधुनिक युग की सर्व-श्रेष्ठ काव्य कृतियों में [illegible] जाता है। इसी अति-प्रशंसित महाकाव्य के [illegible] काण्ड (अवतरण काण्ड) का यह सटीक संस्करण है। इसके टीकाकार हिन्दी के विख्यात आलोचक और काव्य मर्मज्ञ श्री विनयमोहन शर्मा हैं। कृष्ण-जन्म से लेकर उनके अक्रूर के साथ मथुरा-गमन तक की कथा वाले इस अवतरण काण्ड की टीका करके विद्वान टीकाकार ने हिन्दी जनता का भारी हित किया है। टीका बड़ी सरल और भावपूर्ण है। पाद टिप्पणी में अन्तर्कथाओं और कठिन स्थलों के मर्म का उद्घाटन करके टीकाकार ने पाठक के लिए इस महान ग्रन्थ को और भी बोधगम्य बना दिया है। हमारा विश्वास है कि इस सटीक संस्करण से कृष्णायन और भी अधिक लोक-[illegible] प्राप्त करेगा। आशा है, कृष्ण-कथा के प्रेमी इस ग्रन्थ के पारायण द्वारा अपने जीवन को ऊँचा उठाने का अवसर प्राप्त करेंगे। टीकाकार विद्वान हमारी बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने बड़ी योग्यता और परिश्रम से इस ग्रन्थ को जनता-जनार्दन तक पहुँचाने का यत्न किया है। —'कमलेश'

उपन्यास

वे तीनों—ले०–अयोध्याप्रसाद झा, प्रकाशक–बाल शिक्षा समिति, पटना। पृ० सं० ११६, मू० १।=)

नन्दू, श्यामू, बीरू हैं 'वे तीनों'। सीरी महाराज के भानजे दिनेश के कबड्डी खेलते समय चोट आ जाती है। तीनों उसकी निःस्वार्थ सेवा करते हैं जिससे सीरी का हृदय परिवर्तन होता है और यह वृद्ध भी बालमण्डली का सदस्य बन हिन्दुओं के आक्रमण से मुसलमानों की रक्षा करता है और प्लेग में समाप्त हो जाता है। किशोरोपयोगी 'उपन्यास' की संज्ञा इसे व्यर्थ ही दी गई है। उपदेश का पुट लिये हुए यह किशोरोपयोगी साधारणतः रुचिकर कहानी है। मैत्री, ऐक्य, समता, साहस, सहानुभूति आदि गुण इसमें आदर्श रूप में देखने को मिलेंगे।

इन्दु—ले०–व्रजबिहारीशरण एम० ए०, बी० एल०, प्रकाशक–अनिल विहारीशरण एम० बी० ई० बक्सर। पृ० २२७, मूल्य २)

यह वर्षों पहले का लिखा हुआ उपन्यास है जिसके लेखक हैं वयोवृद्ध बिहार के श्री व्रजबिहारी शरणजी। विभिन्न चरित्रों की आत्मकथाओं के रूप में इसका गठन हुआ है। मिस होथ या इन्दु के कई प्रेमी हैं—चन्द्रिकासिंह (पूषण), लीओ, राबर्ट्स। इन्दु पूषण विवाह करना चाहते हैं पर लीओ इन्दु को उड़ा ले जाता है, पूषण उसका पीछा करता है तथा सन्यासी की सहायता से उसे अन्त में बचा लेता है। वर्तमान जीवन के प्रेम द्वेष का कारण है पूर्व-जन्म के सञ्चित संस्कार। यही सिद्ध करने के लिए कुछ नीरस सा प्रभाव विहीन अन्तिम अध्याय है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त सही ही होगा पर इसका निरूपण बौद्धिक हो पाया है, न कि कलात्मक। मेस्मरिज्म तथा अति प्राकृत तत्वों का इसमें समाहार है। शोचा, कारन, पति, रात्री आदि न जाने कितनी अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं। विचार, शैली सब में पुरातनता है।

आत्म-बलिदान ('सरला की भाभी' का तीसरा भाग) ले०–इन्द्र विद्या वाचस्पति, प्र०–विजय पुस्तक भण्डार, श्रद्धानन्द बाजार, दिल्ली। पृ० २३६, मूल्य ३)

सन् १९३४ के प्रसिद्ध बिहार के भूकम्प की कथा से यह शुरू होता है जिसमें जमींदारी के बटवारे सम्बन्धी झगड़ों की चर्चा है। पढ़ने लिखने में शिथिल रामनाथ बिहार के भूकम्प में जोश भरा काम कर एक बच्ची को बचाता है। उसको लेकर सरला तथा

उसकी 'भाभी' चम्पा के परिवार का अतरंग बन जाता है। रामनाथ का प्रतिद्वन्द्वी है बलधारीसिंह और डाक्टर कैलाश। पर अन्त में विवाह करने की इच्छा न होते हुए भी भाभी की खुशी के लिए सरला रामनाथ से विवाह कर लेती है। पति के उग्र स्वभाव के कारण सती-साध्वी सरला को घोर कष्टों का सामना करना पड़ा। दोनों पति-पत्नी काँग्रेसी हैं पर घर के जीवन और समाज के जीवन में कितना पार्थक्य है! सरला जुलूस को नेत्री बनकर पुलिस की गोली की शिकार होती है—पति से छुटकारे का यही उपाय उसके पास शेष था। खराब पति के कारण अच्छी से अच्छी पत्नी का जीवन कैसा नरक बन जाता है इसी का इसमें 'करुण रस भीना' चित्रण हुआ है। बुरे स्वभाव की पत्नी के कारण पति का जीवन भी चाहे दूभर हो जाय पर उग्र पति के मारे तो स्त्री का जीवन बिल्कुल ऊसर हो जाता है। उपन्यास समाज की चेतना को स्पर्श करने वाला रुचिकर और सुपाठ्य है।

विगत और वर्तमान—लेखक-श्री शम्भुनाथ सक्सेना, प्रकाशक-गङ्गा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ। पृ० सं० ११०, मू० १॥)

यह एक छोटा सा मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। मानव अपने खोये हुए निजत्व को फिर पा सकता है—"The Great the Sinner, the Greater the Saint" इसी का इसमें आकर्षक निदर्शन है। भूला भटका मानव शाम को घर लौटकर दिन भर की आवारागर्दी को याद करता है। यही नवजीवन का सम्पादक निवनी इस उपन्यास में करता दिखाया गया है—कैसे वह घर से रुपया लेकर भागा था, फिर जुआरी, वेश्यागामी सब कुछ हुआ। मील में हड़ताल करवाई, जूतों के पालिश की, कुलीगिरी की। शुरू में बीबो से प्रेम किया पर हिन्दू-मुसलमान का विवाह कैसे होता? फिर बीबो की याद करता है पर बीबो का विवाह हो चुका है। एक दिन आमने-सामना भी हो जाता है पर कोई बात नहीं होती। 'बीबो निवीन के जीवन में बसन्त सी आई और पतझड़ सी चली गई'। गुलेवा और अवनीन्द्र का अस्पष्ट कथानक उपन्यास के प्रभाव को बढ़ाता नहीं है, घटाता भले हो। 'परिस्थितियों की प्रतिकूलता हमारी कमजोरियों का छद्मवेश है।' उपन्यास आशावादी है। बुरे से बुरा आदमी भी ऊँचा उठ सकता है इसलिए किसी को किसी भी हालत में हताश नहीं होना चाहिए। दुनियाँ का खट्टा-मीठा चख कर ही स्थायी सुबुद्धि आती है—यही इसका मनोविज्ञान है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने भूमिका में ठीक ही लिखा है कि इस लेखक की भाषा में 'बड़ी चुभन और सजीवता' है।—

प्रगति की राह—लेखक-श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, प्रकाशक-राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई। पृष्ठ २६७, सजिल्द मूल्य ४॥)

"जहाँ प्रगति की प्रेरणा मानव-मस्तिष्क के लिए प्रकृति की स्वाभाविक देन है, वहाँ प्रगति की दिशा उसके लिए एक गम्भीर पहेली है।" इसी तरह भटकते हुए दो व्यक्तियों की यह रोचक, विचारोत्तेजक कहानी है। नटखट लछमियाँ और पण्डितजी दोनों अपनी-अपनी समझ में प्रगति की राह पर हैं पर प्रगति का केन्द्र-बिन्दु है कहाँ? छुआछूत को मानना प्रगति है या उसे छोड़ना; ग्रामीण प्रगतिशील है या नागरिक; आज का 'जेंटलमैन' प्रगतिशील है या शुद्ध आचरण वाला दंभ रहित सीधा व्यक्ति—ये सब बड़े साकार प्रश्नचिह्न के रूप में चित्रित हुए हैं। लछमियाँ ने प्रगति के लिए ग्राम छोड़ा, सिनेमा, परी और बम्बई का साथ किया पर उसको दुर्गति मान वापिस आ गया अपने गाँव की सीमा में ही।

"जो जहाँ पर है ठीक है। आगे बढ़ने के लिए पीछे हटना ही पड़ता है" यही उसका और उपन्यासकार का निष्कर्ष मालूम होता है। पण्डितजी ज्ञान की खोज में शिवलिंग जाकर गूँगे हो जाते हैं पर ज्ञान ला पता हो जाता है। दोनों कथाएँ साथ शुरू होकर अलग-अलग मार्गों में जा कर अन्तिम अध्याय

में फिर मिल जाती हैं और गूँगे पण्डितजी लछमियाँ की बात का मौन अनुमोदन करते हैं—'बढ़ना चक्कर ही में है। सीधी रेखा पर नहीं' और समाज की स्वार्थहीन सेवा में भगवान् का वास है। छल छद्म का विकास प्रगति नहीं, मनसि अन्यत् वचसि अन्यत् प्रगति नहीं आज का जीवन अनिवार्यत: प्रगतिशील है। अपरिवर्तनीय स्थायी मूल तत्वों का विघटन दुष्कृति है, न प्रगति।

हृदय-मन्थन—लेखक-श्री सीताचरण दीक्षित, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ २८८, सजिल्द मूल्य ५)

१९४२-४५ के कारावास काल में लेखक के हृदय मेंजो उथल-पुथल हुई उसी का परिणाम है—'हृदय-मन्थन'। लेखक के ही शब्दों में प्रेम विलास का नहीं, त्याग का मूल मन्त्र है, मोह की नहीं, बोध की राह दिखाता है, निवृत्ति का नहीं, प्रवृत्ति का पथ-प्रदर्शक है—इस उपन्यास में इसी का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। गांधीजी के राष्ट्रनिर्माण कार्यक्रम के मूलमन्त्र अस्पृश्यता-निवारण, स्वावलम्बन-शिक्षा तथा सेवाधर्म-बोध थे। इन्हीं उद्देश्यों के प्रतीक चरित्र इस उपन्यास में हैं। हरिजन बालिका चञ्चला तथा जीवन बालसङ्गी हैं। उनका परस्पर सहज प्रेम है पर कई उलझनों के कारण चञ्चला का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध हरीश से हो जाता है। उसके हृदय को ऐसा गहरा धक्का लगता है कि गर्भिणी हो कर वह टी० बी० से मर जाती है। जीवन चञ्चला का चित्र रख कर उसी को गुरुवत् समझ अपना सेवा-धर्म का कार्यक्रम बढ़ाता है। चञ्चला के साथ निर्मला, वसुधा, जया, मीनाक्षी आदि कई लड़कियाँ पढ़ती थीं। उन सबका मनोवैज्ञानिक चित्रण अच्छा हुआ है। उधर जीवन के साथ सरस्वती, लीला, यमुना आदि पढ़ती हैं। करुणाशङ्कर के षड्यन्त्र से जीवन घायल होता है और निष्कलङ्क होते हुए भी उसके चरित्र के सम्बन्ध में गलतफहमी होती है—उसी के कारण चञ्चला और जीवन संयुक्त नहीं हो पाते। इसका कथानक रोचक एवं विचारोत्तेजक है। इसका अगर चल-चित्र बनाया जाय तो अच्छी सफलता मिल सकती है।

इन्सान—लेखक-श्री यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ २४७, सजिल्द मूल्य ४)

इस उपन्यास का प्रारम्भ भारत-विभाजन से हुआ है और प्रारम्भ में उसी का हृदयस्पर्शी चित्र उपस्थित किया गया है। भारत-विभाजन के परिणाम स्वरूप ऐसी घटनाएँ घटी हैं कि 'Facts are stranger than fiction' वाली बात लेकर वस्तुस्थिति का चित्रण ही पाठक को रोमाञ्चित करने के लिए पर्याप्त है। शान्ता और रमेश परस्पर अनुरक्त हैं पर उनको पृथक् हो जाना पड़ा। शान्ता अध्यापिका बन जाती है; रमेश 'इन्सान' पत्र की स्थापना करता है। गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित वह इन्सान है, न हिन्दू, न मुसलमान और वही इस उपन्यास का नायक है। रमेश का साथी आजाद अनजान में कम्यूनिस्ट विचार-धारा से प्रभावित हो कर 'इन्सान' के सम्पादक की हत्या करना चाहता है। शान्ता से रमेश को इसका पता चल जाता है और वह स्वयं आजाद से मिलने चला जाता है। रमेश रशीदा से आर्थिक मदद पाकर ही 'इन्सान' पत्र चलाता है। रशीदा अमरनाथ से विवाह कर लेती है पर यह विवाह असफल होता है और रशीदा का विवाह फिर आजाद से ही करवा दिया जाता है। उपन्यास का कथानक बहुत कुछ यथार्थ होते हुए भी पूरा 'रोमांटिक' लगता है। राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक सभी तत्वों का इसमें समावेश हुआ है। उपन्यास सामयिक है इसलिए कहीं-कहीं उपन्यास सा न लग कर इतिहास का सा रूप धारण करता मालूम होने लगता है। उपन्यास रोचक और सुपाठ्य है।

अमृतकन्या—ले०-'अज्ञात' एम० ए०, प्रकाशक-गङ्गापुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ। पृष्ठ सं० ३४१, सजिल्द मू० ५)

यह राजनीतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपन्यास १५ अगस्त, १९४७ के ६ महीने पूर्व का जीता जागता चित्र है। श्री दुलारेलाल के शब्दों में 'यह उपन्यास चरित्र-चित्रण में चारु, कथोपकथन में कमनीय, भाषा शैली में भव्य है। भाषा में प्रवाह है, पाठक कहीं भी ऊबता नहीं।' उपन्यास में कोई तीस पात्र हैं तथा कथानक इतना विस्तृत और कहीं कहीं उलझा हुआ है कि लेखक ने 'उपन्यास की सार-भूमि' के रूप में उसका सारांस देना आवश्यक समझा है। फिर भी उपन्यास अत्यन्त रोचक, रोमांचक और हृदय-द्रावक है। गिरिराज और झरना का विवाह होते ही पाकितानी गुण्डे बरात पर आक्रमण कर देते हैं। गिरिराज घायल होता है और झरना को मंसूर ले जाता है। मंसूर के साथ निकाह करके वह निष्कलङ्क खिड़की से कूद पड़ती है। घरवाले झरना को स्वीकार नहीं करते—मुसलमान के घर में रह आई इसलिए! झरना गिरिराज का पता अन्त तक नहीं पा सकी और उसकी मृत्यु हो जाती है। गिरिराज उसी समाधि पर पहुँच कर १५ अगस्त ४७ को समाप्त हो जाता है। ऐसे ही नरगिस-कीरत का आख्यान है। दोनों का विवाह नरगिस के चाचा नहीं होने देते। कीरत की हत्या हो जाती है। नरगिस को एक सरदार खरीद कर हिन्दुस्तान ले आता है। नूरमुहम्मद-शबनम, स्वर्णलता-नीलकमल, विजयलक्ष्मी-अब्बासी आदि की कथाएँ अपनी गति से बढ़ने में उत्सुकता बराबर बनी रहती है। पात्रों और घटनाओं का घटाटोप जरूर है पर भाषा में ओज और शैली में प्रवाह बराबर बना रहा है।

—प्रो० नागरमल सहल, एम०ए०

राजनीति

संविधान की रूप-रेखा—लेखक-श्रीयुत श्रीपाल जैन, प्रकाशक-अशोक पुस्तक मन्दिर, बाग मुजफ्फर-खाँ आगरा। पृष्ठ ५५, मूल्य ॥)

इसमें लेखक महोदय ने नागरिक शास्त्र की आवश्यक रूप से ज्ञातव्य बातें बतलाकर भारतीय संविधान की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त लेखक ने भारत की विद्यमान समस्याओं का उल्लेख कर वर्तमान सरकार ने उनके हल का जो प्रयत्न किया है उसका भी दिग्दर्शन कराया है। वर्तमान चुनाव में जिन राजनीतिक दलों ने भाग लिया है उनके चुनाव चिन्हों के साथ उनके कार्य-क्रम का परिचय भी कराया गया है।

स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक नागरिक को अपने देश का शासन विधान जानना परमावश्यक है जिससे कि वह अपने देश की राजनीतिक गति विधि में सक्रिय भाग ले सके। इस दृष्टि से यह पुस्तक राजनीति के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए परमोपयोगी है।

—गुलाबराय

सर्वोदय-तत्व-दर्शन—लेखक-श्री गोपीनाथ धावन, प्रकाशक-सस्ता-साहित्य मण्डल, दिल्ली। पृष्ठ सं० ३८३, सजिल्द मूल्य सात रुपये।

राजनीति शास्त्र के विद्वान डा० गोपीनाथ धावन ने गाँधीवाद का राजनीतिक एवं दार्शनिक पक्ष स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। संसार के अनेकों वादों से गाँधीवाद की तुलना करके एवं मनोवैज्ञानिक मान्यताओं की कसौटी पर उसे कस कर डाक्टर साहब ने सफलता पूर्वक गाँधी-विचार-धारा की श्रेष्ठता और महानता को प्रमाणित किया है। महात्मा गाँधी ने कभी भी अपने विचारों को कोई राजनीतिक वाद का रूप देने का प्रयास नहीं किया था। उनको समय-समय पर अहिंसा के प्रकाश में जो कुछ भी ठीक और सत्य प्रतीत हुआ वह उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया। इसी कारण लोगों को गाँधी वाद में अनेकों विरोधा-

भास तथा वैज्ञानिक दृष्टि कोण से त्रुटियाँ दिखाई देतीं हैं। लेखक ने इन सब का समाधान किया है। सबसे महत्व-पूर्ण बात है कि लेखक ने अकथ परिश्रम कर उद्धरणों का संकलन किया है जिससे पाठक को ... से कहीं भी मतभेद का अवसर नहीं मिल... उप... यही नहीं अनेकों पश्चिमी विद्वानों के उद्धरण ... पाठक यह जान कर आश्चर्यान्वित हो जाता है कि गाँधीवाद कितना व्यापक है तथा इसके विकास की एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है।

पहिले दो अध्यायों में अहिंसा की परम्परा और आध्यात्मिक विवेचन है। तीसरे और चौथे अध्याय में नैतिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत साध्य और साधन की एकरूपता तथा निषेधात्मक अहिंसा में भेद दिखाया है। फिर सत्याग्रही नेता के ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अभय, अस्तेय आदि गुणों का निरूपण किया है। शरीर श्रम, सर्व-धर्म-समभाव की आवश्यकता प्रमाणित की गई है।

छठे अध्याय में यह दिखाया है कि सत्याग्रही किन-किन अवसरों पर और कैसे सत्य का निर्णय आन्तरिक प्रेरणा से करता है तथा उपवास आदि से ... उनका अनुसंधान करता है। सत्याग्रह-जीवन-धर्म के रूप में एक सुन्दर अध्याय है यहाँ पर सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध (पैसिव रेजिस्टेन्ट) भेद बताया है। इस प्रकार सत्याग्रह केवल सामूहिक प्रतिरोध पद्धति नहीं है, वास्तव में सामूहिक प्रतिरोध पद्धति के रूप में अजेय होने के लिये ... आवश्यक है कि सत्याग्रह का अभ्यास दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य में हो।

सामूहिक सत्याग्रह की राजनीति के समस्त दृष्टियों से विवेचना की गई है। अन्तिम अध्याय में अहिंसक राज्य सङ्गठन का वर्णन है, इसमें बौद्धिक परिग्रह का औचित्य, राज्यरहित जनतन्त्र, बहुमत और अल्पमत आदि की सुन्दर विवेचना है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गाँधीजी को पूर्णरूप से समझने के लिये पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तक के अन्त दी हुई अनुक्रमणिका इस उपयोगिता को और भी बढ़ा देती है।

—वाजपेयी एम० ए०

नागरिक और राज्य—लेखक-प्रो० केदारनाथ प्रसाद एम० ए०, प्रकाशक-पुस्तक भण्डार, पटना। पृष्ठ ४६४, मूल्य ८)

हिन्दी में अर्थ शास्त्र और राजनीति शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें कम हैं। जो हैं उनमें प्रस्तुत पुस्तक विवेचनात्मक और गम्भीर है जिसको लेखक ने बी० ए० के विद्यार्थियों के योग्य बनाने का प्रयास किया है। दूसरे भाग में राज्य की विवेचना में विजय के अनुसार अनेक प्रसिद्ध विदेशी लेखकों के मत दिये गये हैं।

राज्य निर्माण के भिन्न-भिन्न मतों पर विशद प्रकाश डालते हुए अराजकता, पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फेबियनवाद और गांधीवाद आदि की अच्छी और क्रमबद्ध व्याख्या है। गांधीवादी विचार धारा की यूनानी, समाजवादी तथा साम्यवादी विचार धाराओं से तुलना की गई है और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि किस तरह गांधीवाद पीड़ित मानवता को प्रेमरूपी अमृत पिलाने के लिए साम्यवाद से भी आगे की वस्तु है।

विद्यार्थियों की विशेष सुविधा के लिए लेखक ने राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता, भारतीय ग्रामों का पुनर्निर्माण तथा भारत के वर्तमान विधान पर तीन अध्याय जोड़ कर सोने में सुहागे का काम किया है।

पुस्तक की भाषा विषयानुसार है और सभी स्थानों पर अंग्रेजी के पर्याय दे दिये गये हैं।

—दयाप्रकाश एम० ए०

Sahitya Sandesh, Agra.
MARCH 1952.

REGD. NO. A. 268.
License No. 16.
Licensed to Post without Prepayment

वर्ष १३] आगरा—अप्रैल १९५२ [अङ्क १

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

सत्येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी.

महेन्द्र

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

मुद्रक

साहित्य-प्रेस, आगरा।

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का।=)।

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के द्वितीय सप्ताह में निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजना चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जबाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

हिन्दी का नया प्रकाशन : मार्च, १९५२

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

हिन्दी कथा साहित्य—गङ्गाप्रसाद पाण्डेय ३)

मराठी साहित्य का इतिहास—श्री बा० वासुदेव गोडवेले ३)

काव्य

जायसी ग्रन्थावली—माताप्रसाद गुप्त १२)

अशोक वन—गोकुलचन्द्र शर्मा १।।)

कहानी

रक्त के बीज—मन्मथ गुप्त २।।)

जीवन के अञ्चल में—लीलावती मुन्शी ४।।)

कहानी नई पुरानी—रघुवीरसिंह २)

शैतान—नरेन्द्र चौधरी १)

उपन्यास

कजली—भवानी भट्टाचार्य ४।।)

जीवन दान—श्रीराम शर्मा 'राम' १।।।=)

आदमी और सिक्के—महेन्द्रनाथ १।।।=)

कायर—राजेन्द्र शर्मा १।।=)

वेद वृक्षों की छाया—शिह येन १)

पथ की खोज—डा० देवराज ४।।)

नाटक

युगछाया—शिवधानसिंह चौहान २।।)

रामानुज—रांगेय राघव १।।)

जीवनी

सीधी चढ़ान—के० एम० मुन्शी ४।।)

धार्मिक

जैन जागरण के अग्रदूत—गोयलीय ५)

ज्योतिष

आध्यात्म ज्योतिष विचार—ह० न० काटवे १०)

स्वास्थ्य

प्राकृतिक चिकित्सा—डा० खुशीराम "दिलकश" ३।।)

हमारा भोजन—डा० खुशीराम 'दिलकश' ३।।)

विविध

संतति नियमन—मेरी स्टोप २।।)

हिन्दी की सभी पुस्तकों के मिलने का एक मात्र स्थान—साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

वर्ष १३] आगरा—अप्रैल १९५२ [अङ्क १०

हमारी विचार-धारा

हिन्दी लेखकों को पुरस्कार—

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने गत दो वर्ष की भाँति इस वर्ष भी हिन्दी लेखकों को प्रोत्साहन देने के निमित्त उनकी लिखी हुई पुस्तकों पर निम्न भाँति पुरस्कार देने की घोषणा की है। यह घोषणा दो बार में हुई है—पहली बार लेखकों को छः हजार रुपए की घोषणा की और दूसरी बार में ५० हजार रुपए की। इस प्रकार ५६ हजार रुपया पुरस्कार में दिया गया है और अभी कुछ और पुरस्कारों की घोषणा होने वाली है। कुछ अच्छी पुस्तकें पुरस्कार पाने से रह गईं, और कुछ साधारण पुस्तकों पर पुरस्कार मिल गया—छिद्रान्वेषण की यह बातें छोड़कर उत्तरप्रदेशीय सरकार के इस महत्व-पूर्ण कार्य की हम मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। और इसके लिए उसके शिक्षा मन्त्री माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी को हार्दिक बधाई देते हैं। हमारा यह विश्वास है कि प्रान्तीय शिक्षा विभाग इस शुभ कार्य को जारी रक्खेगा और इसमें इतना संशोधन करेगा कि भविष्य में उन पुस्तकों पर अधिक पुरस्कार दिया जाय जिनकी अधिक आवश्यकता है। साथ ही जिन विषयों में महत्वपूर्ण पुस्तकों का अभाव है उन विषयों को पहले से निर्देश कर दिया जाय जिससे उन विषयों पर लिखने और पुस्तक छापने के लिए लेखक और प्रकाशकों को प्रोत्साहन मिले। पुरस्कृत पुस्तकों और उनके लेखकों की सूची नीचे दी जाती है—

प्रथम बार—

श्री दीनदयाल गुप्त (अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय २ भाग)	११००)
रेवरेण्ड फादर का० बुल्के (राम कथा)	११००)
श्री भगीरथ मिश्र (हिन्दी काव्यशास्त्र का इति०)	८००)
श्री युधिष्ठिर मीमांसक (संस्कृत व्याकरण का इतिहास)	६००)
श्री रामगोविन्द त्रिवेदी (वैदिक साहित्य)	६००)
श्री रामअवतार (भारत की अध्यात्म मूलक संस्कृति)	५००)
श्री अलगूराय शास्त्री (ऋग्वेद रहस्य)	५००)
श्री भगवानदास केला (हमारी आदिम जातियाँ)	५००)
श्री बेनीप्रसादसिंह (स्वर्ग)	२५०)

द्वितीय बार—

श्री परशुराम चतुर्वेदी, बलिया—(उत्तर भारत की सन्त परम्परा) २,०००)
श्री अनूप शर्मा, लखनऊ—(वर्द्धमान) १७००)
श्री उदयवीर शास्त्री, कनखल—(सांख्य दर्शन का इतिहास) १,२००)
श्री अयोध्य प्रसाद गोलीय—(शेर ओ-शायरी और शेर ओ सुखन) १०००)
श्री कृष्णदत्त वाजपेयी—(भारतीय व्यापार का इतिहास) १०००)
श्री सीताराम जायसवाल—(पश्चिमी शिक्षा का इतिहास) १०००)
डा० दयास्वरूप—(धातु विज्ञान) १०००)
श्री कपिलदेव शास्त्री—(अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन) १०००)
श्री रामेश्वर गुप्त—(मानव की कहानी) १०००)
डा० केसरी नारायण शुक्ल—(रूसी साहित्य) १०००)
प्रो० केदारनाथ प्रसाद—(नागरिक और राज्य, आधुनिक अर्थ-शास्त्र) १०००)
श्री भरतसिंह उपाध्याय—(पाली साहित्य का इतिहास) १०००)
श्री बलदेव उपाध्याय (भारतीय साहित्य शास्त्र) १०००)
श्रीमती शचिरानी गुर्टू—(साहित्य दर्शन, विश्व की महान् महिलाएँ) १०००)
श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र—(वत्सराज और दशाश्वमेध) १०००)
श्री रामनरेश वर्मा (वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना) ८००)
श्री बेनीमाधव मिश्र—(रचनात्मक शिक्षा, बच्चों की शिक्षा, सामाजिक शिक्षा) ८००)
श्री शम्भूप्रसाद बहुगुना—(विराट हृदय मानस मंदाकिनी) ८००)
डा० फतहसिंह—(वैदिक दर्शन, कामायनी-सौन्दर्य) ८००)
श्री एम० डी० जोशी तथा श्री सेवाराम शर्मा—(अर्थशास्त्र) ८००)
डा० सूर्यप्रसाद अग्रवाल—(अकबरी दरबार के हिन्दी कवि) ८००)
डा० पद्मा अग्रवाल—(मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ) ८००)
श्री मैथिलीशरण गुप्त—(प्रदक्षिणा, हिडिम्बा, पृथ्वीपुत्र) ८००)
श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'—(बलिपथ के गीत और समर्पण) ८००)
डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार—(राजनीति शास्त्र, पाटलीपुत्र की कथा) ८००)
प्रो० सुधीन्द्र—(हिन्दी कविता में युगान्तर) ८००)
श्री हरिभाऊ उपाध्याय—(भागवत धर्म) ८००)
श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी—(ज्योति विहग) ८००)
श्री नन्ददुलारे बाजपेयी—(आधुनिकसाहित्य) ८००)
श्री अन्नपूर्णानन्द—(मनमयूर) ८००)
श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव—(कबीर साहित्य का अध्ययन) ८००)
श्री सद्गुरुशरण अवस्थी—(बुद्धि तरंग, नाटक और नायक–६ भाग) ७००)
प्रो० अर्जुन चौबे, कश्यप—(सामान्य मनोविज्ञान, बाल मनोविज्ञान) ७००)
श्री विनोदशङ्कर व्यास—(यूरोपीय उपन्यास साहित्य, दिन रात) ७००)
श्री रामेश वेदी, आयुर्वेदालङ्कार—(सौंठ, तुलसी, मिर्च, लहसन, प्याज और शहद) ६००)
श्री आनन्द झा—(पदार्थ शास्त्र) ६००)
श्री अत्रिदेव गुप्त—(स्त्रियों का स्वास्थ्य व रोग, हमारे भोजन की समस्या, भेषज्य कल्पना) ६००)
श्री दयानन्द पन्त—(विकासवाद) ६००)
श्री घनानन्द—(आशुलिपि बोध) ६००)
डा० सुरेशप्रसाद शर्मा—(आगनम, बायोकेमिक चिकित्सा, रोगी की सेवा और पथ्य) ६००)
श्री उदयशङ्कर भट्ट—(विजय पथ, शकविजय) ६००)
श्री हरिकृष्ण प्रेमी—(शपथ, रूपदर्शन) ६००)
श्री शिवदानसिंह चौहान,काश्मीर देश व संस्कृति) ६००)

डा० रामकुमार वर्मा—(आकाश गंगा) ६००)
श्री हरवंशराय 'बच्चन'—(मिलन यामिनी) ५००)
श्री किशोरीदास वाजपेयी—साहित्य निर्माण) ५००)
श्री गोपाल तिवारी (हमारे भोजन की समस्या) ५००)
कु० शकुन्तला सक्सेना—(अवकाश के क्षण) ५००)
श्री मुरलीधर जोशी—(द्रव्य शास्त्र) ५००)
श्री लालजीराम शुक्ल—(नीति शास्त्र) ५००)
श्री ऋषिकेष नारायण—(मुद्रा एवं मौद्रिक संस्थाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन) ५००)
श्री शम्भूनाथ झा (भारतीय शिक्षा की प्रगति) ५००)
श्री गङ्गाप्रसाद पांडे—(हिन्दी कथा साहित्य) ५००)
श्री सैयद कासिम अली—(देशभक्त नर्तकी) ५००)
श्री परिपूर्णानन्द—(नैपाल का पुनर्जागरण) ५००)
श्री परमानन्द शर्मा—(छत्रपति) ५००)
श्री रामनरेश पाँडे—(रश्मि रेखा) ५००)
प्रो० हरिदास माणिक—(आत्मत्यागी वीर) ५००)
श्री शिवसहाय चतुर्वेदी—पाषाण नगरी) ५००)
श्री श्यामसुन्दरलाल दीक्षित—(श्याम-संदेश) ५००)
श्री चतुर्भुज—(मीर कासिम) ५००)
श्री कन्हैयालाल वर्मा—(संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान) ५००)
श्री गङ्गाप्रसाद उपाध्याय, इलाहाबाद—(अत्रेय ब्राह्मण) ५००)
श्री बलवीरसिंह 'रंग'—(सङ्गम) ५००)
श्री हनुमद दयालु अवस्थी—(सीता-सुधि) ५००)
श्री जगपति चतुर्वेदी—(बिजली की लीला, विलुप्त जंतु) ५००)
श्री विनयमोहन शर्मा—(दृष्टिकोण) ५००)
कु० शकुन्तला, काशी (आधुनिक काव्य में सौन्दर्य भावना) ५००)
श्री प्रकाशचन्द यादव इलाहाबाद—(स्वास्थ्य शिक्षा और व्यक्तिगत व्यायाम) २५०)

जिन विद्वान लेखकों और मनीषी साहित्यकारों को यह पुरस्कार मिले हैं उन्हें हम हार्दिक बधाई देते हैं।

सम्मेलन पत्रिका का मत—

इन पुरस्कारों के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मुखपत्रिका 'सम्मेलन पत्रिका' ने भी एक टिप्पणी छापी है। अपने पाठकों की जानकारी के लिए हम उसे यहाँ उद्धृत कर रहे हैं:—

इधर तीन-चार वर्षों से उत्तर प्रदेश की सरकार हिन्दी के श्रेष्ठ एवं मौलिक ग्रन्थों पर उनके लेखकों को पुरस्कार देने लगी है। ग्रन्थों के चुनाव एवं उनके लेखकों को दिये जाने वाले पुरस्कार के निर्णय के लिए उसने एक हिन्दी परामर्शदात्री समिति बनाई है। इस समिति के सञ्चालन एवं निर्णयों के सम्बन्ध में साहित्यकारों में सन्तोष एवं विश्वास का भाव तो नहीं है और इसमें ग्रन्थों के मान की अपेक्षा पहुँच और संरक्षण की भावनाओं को भी स्थान देते हम देखते हैं; फिर भी सरस्वती की साधना में रत साधकों को जो भी सहायता सरकार की ओर से मिले, कम है।

बिहार में भी एक सरकारी संस्था बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, कुछ दिनों से, काम करने लगी है जिसके मन्त्री हिन्दी के पुराने साहित्य-साधक श्री शिवपूजन सहाय हैं। इस संस्था ने हिन्दी ग्रन्थों पर कुछ पुरस्कार देना आरम्भ किया है। इस वर्ष श्री पारसनाथसिंह के 'जगत सेठ' ग्रन्थ पर पुरस्कार दिया गया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अङ्गभूत संस्था राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने अपना 'महात्मा गाँधी पुरस्कार' इस वर्ष वैदिक साहित्य के पुराने अन्वेषक आचार्य सातवलेकर को दिया है।

यह हर्ष की बात है कि धीरे धीरे साहित्य निर्माण एवं साहित्यकारों की आर्थिक सहायता की ओर राज्य सरकारों का ध्यान जाने लगा है। परन्तु इस दिशा में भारत सरकार का मौन खिझाने वाला है—वस्तुतः उस दशा में जब उसके शिक्षा-विभाग का भाग्य एक महान् शैलीकार और साहित्यकार के हाथ में है। समय आ गया है, जब साहित्य निर्माण के कार्यक्रम को न केवल महत्त्व व प्राथमिकता

मिलनी चाहिए। स्वतन्त्र राष्ट्र की संस्कृति का निर्माण राजनीति के खिलाड़ियों की अपेक्षा जीवन की साधना में रत चिन्तकों पर अधिक निर्भर है।

ब्रज साहित्य मण्डल का अधिवेशन—

४, ५, ६ अप्रेल को हाथरस में ब्रज साहित्य [मण्डल] का आठवां वार्षिक अधिवेशन हुआ। यह [उत्सव] कई दृष्टियों से अभूतपूर्व हुआ। राष्ट्रपति डा० [रा]जेन्द्र प्रसादजी के शुभागमन से, जिन्होंने अधिवेशन का उद्‌घाटन किया, उत्सव अत्यन्त आकर्षक बन गया था। आपके भाषण में ब्रज भाषा की सुन्दरता और मोहकता का मार्मिक वर्णन था। इसी अवसर पर अन्तर्जनपदीय परिषद की स्थापना हुई। राष्ट्रपति का भाषण इसमें भी हुआ और सुन्दर हुआ। ब्रज नाट्य परिषद की स्थापना और उसका उद्‌घाटन भी इसी अवसर पर हुआ जिसमें प्रो० गोपालदत्तजी के प्रयत्न और परिश्रम से साहित्य, सङ्गीत और कला का अद्‌भुत सम्मिश्रण देख कर जनता और विद्वान सभी मन्त्र मुग्ध होकर रह गये। अधिवेशन की एक बड़ी विशेषता यह भी थी कि इस बार अधिवेशन का सारा व्यय अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष श्री रामबाबूलालजी ने अपनी ओर से दिया। इसके लिए, जहाँ तक हम जानते हैं, कोई चन्दा नहीं किया गया। उत्सव का व्यय हमारे अनुमान से बीस पचीस हजार के लगभग होगा। स्वागताध्यक्ष ने अपने पूज्य पिता श्री सेठ नवलकिशोर जी के शुभ नाम पर 'नवलकिशोर पुरस्कार' की स्थापना की—यह एक हजार रुपया वार्षिक का पुरस्कार प्रतिवर्ष मण्डल की ओर से दिया जायगा। इस वर्ष आपने यह पुरस्कार श्री श्रीनिवासदास पुरस्कार के विजेता हिन्दी के ठोस विद्वान और अनन्य सेवक, डा० सत्येन्द्र को उनकी खोज और आलोचना की महत्वपूर्ण पुस्तक "ब्रज-लोक साहित्य का अध्ययन" पर दिया। अधिवेशन की एक और बड़ी विशेषता थी विद्वानों के समागम की। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बा० गुलाबराय एम० ए०, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, आदि हिन्दी के अनेक चोटी के विद्वान यहाँ पधारे थे। अधिवेशन के सभापति सेठ गोविन्ददास जी थे। उनका भाषण महत्वपूर्ण था और उन्होंने उत्सव में सक्रिय भाग लिया। मण्डल के गत वर्ष के सभापति श्रीमान गुलाबरायजी के प्रयत्न से प्रसिद्ध कलाविद श्री पी० एल० शर्मा द्वारा बनाया मण्डल के भवन का मानचित्र प्रस्तुत किया गया था जिसे देखकर सभी ने उसकी प्रशंसा की। यह भवन लगभग पाँच लाख की लागत से बनेगा। हाथरस के श्री वल्लभदास जी ने इसके लिए दस हजार रुपए देने की घोषणा की। इस प्रकार ब्रज साहित्य मण्डल का यह अधिवेशन एक ऐतिहासिक अधिवेशन हो गया। हम इसके लिए मण्डल के नए-पुराने सभी कार्यकर्त्ताओं को बधाई देते हैं। और आशा करते हैं कि वे आगे और भी उत्साह से काम कर के अपने स्वप्नों को मूर्त रूप देते जायँगे।

अश्लील साहित्य—

साहित्य सन्देश ने समय-समय पर सत्साहित्य के प्रकाशन पर जोर दिया है। इस युग में भारत को कामुकतापूर्ण शृङ्गारी साहित्य की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी आवश्यकता वीर साहित्य और रचनात्मक साहित्य की है। प्रेम कहानियों के स्थान पर युद्ध की वीरतापूर्ण घटनाओं के आधार पर लिखी गई ओजवर्द्धक कहानियों से आज हमारे देश का भला होगा। पर हम देखते हैं कि हो रहा है इसके प्रतिकूल। कहानियों की जितनी पत्रिकाएँ निकल रही हैं उनमें अधिकांश कहानियाँ कामवासना को उत्तेजना देनी वाली निकलती हैं और उनमें कुछ तो अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाती हैं। इस परिस्थिति को सँभालने की आवश्यकता है। हमारे नौजवानों को पतन की ओर ले जाने के लिए सिनेमा ही काफी हैं, हिन्दी के प्रकाशक तो उस रास्ते पर न चलें।

काव्य जीवित वक्रोक्ति, वक्रोक्ति-अलङ्कार और अभिव्यञ्जना

श्री अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, साहित्य-रत्न

जिस समय हम वक्रोक्ति के सम्बन्ध में विवेचना आरम्भ करते हैं, उस समय हमारी बुद्धि रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' और कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ की ऊहापोह करने लगती है। कुन्तक की 'वक्रोक्ति' की विवेचना के साथ-साथ इटली के विद्वान् आलोचक 'क्रोचे' की 'अभिव्यञ्जना' का स्मरण हो आना भी स्वाभाविक है। कारण यह है कि काव्यशास्त्र में ये तीनों (कुन्तक की वक्रोक्ति, रुद्रट का वक्रोक्ति अलंकार और क्रोचे की अभिव्यञ्जना) पृथक् पृथक् होती हुई भी एक दूसरी के अत्यन्त निकट दृष्टिगोचर होती हैं। हिन्दी के कुछ विद्वान् आलोचक तो कुन्तक की 'वक्रोक्ति' और क्रोचे की 'अभिव्यञ्जना' को एक ही मानते हैं। उनके मत से दोनों की वस्तु एक है; अन्तर केवल देशी और विलायती का है। आचार्य शुक्लजी ने 'चिन्तामणि' भाग २ में 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' शीर्षक प्रबन्ध या कहिए अभिभाषण में अभिव्यञ्जनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान बतलाया है। उसी प्रबन्ध में एक स्थल पर शुक्लजी लिखते हैं—

"क्रोचे का 'अभिव्यञ्जनावाद' सच पूछिए तो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है। संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में भी कुन्तक नाम के एक आचार्य "वक्रोक्तिः-काव्यस्य जीवितम्" कहकर उठे थे। उनकी दृष्टि में भी 'उक्ति की वक्रता' ही काव्य है।"

—(चिन्तामणि भाग २ पृष्ठ २३१)

इसका अर्थ यह हुआ कि कुन्तक के 'वक्रोक्तिवाद' और क्रोचे के 'अभिव्यञ्जनावाद' में आन्तरिक तत्व एक है, अन्तर केवल रूप, रंग, रचना और आकार का है। मेरे विचार से दोनों मतों में कोई विशेष साम्य नहीं। एक मूल अन्तर तो यही है कि 'वक्रोक्तिवाद' काव्य की आत्मा तक पहुँचता है और अभिव्यञ्जनावाद केवल काव्य-शरीर पर* दृष्टि गड़ाये हुए है। यदि रुद्रट की वक्रोक्ति के विषय में कुछ कहें तो यह कह सकते हैं कि वह काव्य-शरीर—शब्दार्थ—का एक अलङ्कार मात्र है।

ईसा पूर्व द्वितीय शतक के आचार्य भरतमुनि से लेकर ईसा के सप्तदशशतक के आचार्य पण्डित राज जगन्नाथ तक कितने ही काव्यमर्मज्ञों ने काव्य की परिभाषा और उसकी आत्मा को पहचानने का प्रयत्न किया है। ईसा के नवम् शतक तक प्रायः सभी आचार्य (भामह, दण्डी, उद्भट और वामन) शब्दार्थ को काव्य का शरीर* और अलंकार तथा रीति को काव्य की आत्मा‡ मानते रहे। नवम शतक के उपरान्त जो आचार्य हुए उनमें काव्य की आत्मा को समुचित रूपेण स्पष्ट करने वाले चार आचार्य ही परम प्रसिद्ध हैं—१ 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' के वक्ता आनन्दवर्द्धनाचार्य २ 'वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवितम्' के उद्घोषक कुन्तक ३ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के लेखक पण्डित विश्वनाथ ४ 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्' के प्रतिपादक पण्डितराज जगन्नाथ।

* 'शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली'—(दण्डी ६०० ई० के लगभग) 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'—(रुद्रट ८५० ई० के लगभग)

‡ 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—(वामन ८०० ई० के लगभग)

(१) आनन्दवर्द्धनाचार्य का समय सन् ८५० ई० के उपरान्त माना गया है।

(२) कुन्तक सन् १०२५ ई० के लगभग वर्तमान थे।

(३) (४) पण्डित विश्वनाथ ईसा की चौदहवीं शताब्दी में और पण्डितराज जगन्नाथ ईसवी सन् १६२० के लगभग वर्तमान थे।

उपर्युक्त चारों आचार्यों में काव्यात्मा के स्वरूप को मौलिक रूप से पहिले तीन आचार्यों ने ही स्पष्ट किया है। पण्डितराज जगन्नाथ तो समन्वयात्मकता को ही लेकर चले हैं। रमणीयार्थ से उनका मन्तव्य 'अलौकिक आनन्द' से है। उनका कहना है कि जिस किसी अर्थ के ज्ञान से अलौकिक आनन्द हो वही काव्य है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आनन्दवर्द्धनाचार्य की ध्वनि में, पण्डित विश्वनाथ के रस में और कुन्तक की वक्रोक्ति में क्या समानता और भिन्नता है?

अलौकिक आनन्द, रमणीयता और रस एक प्रकार से एक-दूसरे के पर्यायवाची ही हैं। ये तीनों शब्द ही हमें काव्य के हृदय की ओर लेजाते हैं और काव्य-स्वरूप की विवेचना में पाठक की विचारधारा को भावमयी करते हुए अन्तर्मुखी बनाते हैं। अब विचारणीय यह रह जाता है कि 'ध्वनि' और 'वक्रोक्ति' शब्द पाठक के लिए क्या स्वरूप उपस्थित करते हैं? काव्य-स्वरूप की विवेचना में कौन आत्मा तक, कौन शरीर तक या उससे कुछ आगे तक पहुँचता है?

'काव्यस्यात्माध्वनिः' के उद्घोषक आनन्दवर्द्धनाचार्य ने जिस समय ध्वनि को काव्य की आत्मा बताया था, उस समय वे काव्य की आत्मा को इतनी स्पष्टता के साथ नहीं समझ सके थे जितनी स्पष्टता के साथ साहित्यदर्पणकार पण्डित विश्वनाथ ने समझा। उनकी 'ध्वनि' में अतिव्याप्ति दोष था। हाँ, 'रसध्वनि', निश्चित रूपेण काव्य की आत्मा कहा जा सकता है। अतः हम यही कह सकते हैं कि आनन्दवर्द्धनाचार्य की 'ध्वनि' काव्य की आत्मा नहीं वरन् एक प्राण-शक्ति है जो काव्य को बल और तेज प्रदान करती है।

"वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवितम्" लिखकर कुन्तक यह सिद्ध करते हैं कि वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है। कुन्तक के 'जीवितम्' शब्द का अर्थ कुछ विद्वान् प्राण या आत्मा लगाते हैं। 'जीवितम्' का अर्थ न प्राण है और न आत्मा। 'जीवितम्' का अर्थ 'जीवन' है। जीवन प्राण और आत्मा से स्थूल है। प्राण में साकारता तो है परन्तु सूक्ष्मता है किन्तु आत्मा रूपहीन और निराकार है। जीवन शरीर और जीव का संयोग है। हम यों भी कह सकते हैं कि सजीव शरीर की क्रियाशीलता ही जीवन है। अतः कुन्तक की वक्रोक्ति पाठक को काव्य की आत्मा का आभास तो दे देती है परन्तु दृष्टि में शरीर को ही अधिक उपस्थित करती है। निदान हम कह सकते हैं कि काव्यात्मा को पहँचानने में कुन्तक से आगे आनन्दवर्द्धन और आनन्दवर्द्धन से आगे पण्डित विश्वनाथ हैं। जीवन, प्राण और आत्मा में जो अन्तर है, वही अन्तर वक्रोक्ति, ध्वनि और रस में है। वक्रोक्ति की स्थिति वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों में है किन्तु ध्वनि केवल व्यंग्यार्थ के आँगन में ही अपना आसन बिछाती है। इस तरह कुन्तक ने अपनी 'वक्रोक्ति' में ध्वनि को भी अन्तर्भूत कर लिया है।

कुन्तक की 'वक्रोक्ति' रस-सिद्धान्त से कितना सम्बन्ध रखती है, इसकी विवेचना भी यहाँ आवश्यक है। वक्रोक्ति का अर्थ कुन्तक ने 'वैदग्ध्य भंगी भणिति' किया है—

"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भङ्गी भणितिरुच्यते।"

यह 'भङ्गी भणिति' शब्द-वैलक्षण्य या शब्द-चमत्कार भी कही जा सकती है। यह चमत्कार मन, बुद्धि, चित्त तीनों से ही सम्बन्ध रखता है। मन में रागात्मकता, बुद्धि में मीमांसा और चित्त में जिज्ञासा निवास करती है। प्रायः वक्रोक्तियाँ (बाँकपन लिये हुए कथन) श्रोता या पाठक की भाव भूमि का परिपोषन करके मीमांसा तथा जिज्ञासा की तृप्ति की ही अभिनन्दना प्राप्त करती हैं। अतः वे काव्य की अपेक्षा शास्त्र के निकट अधिक ठहरती हैं। अथवा कहिए कि भाव या रस की अपेक्षा कला या अलङ्कार से अधिक सम्बद्ध होती हैं। उनसे बुद्धि एवं चित्त की विस्तृति और संतुष्टि तो हो सकती है पर

मन की तृप्ति नहीं। किन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति मन की भी तृप्ति करती है। उसमें मन को रमणीयता प्रदान करने की शक्ति है। उसमें वाग्वैचित्र्य के साथ-साथ रागमयी रमणमूलकता भी है।

अतः कुन्तक की वक्रोक्ति की गोद में रसात्मकता और वाग्विचित्रता दोनों ही कलक्रीड़न करती हैं। उसकी 'भंगीभणिति' बड़े व्यापक अर्थ में है। भामह ने जिस वक्रोक्ति को सम्पूर्ण अलङ्कारों का मूलस्रोत माना था, उसे ही कुन्तक ने काव्य का जीवन माना है। वक्रोक्ति की विवेचना में कुन्तक भामह का ऋणी है। कुन्तक की 'वक्रोक्ति' भामह की वक्रोक्ति की व्याख्या है अथवा यों कहिए कि वह क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद और विश्वनाथ के रस सिद्धान्त का समन्वयात्मक स्वरूप है।

कुन्तक की 'वक्रोक्ति' का नाम कानों में आते ही काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक विद्यार्थी यह समझने लगते हैं कि यह वही अलङ्कार होगा जिसके प्रायः दो भेद (काकु वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति) अलंकार शास्त्रियों ने किये हैं। अलङ्कारों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले प्रथम आचार्य रुद्रट हैं। उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार का एक भेद माना है। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इसका उल्लेख भी किया है—"काकु वक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोयमिति रुद्रटः।"

कण्ठ-ध्वनि के विशेष प्रकार को 'काकु' कहते हैं। इसकी सहायता से जब कथन में वक्रता उत्पन्न होती है तब काकु वक्रोक्ति अलङ्कार की सृष्टि होती है। रामचन्द्रजी ने जब सीताजी से बन जाने के लिए मना किया तब पातिव्रतपरायणा जनकनन्दिनी कहने लगीं—

"मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुमहिं उचित तप मोकहँ भोगू॥"
—(रा० च० मा० अयोध्याकांड)

यहाँ काकु की सहायता से सीताजी की यह उक्ति वक्र (चमत्कारपूर्ण) हो गई है। राम ने सीता को सुकुमारी बताया था और बन को बड़ा कठिन और भयंकर। उपर्युक्त उदहरण में राम की उक्ति को सीता ने वक्र कर दिया है। और व्यक्त किया है कि यदि आप बन के कष्ट सह सकते हैं तो मैं भी सह सकती हूँ। मैं सुकुमारी नहीं हूँ।

श्लेष के आधार पर जब एक व्यक्ति की उक्ति को दूसरा व्यक्ति वक्र बना देता है, तब वहाँ श्लेष वक्रोक्ति अलङ्कार होता है। एक बार महात्मा गान्धी को एक सभा में भाषण देना था। उनका स्वास्थ्य उस दिन ठीक न था। अतः उन्होंने कहा—'मेरा स्वास्थ्य आज ठीक नहीं है। मैं आज खड़े होकर भाषण देने में असमर्थ हूँ।' इस पर ख्वाजा हसन निजामी ने कहा—'बापू! आपने तो देश को खड़ा कर दिया है। अब आपके खड़े होने की आवश्यकता नहीं।'

यहाँ हसन निजामी की उक्ति गान्धीजी की उक्ति पर वक्र बनी है। इस वक्रता का कारण श्लेष है जो 'खड़ा होना' शब्द में है।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि रुद्रट की वक्रोक्ति 'काकु' और 'श्लेष' की सहायता से कथन में चमत्कार उत्पन्न करती है। वह दूसरे व्यक्ति की उक्ति को वक्र बनाती है। परन्तु जब अपने भाव की अभिव्यक्ति चमत्कार पूर्ण शब्दों में की जाती है तब कुन्तक की वक्रोक्ति की उद्भूति होती है। यदि मैं किसी महापुरुष से अपने घर चलने के लिए कहूँ और कुन्तक की वक्रोक्ति की सृष्टि भी करूँ तो मैं अपने भाव को इन शब्दों में व्यक्त करूँगा—'श्रीमन्! कृपा करके आप अपने चरण कमलों से इस दीन की कुटिया को सुशोभित कीजिए।'

यहाँ मैंने अपनी उक्ति को ही वक्रता प्रदान की है किसी अन्य व्यक्ति की उक्ति को नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि जब एक व्यक्ति की उक्ति पर दूसरे व्यक्ति द्वारा विलक्षण कथन किया जाता है तब वक्रोक्ति अलङ्कार होता है और जब अपने भाव की अभिव्यक्ति चमत्कारपूर्ण शब्दों में की जाती है तब

'काव्यजीवित-वक्रोक्ति' की सृष्टि होती है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वक्रोक्ति अलङ्कार शब्दाश्रित ही नहीं अर्थाश्रित भी होता है। अर्थात् शब्दवक्रोक्ति ही नहीं अर्थवक्रोक्ति भी होती है। पण्डित रामदहिन मिश्र ने अपने 'काव्यदर्पण' में वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार का भी भेद माना है और निम्नाङ्कित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

"भिक्षुक गो कितको गिरिजे!
वह माँगन को वलिद्वार गयो री।
नाच नच्यौ कित हो भव-बाम,
कलिन्द सुता तट नीके ठयो री॥
भाजिगयो वृषपाल सुजानति,
गोधन सङ्ग सदा सुछयो री।
सागर शैल सुतान के आजु यों
आपस में परिहास भयो री॥"

—(काव्यदर्पण पृष्ठ ५३६)

यहाँ लक्ष्मी की उक्ति पर पार्वती के कथन में अर्थ श्लेष से चमत्कार उत्पन्न हुआ है। अतः वक्रोक्ति अलङ्कार है और केवल कलापक्ष का परिपोषक है किन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति कलापक्ष के साथ-साथ हृदयपक्ष (भावपक्ष) की भी प्रबल समर्थक एवं अनुमोदक है।

अब अन्त में यह विचार करना है कि कुन्तक का वक्रोक्तिवाद क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद से कितना मिलता है और कितना भिन्न है?

क्रोचे के 'मानस दर्शन' के अनुसार जड़ 'द्रव्य' नाम से और चेतन 'मन' नाम से पुकारा जाता है। क्रोचे के मत से 'द्रव्य' सदा निर्जीव और रूपहीन है। मन क्रियाशील और साँचेवाला है। मन में रूपहीन द्रव्य रूपवान् बनजाता है। क्रोचे वस्तु को कोई महत्त्व नहीं देता, वस्तु की अभिव्यञ्जना को ही सब कुछ मानता है। उसके मत से अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य का आगार है। क्रोचे के मतानुसार सौन्दर्य की स्थिति अभिव्यञ्जना में और अभिव्यञ्जना की स्थिति कल्पना में है। कल्पना का जन्म मन में होता है। जब स्वयं प्रकाश ज्ञान (Intuition) मन के साँचे में ढलकर व्यक्त होता है तब उसे कल्पना नाम से पुकारते हैं। कल्पना आन्तरिक अभिव्यक्ति है। जब यह आन्तरिक अभिव्यक्ति सुन्दर एवं चमत्कारपूर्ण शब्दों में बाहर निकलती है, तब 'अभिव्यञ्जना' नाम से अभिहित होती है। क्रोचे की यह अभिव्यञ्जना एक प्रकार का वाग्वैचित्र्य ही है जिसमें बुद्धि एवं चित्त विस्फारित होते हैं परन्तु मन नहीं रमता। मन से तात्पर्य रागमयी वृत्ति से है।

क्रोचे की अभिव्यञ्जना केवल कलापक्ष अर्थात् अलङ्कारवाद की समर्थक है और कुन्तक की वक्रोक्ति कलापक्ष एवं भावपक्ष दोनों की संपोषिका है। वक्रोक्तिवाद में अलङ्कार्य और अलङ्कार दोनों का अस्तित्व पृथक् पृथक् है परन्तु अभिव्यञ्जनावाद अलङ्कार्य ही का अस्तित्व मानता है। उसका अलङ्कार अलङ्कार्य में ही अन्तर्भूत है। क्रोचे के मत से अभिव्यञ्जना केवल सौन्दर्ययुक्त ही है परन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति सुन्दर तथा विलक्षण होने के साथ-साथ रसमय भी है। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यञ्जनावाद में इतनी तो समानता है कि दोनों ही काव्योक्ति में सौन्दर्य-स्थिति मानते हैं, परन्तु प्राण-तत्व दोनों का पृथक् पृथक् है।

श्री लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' ने अपनी पुस्तक 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' में अभिव्यञ्जनावाद और वक्रोक्तिवाद का अन्तर इस प्रकार लिखा है—"वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलङ्कार की ओर विशेष तत्पर दिखाई देती है, लेकिन अभिव्यञ्जनावाद का वाह्यरूप से अलङ्कार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।"

आचार्य बाबू गुलाबरायजी ने भी अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में 'सुधांशु' जी के मत का ही समर्थन किया है। मेरी तुच्छ बुद्धि में 'सुधांशु' जी का कथन पूरे सोलह आने ठीक नहीं जँचता। मैं तो कुछ परिवर्तन के साथ 'सुधांशु' जी के कथन को इस प्रकार लिखना अधिक उपयुक्त समझता हूँ—

पुष्टिमार्ग की भूमिका

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय बी० ए०, सा० र०

बुद्धों के 'शून्यवाद' या 'स्वप्नवाद' के विरुद्ध शंकराचार्य ने विद्रोह किया, उन्होंने अपने मायावाद के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की, उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखा। शंकर के पश्चात् (कुछ विद्वानों के अनुसार प्रतिक्रिया रूप से और कुछ के अनुसार अन्य परिस्थितियों के कारण) वैष्णव आचार्यों ने भक्ति का झंडा उठाया। इन सबने अपने मन के अनुकूल ब्रह्मसूत्रों के अर्थ लगाये। भाष्यकारों में निम्नांकित प्रसिद्ध हैं :—

१—शंकराचार्य (७८८-८२०) 'शारीरिक भाष्य' मायावाद या अद्वैत

२—भास्कर (१०००) 'भास्कर भाष्य' भेदाभेदवाद

३—रामानुजाचार्य (११४०) 'श्रीभाष्य' विशिष्टाद्वैत

४—आनन्दतीर्थ या मध्वाचार्य (१२३८) 'पूर्णप्रज्ञभाष्य' द्वैत

५—निम्बार्क (११५०) 'वेदान्त पारिजाति' द्वैताद्वैत

६—श्रीकण्ठ (१२७०) 'शैवभाष्य' शैवविशिष्टाद्वैत

७—वल्लभाचार्य (१४७९-१५४४) 'अणुभाष्य' शुद्धाद्वैत

वैष्णव-आचार्यों में रामानुज, वल्लभ, मध्वा एवं निम्बार्क में शंकर के मायावाद के विरुद्ध सिद्धा[illegible] मिलते हैं। प्रथम 'मायावाद' क्या है इसे समझने की आवश्यकता है:—

ब्रह्मः—उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप मिलते हैं।

१—निर्गुण, निर्विशेष, निराकार, अशब्द, अरूप, अरस तथा अकल आदि।

२—सर्वरस, सर्वज्ञ, सगुण, सर्वरूप।

शंकर ने प्रथम रूप ही स्वीकार किया, वेद का पर्य्यवसान निर्गुण की व्याख्या में हुआ है। 'सत्य' आदि गुण ब्रह्म के लक्षण हैं, विशेषण नहीं। वह जगत का निमित्त कारण है। ज्ञानस्वरूप व सत् चित्, आनन्दमय है। ब्रह्म जगत का उपादान कारण नहीं है।

जगत व माया—ब्रह्म की बीज शक्ति माया है। मायारहित ब्रह्म प्रवृत्ति रहित है, अव्यक्त यही है। माया न सत् है न असत् वरन् अनिवर्चनीय है, तर्क से परे। शक्तियाँ दो हैं:—१—आवरण। २—विक्षेप। इन्हीं से ब्रह्म का वास्तव रूप आवृत्त होता है और अवस्तुरूप जगत की प्रतीति का उदय होता है। आवरण शक्ति ब्रह्म के स्वरूप को ढँक लेती है

"वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलंकार की ओर भी तत्पर दिखाई देती है परन्तु उसकी दृष्टि का लक्ष्य काव्य की रमणीयता अर्थात् रस ही है। कुन्तक को वही शब्द-चमत्कार प्रिय है जो रस जन्य हो।"

कुन्तक ने 'काव्यजीवित' ग्रन्थ में लिखा है कि कवियों की रसोद्गारपूर्ण वाणी ही जीवित रहती है।*

* "निरन्तर रसोद्गारगर्भ सन्दर्भ निर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः॥"
—वक्रोक्ति जीवित

अतः स्पष्ट है कि कुन्तक की वक्रोक्ति रसजन्य चमत्कार की उपासिका है, सामान्य अलंकारों की नहीं, जो केवल वाग्वैचित्र्य ही उत्पन्न करके रह जाते हैं। 'वक्रोक्तिजीवित' कार की वक्रोक्ति प्रथमतः रस-संपोषिका है फिर अलंकारविधायिनी। क्रोचे महोदय के अभिव्यञ्जनावाद में तो रस की रमणीयता की ओर नाम को भी अंगुलि-निर्देश नहीं है। उनकी दृष्टि तो काव्य-शरीर के सौन्दर्य में ही आबद्ध रही है।

और विक्षेप शक्ति आकाशादि प्रपंच को उत्पन्न करती है। अतः मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत का रचयिता है। माया अविच्छिन्न होने पर ही निर्विशेष ब्रह्म 'सगुण' कहलाता है।

इस जगत में जो कुछ क्रिया व्यापार हो रहा है वह सब मिथ्या है। यह हमें माया के कारण सत्य जैसा प्रतीत होता है। यथा दूर पड़ी हुई रस्सी में सर्प का भ्रम होता है। इसी भ्रम को 'विवर्त' कहा जाता है अतः शंकर के मत को 'विवर्तवाद' भी कहते हैं।

उद्देश्य:—सृष्टि की रचना का कारण क्या है? शंकर कहते हैं कि श्रुतियाँ ब्रह्म को 'सर्वकाम' कहती हैं। उसकी इच्छायें अपने में पूर्ण हैं।

जीव व मोक्ष—शुद्ध चैतन्य ही जीव है। परब्रह्म ही उपाधि सम्पर्क से जीव भाव से विद्यमान रहता है। आत्मा अणु नहीं है, वरन् वह स्वयं ही परमात्मा है। माया का परदा हटने पर आत्मा ब्रह्म में विन्दु व सागर के समान मिल जाती है। यही मोक्ष है।

साधन—ज्ञान है परन्तु कामना वर्जित नित्य कर्म मानव की शुद्धि करते हैं। उन्हें भी करना चाहिए। (शम, दम, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा, उपरति तथा मुमुक्षा आदि) इसकी प्रतिक्रिया में रामानुजाचार्य ने अपने भाष्य में विचार किये। रामानुज के गुरु 'यादव प्रकाश' अद्वैतवादी थे परंतु वे इन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सके।

रामानुजानुसार:—

ब्रह्म—चित्, अचित् शरीर विशिष्ट ब्रह्म सत्य है। वह स्वगत भेद से शून्य नहीं हैं। वह सविशेष है, वही ईश्वर है। जीव, जगत् व ब्रह्म तीन पदार्थ हैं एक नहीं?

जीव—जीव (चित्) हृदय में निवास करता है। वह ब्रह्म का अणु है। वह ब्रह्म का अंश होने पर भी उससे अलग अज्ञावस्था में है। उसमें शेषत्वगुण है जिसके कारण वह ब्रह्म पर पूर्ण रूप से अवलम्बित है। बिना 'प्रपत्ति' (शरण) के उसका कल्याण असम्भव है। अन्तर्यामी ईश्वर व जीव की तात्त्विक एकता अवश्य है पर यह एकता विशिष्ट ईश्वर की है। जीव तो केवल चित् है। अतः रामानुज के मत को 'विशिष्टाद्वैत' कहा गया। इसे 'श्री सम्प्रदाय' भी कहा गया है क्योंकि इसमें 'लक्ष्मीनारायण' की पूजा का विधान है?

जगत्—अचित्, अविद्या, जड़ से प्रकृति की उत्पत्ति हुई। सत्व शून्य तत्वकाल है। स्वर्गादि की उत्पत्ति ईश्वर के सङ्कल्प से हुई है। यह जगत सत्य है मिथ्या नहीं, नाशवान अवश्य है पर मिथ्या नहीं।

साधन व मुक्ति—भक्ति एक मात्र साधन है। भक्ति तीन प्रकार की है—(१) परा (२) प्रपत्ति (३) शरणागति। शङ्कर के यहाँ आत्मा मुक्तावस्था में ब्रह्म में लीन हो जाता है पर रामानुज में जीव-ईश्वर के समान हो जाता है। सङ्कल बंधन निवृत्ति-रूपा मुक्ति जीवन में नहीं मिल सकती अतः 'जीवन्मुक्ति' असत्य है। केवल 'विदेहमुक्ति' हो सकती है। भगवान का किंकर होना ही 'परमाभक्ति' है।

मध्वाचार्य द्वैतवादी हैं—यह परमात्मा को विष्णु मानते हैं। मत्स्य, कूर्मादि अवतारों में भी विश्वास करते हैं। ईश्वर व जीव भिन्न हैं। यथा गोस्वमीजी ने कहा था—

मायावश परछन्न जड़, जीव कि ईश समान।

तात्त्विक एक्य के कारण अद्वैतवादी हैं। द्वैत के समर्थक।

निम्बार्काचार्य—आदि आचार्य हंसनारायण थे। ये सनकादि के अवतार माने जाते हैं अतः इसे सनकादि सम्प्रदाय कहते हैं। ये राधाकृष्ण के अतिरिक्त और किसी में विश्वास नहीं करते। तत्व की दृष्टि से द्वैताद्वैतवादी हैं। शङ्कर से पूर्व 'भर्तृ-प्रपञ्च' भी द्वैताद्वैत के समर्थक थे। निम्बार्काचार्य मुक्तदशा में भी जीव को ब्रह्म के आश्रित मानते हैं। जीव ब्रह्म का अणु है। मुक्तदशा में भी वह अपने स्वरूप को नहीं खोता। 'शरण' (प्रपत्ति) द्वारा

भगवद् प्राप्ति हो सकती है। इसी मत का चैतन्य पर प्रभाव पड़ा था।

वल्लभाचार्य—शुद्धाद्वैत के समर्थक थे। विष्णुस्वामी के चार शिष्य थे ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभ। विष्णुस्वामी का समय १२७५ से पहिले का है। पुष्टिमार्ग के प्रतिपादक यही हैं।

ब्रह्म—'अणो अणियान व महतो महीयान' है। केवल निर्विशेष नहीं जैसा 'शङ्कर' मानते हैं। वह सर्वगुण विशिष्ट सच्चिदानन्द है। ब्रह्म के तीन रूप हैं (१) आधिदैविक (२) आध्यात्मिक (अक्षर ब्रह्म) (३) आधिभौतिक अर्थात् जगत। यथा लपेटा हुआ कपड़ा वही रहता है उसी प्रकार ब्रह्म भी जगत रूप में विस्तृत है। जगत ब्रह्म की कला है। जगत की उत्पत्ति सत्, चित्, आनन्द के आविर्भाव व तिरोभाव से होती है। ब्रह्म अपनी लीला के लिए अपने इन गुणों का आविर्भाव व तिरोभाव करता है। जीव में सत् + चित् का आविर्भाव है और आनन्द का तिरोभाव (अभाव या लोप) है। जड़ जगत में केवल सत् का आविर्भाव है। चित् व आनन्द का तिरोभाव है। परब्रह्म में यह तीनों गुण रहते हैं। अतः आनन्द प्राप्ति ही जीव का उद्देश्य है।

ब्रह्म की कोटियाँ—

१—अक्षर ब्रह्म, क्षर ब्रह्म से श्रेष्ठ है।

२—पुरुषोत्तम अक्षर ब्रह्म से भी श्रेष्ठ है क्योंकि अक्षर ब्रह्म में आनन्द का कुछ तिरोभाव रहता है अतः पुरुषोत्तम पूर्ण रूप है। (यह शङ्कर के बिलकुल विपरीत सा लगता है। शङ्कर ने निर्गुण को श्रेष्ठ बताया था और 'सगुण' को व्यवहार दृष्टि से ही माना था। परन्तु यहाँ सगुण-पुरुषोत्तम-लीलाधारी अवतार कृष्ण को ही सबसे श्रेष्ठ बताया गया है।

जीव अनेक प्रकार के हैं:—(१) शुद्ध (२) मुक्त संसारी। माया ब्रह्म की शक्ति है (१) विद्या (२) अविद्या। परन्तु इस शक्ति से जगत रूप में परिणत होने पर ब्रह्म में कोई दोष नहीं आता। जगत की उत्पत्ति व विनाश नहीं होता, केवल संसार का नाश होता है। (वल्लभ ने जगत को अविनाशी व संसार को क्षणभंगुर माना है)

साधन व मुक्ति—मर्यादामार्ग वैदिक है जिससे सायुज्य मुक्ति होती है पर भगवान के अनुग्रह में जीव के दैन्य, आपत्ति, बन्धन तथा अज्ञान का नाश नहीं होता। 'पोषणम् तदनुग्रहः'। यही अनुग्रह पोषण या 'पुष्टि' है। इसी पुष्टि प्राप्ति का प्रयत्न करना ही उद्धार की औषधि है। इसमें सब सम्मिलित हो सकते हैं। यह मत श्रेष्ठ है क्योंकि वेदों में 'फलागम' का विधान है। भगवान अपने भक्तों के लिये 'व्यापी वैकुण्ठ' में जो वैकुण्ठ से ऊपर है अनेक प्रकार की लीलायें करते हैं। गोलोक इसी 'व्यापी वैकुण्ठ' का एक खण्ड है जिसमें नित्यरूप से यमुना-निकुञ्ज लता आदि हैं। यहीं कृष्ण-पुरुषोत्तम नित्य लीला करते हैं। इसी नित्य लीला में प्रवेश करना ही 'मुक्ति' है। यह ज्ञानियों के 'कैवल्य' से उच्च है। पर यह भगवान के 'पोषण' या 'अनुग्रह' से ही प्राप्त हो सकती है जिसके लिये मर्यादा का त्याग आवश्यक है। प्रेम लक्षण भक्ति से ही लीला में प्रवेश हो सकता है। इस पुष्टि की प्रधानता के कारण वल्लभ का मत 'पुष्टिमार्ग' कहलाया। वल्लभ ने ब्रह्म से माया की ब्योरी को हटाया अतः, ब्रह्म को शुद्ध कर दिया गया और तभी यह मत 'शुद्धाद्वैत' कहलाया।

वल्लभ की विशेषता—

१—शङ्कर की माया को नहीं माना

२—जगत को मिथ्या नहीं वरन सत्य माना। ब्रह्म की कलाकृति मिथ्या नहीं हो सकती है।

३—संसार व जगत को अलग-अलग माना।

४—सगुण को निर्गुण से बड़ा बताया। पुरुषोत्तम अक्षर ब्रह्म से भी महान व पूर्ण बताया गया।

रामानुज ने तो जगत रचना में चित् + अचित् विशिष्ट ब्रह्म की बात कही थी पर वल्लभ ने सीधे ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति बतायी। (एकोऽहं बहुस्यामि) ब्रह्म जगत के रूप में परिणत भी है और

तुलसी का गीत-काव्य

(२)

डॉ० सुधीन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

तुलसी की लेखनी ने अपने आराध्यदेव राम के रूप और बल का सौन्दर्य अङ्कित किया है। 'मुनि के सङ्ग विराजत वीर' पद में राम को देख कर पशु-पक्षियों को भी आनन्द होता है—

देखति नटत केकि, कल गावत
मधुप मराल कोकिला कीर।
नयननि को फल लेति निरखि खग-
मृग-सुरभी-व्रज वधू अहीर॥

राम के रूपांकण के अनेक अवसर तुलसी को राम के जनकपुर प्रवास में मिल गये हैं। विचरण और विहार करते हुए रूप के समुद्र राम को देखकर तो जनकपुर के सब लोग विदेह हो जाते हैं, मानो रूप की देवरूमा में कामदेव की कल्पित कल्पलता में फल आगये हैं और सुन्दर राजमूर्त्ति को देखकर नारी मानस की कल्पना भावना भी जाग्रत होती है। उसे जो कुछ सुख होता है वह कहते नहीं बनता, श्यामल रूप से अमृत को भरने के लिए तो नयन कमल के सुन्दर कलश से दूसरे सभी व्यक्तियों की ध्वनि के जल को ढुलका देना होगा—

नख-सिख सुन्दरता अवलोकत,
कह्यो न परत सुख होत जितौ, री।
साँवर रूप सुधा भरिवे कहँ,
नयन-कमल कल-कलस रितौ, री॥

इस उक्ति के सामने सैकड़ों अलङ्कार भी पानी भरते हैं। सौन्दर्य के वर्णन में आकाश से पाताल तक के उपमानों के द्वारा वैचित्र्य सृष्टि न करके केवल अनूठी उक्तियों द्वारा उनके प्रभाव की अभिव्यञ्जना करना तुलसी की ही कला है।

दूलह-राम और दुलहिन सीता के वर्णन में भी कवि ने ऐसी ही अनूठी उक्ति की है। कामदेव ने दोग्धा बनकर सुषमा शोभारूपी गाय से शृङ्गार रूपी दूध दुहकर जो अमृतोपम दही बनाया उसको मथकर निकाले हुए मक्खन से राम और सीता सँवारे गये हैं और सारे भुवनों की छवि तो केवल छाछ है।

मण्डप के नीचे बैठे हुए राम और सीता पर भी अनूठी उक्ति है। कामदेव रूपी मण्डप के नीचे 'शृङ्गार' और छवि की 'शोभा' आकर एक साथ बैठ गई हैं—

मनहुँ मदन मंजुल मण्डप महँ
छवि शृङ्गार सोभा इक ठौरि।

इस प्रकार की उत्प्रेक्षा को एक 'विद्वान्' ने वाग्जाल और शब्दाडम्बर बताया है। जान पड़ता है कि वे अलङ्कार-रीति की रूढ़िप्रियता के ही पूजक हैं। वास्तव में तो इस उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य रूढ़ उपमाओं से कहीं बढ़-चढ़ कर है। पथपर जाते समय के रूपवर्णन—

परे भी है; निमित्त कारण भी है, उपदान कारण भी है (शङ्कर केवल निमित्त कारण मानते हैं) यथा घड़े व स्वर्ण के आभूषण विभिन्न रूपों में बँट जाने पर भी तत्वतः एक हैं। शङ्कर के उदाहरण मृगतृष्णा, रज्जु, सर्प, रजत व शुक्ति आदि हैं।

५—'प्रेम व लीला' दो प्रधान तत्व हैं। रामानुज के यहाँ प्रपत्ति व शरण का विधान तो था परन्तु वल्लभ ने 'प्रेम लक्षणाभक्ति' पर अधिक बल दिया है। कृष्ण के बालरूप का वर्णन विशेष है।

६—आगे चलकर इस मत में चैतन्य के प्रभाव से राधा की प्रतिष्ठा हुई।

७—पुष्टि ही एक मात्र साधन है बिना इसके उद्धार असम्भव है।

किधों सिङ्गार सुषमा सुप्रेम मिलि,
चले जग चित वित लैन।

में राम-सीता-लक्ष्मण में शृङ्गार सुषमा और प्रेम की प्रतिमा या मूर्ति की कल्पना और उद्भावना करके जो मानसिक आनन्द होता है, वह उन्हें उकताने वाले उपमान बना देने में कहाँ? एक और उदाहरण लीजिए—राम और सीता के सौन्दर्य का। ब्रह्मा ने मानों उन्हें रूप की राशि बनाया है और उस रूपराशि में से कुछ कण रति और कामदेव ने पा लिये हैं। इस निदर्शना से जो सौन्दर्य की व्यञ्जना होती है वह उपमा और रूपक से नहीं हो सकती। इस प्रकार 'गीतावली' के बालकाण्ड में १०८ गीतों की माला गूँथकर कवि अयोध्याकाण्ड में आता है, जहाँ उसने करुणा की धारा बहा दी है।

अयोध्याकाण्ड तो करुणा का एक सरोवर है। कौसल्या और दशरथ के दारुण दुख और शोक के वर्णन में तो कवि का हृदय ही द्रवित होकर बह निकला है। बन के लिए जाते समय माता कौसल्या कहती है—लाल, जो भाँति भाँति की क्रीड़ायें तुमने यहाँ की थीं, उनको स्मरण करके मेरे शोक विह्वल प्राण कैसे रहेंगे? जिन कानों से तुम्हारे रसीले बोल सुन-सुन कर मैं अनुराग मग्न हुआ करती थी उन्हीं अभागे कानों से तुम्हारा वन-प्रयाण सुन रही हूँ। यदि १४ वर्ष तक यह तन रह भी गया तो इस प्रकार का प्रेम किस काम का? मेरे राम! मैं किस बल से घर पर रहूँगी? राम के आगे माता का यह रुदन शोक को भी रुला देने वाला है। करुण रस के अनुभावों का दर्शन न होने पर भी क्या यह हृदय को पिघलाने में असमर्थ है?

जिन्ह स्रवननि कल वचन तिहारे
सुनि-सुनि हौं अनुरागी,
तिन्ह स्रवननि बन गवन सुनति हौं
मो तें कौन अभागी?

पिता के शोकाहत हृदय की भी एक झाँकी लीजिये। उसके मुँह से भी ये शब्द ही निकलते हैं—मुझे तुम्हारा चन्द्रमुख देख लेने दो बेटा, हे राम, हे लक्ष्मण, मेरी तो यही अन्तिम भेंट है—

मोकों विधु-वदन विलोकन दीजै,
राम लखन मेरी यहै भेंट बलि,
जाऊँ जहाँ मोहि मिलि लीजै।

'शोक' इसमें तीव्र रूप में व्यञ्जित हुआ है। 'मेरी तो यही अन्तिम भेंट है', कह कर भी कुछ और कहना क्या शेष रह जाता है? इसके आगे तो जो मूर्च्छा हुई तो, फिर उससे जागरण हुआ ही नहीं—

पुनि सिर नाय गवन कियो प्रभु
मूर्च्छित भयो भूप, नहिं जाग्यो।

सीता जब राम के साथ चलने लगीं तो पुरजनों में वियोग, विकलता की सरिता बह चली। अन्याय है, यह तो बड़ा अन्याय है सखी, कि ऐसे सुकुमार राम सीता को बनवास दिया जाय? जिस दिन ऐसा हुआ होगा, वज्र की कठोरता भी खण्ड खण्ड, चूर-चूर हो गई होगी। भवभूति ने भी 'उत्तर रामचरित' में पत्थर तक को चेतना दे दी है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।'

और आदि कवि बाल्मीकि ने भी करुणा की जो निर्झरिणी बहाई है उससे तो भीम भयङ्कर पहाड़ भी पिघल जाते हैं। प्राणों के समान पुत्र के चले जाने पर माता की जो दशा हो सकती है वह भी तुलसी ने कुछ चेष्टाओं में अङ्कित कर दी है। राम की बान-धनुही और ललित पनहियाँ बार-बार निरख-निरख कर वह उन्हें आँखों से, हृदय से लगा रही है। कभी पहिले की भाँति ही सवेरा होने पर जगाने जाती है, तो अतीत की बातें सब चल चित्र की भाँति पुतली में छा जाती हैं। फिर राम का वनगमन हुआ समझ कर चित्रलिखित सी चकित जड़ित स्तम्भित रह जाती है।—

जननी निरखति बान धनुहियाँ,
बार-बार उर नैननि लावति
हरि जू की ललित पनहियाँ।

कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति
कहि प्रिय बचन सबारे।
उठहु तात ! बलि मातु बदन पर
अनुज सखा सब द्वारे।
कबहुँ समुझि बनगवन राम को
रहि चकि चित्र लिखी सी।
तुलसिदास – वह समय कहे तें
लागति प्रीति सिखी सी।

राम वनगमन सत्य घटना है या सपना—यह कौन समझा सकता था ? उसके मनको प्रतीति ही नहीं आ पाती। इसकी आँखों के आगे राम लक्ष्मण सीता लगे ही रहते हैं। फिर भी क्या हृदय का दाह मिट सकता है ? विधाता जो विपरीत हो गया है, राम को देखे बिना शरीर नहीं रहना चाहता।

इस प्रकार प्राण प्रयाण नहीं कर-पाते; एक उलझन, एक भ्रान्ति सी पड़ी हुई है। माता कौसल्या का पथिक से राम के प्रति सन्देश भिजवाना भी एक मार्मिक प्रसङ्ग ही है। 'हे पथिक यदि राम मिलें तो उन्हें मेरा यही सन्देशा कह देना कि हे राम एक बार फिर आ जाओ और अपने ये घोड़े जिन्हें तुम पानी पिलाते थे अपने कर कमलों से लालन-पालन करते थे, पुचकारते थे, हे ग्वाल, तनिक देख आओ फिर चाहे बन को लौट जाना। तुमने इन्हें इतना भुला दिया अब ये कैसे जियेंगे ? भरत इनकी तुम से चौगुनी सार सँभाल करते हैं (क्योंकि ये तुम्हारे प्रिय प्राणी हैं) फिर भी ये तो दिन-दिन दुबले होते जा रहे हैं। मुझे अपनी नहीं किसी और की नहीं, इन्हीं की सबसे बड़ी चिन्ता है।' भरत जब ननिहाल से लौट कर राम लक्ष्मण सीता के बनवास, पिता के मरण इत्यादि हृदयद्रावक घटनाओं की कहानी सुनते हैं तो उनमें करुण रस मूर्तिमान हो जाता है और रौद्र सहायता के लिए आ जाता है। वे अपनी उस कठोर हृदया मा की भर्त्सना करने लगते हैं—

ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो री ?
'राम जाहु कानन' कठोर
तेरो कैसें धौं हृदय रह्यो री !

× × ×

ऐहैं राम, सुखी सब ह्वै हैं,
ईस अजस मेरौ हरि है।
तुलसिदास मोकों बड़ो सोच है,
तू जनम कौन बिधि भरि है॥

भरत की आत्म ग्लानि तो इन पंक्तियों में सजीव होगई है—

जो पै मातु मते महँ ह्वै हौं।
तौ जननी ! जग में या मुख की,
कहाँ कालिमा ध्वैहौं ?

भरत सोचते हैं, कहते हैं मुझ अभागे की शपथ भी कौन सच मानेगा ? उसको मैं कैसे पवित्र निर्दोष बन जाऊँगा ? किस पुण्यात्मा की महिमा रूपी मृगी दुष्टों के बचन बाणों से बची रह सकी है संसार में ?

क्यों हैं आज होत सुचि सपथनि,
कौन मानि है साँची ?
महिमा मृगी कौन सुकृती की
खल-बच बिसिषनि बाँची ?

चित्रकूट में जब भरत राम को दूर से देख कर उनकी ओर बढ़ रहे हैं तो उनके मन का अन्तर्द्वन्द्व साकार होगया है उनकी चेष्टाओं में। मन में राम के मिलने की उमङ्ग है। शरीर हर्ष से पुलकित है, शिथिल है। परन्तु आँख में आँसू हैं और पाँव तो सङ्कोच, लज्जा, ग्लानि के बीच गढ़े जा रहे हैं। पर वे धीरज के बल, प्रेम के बल से बाहर निकलते हैं—

मन अगहुँड़ तन पुलक सिथिल भयो,
नलिन नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मनु सकुच-पंक महँ,
कढ़त प्रेम बल धीर।

व्यक्ति के मनोभावों की व्यञ्जना चेष्टाओं के रूप में चित्रित करने में प्राचीन हिन्दी कवियों में तुलसी से बढ़कर कोई कवि नहीं हुआ। 'रामचरितमानस' में तो ऐसे प्रसङ्ग भरे पड़े हैं। भरत के अन्तर्मन का

एक और चित्र 'गीतावली' में देखिए जो उनकी चेष्टाओं में ही बोल रहा है—

हौं न सकत सामुहैं सकुचबस,
समुझि मातुकृत खोरि।
फिरि हैं किधौं फिरन कहिहैं प्रभु,
कलपि कुटिलता मोरि।
हृदय सोच, जल भरे बिलोचन,
नेह देह भइ भोरि।

इसी प्रकार कैकेयी के अन्तर्मन की झाँकी जिसमें आत्मभर्त्सना, ग्लानि अनुताप आदि सब भाव-नाट्य कर रहे हैं—इन पंक्तियों में मिलती है—

हाथ मींजिबो हाथ रह्यो।
लगी न संग चित्रकूटहु तें,
ह्याँ कहा जात बह्यो।
पति सुरपुर, सिय राम लखन वन,
मुनिव्रत भरत गह्यो।
हौं रहि घर मसान पावक ज्यों,
मरिबोइ मृतक दह्यो।

अन्तर्मन के चित्र खींचने में तुलसीदास की तूलिका की समता किसी महा चित्रकार की तूलिका ही कर सकती है।

राम जब चित्रकूट पर 'भूषन बसन बिलोकत सिय के' तो उनके हृदय का प्रेमोद्दीपन, कम्प, रोमाञ्च आदि सात्विक भावों में, उत्कण्ठा के सञ्चारी भावों में और अनेक अनुभावों में मूर्तिमान हो गये हैं—

प्रेम बिबस मन कम्प पुलक तनु,
नीरज नयन नीर भरे पिय के।
सकुचत कहत सुमिरि उर उमगत,
सील सनेह सुगुन गुन तिय के।

और प्रभु की ऐसी दशा देखकर सभी जनों का घी के मटकों की भाँति आँच से पिघलना तो अनुपम है! ऐसा ही एक प्रसङ्ग सीता के विरह युक्त प्रेम का है। जब हनुमान अशोकवाटिका में सीता से विदा ले रहे हैं तो सीता की क्या दशा है?

कपि के चलत सिय को मन गहबरि आयो
पुलक सिथिल भयो सरीर नीर नयनन्हि छायो
कहन चह्यो संदेस नहिं कह्यो,
पिय के जिय की जानि, हृदय दुसह दुख दुरायो

कवि किस प्रकार शब्दों या व्यापारों में अन्तर्भाव की व्यञ्जना करता है वह देखने योग्य है। वह मानव के भावों का चित्र अंकित कर देता है। हनुमान के शब्दों में सीता की विरह दशा यह है—

चित्र से नयन अरु गढ़े से चरन कर
मढ़े से स्रवन नहिं सुनति पुकारे?

इन पंक्तियों में कितने ही अनुभाव व्यञ्जित हो गये हैं। सीता की विरह में क्या गति हो गई है इसका वर्णन हनुमान से सुनिये जो 'जानते तो कुछ हैं, पर कह सकते नहीं (जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न)' 'सीता के लोचनों के कोनों में आँसू ऐसे रहते हैं जैसे कृपण का धन; मौन के वधिक ने हाहा ध्वनि की पक्षिणी को लज्जा के पिंजड़े में बन्द करके हृदय में रख लिया है। (लज्जा के कारण मुख से हाय तक नहीं निकलती; हृदय अवश्य हाय कहता है, परन्तु उसका शब्द बाहर नहीं आता)। उन (सीता) के तप्त निःश्वास से कभी भूल से भी वायु की भेंट हो जाती है तो वह (झुलस जाने के भय से) उस (अशोक वन के) मार्ग पर पाँव नहीं रखती।

लोचन नीर कृपनि के धन ज्यों,
रहत निरन्तर लोचनन-कौन।
हा धुनि खगी लाज-पिंजरी महँ,
राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन।
जेहि बाटिका बसति तहँ खग मृग,
तजि-तजि भजे पुरातन भौन।
स्वास समीर भेंट भई भोरेहु,
तेहि मग पग न धरयो तिहुँ पौन।
तुलसिदास प्रभु! दसा सीय की
मुख करि कहत होत अति गौन।

व्यक्तियों के आन्तरिक भाव को व्यञ्जित करने के तीन प्रकार देख सकते हैं—

(१) स्वयं व्यक्ति द्वारा अर्थात् आत्म वर्णन ।
(२) अन्य व्यक्ति द्वारा अर्थात् परोक्ष वर्णन ।
(३) कवि द्वारा वर्णन ।

कवि ने इन तीनों प्रसङ्गों में सफलता पाई है ।

व्यक्ति के भावों को उसी के शब्दों में उड़ेल देने में तुलसीदास सूरदास की ही भाँति सफल हुए । इस दिशा में सूर तो सर्वश्रेष्ठ हैं ही । सीता का हनुमान से पति का सन्देश पाने पर सीता की उत्कण्ठा किस प्रकार शब्दों द्वारा ध्वनित हुई, देखिए—

> कबहुँक कपि राघव आवहिंगे ?
> मेरे नयन-चकोर प्रीति बस,
> राकाससि मुख दिखरावहिंगे ।
> मधुप, मराल, मोर, चातक ह्वै,
> लोचन बहु प्रकार धावहिंगे ।

युद्ध भूमि में लक्ष्मण के शक्ति लगने पर मूर्छित होकर पड़े होने के समय तो राम का करुण विलाप करुणा की ही मूर्त्ति बन जाता है—

'मेरा सारा पौरुष पराक्रम आज विथकित हो गया । विपत्ति में हाथ बटाने वाले भाई की मृत्यु होगई । उसके बिना अब मैं भरोसा करूँ तो किसका ? मुझसे आज सचमुच विधाता ने मुँह मोड़ लिया है सुग्रीव, कि ऐसे सङ्कट के साथ मुझे लक्ष्मण जैसे भ्राता ने छोड़ दिया है । अब तो सब वानरी सेना वन-पर्वतों में लौट जाये और मैं अनुज का साथ दूँ (प्राण दान दूँ) परन्तु सुग्रीव यही सोचकर मेरी छाती भर उठती है कि जिस विभीषण को मैंने राज्य देने का बचन दिया उसकी अब क्या गति होगी ?

> मेरो सब पुरुषारथ थाको ।
> विपति बँटावन बंधु बाहुबिनु करौं भरौसो काको ?
> सुनु सुग्रीव साँचेहू मो पर फेरयो बदन विधाता,
> ऐसे समय समर-सङ्कट हों तज्यो लषन सो भ्राता ।

राम लक्ष्मण की क्षीर नीर की सी प्रीति की व्यञ्जना तुलसी के एक गीत में कितने कौशल के साथ हुई है और जब लक्ष्मण मूर्छा से जागकर उठते हैं तो अपनी पीड़ा को राम के प्रेम के आगे भूल जाते हैं । 'घाव तो है मेरे इस हृदय में और पीड़ा है रघुवीर के हृदय में । आर्य, बार-बार मुझसे क्यों पूछते हैं आप ? क्या तोते से उसके रटे रटाये पाठ का अर्थ पूछा जाता है ? राजा के हार के हीरे में तो केवल उसकी कान्ति और मूल्य ही है परन्तु (उसको धारण करने से) शोभा और सुख एवम् (उसके खो जाने से) हानि और (मिल जाने से) लाभ तो राजा को ही होता है जो उसका स्वामी है ।' ऐसे शब्द सुनने वाले का तो क्या, धीरज का भी धीरज नहीं रहता—

> हृदय घाव मेरे, पीर रघुबीरै ।
> पाइ सजीवनि जागि कहत यों,
> प्रेम पुलकि बिसराय सरीरै ।
> मोहि कहा बूझत पुनि पुनि,
> जैसे पाठ अरथ-चरचा कीरै ।
> सोभा-सुख, छति लाहु भूप कहँ,
> केवल कान्ति-मोल हीरै ।
> तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब,
> धरि न सकत धीरौ धीरै
> उपमा राम-लषन की प्रीति की,
> क्यों दीजै खीरै-नीरै ?

प्रकृति-चित्रण—तुलसीदास को प्रकृति चित्रण के प्रति स्वाभाभाविक अनुराग न था । एक भक्त के लिए प्रकृति ईश्वर की ही भक्ति की प्रेरक होकर और एक साधु पुरुष के लिए नीति और धर्म की प्रेरणा होकर ही आ सकती है । प्रकृति के प्रति सीधा अनुराग तो संहारी व्यक्ति को ही हो सकता है । इसलिए तुलसीदास के काव्य में प्रकृति इन्हीं दो रूपों में चित्रित हुई है । चित्रकूट का वर्णन ईश्वर-भक्ति और लोक धर्म की ही व्यञ्जना करता है । चित्रकूट इसीलिए तुलसी को प्रिय है कि वह परब्रह्म के राम अवतार का निवास है । रामचरित मानस में भी उसका सुन्दर वर्णन है । 'गीतावली' में कवि ने

चित्रकूट वर्णन को एक आलङ्कारिक वैभव दिया है। चित्रकूट के शृङ्ग धातुओं से बहुरंगी दिखाई देते हैं और उनको स्पर्श करता हुआ श्यामल मेघ मन्द स्वर में गरज रहा है। इस शब्द और रूप (नाद और रंग) पूर्ण दृश्य को कवि कल्पना ने उत्प्रेक्षा में रँग दिया है मानों यह विष्णुनाभि से प्रसूत आदि कमल है। जिन पर देवता और मुनिगण भौरों का रूप धारण किये हुए स्वर से गुंजन कर रहे हों—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत,
धातु रँगमगे शृङ्गनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत,
सेवित सुर-मुनि भृङ्गनि।

एक आलोचक ने कहा है कि 'यहाँ उपमान में उपमेय के 'घोरत' का भाव छूट गया है'—यह ठीक नहीं है। वास्तव में तो उपमान भृंग कह कर उसके गुञ्जन को सेवित शब्द द्वारा कवि ने ध्वनित किया है—यही तो कवि की विशेषता है।

मेघमाला जब पर्वत शिखर को स्पर्श करती हुई बक पंक्ति सी सुशोभित होती हुई उड़ती है तो नीलाकाश में अवतार वाराह (मेघ) उपस्थित हो जाते हैं जो अपने दाँत (बक पंक्ति) पर पृथ्वी (पर्वत) को धारण किये हुए समुद्र (आकाश) में से प्रकट हो रहे हैं—

शिखर परस-घन घटहिं मिलति
बकपाँति सो छवि कवि बरनी।
आदि बरह विहरि बारिधि मनो
उठ्यो है दसन धरि धरनी॥

'जल सित निर्मल शिलाओं में आकाश प्रतिबिम्बित होकर और वन कानन विविध तरङ्गों में प्रतिध्वनित होकर मानों विराट पुरुष (ब्रह्म) के अङ्ग अङ्ग में संसार की चित्र-विचित्र रचना का विलास प्रस्तुत करते हैं—

जल जुत विमल सिलनि झलकत नभ;
बन प्रतिबिम्ब तरङ्ग।
मानहुँ जग रचना विचित्र
बिलसति विराट अङ्ग-अङ्ग॥

और अन्त में कवि की दृष्टान्त देने की प्रवृत्ति यहाँ भी जाग उठती है—पर्वत से झरने झरझर कर निर्मल जल के साथ मन्दाकिनी में मिल गये हैं जैसे राम भक्ति के पीछे सकल सुकृतों (पुण्यों) के सुख लग जाते हैं—

मन्दाकिनिहिं मिलत झरना झरि
झरि झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल-सुकृत सुख लागे
मानो राम भगति के पाछे।

जनमेजय का नागयज्ञ

प्रो० कन्हैयालाल सहल, एम० ए०

'जनमेजय का नागयज्ञ' एक पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक के रचना-काल तक आते आते प्रसाद की चिंतना अधिक प्रौढ़ हो गई है तथा उनके जीवन-सम्बन्धी आदर्श भी सुनिश्चित हो गये हैं। उनके पहले के नाटकों में बौद्धमत का प्रभाव है। इस नाटक में सनातनधर्म के परम्परामूलक हिंसात्मक स्वरूप का विरोध है। साथ ही जातीय समन्वय की भावना है। महाभारत काल में आर्यों के अतिरिक्त अनेक अनार्य जातियाँ भी थीं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में आर्य और नागजाति के एकीकरण का सूत्र है अन्तर्जातीय विवाह जिसका समर्थन प्रसाद ने यहाँ किया है। विकृत ब्राह्मणत्व, आर्य-अनार्य-सङ्घर्ष तथा यज्ञों का बर्बर रूप इस नाटक में दिखलाया गया है। कई लक्ष्यों को एक साथ लेकर चलने के कारण इसका कथानक जटिल हो गया है। श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी ने ठीक ही कहा है कि 'नागयज्ञ' का कथानक बिखरा हुआ, अलग-अलग दृश्यों में नाटकीयता है, परन्तु सम्पूर्ण नाटक में प्रभावान्विति बहुत कुछ न्यून है। दो जातियों के सङ्घर्ष को चित्रित करने के लिए नाटक की अपेक्षा उपन्यास का माध्यम अधिक उपयुक्त होता, क्योंकि जातीय विशेषताओं और वैषम्यों का सम्पूर्ण विवरण उपन्यास में दिया जा सकता था। इस नाटक में प्रसादजी को यथेष्ट सफलता नहीं मिली। इसमें पात्रों की अधिकता है तथा इसका कथानक उपन्यासों जैसा हो गया है। पूर्ववर्ती घटनाओं का आभास देने के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन को ला रखा है। जहाँ श्रीकृष्ण आर्य-जीवन की व्याख्या अर्जुन के सामने उपस्थित करते हैं, वहाँ लम्बे-लम्बे प्रकरण हैं और दार्शनिकता भर गई है।

जनमेजय इस नाटक का नायक है, नागराज तक्षक प्रतिनायक तथा काश्यप खल नायक। काश्यप अपने समय के ब्राह्मणों का नेता है। वंश-परम्परा से पौरव राजाओं का पुरोहित है। परम्परागत पौरोहित्य के कारण वह अर्थ लोलुप हो गया है। स्वार्थ को लेकर ही वह धर्माधर्म की व्याख्या करता है। वह एक प्रकार का धार्मिक डिक्टेटर है। धर्म के सच्चे स्वरूप की स्थापना करना चाहते हैं वेदव्यास और नया पुरोहित सोमश्रवा। यज्ञों की प्रथा को नूतन परिष्कृत रूप देने का काम करता है सोमश्रवा। अर्थप्रधान पौरोहित्य तथा हिंस्र प्रणाली का यहाँ विरोध किया गया है।

नायक की पत्नी होने के कारण वपुष्टमा को भले ही नायिका के पद पर आसीन किया जाय किन्तु चरित्र और कार्य व्यापार की दृष्टि से यादववंश की कन्या सरमा ही इस नाटक में प्रधान है। नागराज वासुकि के साथ इसका विवाह हुआ है पर पति के व्यवहार से रुष्ट होकर यह अपने पुत्र माणवक को लेकर चल पड़ती है और आकर जनमेजय के नगर में बस जाती है तथा आगे चल कर नाटकीय कार्य-व्यापार में यह बड़ा योग देती है। सरमा की इस नाटक में अभ्यर्थना और आशंसा की गई है क्योंकि यह समन्वय और एकीकरण की प्रतीक है। नागों के हाथ से अपहृता वपुष्टमा की रक्षा सरमा ने ही की। जिसके पुत्र का अपमान हुआ था, उसीने राजमहिषी की रक्षा की।

सरमा नाग-कन्या है और दुर्बुद्धिवाली स्त्री के रूप में चित्रित की गई है किन्तु अन्त में उसका भी हृदय-परिवर्तन दिखला दिया गया है।

धर्मोपदेष्टा के रूप में वेदव्यास अन्तिम अङ्क में आते हैं और लम्बे लम्बे भाषण दे डालते हैं। इस नाटक की उपदेशात्मकता और लम्बे भाषण वास्तव

से चिन्त्य है। सम्भव है, सांस्कृतिक एकता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने के लिए प्रसादजी को ऐसा करना आवश्यक व वांछनीय प्रतीत हुआ हो। इतिहास की घटनाओं के चित्रण द्वारा उन्होंने भारत के प्राचीन उत्कर्ष को दिखाना चाहा है। वे मुख्यतः सांस्कृतिक लेखक थे। जो लोग यह समझते हैं कि सभ्यता और संस्कृति आधुनिक युग की ही देन है, उनको मानो प्रसाद अपने नाटकों द्वारा उत्तर देना चाहते थे। ऐतिहासिक नाटक का आधार कल्पना नहीं, घटनाएँ होती हैं। कल्पना की अबाध गति ऐसे नाटकों में नहीं चल सकती। प्रसादजी ने इस बन्धन को माना है। स्वतंत्र रूप से नाटकीय कला का उत्कर्ष दिखाना उनको अभिप्रेत न था। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक वैभव और उत्कर्ष को दिखलाने के लिए ही उन्होंने नाटक लिखे थे। इसलिए यदि नाटकीय रचना-तन्त्र की दृष्टि से उनके नाटकों में कहीं-कहीं त्रुटियाँ रह गई हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

वेदव्यास धर्म-समन्वय का आदर्श रखते हैं, हिंसा का विरोध करते हैं और देश की एकजातीयता को प्रचारित करते हैं। कट्टरता के विरुद्ध ये आन्दोलन करते हैं। वैदिक यज्ञों का हिंसापरक सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं है। वेदव्यास स्वयं प्रसादजी हैं जैसे कङ्काल में कृष्णशरण गोस्वामी हैं। नाटक के किसी एक पात्र अथवा प्रत्येक पात्रों के साथ यदि नाट्यकार अपना तादात्म्य स्थापित करले और दूसरे पात्रों को यदि वह अपने हृदय की सहानुभूति न दे तो यह नाट्यकार की दुर्बलता ही समझिये। नाट्यकार में जिस अनासक्त दृष्टि की आवश्यकता होती है, उसका अभाव होने पर प्रचारात्मकता, उपदेशात्मकता, दार्शनिकता, सिद्धान्तप्रियता आदि के समावेश से नाटकीय रचना तन्त्र त्रुटिपूर्ण हो उठता है। शेक्सपियर में यह अनासक्त दृष्टि बहुत अधिक मात्रा में थी।

प्रसाद की चरित्र चित्रण-कला की एक विशेषता उल्लेखनीय है। विरुद्धवर्मी पात्रों के द्वन्द्व प्रायः उनके सभी नाटकों में मिलते हैं जिससे पात्रों का उत्कर्ष या अपकर्ष बहुत ही स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में भी यही बात देखी जाती है। "काश्यप में अर्थ लोलुपता, तुर में अर्थ-त्याग, उत्तङ्क में आत्म-संयम, दामिनी में आत्म-निर्बलता, तक्षक में प्रतिहिंसा, आस्तिक में उदारता, वासुकि की वीरता और महर्षि व्यास की शान्ति—ये सब दृश्य इस नाटक में वर्तमान हैं। इसके अतिरिक्त एक विशेषता और है। उसमें एक ओर दामिनी का वासना-युक्त प्रेम, दूसरी ओर मणिमाला का सरल और स्वाभाविक अनुराग, एक ओर मनसा का संकीर्ण जाति प्रेम, दूसरी ओर सरमा का विश्व-प्रेम—व्यक्ति, समाज, जाति और विश्व के प्रति प्रेम का यह विकास बहुत ही उत्तम है।"

जहाँ तक अभिनय का प्रश्न है, बिना काट छाँट किये यह नहीं खेला जा सकता। नाटक के गान भी लम्बे और दार्शनिक हैं। मणिमाला और आस्तीक के वार्तालाप की भाषा काव्यमयी है। उनका कथोपकथन गद्य-काव्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसे पढ़ने में तो आनन्द आता है किन्तु रङ्गमञ्चीय भाषा में जिस चांचल्य और प्रवाह की अपेक्षा होती है, उसका यहाँ अभाव है। इस प्रकार की भाषा विशिष्ट दर्शकों के लिए ही उपयुक्त कही जा सकती है।

"इस नाटक के दृश्यों का चुनाव भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण लगता है। पहले अङ्क में केवल ७ दृश्य हैं और शेष दो में से प्रत्येक में आठ आठ। किसी नाटक के अभिनय में तीन घण्टे से अधिक समय लगाना, दर्शकों को खलने लगता है। इस हिसाब से यह नाटक अधिक लम्बा है, दर्शकों की दृष्टि से ज्यों ज्यों समय अधिक होता जाय, त्यों त्यों दृश्यों की संख्या कम होनी चाहिये, परन्तु इस नाटक में ऐसा नहीं है।" —(डा० सोमनाथ गुप्त)

रूढ़िवादी महाकाव्य

श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव

परम्परा के अनुसार कुल क्रमागत कतिपय रूढ़ियों के पालन की भावना जिस प्रकार पुरुषों में हुआ करती है, उसी प्रकार काव्य क्षेत्र में भी कुछ रूढ़ि लक्षणों के पालन की भावना कवियों में भी पाई जाती है। दण्डी के पूर्व संस्कृत साहित्य में अनेक महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी तथा भविष्य में उन लक्षणों के निर्धारित न होने पर भी महाकाव्यों की रचना होती रहती, किन्तु फिर भी लक्षण ग्रन्थ लिखे जाने की जो रूढ़ि चल रही थी उसी में पड़कर महाकाव्यों को भी रूढ़ि में बाँध दिया गया। यह तो प्रत्येक दशा में स्वीकार करना ही होगा कि लक्षण-ग्रन्थों के अभाव में काव्य गति में किसी प्रकार के अवरोध की कल्पना व्यर्थ है। मेरे विचार से इसके विपरीत यही कहा जा सकता है कि लक्षण ग्रन्थ साहित्य की स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक प्रगति को बलात् रोककर उसमें एक कृत्रिम गति भरने का प्रयत्न करते हैं। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि लक्षण ग्रन्थों की रचना व्यर्थ है प्रत्युत मेरा विचार यही है, कि लक्षण ग्रन्थों का उपयोग काव्य-साहित्य को अथवा लक्षित विषय को समझने में जितना किया जाय उतना उनकी रूढ़ियों के पालन में नहीं। व्याकरण नियमों की सीमा में बँधकर जिस प्रकार भाषा की गति पंगु हो जाती है उसी प्रकार लक्षण ग्रन्थों का अधिकार स्वीकार करने पर साहित्य के अंगों का क्रमिक विकास रुक जाता है। छन्द रचना अथवा उनके लक्षणों का आधिपत्य सहन न करने के ही कारण मुक्तक छन्दों का विस्फोट हुआ। कतिपय अलङ्कारों को व्यर्थ समझे जाने पर तथा कतिपय नवीन अलङ्कारों की आवश्यकता ने ही अलङ्कारों की दुनिया में भूकम्प ला दिया। इन दैनिक प्रयोग की बातों पर तो आचार्यों का सदैव ध्यान जाता रहा किन्तु महाकाव्यों के लक्षणों की राजाशाही अब तक पूर्ववत् ही चलती जाती है। रामायण से लेकर दण्डी के समय तक अश्वघोष कालिदास जैसे महाकवियों ने एक नहीं अनेक महाकाव्यों की रचना की थी और निश्चय ही दण्डी द्वारा महाकाव्य के लक्षणों के निर्धारण के बिना भी अनेक महाकाव्य बनते रहते; किन्तु उन लक्षणों के लिखे जाते ही कवियों की प्रतिभा भी उन्हीं में उलझ गई। शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय, नैषध चरित आदि महाकाव्यों के कवि किसी रूप में दण्डी के लक्षणों का पालन करते हुए दिखाई देते हैं। सभी महाकाव्यों में प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन अवश्य ही पाया जाता है। काव्यवृत्त का विभाजन दस की अपेक्षा अधिक सर्गों में अवश्य ही किया जाता रहा। हर विषय में पचास सर्गों तक की रचना कर डाली गई। स्वयंवर, नायिका सौन्दर्य, प्रकृति-वर्णन आदि अनेक बातों के साथ की गई जबरदस्ती यत्र-तत्र स्पष्ट दीख पड़ती है।

संस्कृत को छोड़ कर यदि हिन्दी के महाकाव्यों के विषय में विचार किया जाय तो वहाँ भी यही दशा मिलती है। अपने रासो के निर्माण के समय चन्द बरदाई ने महाकाव्यों के लक्षणों का ध्यान रखा था या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। रासो को देखकर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अपने काव्य को जबरदस्ती महाकाव्य बनाने की चेष्टा की थी। तुलसी को तो महाकाव्य क्या, काव्य-रचना में भी भय प्रतीत होता था। उन्होंने कविता के लिए नहीं, प्रत्युत रामचरित वर्णन के लिए लेखनी पकड़ी थी। यदि किसी को दोष दिखाई देते हैं तो वह उससे तर्क करने को नहीं प्रत्युत क्षमा याचना के अर्थ पहले से ही प्रस्तुत

है। यदि दण्डी महाकाव्य में वीर अथवा शृङ्गार रस की ही प्रधानता मानते हैं तो मानते रहें उन्हें इससे कोई तात्पर्य नहीं। यदि वह महाकाव्य में आठ या दस सर्गों की तथा सर्गों के अन्त में विभिन्न वृत्तों की आवश्यकता समझते हैं तो समझते रहें उन्हें इससे भी कोई प्रयोजन नहीं। यह सब वैषम्य होने पर भी उनका काव्य महाकाव्य स्वीकार किया गया। पश्चात् के महाकवियों का ध्यान अपने महाकाव्य के प्रणयन के पूर्व लक्षणों की ओर गया, और उन्होंने सब बातों को भुलाकर लक्षणों अथवा रूढ़ि पालन का ही विशेष ध्यान रखा। रूढ़ि नियमों के पालन को लेकर ही विश्वास के साथ कहा जाता रहा कि अमुक काव्य महाकाव्य है। 'प्रिय प्रवास' की भूमिका ही इसका प्रमाण है कि 'हरिऔध' जी का ध्यान सबसे पूर्व महाकाव्य के लक्षणों की ओर गया था, काव्यवृत्त अथवा उसकी उपयोगिता की ओर नहीं। कवि का प्रथम ध्येय यही था कि खड़ी-बोली में भिन्न तुकान्त महाकाव्य के अभाव की पूर्ति की जाय। उन्होंने स्पष्ट लिखा—'महाकाव्य के आभास स्वरूप यह ग्रन्थ सत्रह सर्गों में केवल इस उद्देश्य से लिखा गया कि इसको देख कर हिन्दी-साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ सुकवियों और सुलेखकों का ध्यान इस त्रुटि के निवारण करने की ओर आकर्षित हो।' इसके अतिरिक्त हिन्दी के सभी काव्य—'नूरजहाँ', 'नल नरेश', 'हल्दीघाटी', 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'सिद्धार्थ', 'कामायिनी' की यही दशा रही। नायक को राज वंश का देख कर, विषय को वीर अथवा शृङ्गार प्रधान समझ कर तथा काव्य को दस से अधिक सर्गों में लिखा गया देखकर अन्य वर्णनों का प्रमाण लेकर उसे महाकाव्य कह डाला गया। और निश्चय ही रचयिता कवियों की दृष्टि में यह लक्षण प्रधान रूप से रहे थे।

विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या उक्त लक्षणों पर ही किसी काव्य को महाकाव्य स्वीकार कर लेना उचित है। यदि हाँ, तो फिर अवश्य ही राम-चरित मानस को महाकाव्यों की कोटि से बाहर कर देना चाहिये। यदि नहीं तो यह निश्चय है कि जिस प्रकार दण्डी ने अश्वघोष, कालिदास आदि के महाकाव्यों को देखकर उनके आधार पर महाकाव्यों के लक्षणों का निरूपण किया था उसी प्रकार उनके अतिरिक्त हिन्दी में तुलसी के रामचरित मानस को महाकाव्य मानकर उसके आधार पर हम महाकाव्य के ही नहीं महा महाकाव्य के लक्षणों का निर्धारण कर सकते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि दण्डी के निर्धारित लक्षणों के सहारे जितने सुन्दर महाकाव्य की रचना हो सकती है उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर महाकाव्य उन नियमों के आधार पर लिखे जा सकते हैं जो रामचरित मानस की पृष्ठ-भूमि पर निश्चित किये जाँय। दण्डी यदि आठ दस से कम सर्ग किसी महाकाव्य में स्वीकार नहीं करते तो न करें किन्तु 'मानस' आदेश देता है कि अधिक से अधिक सात सर्गों में भी सुन्दरतम महाकाव्य की रचना की जा सकती है। यदि दण्डी विभिन्न वृत्तों तथा शृङ्गार अथवा वीर रस की आवश्यकता समझते हैं तो समझते रहें किन्तु तुलसी डंके की चोट यह कहते हैं कि एक ही वृत्त में शृङ्गार अथवा वीर-रस के अतिरिक्त शान्त रस में भी ऐसे महाकाव्य की रचना हो सकती है जो विभिन्न वृत्त तथा शृङ्गार या वीर रस प्रधान महाकाव्य को भी पीछे ढकेलने में समर्थ है। उदाहरण के लिये वीर-रस प्रधान रासो, हल्दीघाटी तथा शृङ्गार प्रधान प्रियप्रवास एवं नूर-जहाँ रामचरित मानस के सामने कहाँ तक टिक सकते हैं, इसका उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। कहा जा सकता है कि मानस की महत्ता का स्मरण होते ही इन नवीन महाकाव्यों का महाकाव्यत्व लज्जा से छिप जाता है।

यह देखने पर कि महाकाव्य का नायक कोई राजा या क्षत्रिय होना चाहिये—हल्दीघाटी के कवि ने श्री महाराणा प्रताप को, 'नल नरेश' के कवि ने महाराज नल को अपने महाकाव्य का नायक चुन

डाला । यदि क्षत्रिय नहीं तो राजवंश का नायक हो सकता है, तथा शृङ्गार रस में भी महाकाव्य लिखा जा सकता है, आदि बातों की स्वीकृति देखकर 'नूरजहाँ' के कवि ने नूरजहाँ और जहाँगीर को ही नायक मानकर अपने महाकाव्य की रचना कर डाली। सभी कवि अपने काव्यों को किसी प्रकार बारह से अठारह सर्गों तक घसीट कर ले गये। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द का वृत्त जबरदस्ती बदल डाला गया। विवाह प्रकृति वर्णन आदि को भी किसी न किसी प्रकार सम्मिलित किया गया। किन्तु फिर भी मेरे विचार से उनकी महत्ता अनेक खण्ड काव्यों की अपेक्षा भी न्यून रही। 'नूरजहाँ' को पद लालित्य एवं उसकी सरलता के कारण, 'हल्दीघाटी' को प्रताप-चरित्र के वर्णन के कारण पाठक भले ही सुन्दर या अत्यन्त सुन्दर कहें किन्तु 'मानस' जैसी विशेषतायें उनमें देखने को नहीं मिलतीं। दण्डी के समक्ष में तथा उनसे पूर्व जितने भी नरेश हुये वह सभी अधिकांश आदर्श चरित्र के होते थे। इसी कारण कदाचित् दण्डी ने महाकाव्य का नायक राजा या राजवंश का कोई पुरुष स्वीकार कर लिया होगा। किन्तु वर्त्तमान काल में मेरे विचार से रैदास चमार को चाहे भले ही काव्य का नायक मान लिया जाय किन्तु किसी नरेश में काव्य के नायकत्व की तनिक भी क्षमता नहीं। तर्क के साथ कहा जा सकता है कि धीरोदत्त या धीरललित नायक होने के गुण किसी नरेश में हों तो वह अवश्य नायक हो सकता है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि कलाकार अपनी कला के बल से राई को भी पर्वत करने की क्षमता रखता है और वह किसी में भी महाकाव्य के नायकत्व के गुणों का आरोप कर सकता है किंतु वह वास्तविकता से दूर कला का ही सृजन होगा। नूरजहाँ यद्यपि महाराज्ञी थी और प्रेम के क्षेत्र में वह एक उदाहरणीय प्रेमिका तथा इतिहास में जहाँगीर जैसे बादशाह की योग्य पत्नी थी किन्तु महाकाव्य की नायिका होने के लिए उसमें धीरोदात्त या धीरललित नायक के गुणों का आरोप ही किया जा सकता है। आज तो यह कहा जा सकता है कि महाकाव्य का नायक मानव जाति में से किसी भी जाति का कोई भी ऐसा महापुरुष हो सकता है जिसने मानव समाज के सम्मुख किसी प्रकार का महान आदर्श उपस्थित किया हो। अब तक सहस्रों, करोड़ों राजा महाराजा तथा राजवंश के पुरुष उत्पन्न हो कर साधारण पुरुषों की ही भाँति संसार से चले गये। यदि उनमें से किसी को भी कोई कवि महाकाव्य का नायक मानकर अठारह बीस सर्गों के महाकाव्य का प्रणयन करे तो यह उसकी कला के साथ जबरदस्ती ही होगी।

महाकाव्य के लक्षणों में लिखा गया है कि उसमें दस सर्गों से कम न होना चाहिए तथा उसे शृङ्गार या वीर रस प्रधान होना आवश्यक है किन्तु रामायण के आधार पर कहा जा सकता है कि सात सर्गों में तथा शान्त रस में भी अत्युत्तम महाकाव्य की रचना हो सकती है। यदि एक सर्व साधारण छन्द चौपाई में ही अन्य छोटे छोटे छन्द दोहा सोरठा आदि के साथ रामचरित जैसे महाकाव्य की रचना हो सकती है तो कोई अवश्यकता नहीं कि विभिन्न वृत्तों की रूढ़ि में अपनी प्रतिभा को जबरदस्ती घसीटा जाय।

मुझे महाकाव्य में किसी भी प्रकार की रूढ़ियों के परिपालन में किसी प्रकार की विशेषता नहीं दिखाई देती। नूरजहाँ, हल्दी घाटी, सिद्धार्थ, प्रियप्रवास, नल नरेश आदि महाकाव्यों की, समस्त लक्षणों का सार्टीफिकेट रखते हुए भी रामचरितमानस से तुलना नहीं की जा सकती। सर्वसाधारण से लेकर महान् से महान जीवन के लिए मानस जितना उपयोगी सिद्ध होता है उतने अन्य सभी महाकाव्य मिलकर भी नहीं कहे जा सकते। यदि केवल 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को ही लिया जाय तो भी कोई महाकाव्य 'मानस' की समानता नहीं कर सकता। इस दशा में हम मानस के ही आधार पर महाकाव्य

के लक्षणों को निर्धारित क्यों न करें।

कहा जा सकता है कि महाकाव्य में सात सर्ग होने चाहिये। कवि अपनी कला के सहारे अधिक अथवा कम सर्गों में भी महाकाव्य की रचना सफलता पूर्वक कर सकता है। दूसरी रूढ़ि के अनुसार कोई आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक सर्ग विभिन्न वृत्तों में ही लिखा जावे तथा अन्त में कोई नवीन वृत्त लिखा ही जाना चाहिये। सभी सर्ग एक ही छन्द में लिखे जासकते हैं तथा कवि की अपनी रुचि के अनुसार वृत्त में परिवर्तन भी हो सकता है।

सर्गों के विस्तार को सीमा में बाँधा जाना उचित नहीं। उनके छन्दों की संख्या भी निर्धारित नहीं की जा सकती। काव्य वृत्ति के विभाजन के अनुसार सर्गों का स्वरूप छोटा या बड़ा हो सकता है। यदि छन्दों की संख्या निश्चित करदी गई तो कवि हल्दी घाटी के कवि के समान अस्सी, सौ, एकसौ बीस पंक्तियों के सर्गों की रचना में अपनी प्रतिभा को उलझा देंगे। महाकाव्य के सर्ग 'मानस' के किष्किन्धा तथा सुन्दर काण्ड जैसे छोटे तथा बाल अयोध्या, उत्तर काण्ड जैसे बड़े भी लिखे जा सकते हैं। शृङ्गार या वीर रस प्रधान महा काव्य चाहे असफल भी हो जाय किन्तु शान्त रस प्रधान महाकाव्य कदाचित ही असफल होगा। वीरता के आवेश तथा शृङ्गार की उमङ्गों का प्रभाव मानव मस्तिष्क पर क्षण भर के लिए ही पड़ता है। किन्तु शान्तिवादी सिद्धान्तों का प्रभाव अमर और अटल होता है। इसी आधार पर शान्त रस प्रधान महाकाव्य की सफलता पर विश्वास भी किया जा सकता है। नायक चाहे क्षत्रिय कुल का हो अथवा साधारण कुल का, किन्तु उसमें राम जैसे आदर्श गुणों का होना आवश्यक है। अन्य नायकों की अपेक्षा धीर प्रशान्त नायक ही श्रेष्ठतम नायक समझना चाहिये। यह अत्यन्त आवश्यक है कि महाकाव्य से प्रत्येक श्रेणी का पुरुष अपने लिये उपादेय सामग्री ले सके। वर्तमान महाकाव्यों में इस गुण की कमी है किन्तु मानस में प्रत्येक प्रकार के सिद्धान्त भरे पड़े हैं। राजनीति, धर्म, समाज-शास्त्र, गार्हस्थ-शास्त्र, अर्थशास्त्र, युद्ध शास्त्र आदि किसी भी प्रकार के सिद्धान्तों की वहाँ कमी नहीं। इसी प्रकार रामचरित मानस के आधार पर महाकाव्य के समस्त लक्षणों का नियमन किया जा सकता है।

यह भी देखा जा सकता है कि मानस के रचयिता के विचार काव्य के सम्बन्ध में क्या थे। वह काव्य सम्बन्ध में किन नियमों को स्वीकार करते थे जिनके बल पर उन्हें इतनी सफलता प्राप्त हो सकी थी। तुलसी केवल राम का गुणगान् करने के लिये कोरे कागदों को रंगते हैं। उनके इसी कागदों के रंगने में विश्व के महाकाव्य का सृजन होता है। इसके विपरीत वर्तमानकाल के कवि अपने को कवि एवं अपने काव्य को महाकाव्य सिद्ध करने का बीड़ा उठाते हैं। तुलसी सबसे सरल भाषा का उपयोग करते हैं तथा प्रत्येक बात जीवन के दैनिक एवं व्यावहारिक क्षेत्र से ग्रहण करते हैं। दूसरी ओर 'हरिऔध' जी संस्कृत मिश्रित भाषा में ही लिखना श्रेयस्कर समझते हैं। 'प्रसाद' अपने काव्य की अधिकांश बातें दार्शनिक जगत से लेते हैं जहाँ सर्वसाधारण की पहुँच नहीं। आज के कवि कहीं नूरजहाँ को कहीं प्रताप को अपने काव्य का नायक बनाते हैं किन्तु तुलसी स्पष्ट कहते हैं कि यदि सरस्वती का आह्वान किया जाता है तो उसे रामचरित सर में स्नान कराना आवश्यक है—

'रामचरित सर बिन अन्हवाये,
सो श्रम जात न कोटि उपाये।'

तुलसी बड़े अधिकार के साथ कहते हैं कि मन्द बुद्धि कवि भी यदि रामचरित्र का वर्णन साधारण रूप से करता है तो उसका सम्मान विद्वानों द्वारा अवश्य ही किया जायगा—

'भणित विचित्र कुकवि कृत वानी।
राम नाम यश अङ्कित जानी॥

सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही।
मधुकर सरिस सन्त गुण ग्राही ॥

कहा जा सकता है कि कृष्ण भी तो राम से किसी दशा में कम नहीं फिर 'प्रिय प्रवास' आदि महाकाव्य उस जैसी श्रेष्ठता क्यों नहीं प्राप्त कर सके। इसका उत्तर यही होगा कि 'प्रिय प्रवास' अन्य महाकाव्यों की अपेक्षा तो सुन्दर स्वीकार किया जाता है; फिर भी 'रामचरित मानस' जैसी श्रेष्ठता प्राप्त नहीं कर सका तो मानस की अपेक्षा अनेक बातों का उसमें अभाव है। मानस के सामने कोई रासो, पद्मावत, या अन्य महाकाव्य टिक नहीं सके। 'कामायनी' का महत्व प्रतिभाशाली विद्वज्जनों के बीच में भले ही अधिक हो किन्तु सर्वसाधारण समाज में 'साकेत' जैसा सम्मान अन्य काव्य को नहीं मिला। तुलसी तो ऐसे काव्यों की रचना ही व्यर्थ समझते हैं जिनका समाज सम्मान नहीं करता—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं।
सो श्रम वादि बाल कवि करहीं ॥

यह एक बड़ी ही कठिनाई उपस्थित होती है। कोई भी कवि अपनी किसी भी कृति का प्रणयन करता है। उसका सम्मान अथवा असम्मान पश्चात् में आलोचकों के हाथ में होता है। उसके लिए वह पूर्व से कर ही क्या सकता है! इसके लिए तुलसी की सम्मति यही है—

भणित विचित्र सुकवि कृत जानी।
राम नाम यश अंकित जानी ॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही।
मधुकर सरिस सन्त गुण ग्राही ॥

महाकाव्य के लक्षणों के सम्बन्ध में मेरे विचार यही हैं कि जिस प्रकार पहले दण्डी आदि आचार्यों ने पूर्व रचित महाकाव्यों के आधार पर महाकाव्य के लक्षणों का विधान किया था उसी प्रकार अब भी 'मानस' जैसे श्रेष्ठ महाकाव्यों के आधार पर और भी अधिक सुन्दर एवं श्रेष्ठतम नियमों का विधान किया जा सकता है। और होना भी चाहिये। साथ ही कवियों में निश्चित नियमों की गिनती अपने महाकाव्य में पूरी करने की भावना भी उचित प्रतीत नहीं होती। उस रूढ़ि में पड़कर महाकाव्यों का स्तर दिनोंदिन नीचे गिरने की सम्भावना हो सकती है। प्रत्येक जीवन के लिए अधिक से अधिक उपादेय सामग्री अपने काव्य में भरना प्रत्येक कवि का प्रमुख कर्तव्य है। और यही महाकाव्य की सबसे पहली विशेषता समझी जानी चाहिए।

साहित्य सन्देश के सहायक-ग्राहक बनने के नियम और निवेदन

जैसा पहले भी प्रकाशित किया जा चुका है, हम साहित्य-सन्देश के कुछ सहायक ग्राहक बना रहे हैं। इन ग्राहकों को वार्षिक मूल्य नहीं देना होगा। उन्हें केवल १००) एक बार जमा करा देने होंगे। जब तक यह रुपये जमा रहेंगे तब तक उन्हें साहित्य-सन्देश बिना मूल्य मिलेगा। सहायक महोदय जब ग्राहक नहीं रहना चाहें, तब उनका रुपया एक महीने की सूचना मिलने पर वापस कर दिया जाता है। कार्यालय से एक आना की स्टाम्प लगी रसीद मिलती है, जिसे रुपया लौटाते समय वापस करना होता है—

हम अपने कृपालु पाठकों और ग्राहक अनुग्राहक महोदयों से निवेदन करेंगे कि वे हमारी इस योजना से स्वयं लाभ उठाकर हमें सहयोग प्रदान करें।

—संचालक

दिनकर का क्रान्तिवाद

श्री श्रीलाल 'भानु' साहित्याचार्य

हमारे क्रान्ति युग का प्रतिनिधित्व कविता में इस समय 'दिनकर' कर रहे हैं। 'दिनकर' एक उथल पुथल चाहते हैं। वे एक क्रांति चाहते हैं, जिसके द्वारा भूखे और नङ्गे भारत का भविष्य पुनः उज्ज्वल हो सके। उनकी वाणी में वह पौरुष पूर्ण हुंकार है जो पहले श्री माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं में मिली थी।

'दिनकर' की कविता से प्रकट होता है कि उनके हृदय में देश के गौरवपूर्ण अतीत के प्रति गहरा प्रेम है। 'मेरे नगपति मेरे विशाल' से प्रारम्भ होने वाली उनकी 'हिमालय' पर लिखी हुई कविता इस बात का प्रमाण है। उनके हृदय में भारत की कीर्ति के प्राचीन खण्डहरों की ईंट ईंट से गहरा मोह है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि का हृदय देश की कीर्ति के ध्वंसावशेष इन स्थानों की वर्तमान दुर्दशा को देखकर कराह उठा हो तथा पुकार उठा हो:—

"क्रान्ति धात्रि ! कविते जाग उठ,
आडम्बर में आग लगादे।
पतन, पाप, पाखण्ड जले जग में,
ऐसी ज्वाला सुलगादे।
विद्युत की इस चकाचौंध में देख,
दीप की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिए,
झोंपड़ी बलि होती है।"

क्रान्तिवादी कवि सारे संसार में क्रान्ति का आह्वान करता है और किसी देश विशेष की राजनीतिक उन्नति तथा स्वतन्त्रता की कामना न कर सारे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अत्याचारों से मुक्ति चाहता है। क्रान्तिवादी कवि ऐसी सभ्यता का विकास और नई व्यवस्था का जन्म देखना चाहता है जिसमें सारी मानवता, दासता, दरिद्रता और अन्धविश्वास के पाश से मुक्त होकर शान्ति और समता का अनुभव कर सके।

वर्तमान अशान्ति और असन्तोषजनक स्थिति ने क्रान्तिवादी कविता को और भी उत्तेजना दी है। क्रान्तिवाद ने वास्तव में एक क्रान्ति उत्पन्न करदी है। इस क्रान्ति का रूप भी बड़ा ही विकट है देखिए—

"पायल की पहली झमक,
सृष्टि में कोलाहल छा जाता है।
पड़ते जिस ओर चरण मेरे,
भूगोल उधर दब जाता है।
लहराती लपट दिशाओं में,
खलभल खगोल अकुलाता है।
पर कटे विहंग सा निरवलम्ब,
गिर स्वर्ग नरक जल जाता है।
गिरते दहाड़ कर शैल शृङ्ग,
मैं जिधर फेरती हूँ चितवन।
झन झन झन झन झन झनन झनन।"

—विपथगा

कवि 'दिनकर' की क्रान्ति क्या है? इसका उत्तर 'विपथगा' स्वयं देती है—

"मैं तेजों का तेज युगों के
मूक मौन की बानी हूँ।
दिल जले शासितों के दिल की,
मैं जलती हुई कहानी हूँ।"

कवि 'झन झन झन झन झन झनन झनन' में झङ्कार के स्वरों को व्यक्त करता है। मानों विद्रोह-पूर्ण झनकार अपना आत्मचरित स्वयं कह रही है। कविता अत्यन्त प्रगतिशील और सामयिक दुरावस्था का जीता जागता प्रतिबिम्ब है। पूँजीवाद के वैभव और निम्नवर्ग की भूख-प्यास की तुलना स्पष्ट है।

विद्रोह की हुङ्कार कहती है कि मेरी पायजेब तलवारों की झनकारों में झंकृत हो रही है:—

"मेरी पायल झनकार रही,
तलवारों की झनकारों में।
अपनी आगमनी बजा रही मैं,
आप क्रुद्ध हुङ्कारों में।
मैं अहंकार से कड़क उठी,
हँसती विद्युत की धारों में।
बन काल हुताशन खेल रही,
पगली मैं फूट पहाड़ों में।"

'दिनकर' देश की पीड़ा तथा विडम्बना को पहचानने वाले प्रतिनिधि कवि हैं। वे अपनी आँखों पर पूँजीवाद का चश्मा चढ़ाकर छायावाद के गीत नहीं गाते. देश की अन्तरात्मा में अनुभव किए जाने वाले संताप का करुण चित्र वे अत्यन्त मार्मिक भाषा में चित्रित करते हैं। जिस समय देश में एक ओर जो वैभव और विलासिता का नर्तन हो रहा हो, देश के मुट्ठी भर पूँजीपति निर्धनों का रक्त चूस कर क्रीड़ा कलोल कर रहे हों, तो दूसरी ओर भूख प्यास से पीड़ित बच्चे बिलख रहे हों, ऐसे कठोर हृदय-द्रावक अवसर पर किसका हृदय द्रवीभूत न होगा—

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र,
भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर,
जाड़ों की रात बिताते हैं।"

'दिल्ली' शीर्षक अपनी कविता में 'दिनकर' भारत की राजधानी दिल्ली को कृषक मेघ की रानी कहते हैं—

"आहें उठीं दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प पुकारें।
अरी गरीबों के लोहू पर,
खड़ी हुई तेरी दीवारें।
वैभव की दीवानी दिल्ली,
कृषक मेघ की रानी दिल्ली।"

यहूदियों के खून को पानी की तरह बहाने वाले मानवता विनाशक हिटलर को 'दिनकर' नहीं भूलते—

"राइन तट पर खिली सभ्यता,
हिटलर खड़ा कौन बोले।
सस्ता खून यहूदी का है,
नाजी निज स्वस्तिक धोले।"

ऐसी विशाल परिस्थिति की पुनरावृत्ति रोकने के लिये क्रान्तिवादी कवि एक नई सभ्यता और नई व्यवस्था की स्थापना चाहते हैं। जिसमें शान्ति और समृद्धि हो, स्वतन्त्रता हो और जीवन के विकास का पूरा अवसर मिले।

इस समय क्रान्ति के मूल में वर्तमान कालिक अभाव का क्रूर ताण्डव है। कवि का संवेदना-शील हृदय, समाज की विषमता, अधःपतन तथा बुभुक्षित अवस्था देखता है। एक दरिद्र गृह का बालक दूध के लिये तड़पता उसकी प्रचण्ड क्रान्ति-भावना के लिये 'प्रतीक' बनकर उपस्थित हो जाता है। माँ का दुग्ध रहित सीना अञ्चल और बालक का दूध के लिये क्रन्दनमय हठ कवि से नहीं देखा जाता। कवि के मुख से निकल जाता है—

"कब्र कब्र में अबुध बालकों,
की भूखी हड्डी रोती है।
'दूध-दूध!' की कदम कदम,
पर सारी रात सदा होती है।
'दूध-दूध!' ओ वत्स मन्दिरों में,
बहरे पाषाण यहाँ हैं।
'दूध-दूध!' तारे बोलो,
इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं?"

जब भगवान भी नहीं सुनते, देव भी नहीं सुनते और गंगा भी सुनी अनसुनी कर देती है तो कवि के धैर्य का बांध टूट जाता है और हिन्द महासागर की जय बोलकर वह तड़प उठता है—

"हटो व्योम के मेघ पन्थ से,
स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
'दूध दूध!' ओ वत्स तुम्हारा,
दूध खोजने हम जाते हैं।।"

(शेष पृष्ठ ४४१ पर)

इन्दुमती

प्रो० देवीशरणजी रस्तोगी एम० ए०

'इन्दुमती' श्री गोविन्ददास का एक सहस्र पृष्ठों का विशालकाय उपन्यास है जिसका कथानक मांट-फोर्ड सुधार से लेकर आज तक की सामाजिक तथा राजनीतिक हलचलों की पृष्ठभूमि के सहारे बढ़ता है। काव्य के अन्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास में कलाकार को सामाजिक जीवन की उथल-पुथल चित्रित करने का अधिक अवसर मिलता है। इस सामाजिक विश्लेषण में उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि किसी विशेष सिद्धान्त के प्रतिपादन अथवा प्रचारार्थ वह उपयुक्त पात्र, घटनाचक्र तथा वातावरण को गढ़े पर इतना निश्चित् है कि अज्ञात रूप से उसका सारा प्रयत्न किसी न किसी विशेष दिशा की ओर इङ्गित करता रहता है। कुछ आलोचक तो यह मानते हैं कि शास्त्रीय मान्यताएँ तथा सिद्धान्त काव्य के अन्य रूपों पर किसी न किसी अंश में लागू हो सकते हैं पर उपन्यास इन सब बन्धनों से मुक्त है। आंग्ल आलोचक एबैल शैवेली ने स्पष्ट रूप से घोषित भी किया है—Principles and systems may suit other forms of art but they can not be applicable here (in novel) पर क्या वस्तुतः उपन्यासकार का कथानक वन्य-प्रदेश की भाँति अनियन्त्रित तथा निरुद्देश्य रूपमें ऊबड़ खाबड़ एवं अस्तव्यस्त पड़ा रहता है? क्या वह चित्रित समाज तथा व्यक्तियों द्वारा किसी भावी समाज एवं व्यक्तियों के काल्पनिक रूप का आभास नहीं देता? क्या कथा कहना ही उसका एक मात्र लक्ष्य होता है? यदि तनिक भी वह कथा को सँवारने का प्रयत्न करता है तो अवश्यमेव इस सँवारने में उसका दृष्टिकोण, जीवन-दर्शन स्पष्ट हो उठेगा। यह और बात है कि सुलझा हुआ कलाकार होने से ... दृष्टिकोण कथानक में भली-भाँति घुलमिल गया हो पर यह नहीं हो सकता कि पूरा घटनाचक्र बिना किसी आकर्षण-केन्द्र अपने आप में मुखरित बना बैठा हो। प्रत्येक कलाकार किसी न किसी रूप में स्वप्नद्रष्टा अवश्य होता है। और उपन्यासकार पर तो सामाजिक उत्थान पतन के चित्रण का उत्तरदायित्व भी होता है फिर भला वह कैसे तटस्थ वक्ता बनने का स्वाँग भर सकता है। श्री इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में 'उपन्यास, सत्य में स्वप्न का पुट देकर, वास्तव में कल्पना मिला कर, व्यवहार से आदर्श का साम्य और सामञ्जस्य स्थापित कर, और वर्तमान पर भविष्य का रङ्ग चढ़ा कर जीवन का वह रूप पेश करता है जो जीवन से मिलता-जुलता है फिर भी अनोखा है, जिससे मनोरञ्जन भी प्राप्त होता है और शिक्षा भी, और जिससे हठात् एक नई चीज हृदय में बैठ जाती है और हम जरा आगे बढ़ जाते हैं।'

तो 'इन्दुमती' का विशाल कथानक किस सामाजिक तथ्य की ओर इङ्गित करता है। वास्तव में गोविन्ददासजी का दृष्टिकोण अधिकतर विवेचनात्मक तथा परिचयात्मक ही रहा है। हमारे सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में जो घटनाएँ इस काल में हुई उनको कुछ व्यक्तियों की कहानी के सहारे ब्यौरेवार प्रस्तुत करने में लेखक प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है। कलाकार के आत्मरस से अभिसिञ्चित सूक्ष्म, मर्मस्पर्शी तथा गहन आन्तरिक विश्लेषण का इसमें अभाव-सा है। यह ठीक है कि उपन्यास कथा-साहित्य का अङ्ग है अतएव उसमें किसी सिद्धान्त का पिष्टपेषण नहीं होना चाहिए। यह भी ठीक है कि उपन्यास पर किसी बाह्य शास्त्रीय मान्यता को नहीं

कि प्रत्येक मानव किसी विशेष कथानक, पात्र अथवा विषय की ओर किसी अन्तः प्रेरणा के वशीभूत होकर बढ़ता है। कलाकार की इसी अन्तर्ज्वाला में पूरा कथानक इस प्रकार गल ढल कर पाठक के सामने आता है कि उसके निखार पर मोहित हुए बिना नहीं रहा जाता। इस निखार के अभाव में बड़ी से बड़ी घटना और भव्य से भव्य तथ्य भी श्रीहत प्रतीत होने लगते हैं। 'इन्दुमती' में इस प्रकार के ब्यौरेवार घटनाक्रम बहुलता से मिलेंगे जिनका जातीय-उत्थान में ऐतिहासिक दृष्टि से तो बहुत महत्व है पर वह कथा-प्रवाह में घुलमिल नहीं पाए हैं। टी-पार्टी, एटहोम, पारस्परिक वाद विवाद, मित्र-संलाप आदि में यह तथ्य-निरूपण 'परिगणन-वृत्ति' तक पहुँच गया है। हो सकता है ऐसे स्थलों पर लेखक का मन्तव्य कथा-प्रवाह से अलग भारतीय समाज का तत्कालीन वृत्तियों का विहङ्गम चित्र प्रस्तुत करना रहा हो। इस रूप में गोविन्ददास जी ठीक टालसटाय की भाँति सामाजिक उथल-पुथल को कुछ व्यक्तित्वों से बाँध कर प्रस्तुत करना चाहते हैं पर जहाँ टालसटाय विशाल घटनाकाल तथा घटनाओं को बाँधने में प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं (युद्ध और शान्ति—War and Peace—उपन्यास में) वहाँ गोविन्ददासजी इन घटनाओं के आधार पर 'पात्रों के निज के व्यक्तित्व' को उभारने में दिखाई पड़ते हैं। मुन्शी प्रेमचन्द ने भी सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर 'गबन' तथा 'गोदान' जैसे उपन्यासों की रचना की पर उनकी उपन्यास-कला के सम्मुख यह घटना चित्रण अधिक सिर न उठा सका। वास्तव में घटना चक्र तथा पात्रों के व्यक्तित्व इस प्रकार घुलमिल गए कि प्रयत्न करने पर भी दोनों को अलग करके देखना असम्भव सा प्रतीत होता है। 'इन्दुमती' में लेखक की कला दो पाटों के बीच में आगई—'निज का व्यक्तित्व ही सबकुछ है' दिखाने में और साथ ही राष्ट्रीय उत्थान पतन को चित्रित करने में।

जैसा कि उपन्यास के नामकरण से प्रतीत होता है लेखक का ध्यान बराबर 'इन्दुमती' के व्यक्तित्व-निर्माण की ओर रहा है। एक प्रकार से सारा घटना चक्र इन्दुमती के व्यक्तित्व के चतुर्दिक घूमता है। ललित मोहन, वजीरअली, वीरभद्र, मुरलीधर और त्रिलोकीनाथ सभी का व्यक्तित्व इन्दुमती के सहारे टिका हुआ है। पर स्वयं इन्दुमती के व्यक्तित्व में ऐसे अन्तर्विरोधी तत्व हैं जो उसके व्यक्तित्व को पनपने नहीं देते। सेठ रामस्वरूप की अतुल सम्पत्ति से मुख मोड़ना उसके अनन्य त्याग का परिचय देता है; अन्त तक वजीरअली के सात्विक स्नेह बन्धन की सुरक्षा करना उसकी चरित्रगत दृढ़ता एवं पावनता का प्रतीक है; मिल-मजदूर सङ्घर्ष में मजदूर पक्ष का समर्थन उसकी निर्भीकता का परिचायक है पर कुछ अन्तर्विरोधों के कारण फिर भी वह पाठक के हृदय में अपने लिए तनिक सी सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर पाती। प्रारम्भ में वह त्रिलोकीनाथ की ओर आकर्षित होती है, फिर ललित मोहन के आगमन से उसके जीवन की दिशा बदल जाती है। ललित मोहन की मृत्यु के पश्चात् कृत्रिम गर्भाधान एक बार फिर उसके चरित्र की दृढ़ता का परिचय देता है। मजदूर आन्दोलन में वह मजदूर-नायक वीरभद्र की ओर आकर्षित होती है। कहा जा सकता है कि इन्दुमती मानवी है और मानव स्वभाव से दुर्बल है अतएव उसका यह आकर्षण मानव सुलभ है। यह ठीक है; पर देखना यह है कि क्या इन्दुमती के लिए इस प्रकार की दुर्बलता का आखेट बनना श्रेयस्कर है? क्या वास्तव में इस प्रकार की दृढ़ चरित्र वाली स्त्री के लिए ऐसी दुर्बलता दिखाना स्वाभाविक है?

दुर्बल तो मुन्शी प्रेमचन्द के भी पात्र हैं किन्तु उनकी दुर्बलता उनके चरित्र का कलङ्क नहीं वरन मानवीयता बन गई है। उनके पात्र अपनी दुर्बलता में भी मानव लगते हैं पर इन्दुमती अपनी दुर्बलता में अमानवी-सी लगती है। वास्तव में कथानक के प्रवाह में इन्दुमती का व्यक्तित्व खो गया है। कथानक इतनी क्षिप्रता के साथ आगे बढ़ता है कि पात्रों

का व्यक्तित्व उसके सामने टिक नहीं पाता। लेखक बारबार प्रत्येक पात्र को निज का व्यक्तित्व प्रदान करने में प्रयत्नशील तथा सचेष्ट तो दिखाई पड़ता है पर घटना-क्रम के सम्मुख उसका सारा प्रयत्न फीका पड़ जाता है। बजरङ्गी का सात्विक स्नेह बन्धन को निभाना उसके व्यक्तित्व को एक अनोखा गौरव प्रदान करता है; वीरभद्र जिस सात्विक एवं स्वाभाविक दृढ़ता का परिचय देता है वह अनुमेय है। इन्दुमती यह जानते हुए कि वीरभद्र विवाहित तथा पत्नीवान है, उसकी ओर बुरी तरह से आकर्षित होती है। बात यहीं तक रह जाए तो पाठक इसे मानवीय दुर्बलता समझ कर भुला सकता है किन्तु प्रेम प्रदर्शन के समय उसका निम्नतम स्तर पर उतर कर हर प्रकार के हथकण्डे काम में लाना पाठक के मन में एक अनोखी उदासीनता, व्यग्रता तथा खिन्नता उत्पन्न कर देता है। मुरली मनोहर की प्रणय-गाथा स्वाभाविक है और उस समय का इन्दुमती का व्यवहार भी प्रशंसनीय है। त्रिलोकीनाथ को भी 'निज का व्यक्तित्व' प्रदान करने के लिए लेखक प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है। त्रिलोकीनाथ का संयम, त्याग तथा जीवन के प्रति सुलझा हुआ दृष्टिकोण अपने में अनोखे हैं। पर अन्त में होता क्या है? इन्दुमती का अन्तर्विरोधी तत्वों से भरा हुआ सर्वव्यापी व्यक्तित्व अन्य सभी पात्रों के लिए राहु बन जाता है। इन्दुमती का अमरीका जाना, वहाँ जाकर धन तथा यश कमाना, लौट कर त्रिलोकीनाथ के 'मातृगृह' की सेवा का भार लेकर अपने आप को जीवन मुक्त करना; यह बातें भी घटना-क्रम की स्वाभाविक देन नहीं वरन प्रयत्नपूर्वक कथानक को अपने दृष्टिकोण से पूर्णता प्रदान करने के आग्रह का परिणाम प्रतीत होती हैं। पूरी कथा इन्दुमती पर आधारित है और क्योंकि इन्दुमती ही पाठक को सहानुभूति की अधिकारिणी नहीं बन पाती इसलिए पूरे उपन्यास की रसात्मकता एकदम घट जाती है।

(पृष्ठ ४२८ का शेष)

'हुङ्कार' की कविताएँ तो क्रान्ति-भावनाओं से ओतप्रोत हैं। कवि का स्वर इसमें अधिक पुष्ट है और है भावनाओं में असाधारण वेग। काव्य के कमनीय पंखों पर उड़कर आती हुई कविता ऐसी लगती है मानों सारे विश्व में हलचल मच जायेगी।

क्रान्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली 'विपथगा' अत्याचारियों को सजग कर देती है। कवि को संसार का दमन इसीलिये थामने को विवश होना पड़ता है कि सिवा उसके कोई दूसरा चारा ज्ञात नहीं होता—

> 'दुनियाँ के वीरो सावधान,
> दुनियाँ के पापी जार सजग !
> जाने किस दिन फुङ्कार उठे,
> यह-दलित-काल-सर्पों के फन।''

संवेदन शीलता कवि का प्राण होता है उसकी संवेदन शीलता यदि अभाव और कष्टों के करुण-सागर में भी जागृत नहीं हो तो उसका क्या मोल ! कवि 'दिनकर' की संवेदन-शीलता वहाँ रमती है जहाँ हाहाकार का घोष सुनाई पड़े। शून्य आकाश में कवि की भावना नहीं जमती। कवि कहता है—

> ''पर नभ में न कुटी बन पाती,
> मैंने कितनी युक्ति लगाई।
> आधी मिटती कभी कल्पना,
> कभी उजड़ती बनी बनाई।''

कला की दृष्टि से कवि की रचनाओं में कविता कम है और 'वाद' अधिक। क्रान्तिवादी कविता की यही सबसे बड़ी संकीर्णता है। गरीबी और रोटी के गीत गाने के साथ-साथ क्रान्तिवादी कवि को जीवन के सौन्दर्य की ओर भी दृष्टि डालनी चाहिये, ऐसा न करने से सत्य की हत्या होगी।

'दिनकर' एक क्रान्तिवादी कवि हैं। अपने युग की माँग को सामने प्रस्तुत करने वाले कवियों के वे नेता हैं। उनकी वाणी में शक्ति है और विचारों में हृदय को उथल पुथल कर डालने वाला प्रवाह। संसार भले ही उन्हें 'विपथगा' कहे परन्तु वह पीछे न हटकर हिमालय की तरह दृढ़ हैं।

प्रयोगवाद : पृष्ठभूमि और परिणति

श्री रामेश्वर शर्मा

प्रयोगवाद हिन्दी काव्य की अधुनातन प्रवृत्ति है। अभी तक इसका अपेक्षित विश्लेषण नहीं हो सका है, यह हिन्दी आलोचना की सबसे बड़ी दुर्बलता है। प्रयोगवाद क्या है? और आज तक के महान साहित्यिकों के प्रयोग क्या हैं, इसमें अन्तर करने के पहिले इस आधुनिक प्रयोगवाद के विकास और उसकी पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है।

सन् १९४३ में 'तार सप्तक' नामक एक काव्य-संग्रह का प्रकाशन श्री अज्ञेय के सम्पादकत्व में हुआ। इस संग्रह में हिन्दी के सात कवियों की रचनाएँ संग्रहीत हुईं। ये कवि हैं सर्व श्री गजानन माधव मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरजाकुमार माथुर, नेमीचन्द जैन, और स्वयम् अज्ञेय। 'प्रयोग' इसके पहिले के साहित्य में याने छायावाद, द्विवेदीयुग अथवा सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के ६०० वर्ष के इतिहास में कई हुए हैं। किन्तु उन 'प्रयोगों' में और इस प्रयोगवाद में तात्विक भेद है। जिसका स्पष्टीकरण आगे होगा। यहाँ हमें प्रयोगवाद की उस साहित्यिक और सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करना है जिसमें कि नूतन काव्यधारा ने सैद्धान्तिक स्वरूप ग्रहण किया।

सन १९३६–३७ में छायावाद का पतन हुआ और युगीन चेतना ने प्रगतिवाद का रूप ग्रहण किया। यह एक सबसे बड़ी आश्चर्य की बात है कि छायावाद का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ (जिसमें छायावाद का भावविधान, दर्शन, तथा शिल्प अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया था) १९३८ में प्रकाशित हुआ। और वह भी इतने ऊँचे शिखर पर पहुँचे हुए छायावाद के पतन को रोकने में अक्षम सिद्ध हुआ। इसका कारण युग की वे सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ थीं जो आलोचकों द्वारा इस कला के ताजमहल की भूरि-भूरि प्रशंसित होने पर भी जड़मूल से उखाड़ देने पर तुली थीं। फलतः कामायनी का अर्धसामन्ती दर्शन युग की उठती हुई जनभावना को नहीं रोक सका और प्रगतिवाद का आन्दोलन जोरों से तेजी पकड़ता गया। प्रगतिवाद का सम्बन्ध जनता के सङ्घर्ष से रहा और मानवता के लिए होने वाले महान् सङ्घर्ष को प्रतिफलित करने में प्रगतिवाद ने अपनी सारी शक्ति लगादी।

वस्तुतः प्रगतिवाद और छायावाद दो साहित्यिक वाद मात्र नहीं है वरन् उनका एक सामाजिक आधार है, जिसने कि प्रयोगवाद नाम की इस नई धारा को जन्म दिया।

छायावाद हिन्दी काव्य की एक अस्वस्थ एवम् रुग्ण चिन्ताधारा थी। जिसके मूल में भारतीय पूँजीवाद का अस्वाभाविक विकास है। पूँजीवाद का प्रवेश जब भारत में हुआ उस समय भारत में पश्चिमी साम्राज्यवाद हावी था। पश्चिम की इस साम्राज्यवादी सरकार की छाया में ही भारतीय पूँजीवाद का विकास हुआ। पूँजीवाद यन्त्रयुग की देन है, अपने में एक महान क्रान्तिकारी प्रयोग है। वह समाज के जीवन में प्रवेश करते ही पुराने सामन्ती उत्पादन के सम्बन्धों को नष्ट करता है और सामन्तवाद की निरंकुशता को समाप्त कर बुर्जुआई प्रतिनिधि तन्त्र की स्थापना करता है, जिसमें जनता को एक सीमा तक कई राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु खेद है कि भारत का पूँजीवाद यह सब कुछ नहीं कर सका। भारत की साम्राज्यवादी सरकार ने एक ओर तो पूँजीवाद के होते हुए विकास को रोका और दूसरी ओर सामन्तवाद के उपकरण जमींदार, जागीरदार, राजा, नवाब और पण्डे पुजारियों का भी संरक्षण किया। फलस्वरूप

भारत का उठता हुआ पूँजीवाद सामन्तवाद के जर्जर ढाँचे पर चोट नहीं कर सका, उल्टा उसका सामन्तवाद से सम्बन्ध स्थापित हो गया। बहुत से सामन्तों ने भी देश के उद्योग धन्धों में अपनी पूँजी लगाई। परन्तु यह सब स्वाभाविकता से दूर था। फलतः अपनी अर्धविकसित (विकास की) अवस्था में ही भारत के पूँजीवाद ने कई अन्तर्विरोधों को जन्म दिया। और राष्ट्रीयता आन्दोलनों की असफलता ने इन अन्तर्विरोधों को सामाजिक स्वास्थ्य के लिए घातक मानसिक क्षय के रूप में बदल दिया। छायावाद इसी मानसिक क्षय की अभिव्यञ्जना है। किन्तु भारतीय जीवन में सर्वसाधारण, आमजनता में बेकारी, और भुखमरी की समस्या बढ़ती जा रही थी। रूस की समाजवादी क्रान्ति से भारतीय जीवन में हलचल मच गयी थी। फलस्वरूप १९२७ में देश में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई जिसने भारत के जन-संघर्ष को एक हद तक आगे बढ़ाया। १९३२ में कांग्रेस में भारतीय समाजवादी दल की स्थापना हुई जिसने कांग्रेस में रहकर ही कार्य करना उपयुक्त समझा। पूँजीवाद के फलस्वरूप भारत के जीवन में एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ, जो जनक्रान्ति का अगुआ वर्ग है, वह वर्ग है सर्वहारावर्ग। इसी वर्ग की उपस्थिति ने प्रगतिवाद को जन्म दिया। सामाजिक जीवन में मजदूर वर्ग और पूँजीपति में इन दिनों टक्कर होना प्रारम्भ हो गई थी। पूँजीवाद की वर्ग-गत शोषण की प्रणाली ने भारतीय जीवन में वर्ग संघर्ष को तीव्र रूप में उपस्थित किया। अब समाज में दो वर्ग स्पष्ट रूप से नजर आने लगे थे। १—शोषित, जिसमें सर्व साधारण जनता, मजदूर, किसान और मध्यवर्ग हैं और २—शोषक, जिसमें पूँजीपति जागीरदार और जमींदार हैं। साहित्य के क्षेत्र में छायावाद का पतन हो चुका था जो एक अर्से तक पूँजीवाद की क्षयग्रस्तता की अभिव्यञ्जना कर रहा था। और उसके स्थान पर प्रगतिवाद की प्रतिष्ठा हो चुकी थी जिसने साहित्य में शोषक वर्ग की भूमिका अदा करना प्रारम्भ कर दिया। पर अभिजात्यवर्ग (पूँजीपति आदि) भी इससे कम सचेत नहीं था। पन्त और निराला प्रगतिवाद से अपना सम्बन्ध जोड़ चुके थे। प्रगतिवाद के क्षेत्र में विषय वस्तु और शैली शिल्प के नूतनतर प्रयोग पन्तजी द्वारा सम्पादित 'रूपाभ' में होना प्रारम्भ हो गए थे। पूँजीपतिवर्ग को साहित्यिक क्षेत्र से छायावाद के इस पतन से अपना अस्तित्व समाप्त होते नजर आया। इसलिए एक अर्से तक उसका रुख अस्तित्व रक्षा का रहा और अस्तित्व रक्षा के लिए उसने नकारात्मक रुख अपनाया। और वह था प्रगतिवाद का विरोध। प्रगतिवाद की उठती हुई चेतना पर प्रचारात्मकता का आरोप किया गया। उसे रोटीवाद, झंडावाद, आदि भिन्न नाम दिये गये। किन्तु इतिहास की चेतना इन्कार करने से रुकती नहीं है। अस्तु यह नकारात्मक रुख प्रगतिवाद की चेतना को रोकने में असफल सिद्ध हुआ। फलतः उसने एक नूतन पथ का अवलम्बन किया। बुर्जुआ वर्ग यह अच्छी तरह से समझ चुका था कि हिन्दी का जागरूक साहित्यिक शाश्वतवाद को अच्छी तरह से समझ चुका है। और शाश्वत के लुभावने आवरण के पीछे छिपी हुई अभिजात्यवर्ग की दुर्भावनाएँ उसे साफ नजर आ रही थीं। साथ ही आत्माभिव्यक्ति, व्यक्तित्व प्रकाशन की फ्रायडवादी शब्दावली से भी श्रमिकवर्ग की उठती हुई चेतना को दबाया नहीं जा सकता था। अतः छायावाद के पतन से लेकर प्रयोगवाद के प्रारम्भ तक, याने १९३६ से १९४३ तक, के बीच के समय में इस बुर्जुआ विचारधारा ने कई रङ्ग पलटे। इस समय में इसे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था कि वह क्या करे। उसने प्रतीकवाद, अभिव्यञ्जनावाद, और स्वच्छन्दतावाद का नारा दिया परन्तु उठती हुई जनचेतना ने उसे विफल कर दिया। उन्होंने साहित्य को कई नए मोड़ देना चाहे पर बेकार। अस्तु, अन्त में आकर उन्होंने पश्चिम के पतनोन्मुख पूँजीवाद में उदित प्रयोगवाद का नारा दिया। जिसके जन्मदाता

अँग्रेजी के कवि तथा आलोचक टी० एस० इलियट हैं। जिन्होंने पूँजीवाद के इस पतनकाल में आई० ए० रिचार्डस की सहायता से इङ्गलैण्ड में कविता की एक दुरूह प्रणाली का प्रवर्तन किया। और उसी के आधार पर रिचर्डस ने यह निष्कर्ष निकाला कि आगे कविता दुरूह होती जावेगी और बहुत थोड़े लोग उसका लाभ पा सकेंगे। परन्तु हिन्दी के लेखकों ने इस प्रयोगवाद का जो सम्मान किया वह तो विदित ही है। आखिरकार निराशा ही मिली। और इस वर्ग ने अन्त में पन्तजी को अस्त्र बना कर अरविन्दवाद का नारा दिया। और आज इन दोनों में ही बुर्जुआ काव्यधारा उलझ रही है।

डा० नगेन्द्र ने प्रयोगवादी कविता पर लिखते हुए कहा है कि वह छायावाद की प्रतिक्रिया में उद्‌भूत नवीन काव्य धारा है। वे लिखते हैं: "शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्व और रूपआकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असन्तोष सा उत्पन्न हो गया था............"

"............निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई............"

"प्रारम्भ में इस प्रतिक्रिया का समवेत रूप ही दिखायी देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक हो गए।........"

"पहिले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया।"

नगेन्द्र जी के इस कथन का अर्थ स्पष्ट है कि वे प्रयोगवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न प्रगतिवाद का एक साथी आन्दोलन मानते हैं। किन्तु इस प्रकार का कथन पूर्ण रूप से भ्रम पूर्ण है। उसका कारण यही है कि आज भी सिद्धान्ततः प्रयोगवादी काव्य-साहित्य में उसी भूमिका को पूर्ण कर रहा है जिसे किसी समय छायावाद ने किया था। यह भूमिका है व्यक्तिवाद की। व्यक्ति की परिधि में केन्द्रित होकर साहित्य को सामाजिक जीवन से दूर रखने की। अभिव्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर सामाजिक उत्तरदायित्व से बचने की। छायावाद में कवि अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को नहीं समझ सका था और इसीलिये वह व्यक्ति की रति की परिधि में केन्द्रित था। पन्तजी ने इस समय हिन्दी के कवियों को चेतावनी देते हुए उन्हें उनके सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध कराया था। छायावाद का कवि अपने व्यक्तिवाद के घेरे को तोड़कर समाज के साथ कदम बढ़ाने के लिये प्रगतिवाद के साथ आगे बढ़ रहा था। किन्तु प्रयोगवाद का कवि अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से अपरिचित नहीं है, वरन वह सचेत रूप से उससे पलायन कर रहा है (पलायन तो छायावादी भी करता था परन्तु अचेतन रूप से) जिसे छायावादी भी नहीं कर सका था। अज्ञेय कहते हैं—"यों समस्याएँ अनेक हैं—काव्य विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुनः संस्कार की आदि—किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है, क्योंकि यह कवि कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और (Communication (निवेदन) की समस्या है। और कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति यही है।"

इस प्रकार भाववस्तु के सम्बन्ध में प्रयोगवाद छायावाद के व्यक्तिवाद से दो कदम आगे है। और अभिव्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर लेखक को प्रयोगशाला में बिठाने का आग्रह करता है। और यह प्रयोगशाला भी अवचेतन की निबिड़ एवम् अविवेकशील कुण्ठाओं तक ही सीमित है। इसी प्रकार शिल्प के क्षेत्र में भी प्रयोगवाद में छायावाद की शैली का विरोध न होकर उसका विकास ही हुआ है। छायावाद की शैली का सबसे बड़ा दोष था, उसकी अस्पष्टता। यही अस्पष्टता प्रयोगवादी कविताओं पर शीशे के पत्ते की तरह जमी हुई है। स्वयम् डा० नगेन्द्र ने इसे स्वीकार किया है। वे लिखते हैं :—

"उपर्युक्त विवेचन से एक बात जो स्पष्ट हो जाती है वह है इन कविताओं की दुरूहता। ये कविताएँ अनिवार्य रूप से ही नहीं, सिद्धान्त रूप से भी दुरूह हैं।"

छायावाद की शैली का दूसरा दोष था, उसकी दूरारूढ़ प्रतीक पद्धति। कवि लोग प्रकृति के प्रतीकों से स्वयम् की यौन भावनाओं का चित्रण करते थे। स्वयं डा० नगेन्द्र ने अपनी विचार और अनुभूति में इसे स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है:—

"निदान प्रकृति का योग यहाँ दो रूपों में हुआ है। एक कोलाहलमय जीवन से दूर शान्त, स्निग्ध विश्राम भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक रूप में। ......प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावतः उसी के प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।"

प्रकृति के पहिले रूप की जिसमें कि कवि पलायन करता है, प्रयोगवादी को आवश्यकता नहीं हुई क्योंकि वह तो सचेतन रूप से अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को 'इतर' समस्या कह कर उससे इन्कार कर चुका है। परन्तु शिल्प के क्षेत्र में उसने छायावाद की प्रतीक पद्धति जिसका कि आधार प्रकृति थी, परिवर्तित रूप में ग्रहण की। और प्रयोगवाद की प्रतीक पद्धति में प्रकृति का स्थान अवचेतन विज्ञान ने ले लिया है। स्वयं नगेन्द्रजी इस सत्य से दूर नहीं हैं।

"प्रयोगवादी कवि के प्रतीक विधान में अवचेतन विज्ञान का सचेष्ट उपयोग रहता है।"

इस प्रकार भाव-विधान तथा शैली-शिल्प दोनों ही के क्षेत्र में, प्रयोगवाद में छायावाद के दोष और अधिक उभर कर आये हैं। छायावादी व्यक्तिवादी और पलायनवादी था किन्तु अचेतन रूप से। उसकी शैली अस्पष्ट एवं दूरारूढ़ प्रतीकों पर आधारित थी किन्तु उसके पीछे सिद्धान्त का आग्रह नहीं था। तीसरी वस्तु है छायावाद का मूल दर्शन जिसके परिवर्तित रूप का प्रयोगवाद में विकास हुआ है। वह शाश्वतवाद। शाश्वतता के साथ ही प्रगतिशीलता का नियम भी जुड़ा हुआ है। जो सृष्टि में होने वाले परिवर्तन को परिवर्तन न मान कर उसका आभास मात्र मानते हैं। प्रयोगवादी काव्य के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को दूसरे रूप में उपस्थित करते हैं। और उसे (शाश्वत को) सनातन की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इस सनातनता की माँग को देखिए:—

"इसलिए कि वह (कलाकार) व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है।"

(अज्ञेय, तारसप्तक का वक्तव्य)

पाठक को समझने में धोखा हो सकता है (जो जानबूझ कर दिया जा रहा है) कि लेखक की यह समस्या प्रारम्भ से आज तक रही है कि जो अपना अनुभूत है (व्यक्ति का सत्य) उसे दूसरों तक कैसे पहुँचाया जाय। परन्तु यह एक हवाई भाव मात्र है। कोई हर्ज न होता यदि अज्ञेय या अन्य प्रयोगवादी कवियों का अनुभूत (व्यक्ति सत्य) जनता तक पहुँचता। उल्टे शैलीगत दुरूहता जैसे पचासों दोषों के कारण विद्वान् लोग भी उसे नहीं समझ पा रहे हैं।

अतः उक्त विश्लेषण के आधार पर यह तो स्पष्ट ही हो गया कि प्रयोगवाद जैसा कि डा० नगेन्द्र ने कहा है छायावाद की प्रतिक्रिया में उद्भूत कोई काव्य धारा है पूर्णतः भ्रमपूर्ण है।

वरन् वह छायावादी काव्यधारा का विकसित रूप ही दिखाई देता है। छायावाद की सभी बुराइयाँ उसमें पल्लवित हुई हैं। हाँ, छायावाद के सुन्दर शब्द विन्यास, तथा भावनाओं की मधुर अभिव्यक्ति तथा मूर्तविधायनी कल्पना का अवश्य यहाँ अभाव है।

अज्ञेय के इस प्रयोगवाद का एक सैद्धान्तिक धरातल है। जिस पर अज्ञेय ने हिन्दी के कई कवियों को एकत्रित कर इस नये वाद का प्रवर्तन किया। और इसके लिये डा० रामविलास को

कविताएँ देने के लिए विवश किया। आखिर यह सैद्धान्तिक धरातल क्या है? इस सैद्धान्तिक धरातल की सबसे बड़ी विशेषता वह दृष्टिकोण है जिसका केवल काव्य से सम्बन्ध है। देखने में कितना स्पष्ट लगता है छलछिद्र विहीन निष्पाप। शुद्ध साहित्यिक और शायद इसी लिए डा० नगेन्द्र ने प्रयोगवादी-साहित्य को साहित्य न मानते हुए भी उसके अस्तित्व को साहित्यिक करार दिया है। जरा नगेन्द्रजी के इन दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को मिलाकर तो देखिए फिर आपको अज्ञेयजी की सफलता का रङ्ग दिखाई देगा :—

"दूसरे वर्ग (प्रयोगवादी) ने सामाजिक राजनैतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुये भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा।"

× × ×

"काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाए, बौद्धिक तत्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है। शक्ति का साहित्य अथवा ललित साहित्य वस्तु के साहित्य से इसी बात में मूलतः भिन्न है। यह अन्तर जब तक काव्य का अस्तित्व है बना रहेगा। इसका तिरोभाव होने से काव्य के अस्तित्व पर ही आघात होता है। प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की झोंक में काव्य के इसी मर्म पर चोट की है और परिणाम यह हुआ कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है, उसमें मन को स्पर्श या चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं रही।"

जब प्रयोगशील कवि की कविता काव्य ही नहीं रह गई है तो फिर उन प्रयोगशील कवियों का व्यक्तित्व कैसे साहित्यिक रहा? यह एक विचारणीय प्रश्न है। स्पष्ट है कि नगेन्द्रजी भ्रम में हैं। और यह भ्रम भी इस वाद के प्रवर्त्तकों द्वारा सचेतन रूप से उत्पन्न किया जा सके अन्यथा काव्य न रहते हुये भी आज के साहित्य में उनका स्थान कैसे रहता।

अब जरा अज्ञेयजी का वह दृष्टिकोण देखना चाहिये जिसने हिन्दी के विचारशील तथा विद्वान आलोचक को भ्रम में डाल दिया। अज्ञेयजी ने अपने परिचय में स्पष्ट रूप से लिखा है कि उनकी रुचि इस प्रकार के विषयों में अधिक है जिनसे तत्काल कोई सम्बन्ध न हो। इसीलिए उन्होंने एक ऐसी समस्या को उठाया जिसका आज के जीवन तथा काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं था। और बैठे, उसे ही लेकर तर्क वितर्क करने। यह समस्या है भावप्रेषण की। समस्या शुद्ध साहित्यिक उठाई गई ताकि सभी यह समझें हैं कि इन कवियों तथा लेखकों का दोष साहित्य से बाहर नहीं है। और उसके बाद जो भी लिखना प्रारम्भ कर दिया गया वह बाद का विषय है। अस्तु, आलोचकों के भ्रम का कारण अज्ञेयजी द्वारा उठाई गई समस्या ही है। जिसे अज्ञेयजी ने प्रयोगवाद का सैद्धान्तिक आधार बताया है।

अन्त में हम कहना चाहते हैं कि प्रयोगवाद की धारा आज के हिन्दी साहित्य में वही भूमिका अदा कर रही है जो एक समय तक छायावाद ने की थी। उसे प्रगतिवाद की तरह छायावाद की प्रतिक्रिया में उद्भूत काव्यधारा मानना भारी भ्रम है।

मधु-सञ्चय

साहित्यिक व्याख्यान—

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की ओर से एक साहित्यिक व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया है, जिसके अन्तर्गत डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के भाषण हो चुके हैं। इन विद्वानों के भाषणों का सारांश नीचे दिया जाता है:—

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—

व्याख्यान-माला का श्रीगणेश करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने व्याख्यान में कहा कि मैंने जिस काल के साहित्य की आलोचना की है, उसके लिए 'आज का काल' का प्रयोग करना ही अच्छा समझता हूँ। मैंने साधारण तौर पर दसवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक की विवेचना की है। सामग्री के सम्बन्ध में भी मैंने उसमें तथ्य संग्रह किया है।

अब तक की प्रकाशित पुस्तकों में बड़ी भ्रामकता मिलती है। उन्हें देखने से एक साथ निराशा और आशा दोनों की अनुभूति होती है। निराशा इसलिए कि जिस सामग्री को मैं बहुत पूर्ण समझता हूँ, उसके काल की प्रवृत्तियों का अध्ययन कर १५ आने सामग्री विश्वास योग्य नहीं प्रतीत होती। वीर गाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों की विशुद्ध विवेचना करते हुए आचार्य द्विवेदी जी ने अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए। उन्होंने कहा—'हिन्दी के सम्बन्ध में जानने के लिए प्राप्त सामग्री का अध्ययन आवश्यक है। जैसे—(क) जैन भाण्डार से प्राप्त प्रचुर सामग्री। (ख) राजपूताना और गुजरात की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें। हम लोगों का यह दुर्भाग्य है कि महत्वपूर्ण पुस्तकें पड़ी रह जाती हैं और हम उनसे तथ्य नहीं निकाल पाते। हिन्दी के आदिकाल की चर्चा में श्री द्विवेदीजी ने यह भी बतलाया कि पहले तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिकता से होता था। गद्य में तो बराबर विशुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग होता रहा; पद्य निर्माण में बड़ी सतर्कता बरती जाती थी। अपनी तृतीय सामग्री का उल्लेख करते हुए उन्होंने सी० पी० के प्राप्त शिला लेखों से भी बहुत-सी आवश्यक बातें प्राप्त करने की बात बतलाई। पूर्व देशों में प्राप्य बौद्धों के गान भी अच्छी सामग्री का काम दे सकते हैं और उसके बाद विद्यापीठ की कीर्तिलता तो बड़ी ही अच्छी सामग्री है। अपने व्याख्यान-क्रम में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आगे कहा कि प्राकृत पिंगल के कुछ उदाहरणों को देखते हुए उसकी भाषा को उस युग की प्रतिनिधि भाषा भी कहा जा सकता है।

हिन्दी—आदिकाल—

आचार्य द्विवेदी ने दूसरे दिन 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' पर व्याख्यान करते हुए इतिहास और साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित किया। उन्होंने आदिकाल के भारतीय इतिहास और साहित्य का सरस ढङ्ग से विशद वर्णन करते हुए कहा कि मुस्लिम आक्रमण का तेज फल भारत में इतनी तीव्रता से घुसा कि सभी चीजें छितरा गईं। नाथों के संप्रदाय के भी छितरा जाने के कारण वे अपने साहित्य की रक्षा न कर पाए। फलतः उत्तरी भारत की साहित्य-साधना भी धर्म-साधना की भाँति ही तितर-बितर हो गई। लोकप्रिय राजागण उस काल में लोकभाषा के प्रति उतने सदय न थे। राजाओं एवं ब्राह्मणों ने संस्कृत को ही संरक्षण प्रदान कर विशेष प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार 'पृथ्वीराज रासो' जैसे ग्रन्थों की भी स्मृति ही अवशिष्ट रह गई। राजा, धर्म और जनता की रुचि के अभाव में उस काल की भाषा उपेक्षित रह गई। हाँ, चौहानों ने हिन्दी भाषा को थोड़ा प्रश्रय प्रदान किया। जयचन्द के मन्त्री विद्याधर भी स्वयं उद्भट विद्वान एवं कवि थे।

अस्तु, इस काल की भाषा के इतिहास के लिए केवल उन पुस्तकों पर ही निर्भर करना, जिनकी संख्या नगण्य है, अनुचित होगा। यह काल तो ऐतिहासिक उलझनों से भरा हुआ है।

पृथ्वीराज रासो—

व्याख्यान-माला के तीसरे दिन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने भाषण के अपूर्व क्रम को जारी रखते हुए 'पृथ्वीराज रासो' की मौलिकता पर अपना गवेषणात्मक दृष्टिकोण प्रकट किया।

उन्होंने कहा कि रासो के ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होने के कारण उसके पात्र बहुधा ऐतिहासिक नहीं दीख पड़ते। सर्वप्रथम एशियाटिक सोसाइटी ने १८७६ ई० में रासो के प्रकाशन का प्रबन्ध किया; पर 'काश्मीर' में संदेश रासव' नामक ग्रन्थ के १६८२ ई० में प्रकाशित होने पर प्रायः 'पृथ्वीराज रासो' के सभी भाव उसमें आ गए और इस प्रकार इतिहास की दृष्टि से रासो की कोई उपयोगिता न समझी जाने लगी। इस दिशा में नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयत्न हुए। उसने रासो का एक बृहत् संस्करण निकाला और फिर रासो के लघु, लघुतम और मध्यम तीन संस्करण निकाले। मूल रासो का पता नहीं चल सका। इन सभी संस्करणों में भी ऐतिहासिक अशुद्धियों की भरमार रही। मेरा विश्वास है कि रासो का कोई भिन्न मूल रूप भी था। और उसकी भाषा का रूप आज से भिन्न अपभ्रंश का था; क्योंकि कवि के भाषा सम्बन्धी रियासती अधिकारियों के कारण रासो की चरम दुर्गति वर्तमान काल में ही अधिक हुई प्रतीत होती है।

श्री द्विवेदी ने अपने व्याख्यान क्रम में आगे बतलाया कि उन दिनों जैन कवियों में प्रबन्ध लिखने की परम्परा थी, जिसके अनुसार ही 'पृथ्वीराज—प्रबन्ध' की भी रचना की गई। पृथ्वीराज प्रबन्ध में वर्णित कई प्रसङ्ग शिला-लेखों और इतिहास से भी मौलिक सिद्ध होते हैं और चूँकि उसमें रासो के भी चार छप्पयों का समावेश है, इसलिए रासो की मौलिकता प्रमाणित हो जाती है। 'पृथ्वीराज—रासो' एक चरित-काव्य होते हुए भी 'रासव साहित्य' है। रासो में कथानक रूढ़ियाँ भी मिलती हैं।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'बाणभट्ट और भारतीय संस्कृति' पर व्याख्यान करते हुये कहा कि बाण विरचित 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' इन दो ग्रंथों का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन करने पर लाभ की बहुत सामग्री उपलब्ध हो सकती है। बाण ने चित्रवत वर्णन करने की विलक्षण शक्ति द्वारा सातवीं शताब्दी की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अवस्था का बड़ा ही स्पष्ट चित्रण किया है। उन्होंने देश के भिन्न-भिन्न भागों का परिभ्रमण कर तत्कालीन सैन्यसंघठन, सेवकों का संघठन, राजदरबार, प्रसूतिगृही, राजकुल आदि का 'हर्ष चरित' और 'कादम्बरी' में बड़ा ही सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है। तत्कालीन विद्या-केन्द्रों, गुरुकुलों का भी चित्र उन्होंने प्रस्तुत किया है। बाण अपने युग का सांस्कृतिक चित्र प्रस्तुत करने में बड़े ही पटु सिद्ध हुए हैं।

बाण की शैली—

दूसरे दिन 'बाण की शैली' पर प्रकाश डालते हुए कहा कि 'बाण में हम तीन प्रकार की शैलियाँ पाते हैं। प्रथम तो 'समास शैली' है, जो सैन्य, राजकुल और चण्डिका आदि के वर्णन में मिलती है। इस प्रकार की उत्कालिका या समास शैली द्वारा उन्होंने ७७ समासों को एक ही वाक्य में जोड़ दिया है, जिसे पढ़ने में रस मिलता है। दूसरे प्रकार की शैली 'चूर्णशैली' है, जो ललित, सरस, आदि अति सरल है। तीसरी शैली दोनों के सम्मिश्रण से निर्मित है। अतएव शैली की दृष्टि से 'हर्ष-चरित' और 'कादम्बरी' में वर्णित राजमहलों के स्थापत्य का सांगोपांग वर्णन करते हुए उसका दिल्ली के राष्ट्रपति-भवन से तुलना किया और कहा कि 'स्थापत्य और वस्तु कला के वर्णन की दृष्टि से भी 'हर्ष चरित' और 'कादम्बरी' का कम महत्व नहीं है।

—'हुङ्कार' से साभार

आलोचना

मानस-मन्दाकिनी—लेखक तथा प्रकाशक–श्री शम्भुप्रसाद बहुगुणा आई० टी० कालेज, लखनऊ। पृष्ठ २१४, मूल्य ४॥)

मानस-मन्दाकिनी शीर्षक से सहसा यही विदित होता है कि यह पुस्तक रामचरित मानस से सम्बन्ध रखती है। वास्तव में यह लेखक के मानस की मन्दाकिनी है और इसके २५ अध्यायों में तुलसी पर भी एक अध्याय है जिसमें मानस और विनय दोनों पर विचार किया गया है। रस की दृष्टि से तथा ऐतिहासिक दृष्टि से भी तुलसी का अच्छा विवेचन हुआ है। मानस में उन्होंने धीरोदात्त नायक के अनुकूल वीर रस का तथा उनके ब्रह्मत्व के सम्बन्ध में शान्त और अद्भुत का प्राधान्य दिखाया है। रामचरित मानस का अध्यात्मिक रामायण और बाल्मीकीय रामायण के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी दिया है। इसमें कुछ निबन्ध हिन्दी से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ संस्कृत-साहित्य से। कहीं-कहीं एक निबन्ध में एक प्रवृत्ति के दो तीन कवियों को एक साथ ले लिया गया है जैसे 'सेनी-रैदास-कबीर', 'केशव-बिहारी-सेनापति' इन निबन्धों में आई हुई आलोचनाओं की प्रवृत्ति भाव विश्लेषण के साथ ऐतिहासिक भी है जिसमें कुछ नई सामग्री विशेषकर कबीर आदि के सम्बन्ध में भी प्रकाश में आई है। लेखक का दृष्टिकोण अधिकांश में सहृदयतापूर्ण है। सहृदयता आलोचक में एक सराहनीय गुण है किन्तु केशव के सम्बन्ध में यह वकालत के निकट आ गई है। सूर्य के सम्बन्ध में जो 'किधौं शोणित कलित कपाल किल कापालिक काल को' की उक्ति दी गई है उसके समर्थन में देव का 'लोहू पियो जु वियोगिनी को, सु कियो मुख लाल पिशाचिन प्राची' का उदाहरण दिया है किन्तु वहाँ पर वियोगिन का वर्णन है और उस कारण यह वीभत्सता कुछ क्षम्य हो जाती है। सूर्योदय वहाँ शुभ शकुन के रूप में बताया गया है उस प्रसङ्ग में उस कापालिक काल का लोहू भरा खप्पर कहना अवश्य ही खटकता है। यह वकालत की प्रवृत्ति सब जगह नहीं है। पुस्तक विचारोत्तेजक और ज्ञानवर्द्धक है।

सूर-विनय-पदावली—संकलयिता–श्री प्रभूदयाल मीतल, प्रकाशक–अग्रवाल प्रेस मथुरा। पृष्ठ ११६, मूल्य १॥)

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदासजी की भाँति सूरदासजी ने कोई पृथक रूप से विनय पत्रिका नहीं लिखी तथापि उनके सूरसागर के प्रारम्भिक दो स्कन्धों में विनय के उत्कृष्ट पद पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। ऐसे दो एक और भी संकलन निकल चुके हैं किन्तु वे अप्राप्य से हैं और उनका सम्पादन और प्रकाशन भी इतना अच्छा न था जितना कि प्रस्तुत संस्करण का। इस संस्करण में विनय के दो सौ अस्सी पद हैं। यद्यपि सूर के विनय सम्बन्धी पदों में चुनाव की विशेष गुञ्जाइश नहीं है तथापि जो पद रक्खे गये हैं वे बड़े महत्व के हैं। मीतलजी ने रत्नाकरजी के संस्करण का ही अनुकरण किया है। सूर के विशेषज्ञ पंडित मुन्शीराम शर्मा ने इस संस्करण को अपनी भूमिका से सुशोभित किया है। प्रभूदयालजी मीतल ने आरम्भ में सूर की जीवनी दी है जो बहुत अंश में

उनके सूर निर्णय पर आधारित है और अन्त में एक भक्ति और विनय की पृष्ठ-भूमि दी है जिसमें महर्षि नारद की बताई हुई आसक्तियों का नवधा भक्ति और प्रेम लक्षणा भक्ति के साथ समन्वय किया गया है। विनय के विभिन्न अङ्गों की व्याख्या के साथ उनको उद्धृत करने वाले संग्रह में आये हुए पदों की संख्या की ओर भी संकेत कर दिया गया है। मीतलजी के मत से बल्लभाचार्य के सिद्धान्तों में दास्य भाव की भक्ति के लिए भी स्थान है और यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता है कि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उन्होंने दास्यभाव के पद लिखना बन्द कर दिया था। सूरदासजी के भक्ति भावनापूर्ण पदों का संग्रह करके मीतलजी ने ब्रजभाषा प्रेमी भक्तों के साथ बहुत उपकार किया है। —गुलाबराय

दृष्टिकोण:—लेखक-प्रो० कन्हैयालाल सहल, प्रकाशक-आत्मराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ११०, मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तक में प्रो० कन्हैयालालजी सहल के ३३ लघुकाय निबन्धों का संग्रह है। पुस्तक के आरम्भ में कविवर्य श्री सियारामशरण गुप्त के शब्द हैं हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के छोटे निबन्ध बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। सहलजी की लेखनी ने इन लघुकाय निबन्धों को बड़ा प्रभावोत्पादक बना दिया है। कतिपय निबन्ध, जैसे 'मृत्यु तत्व'; 'भाषा का चमत्कार' और 'प्रतिभा' आदि तो बहुत ही सुन्दर और रोचक बन पड़े हैं। मुद्रण साफ-सुथरा और कागज बढ़िया है। निबन्ध प्रेमियों के लिए 'दृष्टिकोण' वस्तुतः उपादेय है। —गजराज जैन

शास्त्र अर्थ

मुद्राशास्त्र और बैंकशास्त्र—लेखक प्रो० केदारनाथ प्रसाद एम० ए०, प्रकाशक-पुस्तक भण्डार, पटना। पृष्ठ २६५, मूल्य ६)

यह पुस्तक लेखक की आधुनिक अर्थशास्त्र (चतुर्थ पत्र) का चौथा भाग है जिसमें लेखक ने अपनी दूसरी पुस्तकों की तरह इसे भी हिन्दी में विषयानुसार बनाने का पर्याप्त परिश्रम किया है। विषय को वैज्ञानिक ढङ्ग से विभाजित कर प्रत्येक विभाग पर समुचित प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक के दो भाग हैं। पहिले में केवल मुद्रा सम्बन्धी तथा दूसरे में बैंक सम्बन्धी बातें हैं। दोनों दृष्टिकोणों से आधुनिकतम अर्थशास्त्रियों के मतों को देकर भारतीय आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। लन्दन और न्यूयार्क के मुद्रा बाजारों के समानान्तर विवेचन ने भारतीय स्थिति के अध्ययन को और भी सरल बना दिया है।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचना केन्स के दृष्टिकोण से समीकरण आदि देकर की गई है तथा प्रो० मार्शल, पीगू और फिशर के समीकरणों को देकर चारों के दृष्टिकोणों को स्पष्ट कर दिया गया है।

पुस्तक लिखने में ७७ पुस्तकों से सहायता ली गई है जिनकी सूची पुस्तक के अन्त में दी गई है। जिन उद्धरणों को दिया गया है वे सभी विद्यार्थियों के स्मरण करने योग्य हैं। इस पुस्तक में भी जिल्द में कपड़े की कमी प्रकाशक की कृपणता का परिचय देती है। —दयाप्रकाश एम० ए०

धार्मिक

भागवत-धर्म—लेखक-श्री हरिभाऊ उपाध्याय, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली। पृष्ठ ३६६, मूल्य ५), सजिल्द ६॥)

श्रीमद्भागवत् को लोग प्रायः श्रीकृष्णजी की प्रेम लीलाओं का ही ग्रन्थ समझते हैं किन्तु वे तो उसके एक स्कन्ध में ही सीमित हैं। श्रीमद्भागवत् बड़े महत्व का ग्रन्थ है। उसके लिए कहा जाता है 'भागवते पण्डितानां परीक्षा।' वह पाण्डित्य की कसौटी है। प्रस्तुत पुस्तक में उसी भागवत् के ग्यारहवें अध्याय की टीका है जो कृष्ण और उद्धव के संवाद रूप में आध्यात्मिक ज्ञान से भरा हुआ है। इसमें माया, जीव, ब्रह्म, कर्म, वर्णाश्रम धर्म, अवतार आदि की जटिल समस्याओं पर बड़ी मार्मिकता के साथ विचार किया गया है। उपाध्यायजी के भाष्य ने

सरलार्थ में जो मोटे अक्षरों में दिया हुआ है, छिपे हुए गूढ़ रहस्यों की बड़ी विद्वत्ता के साथ उद्घाटन किया है। इसके पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भागवत् के कृष्ण भी उतने ही बड़े योगी और दार्शनिक हैं जितने कि गीता के। गीता की भाँति, इसमें १२ अध्याय हैं। उपाध्यायजी की भाषा आधुनिक ज्ञान और परिस्थितियों को लेकर अग्रसर हुई है किन्तु उनका प्राचीन के प्रति दृष्टिकोण बौद्धिक होते हुए भी परम श्रद्धा पूर्ण है।

श्री समर्थ रामदास (हिन्दी)—लेखक तथा प्रकाशक—दिवाकर जोगलेकर 'साहित्य रत्न'। पृष्ठ संख्या १६५, मूल्य २॥)

समर्थ रामदास महाराष्ट्र की ही नहीं भारत की आध्यात्मिक विभूतियों में से हैं। उनके दासबोध से हिन्दी भाषा भाषी परिचित हो चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनकी जीवन लीला तथा विचार-धारा से परिचित कराने में समर्थ होगी। शिवाजी जैसे स्वतन्त्रता प्रेमी और देशोद्धारक व्यक्ति की राजनीतिक साधना के साफल्य का श्रेय भी समर्थ रामदासजी के आध्यात्मिक उपदेशों को है। धार्मिकों के लिए तो इस पुस्तक में बहुत कुछ मनन की सामग्री है किन्तु इतिहास के विद्यार्थियों के लिए तात्कालिक सामाजिक चित्रण विशेषकर दुर्भिक्षों और यात्राओं का वर्णन रुचिकर होगा। पुस्तक के अन्त में समर्थ रामदासजी की भी कविता संकलित की गई है। उसका अनुवाद भी दे दिया होता तो बहुत उपकार होता। —गुलाबराय

जैन व्रत विधान संग्रह—लेखक-पं० बारेलाल जैन राज वैद्य, प्रकाशक—श्री वैद्य बाबूलाल राजेन्द्र कुमार जैन मु० पठा, पो० टीकमगढ़ (विन्ध्यप्रदेश) पृ० १६०, मू० २)

इस संग्रह में जैन साहित्य से संग्रह करके १६३ व्रतों की विधि विधान का परिचय दिया है। तथा कुछ अन्य विषयों पर भी संक्षिप्त प्रकाश डाला है। दि० जैन समाज में इस तरह की अभी तक कोई पुस्तक देखने में नहीं आई थी और इसकी कमी अनुभव की जा रही थी। श्री बारेलालजी ने इस पुस्तक का सम्पादन करके जैन समाज की एक कमी को पूरा किया है। जैन साहित्य में जितने प्रकार के व्रतों का उल्लेख किया गया है उनमें से आवश्यक सभी व्रतों की इसमें चर्चा है। किस व्रत की विधि किस ग्रन्थ से ली गई है सम्पादक महोदय ने इसका उल्लेख भी कर दिया है। —नेमीचन्द्र जैन

विविध

कला प्रकाश—चित्रकार-श्री गोवर्द्धन लाल जोशी और श्री चिरञ्जीलाल शर्मा, प्रकाशक-श्री सत्येन्द्र पुस्तक भण्डार, नाथद्वारा। पृष्ठ ४८, आकार लम्बा, मूल्य ॥।=)

छोटे बच्चों और स्त्रियों के सिखाने के लिए कला की यह सुन्दर पुस्तक बड़ी उपयोगी है। इसमें सभी तरह के चित्र दिए गए हैं जिन्हें विद्यार्थी या स्त्रियाँ कागज अथवा कपड़े पर आसानी से बना सकती हैं।

मिर्च का मजा—लेखक-श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', प्रकाशक-अजन्ता प्रेस लि०, पटना। पृष्ठ २१, सजिल्द मूल्य ॥।)

'दिनकर' जी जहाँ गम्भीर राष्ट्रीय रचनाएँ लिखने में सिद्धहस्त हैं वहाँ उन्होंने इस पुस्तक में बालकोपयोगी कविताएँ लिखने में भी पर्याप्त कुशलता दिखाई है। पुस्तक में हास्य मिश्रित सीख है और कविता में प्रवाह और सरलता है।

प्राप्ति स्वीकार

मुक्ति का रहस्य—लेखक-श्री उत्तमचन्द जैन 'गोयल', प्रकाशक-साहित्य साधना कुटीर, इन्दौर। पृष्ठ ४०, मूल्य ॥)

पुस्तक श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-प्रधान नाटक 'मुक्ति का रहस्य' पर एक पूर्ण आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत करती है। परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी है।

गांधीवाद—ले०-निर्मलकुमार बसु, प्रकाशक-सर्वोदय साहित्य संस्था, काशी। पृ० २४, मूल्य ।)

आज वादों का युग है। श्री निर्मलकुमार की इस छोटी-सी पुस्तक में गांधीवाद का अध्ययन है।

अलङ्कार सार-संग्रह—ले०-धर्मपाल वार्ष्णेय, प्रकाशक-प्रतिमा मन्दिर, अलीगढ़। पृ० ५८, मू० ॥)

इस पुस्तक में अलङ्कारों को समझाने का प्रयास किया है। पुस्तक उपयोगी है।

मीठी कहानियाँ—लेखक-श्री रघुवर० दयाल मिश्र, प्रकाशक-द० भा० हिन्दी-प्रचार-सभा, मद्रास। पृ० ५६, मूल्य ॥=) सचित्र।

वयस्क बालकों के मतलब की सुन्दर कहानियों का इसमें संग्रह है। उच्च विचार भरने में लेखक को काफी सफलता मिली है। पुस्तक आकर्षक और इनाम में बाँटने योग्य है।

अयोध्याकाण्ड की भूमिका—ले०-श्री कृष्णचन्द्र वर्मा एम० ए०, प्रकाशक-गयाप्रसाद बुकसेलर रीवाँ। पृ० ७४ मू० १)

रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड को लक्ष्य में रख कर उसके मार्मिक स्थल, प्रबन्ध कौशल, चरित्र-चित्रण, प्रकृति चित्रण और गोस्वामीजी की कला की चर्चा की गई है।

निबन्धमाला—ले०-व्रजनाथसिंह, प्रकाशक-अग्रवाल प्रकाशन मन्दिर नकाश, काशी। पृ० ४४, मूल्य ॥=)

परीक्षार्थियों के लिए लाभ की वस्तु है।

एक ही रास्ता—ले०-श्रीमती कमला वर्मा, प्रकाशक-श्री श्यामदत्त मिश्र तूतबाड़ी, गया। पृष्ठ सं० १००, मूल्य ॥=)

लेखिका के कुछ निबन्धों का यह संग्रह है। आप वर्तमान कालीन समाज की प्रगति का मार्ग उसकी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता की पुनरावृत्ति में ही देखती हैं। निबन्धों पर बापू के सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

पाँच दिवंगत विभूतियाँ—लेखक-प्रो० कपिल प्रकाशक-दया प्रकाशन, मुंगेर। पृष्ठ ४४, मूल्य ॥)

१९५० में स्वर्गवासी हुए पाँच विशिष्ट पुरुषों की संक्षिप्त जीवनियाँ इस पुस्तक में हैं। ये पाँच महापुरुष हैं—जार्ज बर्नार्ड शॉ, सरदार पटेल, योगी अरविन्द, स्वामी सहजानन्द और उस्ताद फैय्याजखाँ।

बूढ़ा झामलाल—ले०-प्रो० कपिल, प्रकाशक-ज्ञानपीठ लिमिटेड, पटना ४। पृ० २०, मूल्य ॥=)

इस पुस्तक में कविता में लिखी गई ६ कहानियाँ हैं। इनकी विशेषता यह है कि यह सब कहानियाँ सचित्र हैं। चित्रकार हैं श्री बटेश्वर प्रसाद। कहानियों में रोचकता खूब है।

प्रारम्भिक तत्व दर्शन—ले०-व प्र०-कान्ति भाई मु० पटेल 'स्वदेशी' मु० बाँधाणी (वाया आणन्द) पृष्ठ ५८, मूल्य ॥=)

यह पुस्तक राष्ट्रभाषा प्रारम्भिक परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है।

सुधापान—ले०-रसिकेन्द्र प्र०-राष्ट्रीय प्रकाशन मन्दिर, मथुरा। पृ० ३६, मूल्य ।=)

'सुधापान' रसिकेन्द्रजी का मौलिक खण्डकाव्य है। इसका कथानक पौराणिक है। भाषा सरल है।

तपोवन—ले०-कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अ०-धन्यकुमार जैन, प्र०-बनारसीदास चतुर्वेदी, टीकमगढ़ (वि० प्र०) पृष्ठ ३२ मूल्य

प्राचीन भारत की सरल प्रश्नोत्तरी:—ले०-श्री महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, प्र०-गुप्ता आदर्श मण्डी धनौरा (मुरादाबाद) पृ० ४०, मूल्य ।)

प्रो० पाथरी एम० ए० रचित प्राचीन भारत की यह सरल प्रश्नोत्तरी जू० हा० की कक्षा ६ के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है।

पथिक पुकार—ले०-पं० विद्याराम शर्मा 'पथिक' प्र०-बाबू रतीराम एण्ड सन्स, काछीपुरा (बहरा) आगरा छावनी। पृ० ३२, मूल्य ।)

हरिकीर्तन पर यह भजनों का संग्रह है।

सुषमा—ले०-श्री गोविन्दप्रसाद त्रिपाठी 'अनल' राष्ट्रभाषा प्रकाशन भवन, कानपुर। पृष्ठ ४६, मूल्य ॥)

'अनल' जी का यह प्रयास दृश्य-चित्रण की ओर सफल बन पड़ा है।

साहित्य सन्देश के ग्राहकों को

एक और सुविधा

हमने इस वर्ष से अपने पाठकों के लिए हिन्दी की

कुछ पुस्तकें पौने मूल्य में

देने का निश्चय किया है और पिछले दिसम्बर के अङ्क से हम प्रत्येक अङ्क में एक जबाबी पोस्टकार्ड रखते आ रहे हैं। जिसमें पुस्तकों के नाम छपे रहते हैं, वैसे ही इस अङ्क में भी एक पोस्टकार्ड रक्खा है। आगे भी हर मास हम कुछ पुस्तकें पोस्टकार्ड में छापकर रखने का प्रबन्ध करेंगे।

इस पोस्टकार्ड पर टिकिट लगाने की आवश्यकता नहीं।

पर कुछ ऐसे भी ग्राहक देखे गये हैं जो इसमें अन्य बातें लिख देते हैं—इस पोस्टकार्ड को केवल पुस्तकें मंगाने में ही प्रयोग करें।

पूरी पुस्तकें भेजने का हम भरसक प्रयत्न करते हैं। पर पौने मूल्य के कारण आर्डर इतने अधिक आते हैं कि थोड़े समय में ही पुस्तकें प्रायः समाप्त हो जाती हैं। अतः आर्डर तुरन्त ही भेज दिया करें।

वी० पी० वापिस न करें

कुछ ऐसे भी ग्राहक होते हैं, जो वी० पी० मँगाकर वापिस कर देते हैं। इसमें हमारी हानि तो है ही, दूसरों की भी है क्योंकि पुस्तकें समाप्त हो जाने पर उन्हें पुस्तकें नहीं मिल पातीं—इसलिये वापिस आई हुई वी० पी० के खर्च के दाम उनकी ग्राहक संख्या में से कम कर दिये जाते हैं।

पोस्टकार्ड पर अंकित तारीख के बाद में यह

पुस्तकें पौने मूल्य में नहीं मिलेंगी

पोस्टकार्ड तुरन्त भर कर भेज देना चाहिए।

व्यवस्थापक—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

Sahitya Sandesh, Agra.
APRIL 1952.

REGD. NO. A. 263.
Licence No. 16
Licenced to Post without Prepayment

साहित्य सन्देश

[वर्ष १३] आगरा—मई १९५२ [अङ्क ११]

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी.
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के द्वितीय सप्ताह में निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है।

३. महीने की २० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजना चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

हिन्दी का नया प्रकाशन : अप्रेल, १९५२

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

कामायनी समालोचना—
ब्रजलाल वर्मा एम० ए० २॥)

विद्यापति का अमर-काव्य—
गुणानन्द जुयाल एम० ए० २)

नूरजहाँ की समीक्षा—ब्रजलाल वर्मा एम० ए० १॥)

हिन्दी नाटककार—जयनाथ नलिन ५)

कहानी और कहानीकार—मोहनलाल जिज्ञासु ३)

हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का प्रयोग—
नामवरसिंह ४)

अच्छी हिन्दी—किशोरीदास वाजपेई २।)

पृथ्वीराज रासो—पद्मावती समय—
विश्वनाथ गौड़ एम० ए० १॥)

कविता

रश्मि रेखा—बालकृष्ण शर्मा नवीन ४)

बन्दना के बोल—हरिकृष्ण प्रेमी २।)

ठंडा लोहा तथा अन्य कविताएँ—
श्री धर्मवीर भारती ३)

कहानी

जुदाई की शाम का गीत—उपेन्द्रनाथ अश्क ३॥)

मेरी दुनियाँ—स० महमूद अहमद 'हुनर' २॥)

हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ—
सच्चिदानन्द वात्सायन १॥।=)

शिल्प कला—श्री नन्दलाल बसु १)

नाटक

पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ—उपेन्द्रनाथ अश्क २॥)

उपन्यास

सूरज का सातवाँ घोड़ा—धर्मवीर भारती १॥)

चलते चलते—भगवतीप्रसाद वाजपेई ६)

अर्थशास्त्र

सर्वोदय अर्थशास्त्र—भगवानदास केला ४)

सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था—जवाहिरलाल जैन १॥)

बालोपयोगी

कथा भारती—सावित्री देवी वर्मा १॥)
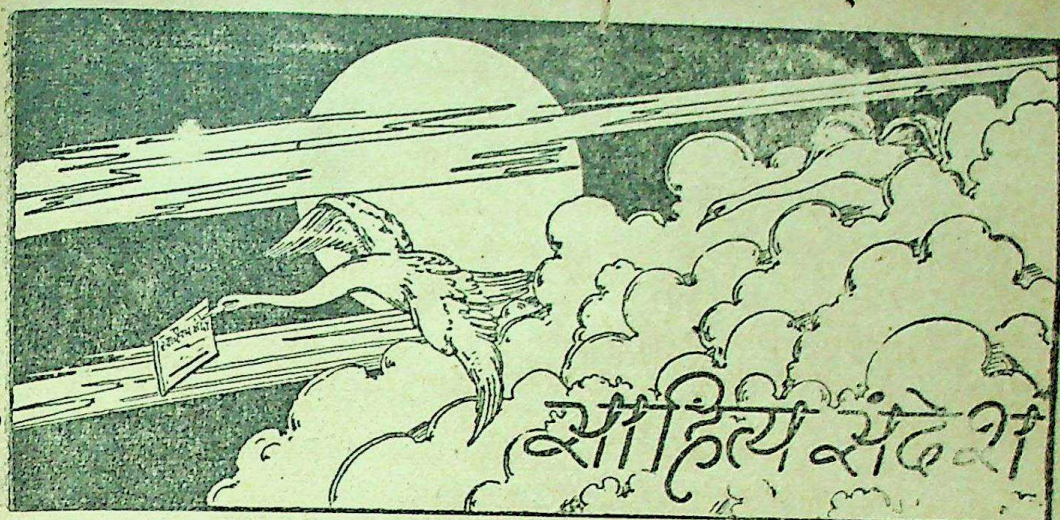
वर्ष १३] आगरा—मई १९५२ [अङ्क ११

हमारी विचार-धारा

सूर जयन्ती—

अभी २९ अप्रेल को हिन्दी के महाकवि सूरदास की जयन्ती भारत भर में समारोह पूर्वक मनाई गयी। यह जयन्तियाँ अधिकांशतः साहित्यिक और शिक्षण संस्थाओं के द्वारा मनाई गई हैं। आल इण्डिया रेडियो ने भी सूर जयन्ती का विशेष प्रोग्राम किया। सूर और तुलसी हिन्दी के ऐसे महाकवि हैं जिनकी जयन्तियाँ केवल साहित्यिकों के ही आकर्षण की वस्तु नहीं रहनी चाहिये, जन-जन को इन कवियों और इनकी रचनाओं का परिचय कराने की आवश्यकता है। ब्रज साहित्य मण्डल ने सूरदासजी के निधन स्थल परासौली में इस वर्ष जो महोत्सव किया वह इस दृष्टि से बहुत उल्लेखनीय रहा। परासौली के पार्श्ववर्ती गाँवों के लगभग तीन-चार हजार स्त्री-पुरुष इस समारोह में सम्मिलित हुए। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड मथुरा ने गोवर्द्धन से परासौली जाने वाले मार्ग को 'सूर मार्ग' का नाम दिया और इसी २९ तारीख को इस नाम की घोषणा की गई। यह भी एक अत्यन्त उचित और नया कार्य हुआ। उत्तर प्रदेश की सरकार ने परासौली में जो एक छोटा किन्तु भव्य सूर स्मारक निर्मित कराया है उसका उद्घाटन भी परासौली में सूर जयन्ती के अवसर पर हुआ। सूरदास जैसे महाकवि के योग्य जैसा महान स्मारक होना चाहिये, आशा है ब्रज साहित्य मण्डल के उद्योग से सरकार द्वारा आरोपित इस बीज के आधार पर वह शीघ्र ही किसी न किसी दिन खड़ा हो सकेगा और भारत की विशालता और संस्कृति की उसमें इतनी अनुकूलता होगी कि वह देश विदेश के साहित्य प्रेमियों के लिए साहित्यिक तीर्थ का स्थान प्राप्त कर लेगा। माननीय शिक्षा-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्दजी के इस अवसर पर भेजे गये सन्देश से भी यह विदित होता है कि उत्तर प्रदेश की सरकार भी सूरदास के योग्य स्मारक प्रस्तुत कराने में आगे भी रुचि रक्खेगी और सहायता प्रदान करेगी।

तुलसी का जन्म-स्थान—

तुलसी के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में इधर पुनः ध्यान आकर्षित हुआ है, ब्रज साहित्य मण्डल के हाथरस अधिवेशन के एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव द्वारा। साहित्य सन्देश के इन्हीं स्तम्भों में गत वर्ष 'अमस्त

१९५१' के अङ्क में हमने एक टिप्पणी दी थी जिसकी ओर हम अपने पाठकों का ध्यान पुनः आकर्षित करते हैं।

सोरों ब्रजमण्डल के अन्तर्गत है ब्रज-साहित्य-मण्डल के कार्य-कर्त्ताओं को यह बात विशेषतः ध्यान में रखनी होगी कि वह दृढ़ता पूर्वक पक्षपात विहीन निर्णय करने की चेष्टा करें। इस सम्बन्ध में आरम्भिक विचार करने के लिए वे आगामी तुलसी जयन्ती के अवसर पर सोरों में विद्वानों का एक सम्मेलन बुलायें, तुलसी सम्बन्धी सामग्री की प्रदर्शिनी करें और विद्वानों को जमकर, उसकी छानबीन करने का अवसर दें। फिर ऐसा ही दूसरा सम्मेलन राजापुर में कराया जाय।

साहित्यिक और राजनीति—

साहित्यिक और राजनीति पर आजतक अनेकों दृष्टिकोणों और मतवादों से विचार होता रहा है। हम यहाँ उस दृष्टि से किसी सैद्धान्तिक विवाद का पोषण इन पंक्तियों में नहीं करना चाहते। हम यह भी जानते हैं कि इन नये चुनावों से पूर्व भी कई ऐसेम्बलियों तथा मन्त्रिमण्डलों में साहित्य-सेवियों ने स्थान पाया है। पर इन नये चुनावों में जो साहित्यकार निर्वाचित हुए हैं, उन्हें हम बधाई देना चाहते हैं। विशेषतः पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री दिनकर तथा डा० रघुवीरसिंह को। हमें आशा है कि ये राजनीति में भाग लेते हुए साहित्य के सम्मान को बढ़ाने में प्रयत्न शील होंगे। यह उत्तर-दायित्व इन पर ही आकर पड़ा है कि ये सिद्ध करें कि साहित्य राजनीति को प्रभावित कर सकता है।

राज्यपरिषद् और कौन्सिल में—

हमारे राष्ट्रपति ने राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त को राज्यपरिषद का और उत्तर प्रदेशीय राज्य-पाल ने श्रीमती महादेवी वर्मा और सम्पादकाचार्य श्री अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी को कौन्सिल का सदस्य मनोनीत करके हिन्दी प्रेमियों को प्रसन्नता और सन्तोष का ही अवसर नहीं दिया है प्रत्युत अपनी गुण ग्राहकता का भी परिचय दिया है। हम इन नियुक्तियों पर हृदय से राष्ट्रपति और राज्य पाल महोदय को बधाई देते हैं और हिन्दी संसार की ओर से कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दस हजार के पुरस्कार और—

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने निम्न सज्जनों को उनकी पुस्तकों पर और पुरस्कृत किया है—

वैशाली की नगर-वधू—आचार्य चतुरसेन शास्त्री, १०००)। पूर्वोदय—जैनेन्द्र कुमार, ७००)। गुरु-दक्षिणा और भोजराज—डा० रामशङ्कर शुक्ल ८००) मुक्ति पथ—इलाचन्द्र जोशी, ६००)। मैंने कहा—गोपालप्रसाद व्यास, ६००)। अमृत कन्या—अज्ञात, ६००)। सिंहावलोकन—यशपाल ५००)। इन्सान—यज्ञदत्त शर्मा, ५००)। त्रिवेणी, भटकती आत्मा और सरल बाल मनोविज्ञान—कुमारी कञ्चनलता सब्बर वाल, ५००)। धरती की आँखें—लक्ष्मी-नारायण लाल, ३००)। कब्रों की दुनिया में—शम्भू-नाथ सक्सेना, ३००)। सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, ६००)। कुरुवंश—हरदयालसिंह, ५००)। अशोक वन और गाँधी गौरव—गोकुलचन्द्र शर्मा, ७००)। चालुक्य कुमारपाल—लक्ष्मी शङ्कर व्यास, ७००)। साहित्य विवेचन—क्षेमचन्द्र सुमन तथा योगेन्द्रकुमार मल्लिक, ५००)। जीववृत्ति विज्ञान की रूपरेखा—डा० महाजीत सहाय, ६००)।

नवलकिशोर पुरस्कार—

'साहित्य सन्देश' के गत अङ्क में 'नवलकिशोर पुरस्कार' का संक्षिप्त उल्लेख हो चुका है। हाथरस बिजली मिल्स के अध्यक्ष श्री रामबाबूजी ने यह पुरस्कार अपने पिताजी के नाम पर दिया है। श्री रामबाबूलाल तथा उनके पिताजी इस विषय में हिन्दी और ब्रज भाषा क्षेत्र के धन्यवाद के पात्र हैं।

इस पुरस्कार के सम्बन्ध में हम दो शब्द कह देना चाहते हैं। अभी तक इस पुरस्कार के सम्बन्ध में कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं हुआ है। हम यह चाहते हैं कि इस पुरस्कार के सम्बन्ध में पुरस्कार दाता तथा व्रज साहित्य-मंडल के अधिकारी कुछ विशेष बातों पर ध्यान दें। १—यह पुरस्कार व्रज-भाषा-विज्ञान, व्रज-समाज विज्ञान, व्रज संस्कृति तथा व्रजलोक साहित्य, व्रज के प्राचीन साहित्य ग्रन्थों के प्रामाणिक सुसम्पादन पर तथा प्राचीन व्रज साहित्य के अध्ययनों आदि पर, आलोचनाओं के ग्रन्थों पर प्रदान किया जाय। ऐसे ग्रन्थ किसी भी देश तथा किसी भी भाषा में क्यों न लिखे गये हों! २—व्रजसाहित्य मण्डल, इस वर्ष को छोड़ कर आगे के वर्षों के लिए दो वर्ष पूर्व पुरस्कार के लिए लिखी जाने वाली पुस्तकों के विषयों की एक सूची प्रकाशित कराये, उनकी संक्षिप्त रेखायें भी दे दें तो और अच्छा हो। इन्हीं विषयों पर लिखी जाने वाली पुस्तकों पर यह पुरस्कार दिया जाय। अभिप्राय यह है कि यह पुरस्कार चाहे जिस रचना पर नहीं दिया जाय, वरन उसी रचना पर दिया जाय जो इसी पुरस्कार के लिए निर्धारित विषय पर लिखी गयी है। अतः यह नियम इसमें नहीं रहे कि प्रकाशित पुस्तकों पर ही विचार होगा, पाण्डुलिपियों पर भी विचार हो सकता है। हाँ एक-दो वर्ष यह पुरस्कार प्रकाशित ग्रन्थों पर ही दिया जा सकता है।

केन्द्रीय शिक्षा विभाग—

बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २३ वे अधिवेशन के अध्यक्ष पद से श्री छविनाथ पांडेय ने केन्द्रीय शिक्षा विभाग के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किए हैं उनकी ओर हम माननीय शिक्षा मन्त्री, केन्द्रीय सरकार, संसद के सदस्य गण और सर्वाधिक माननीय श्री नेहरूजी का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। इस तरह की आशङ्काएँ हिन्दी वालों के हृदय में पैदा होना विभागीय कार्यों के ही परिणाम स्वरूप होगा। अतः हम विशेष कुछ न लिखकर पांडेयजी के ही निम्न वाक्यों को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं:—

'हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने के बाद भी, केन्द्रीय सरकार का शिक्षा विभाग इस बात के लिए जी तोड़ परिश्रम कर रहा है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत नहीं होने दिया जाये और उसे उक्त गौरवमय पद से अपदस्थ कर दिया जाये"! "मैं तो कहता हूँ कि न तो यथार्थ में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित ही किया गया है और न इसका भविष्य ही प्रकाशमय है।'

'मुझे तो ऐसा लगता है कि देश के बहुतेरे व्यक्तियों के दिमाग में, खासकर शासन सूत्र-धारियों के दिमाग में, अँगरेजों के अभाव में अँगरेजी भाषा के प्रति एक नया ममत्व पैदा हो गया है या पुराना मोह ही बहुत ज्यादा बढ़ गया है।'

'शासक और सरकारी अधिकारी स्वयं अपनी कठिनाइयों और असुविधा के कारण राष्ट्रभाषा को न अपनाकर अँगरेजी का ही दामन पकड़े रहना चाहते हैं। कई राज्य सरकारों ने हिन्दी को राज-भाषा घोषित कर दिया है; लेकिन उस घोषणा को कार्यान्वित करने की दिशा में उचित प्रयत्न नहीं किया है।'

हिन्दी विश्व-विद्यालय हैदराबाद—

हैदराबाद राज्य की प्रसिद्ध उस्मानिया यूनीवर्सिटी को केन्द्र ने बनारस विश्व विद्यालय तथा अलीगढ़ विश्व विद्यालय की भाँति अपने प्रबन्ध में ले लिया है। साथ ही यह निश्चय किया है कि इस विश्व विद्यालय को हिन्दी विश्व-विद्यालय बनाया जाय। केन्द्र का यह निश्चय ऊपर से अवश्य ही स्वागत योग्य है परन्तु इसमें हमें एक खतरा दीखता है। हिन्दी विश्व-विद्यालय की आवश्यकता हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने के समय से विशेषतः अनुभव की

आ रही थी, किन्तु इसके लिए हैदराबाद उपयुक्त स्थान नहीं मालूम होता। हिन्दी का जो रूप विधान में स्वीकार किया गया है उस रूप की रक्षा हैदराबाद में होनी सम्भव नहीं है, न वहाँ वैसा वातावरण ही है। हमें तो यह सन्देह है कि वे वहाँ की उर्दू प्रधान परम्पराओं को भुला सकेंगे। हमको वहाँ एक नई खिचड़ी भाषा के पोषण की आशङ्का है। इस कारण उस आयोजना के स्वागत में हमें हिचकिचाहट है।

श्री गुलाबरायजी का सम्मान—

बाबू गुलाबरायजी हिन्दी की वह विभूति हैं जिस पर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है। आपने द्विवेदी युग से (आज से ४० वर्ष पूर्व) लिखना आरम्भ किया और उस समय से आज तक निरन्तर राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सेवा में प्रवृत्त रहे हैं। दर्शन, साहित्य-शास्त्र व समालोचना के क्षेत्र में आपने अपने गहरे अध्ययन और प्राच्य और पाश्चात्य के मौलिक समन्वय का प्रतिपादन करते हुये हिन्दी को जो ग्रन्थ रत्न भेंट किये हैं उनमें "सिद्धान्त और अध्ययन" का अपना एक विशेष स्थान है। साहित्यकार संसद ने इन बाबू गुलाबरायजी को 'साहू जगदीशप्रसाद पुरस्कार' के साथ सम्मानित किया है। साहित्यकार संसद की ओर से इस सम्मान के लिए इलाहाबाद में विद्वानों का एक विशेष समारोह हुआ। बाबू गुलाबराय जैसे सरल सात्विक वयोवृद्ध साहित्य-सेवी को ऐसा सम्मान बहुत पहले ही मिलना चाहिये था। इस समय दो ही व्यक्ति तो ऐसे हैं जिनकी सेवायें हिन्दी के लिए महान हैं, और जो द्विवेदी युग से निरन्तर साहित्य-सेवा में रत रहे हैं। एक हैं सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार, दूसरे हैं स्वयं बाबू गुलाबराय। हिन्दी के साहित्यकार नये और पुराने यदि अपने वयोवृद्ध साहित्यिकों का आदर करना जानते होते तो साहित्य का भी गौरव बढ़ता और साहित्यकार का भी। बाबू गुलाबरायजी केवल समालोचना के क्षेत्र में ही अद्वितीय नहीं, निबन्ध-कला और शिष्ट-हास्य के विकास में भी बाबूजी का बहुत योग रहा है। हम साहित्यकार संसद को बधाई देते हैं कि उसने बाबू गुलाबरायजी का सम्मान करके प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी का गौरव बढ़ाया है।

जापान में हिन्दी—

अभी मार्च के महीने में नागपुर की किसी सभा में बोलते हुए जापान के संस्कृत के एक प्रोफेसर महोदय ने कहा था कि वे जापान लौटकर यह चेष्टा करेंगे कि जापान के प्रत्येक विश्व-विद्यालय में हिन्दी का अध्ययन कराया जाय। राजनीति की दृष्टि से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं, पर साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से प्रोफेसर महोदय का उद्योग अत्यन्त श्लाघनीय माना जायगा। सामान्य दृष्टि से यह विदित होता है कि एशिया की संस्कृति मूलतः एक है। युगों की दासता और प्रमाद ने भारत को ही नहीं समस्त एशिया को बेसुध कर दिया था। इस नये जागरण में, नयी आवश्यकता के अनुरूप उस सांस्कृतिक ऐक्य का नवीन संस्करण प्रस्तुत होना चाहिए। उसका सीधा-सा मार्ग यही है कि एशिया के प्रत्येक देश की भाषा का विभिन्न एशियायी राष्ट्रों में अध्ययन अध्यापन कराया जाय। एशिया की सांस्कृतिक एकता में यदि प्राण पड़ गये तो विश्व में शान्ति का मार्ग अधिक सुगम हो जायगा। हम उस दिन की कामना करते हैं जब उक्त प्रोफेसर महोदय अपने इस श्लाघ्य प्रयत्न में सफल हो जायँगे।

काव्य और वृत्तियाँ

साहित्याचार्य 'राजयोगी' साहित्यरत्न

प्रत्येक सजीव वस्तु की कोई न कोई वृत्ति अवश्य होती है; जिसे हम स्वभाव भी कह सकते हैं। स्वभाव शब्द का साधारण अर्थ होता है वह विशेष भाव जिसे किसी ने अधिकाधिक प्रयोग में लाकर उसे अपना बना लिया हो। जैसे—किसी अपरिचित व्यक्ति को देख कर भौंक उठना कुत्ते का स्वभाव है। कुत्ते में स्वामि-भक्ति, सूँघकर पहिचानना आदि अनेकानेक और भी भाव हैं, पर उनके होते हुए भी उसने अपरिचित व्यक्ति को देखकर भौंकने को ही विशेष रूप से काम में लाकर उसे अपनापन प्रदान कर दिया है। अतः वह स्वभाव बन गया है। और इससे भौंकना कुत्ते की वृत्ति बन कर प्रवृत्ति बन गया। ठीक इसी प्रकार काव्य भी अपनी कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ रखता है जिन्हें विद्वानों ने 'वृत्ति' कहा है।

काव्य निर्जीव वस्तु होते हुए भी वह निर्जीव नहीं माना जाता, उसमें एक प्रकार की सजीवता रहती है जो रस के रूप में अदृश्य होकर प्रवाहित होती रहती है और यही उसकी सजीवता है। अभिनवगुप्त तथा तत्कालीन रस सम्प्रदाय ने यह स्वीकार किया है कि वह काव्य निर्जीव है जिसमें रसधार प्रवाहित न हो, अतः काव्य का सजीव होना प्रमाणित है और इसीलिए उसकी वृत्तियाँ होना भी युक्तिसङ्गत हैं। इसी आधार पर काव्य में वृत्तियों की उत्पत्ति को सभी काव्यकारों ने स्वीकार किया है।

'वृत्ति' शब्द वृत्‌वर्तने धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है। वर्तन का अर्थ है जीवन, और वृत्ति-जीवन की सहाय जीविका है। वृत्ति का साधारण है—पुरुषार्थ का साधक व्यापार, अर्थात् वह व्यापार जो जीवन में सार्थकता उत्पन्न करता है। वृत्ति का साम्राज्य समस्त संसार में है, परन्तु सांसारिक वृत्तियों का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण वे प्रत्येक सहृदय मानव की दृष्टि में नहीं आ सकतीं। काव्य में उन्हें पाठक इसलिए तनिक अभ्यास करने पर देख सकता है कि उसमें संसार के मुख्य मनोभावों का चित्रण कवियों तथा कलाकारों द्वारा किया रहता है। काव्य में कोई भी वर्णन व्यापार शून्य नहीं रहता, इसीलिए वृत्तियों का साम्राज्य काव्य-जगत में अबाध रूप से रहता है। जिस प्रकार विस्तीर्ण स्थान की अपेक्षा सीमित स्थान में वस्तुओं की अथवा मनुष्यों की एक सीमित संख्या को भली भाँति देखा जा सकता है उसी प्रकार काव्य-क्षेत्र में वृत्तियाँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। अभिनवगुप्त का भी यही कथन है कि समस्त संसार भी वृत्तियों में और वृत्तियाँ संसार में व्याप्त हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि कब से जगत् वृत्तियों का आश्रय लेकर चल रहा है। उनका कहना है कि संसार की समस्त क्रिया वृत्तियों के आधार पर ही गति-शील है। केवल काव्य और नाटक को ही वृत्ति का क्षेत्र मानना उनके विचार में पुनरुक्ति मात्र है। हाँ इस क्षेत्र में उनके दर्शन सुलभ हो जाते हैं।

वृत्तियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस बात का पता लगाने के लिए हमें प्राचीन संस्कृत काव्य तथा नाट्य साहित्य की ओर देखना पड़ता है। वृत्तियों का अलङ्कारों से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसीलिए वृत्तियों का वर्णन सबने अलङ्कार-ग्रन्थों में ही किया है और अलङ्कार शास्त्र की सर्व प्रथम उत्पत्ति नाट्य शास्त्र के एक सहायक शास्त्र के रूप में हुई। भरत मुनि के अनुसार अभिनय चार प्रकार का माना गया है—(१) आङ्गिक, (२) सात्विक, (३) वाचिक (४) आहार्य। इनमें अलङ्कार साहित्य का सम्बन्ध वाचिक से है। भरत मुनि ने स्वयं अपने नाट्यशास्त्र में लिखा है कि उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक

चारों अलङ्कार नाटक के ही अङ्ग भूत हैं। कथोपकथन में सुन्दरता लाने और दर्शकों अथवा श्रोताओं के हृदय में रस की जागृति के लिए ये अलङ्कार परम आवश्यक हैं, इसीलिए अपने नाट्य शास्त्र के १७ वें अध्याय में इनका वर्णन वाचिक अभिनय के साथ किया है। अलङ्कारों के लिए उस समय नाटक ही उपयोगी क्षेत्र था। और उसमें भी उनके लिए काव्य स्थल सुन्दर स्थान थे जहाँ अलङ्कार अपना पूर्ण रूप प्रकट कर पाते थे। गद्य की अपेक्षा पद्य अलङ्कारों के लिए अधिक उचित और उपयोगी स्थल होता है। कालान्तर में धीमे धीमे नाटक पद्य अथवा काव्य को छोड़ कर अधिकतर गद्य को अपनाने लगा इसीलिए अलङ्कार भी पद्यों के साथ साथ नाटक छोड़ कर अलग होने लगे और धीरे धीरे काव्य जब नाटकों से अलग हो गया तो अलङ्कार शास्त्र ने भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। इस प्रकार अलङ्कार शास्त्र नाट्य शास्त्र से पृथक होकर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विद्वानों के लिए अध्ययन का विषय बना, इसी के साथ नाट्य शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले अनेक साहित्यिक सिद्धान्त जिनका अलङ्कारों से गठबन्धन था अलङ्कार शास्त्र गृहीत हो गये, क्योंकि कोई भी शास्त्र अपने मूल भूत शास्त्र की विचार धारा से प्रभावित हुये बिना नहीं रहता अथवा उससे मुक्त नहीं हो सकता। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अलङ्कार शास्त्र पर नाट्य शास्त्र का व्यापक प्रभाव रहा है। आज चाहे उसका अपना स्वतन्त्र साम्राज्य काव्य क्षेत्र में भले ही हो पर उसकी प्राचीन जन्म भूमि नाट्य प्रदेश ही है। अब देखना यह है कि वृत्तियों की उत्पत्ति उस क्षेत्र में कैसे हुई ? साहित्य समाज का दर्पण है। उसमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ परिलक्षित होती हैं, अथवा यों कहिये कि साहित्य अपने तत्कालीन सामाजिक परिस्थियों तथा उसमें तरंगित होने वाली लहरों, उपस्थित होने वाली घटनाओं तथा संघर्षों का चित्र है, जिसे देखकर उस समय के समाज की मनोवृत्ति का पता लगाया जा सकता है। वृत्तियों के जन्म काल के समय समाज में दो धार्मिक दलों का होना प्रतीत होता है, और उसी के आधार पर तत्कालीन साहित्य के कुछ सिद्धान्त भी दो भागों में विभाजित हैं अथवा एक ही सिद्धान्त दोनों दलों से अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनाया गया है। वृत्तियों की उत्पत्ति के विषय में भी दो मत प्रधान हैं एक वैष्णव मत और दूसरा शैव मत। भरतमुनि का मत वैष्णव मत कहलाता है पर उन्होंने अपने मत के साथ-साथ शैव मत का वर्णन भी अपने नाट्य शास्त्र में किया है। तदनन्तर शारदातनय ने भी अपने ग्रन्थ 'भाव-प्रकाशन' में इन दोनों मतों का वर्णन किया है। यह शैव मत की उत्पत्ति किसी व्यास—नामक व्यक्ति के मतानुसार बतलाते हैं। कुछ भी हो पर यह तो निश्चय ही है कि उस समय समाज में वैष्णव तथा शैव मत की दो धारायें अवश्य प्रवाहित थीं। संभवतः यह काल रामायण काल के आस-पास रहा हो अथवा उससे भी पहले। क्योंकि रामायण में दोनों का समन्वय उसी प्रकार होता दीख पड़ता है जिस प्रकार दो दलों में युद्ध के पश्चात् सन्धि हो जाती है। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में वृत्तियों की उत्पत्ति वैष्णव मतानुसार बड़ी रोचकता पूर्ण ढङ्ग से दी है। वे लिखते हैं कि 'प्रलय काल में जब जगतीतल पर केवल जल की ही सत्ता सर्वत्र विद्यमान थी—सर्वत्र समुद्र ही समुद्र था तब भगवान नारायण शेषनाग की सुखद शैया पर योग निद्रा में लीन थे। उनके नाभि कमल के ऊपर ब्रह्मा विराजमान थे। उसी समय रण पिपासु, वीर्य के दर्प से उन्मत्त मधु कैटभ नामक दो असुर युद्ध के लिए विष्णु-भगवान को चुनौती दे रहे थे। ब्रह्माजी ने विष्णुभगवान को जगाया और भगवान ने असुरों का संहार किया। इस भयङ्कर युद्ध के अवसर पर भगवान ने जो जो चेष्टायें प्रदर्शित कीं उन्हीं से इन वृत्तियों की उत्पत्ति हुई। ये वृत्तियाँ संख्या में चार हैं—(१) भारती (२) सात्वती (३)

कैशिकी (४) आरभटी। युद्ध करते समय भगवान् विष्णु ने पृथ्वी पर जब जोर से पैर रक्खा तब उसके भार से भारती वृत्ति उत्पन्न हुई। जब उन्होंने तीव्र, दीप्तिकर, बलयुक्त तथा भयरहित जो वीर रसोचित चेष्टायें कीं उन से सात्वती की उत्पत्ति हुई। भगवान के विचित्र, ललित, लीला सम्पन्न आंगिक सञ्चालनों के साथ जो शिखा अथवा केश बाँधे उसी से कैशिकी वृत्ति का जन्म हुआ। भगवान ने आवेग युक्त होकर नाना प्रकार के पद-संचालनों (पैतरों) का प्रयोग किया और जो वीरता पूर्ण प्रहार किये उस समय उनके महान् योद्धापन से आरभटी वृत्ति प्रगट हुई। ब्रह्मा की आज्ञा से मुनियों ने इन वृत्तियों का नाट्यमय प्रयोग किया। संभव है यही घटना लेकर इन चारों अवस्थाओं का अनुकरण करते हुए इस पर नाटक लिखा गया हो और तभी से इन चारों वृत्तियों का प्रयोग में आना आरम्भ हुआ हो। भरत मुनि इन चारों वृत्तियों का सम्बन्ध चारों वेदों से बतलाते हैं और ब्रह्मा के चारों मुखों से भी। उनकी सम्मति में भारती वृत्ति का उद्गम ऋग्वेद से, सात्वती का यजुर्वेद से, कैशिकी का सामवेद से तथा आरभटी का अथर्व वेद से है। यह औचित्य पूर्ण भी जान पड़ता है। यह भरत मुनि का वैष्णव मत है।

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ में एक अन्य परंपरा का उल्लेख किया है, उनका कहना है कि जब ब्रह्मा शिव पार्वती को नृत्य करते देख रहे थे तब उनके चारों मुख से चारों वृत्तियाँ चार प्रधान रसों के साथ उत्पन्न हुईं। पूर्व मुख से कैशिकी वृत्ति शृङ्गार रस के साथ, दक्षिण मुख से सात्वती वीर रस के साथ, पश्चिम मुख से आरभटी रौद्र रस के साथ तथा उत्तर मुख से भारती वृत्ति वीभत्स रस के साथ उत्पन्न हुई। यह शैव मत है। परन्तु नाट्य शास्त्र में प्रथम अध्याय में भी वृत्तियों का उत्थान भगवान शंकर के नृत्य के साथ हुआ लिखा गया है। उसके आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि भारती, सात्वती और आरभटी ये तीन वृत्तियाँ जो पुरुष के स्वभाव से सम्बन्ध रखती हैं पहले शङ्कर के नृत्य से उत्पन्न हुईं और इनके बाद पार्वती के लास्य नृत्य से कैशिकी (केशों वाली पार्वती की) वृत्ति उत्पन्न हुई जिसकी नाटक में परम आवश्यकता थी। इस प्रकार वृत्तियों की उत्पत्ति के विषय में ये दो परम्पराएँ प्राचीन काल से चली आ रही हैं।

नाट्य दर्पण के रचयिता रामचन्द्र का कहना है कि भरत ने वृत्तियों का जो निरूपण किया है वह तो केवल उपलक्षण मात्र है, क्योंकि वृत्तियाँ अभिनय योग्य काव्य के समान अभिनयहीन काव्य में भी हो सकती हैं। संसार के मानव समाज का ही नहीं प्राणीमात्र का कोई ऐसा व्यापार नहीं जो वृत्ति के आधार से शून्य हो। हर प्राणी की चेष्टा में किसी न किसी वृत्ति का आधार अवश्य होता है और वृत्ति स्वयं एक प्रकार से चेष्टा का रूप है। अतः दृश्य-काव्य के पात्रों की चेष्टाओं के समान श्रव्य-काव्य में निर्दिष्ट वर्णन या चेष्टायें भी उसी प्रकार वृत्ति रूप हैं, अतः वृत्ति का क्षेत्र व्यापक तथा विस्तृत है। वास्तव में काव्य अथवा नाटक का निर्माता काव्य अथवा नाटक की रचना करने से पहले अपने हृदय को वृत्तियों से अभिभूत कर लेता है तभी उसकी लेखनी काव्य रस को उत्पन्न करती है अतः भरतमुनि, रामचन्द्र तथा अभिनवगुप्त आदि विद्वानों ने इन्हें काव्य अथवा नाट्य की मातायें कहा है। इन्हें विभिन्न रसों की पयस्विनी धारा भी कहा जा सकता है। विभिन्न वृत्तियाँ विभिन्न रसों की उत्पत्ति करती हैं।

इनके नामकरण के विषय में भी अनेक विद्वानों के विभिन्न मत हैं। भारती वृत्ति की व्युत्पत्ति भरत-मुनि ने नाट्यशास्त्र में दो प्रकार से की है। प्रथम मधु कैटभ संहार के अवसर पर इन दोनों राक्षसों ने जिस प्रलापमयी वाणी का प्रयोग किया उसी से इसका जन्म हुआ। इस प्रकार यह करुणा तथा अद्भुत रस प्रधान ठहरती है। द्वितीय—मधु कैटभ के साथ संग्राम करते समय भगवान विष्णु ने पृथ्वी पर जोर से जो अपना पैर रक्खा, उससे पृथ्वी पर जो अत्यन्त भार पड़ा उससे इस वृत्ति का जन्म हुआ।

इससे भी यह रौद्र तथा भयानक रस प्रधान ठहरती है। धनञ्जय ने इसका सम्बन्ध नाटक में भाग लेने वाले नटों से जिन्हें भरत भी कहते हैं बताया है। वे इसे इन्हीं भरतों के वाणी-विलास से उत्पन्न हुई मानते हैं। कविराज विश्वनाथ ने अपने सा० दर्पण में इसकी व्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए इसे "वाग् व्यापारो नराश्रयः" कहा है। वे इसे नटाश्रयः न कह कर नराश्रयः बताते हैं।* भारती वृत्ति के चार भेद माने गए हैं:—(१) प्ररोचना (२) आमुख (३) वीथी और (४) प्रहसन। स्थानाभाव से इनका वर्णन फिर किसी समय किया जायगा।

सात्वती वृत्ति का नामकरण सत्त्व-शब्द के योग से हुआ है। सत्वशाली पुरुषों अथवा पुरुषों के सत्व से उत्पन्न होने के कारण यह वृत्ति सात्वती कहलाती है। भरतमुनि के मतानुसार इसमें न्याय व सत्वगुण की प्रधानता रहती है तथा वह शान्त एवं वीर प्रधान कही जा सकती है। उसमें शोक का तथा करुणा का अभाव रहता है। तात्पर्य यह है कि सच्चे बलशाली पुरुष की जो वीर भावात्मिका चेष्टायें हैं उन्हीं के आधार पर इस वृत्ति की स्थिति रहती है। इसके भी चार भेद माने जाते हैं :— (१) उत्थापक (२) परिवर्तक (३) संलापक (४) संघात्क।

कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति केश शब्द से मानी गई है। भरत मुनि ने भगवान विष्णु के उस केश विन्यास से इसकी उत्पत्ति का वर्णन किया है जो उन्होंने मधु-कैटभ के संहार के समय बनाया था। इस वृत्ति में सुन्दर वेशों वाली स्त्रियों की प्रधानता है। सौन्दर्य इसकी सम्पत्ति है, नृत्य, प्रेम और उपभोग उसके प्रधान कर्तव्य हैं। इसके भी चार भेद हैं। (१) नर्म (२) नर्म स्फूर्ज (३) नर्म स्फोट (४) नर्म गर्म।

आरभटी वृत्ति आरभट शब्द से ही उत्पन्न हुई है जिसका अर्थ उद्दण्ड, साहसी तथा वीर पुरुष से है। भरत मुनि के मतानुसार जिस वृत्ति में माया जनित इन्द्रजाल का सा वर्णन हो, गिरने, कूदने, उछलने, लाँघने, पटकने, फोड़ने, तोड़ने आदि की अद्भुत योजना हो उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं:—(१) संक्षिप्तक, (२) अव-पातक, (३) वस्तु स्थापन, (४) संफेट।

इस प्रकार वृत्तियाँ नाटक तथा काव्य में रस सञ्चार में सहायक ही नहीं उत्पादिका होती हैं। कैशिकी वृत्ति का उपयोग शृङ्गार तथा हास्य में, सात्वती का उपयोग शांत, वीर तथा अद्भुत रसों में आरभटी का भयानक, रौद्र और वीभत्स में तथा भारती का उपयोग करुणा, अद्भुत आदि रसों में, किया जाता है। नाट्य शास्त्र में ये वृत्तियाँ नाटक के साथ अपना अस्तित्व बनाये हुए दृष्टि गोचर होती हैं। काव्य में आने पर इनमें धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन आने लगा और मम्मटाचार्य के समय तक इनका रीतियों (वैदर्भी, गौड़ी और पाँचाली) के साथ समन्वय कर दिया गया। उद्भट ने इन्हें अलङ्कारों के साथ समन्वय करते हुए पुरुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या वृत्ति नाम दे दिया। जो वृत्ति 'ल' कार प्रधान, 'क' कार प्रधान तथा रेफ युक्त हो वह ग्राम्या वृत्ति कहलाती है। कोई कोई विद्वान इसे कोमलावृत्ति भी कहते हैं। जिसमें प्रत्येक वर्ग के पञ्चम (सानु नासिक) वर्ण के साथ उसी वर्ग के अन्य वर्णों के संयोग का सन्निवेश रहता हो उसे उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। जिसमें रेफ, स, श, ष वर्णों के 'ट' वर्ग तथा रेफ के साथ मिश्रण होने वाले सँयुक्ताक्षरों का बाहुल्य हो वह पुरुषावृत्ति कहलाती है। इस प्रकार वृत्तियों का काव्य तथा दृश्य काव्य में एक महत्वपूर्ण स्थान है। तथा साहित्य इनकी सार्थकता को पूर्णरूपेण स्वीकार करता है।

---

* हमें धनञ्जय और विश्वनाथ के मत में ही अधिक सार्थकता प्रतीत होती है।

प्रोढ़ोक्ति-चर्चा

श्री चन्द्रभान एम० ए०

वैसे 'प्रोढ़ोक्ति' को अलङ्कारत्व तो अब पीछे मिला है, यानी कि इसका लक्षण-निर्णय आदि जयदेव, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने ही किया है। इन्हीं तीन आचार्यों ने इसको पृथक अलङ्कार माना है। पर प्रोढ़ोक्ति की चर्चा अन्य अलङ्कारिकों ने भी की है, चाहे वह चर्चा अलङ्कार मान कर न की हो। प्रधानतः इन तीन आचार्यों से पूर्व ध्वनि-सम्प्रदाय ने इसकी चर्चा छेड़ी है। इसी चर्चा पर एक दृष्टि पात।

'वामन' ने अपने 'काव्यालङ्कार सूत्र' में ३३ अलङ्कारों का विवेचन किया है। इन अलङ्कारों में दो नव आविष्कृत अलङ्कार हैं। व्याजोक्ति और वक्रोक्ति। 'वामन' के पश्चात् ही वक्रोक्ति को लेकर एक सम्प्रदाय उदय हुआ जिसके आचार्य थे आनन्दवर्द्धन तथा कुन्तल। आनन्द वर्द्धन ने ध्वनि सम्प्रदाय को जन्म दिया। इन्हीं आचार्य का लिखा 'ध्वन्यालोक' सम्प्रदाय-ग्रन्थ मान्य हुआ। विदित है कि काव्य के सूक्ष्म तन्तुओं का—विशेषतः व्यञ्जना-व्यापार—का इतना विशद विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता। अनेक तत्वों के भेद-प्रभेद समझाये गये हैं। अविवांक्षित वाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य, असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम, शब्द-शक्त्युद्भव तथा अर्थशक्त्युद्भव, अलङ्कार तथा रस, अभिधामूल और लक्षणामूल, अर्थान्तर संक्रमित तथा अत्यन्त तिरस्कृत, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, 'वस्तु' तथा 'अलङ्कार' आदि के सूक्ष्म भेदों पर वैज्ञानिक विशद विचार मिलता है। 'वस्तु' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है। किसी पदार्थ, सत्य अथवा घटना को ज्यों का त्यों चित्रित कर देना 'वस्तु' है। इसके चित्रण में कवि प्रतिभा का योग नहीं होता।* 'अलङ्कार' और 'वस्तु' का प्रधान मूल-गत अन्तर यह है कि अलङ्कार 'विच्छित्ति' के ऊपर आधारित रहता है। वस्तु में 'विच्छित्ति' का नितान्त अभाव होता है।† ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों ने वस्तु और अलंकार दोनों को ही कभी अभिधा द्वारा, कभी व्यञ्जना द्वारा संवहनीय माना है। जब वह अभिधा द्वारा व्यक्त होता है तो अभिधा उसका प्रथम अर्थ होता है। द्वितीय अर्थ उसके ही आधार से व्यञ्जित होता है। अतः प्रथम अर्थ बोधक तत्वों को व्यञ्जक और व्यञ्जित अर्थ को व्यंग्य कहते हैं। 'व्यञ्जक' तत्वों को शास्त्रकारों ने फिर दो भागों में विभाजित किया है। स्वतः संभवि तथा कवि प्रोढ़ोक्ति निष्पन्न। इन दोनों का भेद भी ध्वनि-शास्त्रों का प्रमुख भेद है जिस पर विद्वानों ने कम ही लिखा है।

जिस वस्तु का कवि चित्रण करता है, यदि उसका अस्तित्व इस वाह्य भौतिक जगत् में भी हो—उसका आविष्कार कवि हृदय की सूझ बूझ का परिणाम न हो—उसको स्वतः संभवि कहा जाता है।

---

* स च विधिनिषेधाद्यनेक प्रकारो वस्तु शब्देनोच्यते।

[ध्वन्यालोक, (लोचन की टीका) काशी संस्कृत सिरीज १३५]

† अलङ्कारो विच्छित्तिः इत्येव खलु वस्त्वलङ्कारयोर्विभागकक्षा। यदा जातिगुणादिकोऽर्थो वैचित्र्यविरहाल्लौकिकभावेन व्यवस्थितस्तदा वस्तुमात्रमुच्यते तदेव सविच्छित्तिकमलंकार इति।

[काव्य प्रकाश पर संप्रदाय प्रदर्शिनी टीका खण्डः १, पृ० १५२ (T.S.S. Edition)]

इसके विपरीत, यदि वह वस्तु कवि के मानसिक जगत में ही अस्तित्व रखती है, प्रतिमा कल्पना-प्रसूत है, तथा इस बाह्य जगत में उससे मिलती-जुलती कोई घटना न मिले—उसे प्रौढ़ोक्तिनिष्पन्न कहा गया है। प्रौढ़ोक्ति-निष्पन्न का उदाहरण ध्वन्यालोक में इस प्रकार दिया गया है :—

'सज्जेइ सुरहिमासो ए दाव,
अप्पेइ जुअइ जण लक्ख मुहे।
अहिणव सअआर मुहे,
णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स सरे॥
[पृ० २३५, काशी संस्कृत सिरीज]

बसन्त ने आकर आम्रमंजरियों के बाण तो तैयार कर दिये हैं। इन वाणों का लक्ष्य नवयुवतियों का हृदय है। पर अभी कामदेव ने आकर शर-संधान नहीं किया। यह इस पद्य का प्रथम अर्थ है। इससे द्वितीय अर्थ यह व्यञ्जित होता है कि युवतियों के हृदय स्थल में प्रेमांकुर तो जम गया है, पर अभी प्रेम परिपक्व नहीं हुआ। धीरे-धीरे प्रेम पकता जा रहा है। यह उक्ति प्रौढ़ है। क्योंकि जिस घटना को इसमें आधार बनाया गया है, वह बाह्य जगत् में घटित नहीं हो रही। कवि की प्रतिभा ने इस प्रथम अर्थ के सुन्दर रूप की कल्पना की है। इसी के आधार से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है। एक और उदाहरण लिया जा सकता है। एक प्रेमी अपनी प्रेमिका से कहता है : इस तोते ने किस पर्वत पर किस प्रकार की तथा कितने दिनों तपस्या की है, जिससे उसको तुम्हारे अधरों की-सी अरुणता रखने वाले बिंबाफल में चोंच भरने का सौभाग्य प्राप्त हुआ:—

शिखरिणी क्व नु नाम कियच्चिरं
किमभिधानम सावकरोत्तमः।
तरुणि येन तवाधर पाटलं
दशति बिंबफलं शुकशावकः॥
[ध्वन्यालोक, का० सं० सि०, २३५, पृ० १३८]

इन तथा अन्य प्रौढ़ोक्तिनिष्पन्न के उदाहरणों में एक सामान्य प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है कि मनुष्येतर पदार्थ या प्राणी को मनुष्य का सा आचरण करते दिखाया गया है। पहले उदाहरण में 'काम' और 'वसन्त' मनुष्य के समान आचरण करते हैं और दूसरे उदाहरण में तोता। यह साधारण प्रवृत्ति है। इस प्रकार के मानवीयकरण को केवल कवि-प्रतिभा ही जन्म देती है। अन्यथा, बाह्य यथार्थ जगत् में तोता किसी पर्वत पर तपस्या करने नहीं जाता।

किन्तु इन उक्तियों को अलङ्कार ध्वनिवादियों ने नहीं माना। किन्तु कवि की कल्पना और प्रतिभा का योग इनमें है। यही कवि की प्रतिभा 'अलङ्कार' को जन्म देती है। यही प्रतिमा केवल 'वस्तु' और 'अलङ्कार' के बीच अन्तर उपस्थित करती है। प्रत्येक 'अलङ्कार' में कवि-प्रतिभा सक्रिय दीखती है। अतः इस सम्प्रदाय के विचारों से यह स्पष्ट होने लगता है कि यही प्रतिभा आगे चल कर प्रौढ़ोक्ति को अलङ्कार के रूप में गृहीत करा सकती है।

तो प्रौढ़ोक्ति और अलङ्कार प्रतिभा के स्थल पर एक दूसरे के समीप हैं। यदि कभी प्रौढ़ोक्ति और अलङ्ककार एक साथ उपस्थित हों—यानी प्रौढ़ोक्ति अपने में निहित कवि-प्रतिभा से 'अलङ्कार' को सहारा दे, ऐसी परिस्थिति में उस अलङ्कार को 'प्रौढ़ोक्ति-सिद्धालङ्कार' कहा जायगा। इस प्रकार की मान्यता के दर्शन 'मम्मट' के 'काव्यप्रकाश' में होते हैं। प्रौढ़ोक्तिसिद्धोत्प्रेक्षा का एक उदाहरण 'काव्यप्रकाश' में यों है:—

'जाठेरं व हसन्ती कइअणंवुरुहबद्धाविणि वेसा।
दावेइ भअणमण्डलमण्णं बिअइ जसइह वाणी।
[काव्यप्रकाश, पृ० १४२ : B. O. R. I. पूना]

सरस्वती कवि के मुख कमल पर विराजमान है। मानो वह ब्रह्मा का उपहास कर रही हो क्योंकि उसने ब्रह्मा की सृष्टि से भी विचित्र पृथक सृष्टि का सृजन कर दिया है। इसमें एक मान्य तथ्य की कवि के

अपनी कल्पना द्वारा व्याख्या की है। यह माना जाता है कि कवि की रचना ब्रह्मा की रचना से भिन्न होती है। किन्तु व्याख्या इस प्रकार की है कि इससे मिलती जुलती घटना कवि मानस के बाहर घटित नहीं होती। इसी प्रकार अन्य अलङ्कार भी प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार मम्मट ने अलङ्कारों को कभी कभी प्रौढ़ोक्ति सिद्ध माना है। पर उसकी रूप-रेखा ध्वनि सम्प्रदाय के समान ही रही। केवल कवि-कल्पना की उपज है, उससे मिलती जुलती घटना यथार्थ जगत् में नहीं मिले!

भट्टनायक ने भी 'प्रौढ़ोक्ति' पर कुछ प्रकाश डाला है। भट्टनायक इस विचार का था कि ध्वनि या व्यञ्जना का अस्तित्व तो है, पर वाच्य के द्वारा वह स्पष्ट होने का विषय नहीं है। वह कथन से परे की वस्तु है। जो कवि इस अकथनीय की येन केन प्रकारेण परिभाषा देने तथा उसके चित्रण का प्रयत्न करता है, तो वह कथन प्रौढ़ है। अकथनीय का कथन करने के प्रयास में ही कवि का 'प्रौढ़त्व' है। कवि की इसी 'प्रौढ़ि' में वह यह शक्ति मानता है कि वह व्यञ्जना या ध्वनि को स्पष्ट कर सकती है। भट्टनायक के काव्य सम्बन्धी विचारों का सार 'अलङ्कार' सर्वस्वकार ने इस प्रकार दिया है: भट्टनायक प्रौढ़ोक्ति द्वारा ध्वनित 'व्यंग्य' को काव्य का एक प्रमुख तत्व मानता है। प्रौढ़ोक्ति के आधार से व्यञ्जना का जो व्यापार होता है, वही प्रमुख है: शब्द-अर्थ गौण है।[1] किन्तु प्रौढ़ोक्ति के द्वारा 'व्यंग्य' ग्रहण करने का क्या अभिप्राय है? इसका स्पष्टीकरण 'जयरथ' ने अलङ्कार-सर्वस्व की टीका में इस प्रकार किया है। कथन की कोई परिभाषा या व्याख्या न दी जाय। यही कथन प्रौढ़ माना जाता है। एक वस्तु को सत्य मान कर ग्रहण तो कर लिया जाता है, पर उसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती।[2]

अब तक उन आचार्यों के प्रौढ़ोक्ति सम्बन्धी विचारों को देखा जिन्होंने इसे अलङ्कार तो नहीं माना, पर इसकी चर्चा अवश्य की है। जयदेव, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज ने इसे अलङ्कार माना है जयदेव ने प्रौढ़ोक्ति अलङ्कार का लक्षण यह दिया है। प्रौढ़ोक्ति में कवि एक वस्तु को वह क्षमता प्रदान करता है जो वस्तुतः उसमें नहीं होती। इसका उदाहरण कालिन्दी के तीर पर खड़े हुए सरल वृक्ष काले हैं—

प्रौढ़ोक्ति स्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम्।
कलिंदजा तीर रुहाः श्यामलाः सरल द्रुमाः।

[चन्द्रालोक : गुजराती गुजराती प्रिंटिंग प्रेस पृ० ५३]

वस्तुतः कालिन्दी के नीर में यह शक्ति नहीं कि वह 'सरल' वृक्षों को काला करदे। यह कवि प्रदत्त क्षमता है। अप्पय दीक्षित का मत यह है: प्रौढ़ोक्ति में कवि एक वस्तु की विशेषता का कारण एक दूसरी वस्तु में कल्पित करता है। उदाहरण: केश इन तमाल तरुओं के समान काले हैं जो कालिन्दी के तीर पर खड़े हैं:—

प्रौढ़ोक्तिरुत्कर्षा हेतौ तेद्धतुत्वप्रकल्पनम्।
कचाः कलिंदजातीर तमालस्तोममेचकाः।

[कुवलयानन्द : निर्णय सागर : पृ० १३५]

इन दोनों आचार्यों के मत भी समान हैं और उदाहरण भी लगभग एक से हैं। दोनों ही एक वस्तु की विशेषता का कारण दूसरी वस्तु को निरूपित करते हैं। इस कारण कल्पना का आधार सम्पर्क-संसर्ग है। 'अमुक वस्तु का गुण एक दूसरी वस्तु के संसर्ग का परिणाम है'—यह बात व्यञ्जित है वाच्य नहीं। पर लक्षण करने के समय इस बात को दोनों आचार्यों ने उपेक्षित कर दिया। इसका स्पष्टीकरण इसलिए आवश्यक था कि यदि यह कारण कल्पना वाच्य हो जाय, तो अलङ्कार प्रौढ़ोक्ति न होकर

१—भट्टनायकेन तु व्यंग्यव्यापारस्य प्रौढ़ोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवतान्यग्भावित शब्दार्थस्वरूपस्यं व्यापारस्यैव प्राधान्य मुक्तम्।
[अलङ्कार सर्वस्व, निर्णय सागर की प्रति: पृ० १०]

२—वही, पृ० १०

समालङ्कार हो जायगा। यह स्पष्टीकरण पंडित राज ने कर दिया : एक वस्तु का गुण दूसरी यथार्थ गुण वाली वस्तु के संसर्ग का परिणाम है—यह बात व्यञ्जित ही होनी चाहिए। वाच्य होने पर वह समालङ्कार हो जायगा। ‡ इतना स्पष्ट करने के बाद पण्डितराज ने प्रौढ़ोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया : एक वस्तु में यथार्थतः एक गुण है। कवि उस गुण का आरोप किसी दूसरी वस्तु में करना चाहता है। अथवा उस वस्तु में वह गुण पहली वस्तु के कारण है, यह दर्शाना चाहता है। ऐसा करने के लिए कवि उन दोनों वस्तुओं के बीच एक काल्पनिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी काल्पनिक सम्बन्ध का परिणाम एक वस्तु की कोई विशेषता है, यह ध्वनित होता है। यही प्रौढ़ोक्ति का तत्व दर्शन है।* पण्डितराज ने उदाहरण यह दिया है:—

मन्थाचलभ्रमणवेगवशंवदा ये
दुग्धांबुधेरुदय तन्नणवः सुधायाः।
तैरेकतामुपगतैर्विविधौषधीभि—
र्धाता ससर्ज तव देव दयादृगन्तान्।

यहाँ तक प्रौढ़ोक्ति के सम्बन्ध में जो चर्चा अलंकार शास्त्रों में मिलती है, उस पर प्रकाश डाला गया है। पर इस चर्चा की समाप्ति से पूर्व प्रौढ़ोक्ति से सम्बन्धित एक समस्या को और देख लेना आवश्यक है। पहले के प्रायः सभी आचार्यों ने प्रौढ़ोक्ति सिद्ध को स्वतः संभवि तथा कवि प्रतिभानिर्वर्तित से भिन्न माना है। पर हेमचन्द्र तथा माणिक्यचन्द्र ने इन तीनों के भेद को मिटा सा दिया है। इनके अनुसार स्वतः संभवि में भी प्रौढ़ोक्ति का अस्तित्व रहा है। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'प्रतिभा' और 'प्रौढ़ि' में भी कोई अन्तर नहीं है। 'प्रौढ़ि' और 'प्रतिभा' का एकीकरण स्वभावोक्ति के एक प्रकार 'जाति' अलंकार की व्याख्या करते हुए किया गया है।

संक्षेप में इनकी विचार-पद्धति कुछ इस प्रकार की है; कवि की प्रतिभा निर्विकल्प प्रत्यक्ष होती है। इस प्रतिभा के प्रधानतः दो कार्य हैं। संसार के पदार्थों में कुछ तो सामान्य गुण होते हैं जो उस जाति के समस्त पदार्थों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं और जिनको सभी लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। इन्हीं पदार्थों में कुछ आन्तरिक विशिष्ट गुण होते हैं जो साधारण लोगों को प्रत्यक्ष नहीं होते। उनका प्रत्यक्ष केवल प्रतिभा शील, कल्पना संकुल मस्तिष्क ही कर सकता है। इन्हीं विशिष्ट गुणों का दर्शन करके उनका चित्रण करना 'जाति' अलङ्कार होता है। इन्हीं विशिष्ट गुणों को 'स्वभाव' कहा जाता है। इसी का चित्रण स्वभावोक्ति अलंकार होता है। यदि स्वतः संभवि वस्तु इसी 'स्वभाव' या विशिष्ट गुणों के चित्रण का नाम है, तब इसमें भी कवि-प्रतिभा का योग रहता है। इस प्रकार विशिष्ट गुणों स्वभाव का परिज्ञान का एक कार्य हुआ। किन्तु कभी-कभी कवि का काम न सामान्य गुण वर्णन से चलता है और न केवल कवि प्रतिभा प्रत्यक्ष विशिष्ट गुणों से। तब उसे अपने अभिप्राय के अनुसार किसी वस्तु-विशेष में नितान्त कल्पित गुणों और विशेषताओं की प्रतिष्ठा करनी पड़ती है।' अतः कवि प्रतिभा का दूसरा कार्य अभिप्राय के अनुकूल किसी वस्तु में नितान्त कल्पित गुणों की स्थापना करना है। पहले के अलंकारिक इन दोनों शक्तियों में अन्तर करते थे : पहली को प्रतिभा तथा 'दूसरी को कवि प्रौढ़ि की संज्ञा दी गई थी। हेमचन्द्र इन दोनों के बीच इतना पर्याप्त अन्तर नहीं मानता कि इन दोनों का अलग निरूपण किया जाय। हेमचन्द्र की इस विचार पद्धति पर महिमभट्ट के 'व्यक्ति-विवेक'

(शेष पृष्ठ ४६६ पर देखिए)

‡ अत्र च धर्मिविशेष संसर्गातिशयो धर्म्यन्तरगतो यथागुरण विषयस्चदैवायमलङ्कारः। वाच्यवृत्त्या तत्प्रयुक्तत्वेनाभिहितश्चेत् समालङ्कारस्यैव विषयः [रस गङ्गाधरः निर्णयसागर : पृ० ६७१]

* वही, पृ० ६७१

ऐतिहासिक उपन्यासकार वर्माजी का प्रकृति चित्रण

प्रो० गोपीनाथ तिवारी एम० ए०

वीर बुन्देलखण्डी जीवन को जिह्वादान करने वाले ख्याति सहित पुरस्कार प्राप्त करने वाले श्री वृन्दावनलालजी वर्मा का स्थान हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में सबसे ऊपर है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं— (१) रोमांस—युद्ध एवं प्रीति का उत्तेजनात्मक पाणिग्रहण है। (२) उन्होंने इतिहास की वास्तविकता एवं सच्चाई की यथा-सम्भव रक्षा की है। (३) बुन्देलखण्डी जीवन के मार्मिक चित्रों का उद्‌घाटन बड़ी सफलता एवं सरलता से हुआ है, तथा (४) उनके उपन्यासों में प्रकृति परी का मुग्ध वेशविन्यास एवं उसकी हृदय हारी क्रीड़ाएँ हैं।

पर प्रकृति का यह चारु-चित्रण न तो सुनी सुनाई बातों के आधार पर हुआ है; न पुस्तकों से पढ़कर जूठन को दूसरों के सामने फेंका है और न ही वर्षा की बहार, राजप्रासाद के प्रांगण में बैठ फव्वारों के उछलते रूप में देखी है। उन्होंने प्रकृति के चरणों में बैठ, उसकी गोद में लोट, और उसके मनोहर मुख के सामने बैठ उसको ध्यान पूर्वक निहारा है। अपनी ही आँखों से, अपनी ही ऐनक से। दुनाली को कंधे पर झुलाकर वे जङ्गल या पहाड़ पर पहुँच जाते हैं। वे बन जहाँ दिन के प्रकाश में भी उल्लू खेलते हैं, वे सरिताएँ जो प्रेमी पाषाण हृदयों की निष्ठुरता की उपेक्षा कर आगे बढ़ जाती हैं; वे ऊँची पर्वत श्रेणियाँ जहाँ बादल-बिजली आँख-मिचौनी खेलते हैं; वर्माजी की तीर्थभूमियाँ हैं। घंटों जहाँ सुध-बुध खोकर, समाधिस्थ होकर उस सुन्दरी का अप्रतिम लावण्य अपलक नयन-चषकों से पीते नहीं अघाते। दायें-बायें से, ऊपर-नीचे से, चरणों में नतमस्तक हो, गोद में उछल-उछल कर, वक्षस्थल से आलिङ्गन बद्ध हो, कंधों पर सवार हो—अनेक दृष्टियों एवं दिशाओं से आन्तरि[क] एवं वाह्य छवि को देख-देख पुलकित होते हैं।

संयम और सौन्दर्य का सौहार्द्र है। जहाँ संय[म] है वहीं सौन्दर्य, संयम का बाँध टूटते ही सौन्द[र्य] क्षत-विक्षत हो कुरूप बन जाता है। वर्माजी ने कहीं-कहीं संयम का हाथ छोड़ दिया और साथ [ही] सौन्दर्य भी कुछ हीन बन गया। गढ़ कुंडार [के] प्रथम अध्याय में गढ़-कुण्डार की चौकियों के व[र्णन] से कई पृष्ठ भर दिये। पढ़ते पढ़ते ऊब पैदा हो जा[ती] है। क्या ही अच्छा होता यदि वर्माजी संयम [से] काम ले इन्हें संक्षिप्त एवं सुन्दर बना देते। जहाँ वर्माजी ने वर्णन की झोंक में सुषमा का मुख फे[र] कर संयम को पीछे छोड़ा है, वहीं सुन्दरता भी [दूर] जा खड़ी हुई है। भला यही है कि ऐसे स्थल मा[त्रा] में बहुत कम हैं।

वर्माजी ने प्रकृति को खुली आँखों से देखा [और] चतुरता पूर्वक उसका चित्रण भी किया। सामने [के] दृश्य की सूची मात्र न बना, उसका संश्लिष्ट प्रका[र से] अङ्कन किया है। छोटी और बड़ी सभी वस्तुओं [का] सूक्ष्म निरीक्षण किया। पहाड़ जैसा विशाल [...] और ऊँचा वृक्ष देखा तो उसके पास का नाल[ा,] उसके पास की भैंसे भी देखे। साथ ही घास पर [भी] ध्यान गया कि वह सूखी है या हरी। इस प्र[कार] प्रकृति का यथा तथ्य सूक्ष्म चित्रण उनमें प्राप्त होता [है।]

"बिर वाई से लगे हुए ३-४ महुए के पेड़ [...] महुआ के पीछे से एक चक्कर दार नाला निकल[ा] था। दूसरी ओर वह पहाड़ी थी जो मुड़ावली प[हाड़ी] कहलाती है। एक ओर बीहड़ जङ्गल .... आ[...] की कुछ भैंसें नाले के पास चर रही थीं। एक लड़[का] कुछ धूप में, कुछ छाया में सोता हुआ जानवरों [की] देखभाल कर रहा था। घास आधी हरी आधी [...]

ी। करघई के पत्ते पीले पड़-पड़ कर गिरने लगे थे। ाले का पानी अभी नहीं सूखा था—कुछ भैंसें समें लोट-लोट कर शब्द कर रही थीं। चिड़ियाँ घर से उधर उड़कर शोर कर रही थीं। सूर्य ी किरणों में कुछ तेजी और हवा में थोड़ी उष्णता ागई थी। (विराटा की पद्मिनी)

कैसा फोटू सा खींच दिया है। केवल स्थूल स्तु ही नहीं दिखाई पड़ी, आधी सूखी व आधी री घास पर भी नजर पड़ी। ऐसे वास्तविक चित्रण र्माजी के उपन्यासों में अनेक प्राप्त होंगे। यह प्रकृति ा जैसा का तैसा रूप है। इसके अतिरिक्त वर्माजी प्रकृति में सुन्दरता एवं कोमलता को भी निहारा, कृति की प्रसन्नता एवं आनन्द से नाचती गाती द्रा को भी छुककर देखा। प्रभात का मुस्कराता खड़ा देखा तो बसन्त का आनन्दितरेक में नृत्य रता एवं गीतोन्माद में पुलकित होता यौवन भी पनी आँखों से पिया:—

"प्रभात नक्षत्र क्षितिज के ऊपर उठ आया। नक रहा था और मुस्करा रहा था। वनराजि और चे की पर्वत श्रेणी पर उसका मन्द मृदुल प्रकाश र सा रहा था।

"चैत लग गया था। बसन्त ने पत्थरों और क्षों तक पर फुलवाड़ियाँ पसार दी थीं। टेसू के लों ने क्षितिज को सजा दिया। समीर और प्रभ र में भी महक समा गई थी। रात और दिन ीत से पुलकित हो उठे। (विराटा की पद्मिनी)

पहिला तो कैमरे द्वारा उतारा फोटू था, तो ये र चितेरे के कोमलता एवं प्रसन्नता सम्पन्न चारु त्र हैं। फोटू में जो कुछ सामने है, उसे कागज पर ार लिया जाता है। चित्र में चित्रकार कुरूपता का मार्जन भी कर देता है और चित्र को अधिक दर एवं मनहर बना देता है। प्रकृति का यह रम्य रूप है।

किन्तु वर्माजी उपासक हैं किसी और ही वेश उनके मन में रमा है प्रकृति का काला और भयावना रूप। उनके मन को अधिकतर मोहती है रात्रि की कमनीय कालिमा; सन्ध्या समय का अग्रसर होना अन्धकार एवं वर्षाकालीन भव्य भयानकता। वे चाँद के मुस्कराते मुख को मेघ-अवगुण्ठन के पीछे से देखने के अधिक इच्छुक हैं। गढ़कुण्डार में लेखक दिवाकर के मुख में अपने शब्द रख कर कह भी रहा है:—

'पानी के किनारे एक घास के टीले के सहारे टिक कर वह पलोथर की पहाड़ी के विकट सुनसान सौन्दर्य को देखने लगा। इससे पहिले दिवाकर जुझौती के अनेक मनोहर पर्वत, झील वन, और नदियाँ देख चुका था, परन्तु एक ही स्थान में प्रकृति की ऐसी भयानक छटा देख कर उसका चित्त मस्त हो गया। उसने अपने आप कहा—इस सुन्दर वेश के लिए प्राण देना बड़े गौरव की बात होगी।"

अतः वर्माजी ने प्रातःकालीन उषा के गुलाबी गाल के स्थान पर सन्ध्याकाल के खूनी ललाट पर अधिक लट्टू हैं; भास्कर भगवान की मन्दता की उपेक्षा कर काली रात की कलङ्क कालिमा को सराहते हैं। इसी प्रकार शरद् श्री की अपेक्षा उन्हें वर्षा का भयङ्कर वैभव अधिक प्रिय है। ऐतिहासिक उपन्यासकार, जो युद्ध और रक्तपात के खण्ड चित्र खींच रहा है, यदि इन रौद्र-रूपों को पसन्द करे तो इसमें आश्चर्य की बात भी क्या है सन्ध्या का अन्धकार और उसके पीछे की चीत्कार पर ही उनका ध्यान खिंच जाता है—

"सन्ध्या हो चुकी थी। पश्चिम दिशा का क्षितिज सुनहले रङ्ग से भर चुका था और पूर्व की ओर से अन्धकार के पल्लड़ के पल्लड़ नदी की स्वर्ण रेखा पर मानो आवरण डालने वाले थे। मन्दिर के चारों ओर नदी की प्रशस्त धारायें अन्धकार, और वन्य पशुओं के चीत्कारों से 'कुमुद' की एकान्तता को अलग सा कर रही थी। (विराटा की पद्मिनी)

इस श्यामता एवं सुनसानता में ही वर्माजी ने अपनापन पाया। कुञ्जरसिंह के समान वर्माजी का

विजित हृदय भी, सन्ध्या की सुनसानता में "बज सा" जाता है।

"बेतवा के पूर्वीय किनारे की जलराशि छूती हुई चली जा रही थी। अस्ताचलगामी सूर्य की कोमल स्वर्ण रश्मियाँ बेतवा की धार पर उछल-उछल कर हँस सी रही थीं। उस पार के वन वृक्षों की चोटियों के सिरों ने दूरवर्ती पर्वत की उपत्यका तक श्यामलता की एक समरस्थली सी बना दी थीं। उस सुन्दर सुनसान में कुञ्जरसिंह के शब्द बज से गये थे।

(विराटा की पद्मिनी)

कालिमा और युद्धस्थली की एकरूपता का परिचय लेखक ने इसमें दे ही दिया। संध्या का अन्धकार रात्रि में परिणत हो जाता है। वर्माजी की रात्रि-नायिका तमदानव के लोह चंगुल में फँसी कराहती ही आती है।

"रात का समय था। कालीरात। आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। पवन ने पेड़ों को चूमचूम कर सुला सा दिया था। बेतवा अचेत पत्थरों से निरन्तर टकरा कर अनन्त कल-कल शब्द रच कर रह जाती थी।

रात्रि की रहस्यमय सुनसानता यदि नदी की निर्जनता में जा बैठे तो फिर सन्नाटे एवं भयकातरता का क्या कहना ? इस घोर मूकता में थोड़ा सा भी शब्द प्रतिध्वनित हो जाता है। यही कारण है कि वर्माजी मछली के उछलने के शब्द को भी पकड़ सके। उस पर टिटीहरी का चिल्लाना तो हृदय लरजा ही देगा :—

"रात्रि अन्धकारमय थी। बेतवा के प्रवाह की चहल-पहल स्पष्ट सुनाई पड़ती थी। जब कभी कोई मछली उछल कर एक स्थान से दूसरे स्थान को दौड़ती थी तब साफ सुनाई पड़ता। बीच-बीच में किसी भ्रम से, किसी भय से, टिटिहरी चिल्ला पड़ती थी, वैसे सुनसान था। आकाश में बिखरे हुए तारे और कहीं-कहीं उनके झुरमुटें प्रकाश के एक मात्र साधन थे। केवल पानी पर कुछ टिमटिमाहट दिखलाई पड़ती थी।

(विराटा की पद्मिनी)

वर्माजी को ऋतुराज बसन्त की बासन्ती भी के आस-पास पाया, शीत, अन्धकार, और झींगुर की झनझनाहट अधिक भयङ्कर अधिक सुनाई पड़ती है। उनके लेखनी रंजन में शरदृऋतु का शृङ्गारित नायिका रूप न मिलेगा।

बसन्त पञ्चमी हो चुकी थी। फर्वरी का महीना था। चाँदनी डूब चुकी थी। हवा ठण्डी, मन्द-मन्द। तारे दमक रहे थे, कुछ बड़े-बड़े, असंख्य छोटे-छोटे, जैसे चाँदनी अपनी चादर छितराकर छोड़ गई हो। नीचे सघन अन्धकार। सब दिशाओं में गुलाई सी बाँधे हुए झींगुर झङ्कार रहे थे।

यहाँ लेखक ने बसन्त की रूप-माधुरी की ओर ध्यान नहीं दिया। उनकी निगाह जाती है डूबी हुई चाँदनी पर, शीत और अन्धकार पर, तथा झींगुर की झङ्कार पर। अन्य ऋतुओं से उन्हें वर्षाकाल अधिक भाता है। फिर उसमें भी बरसात की काली रात करेला कड़वा, उस पर नीम चढ़ा।

"रात होते ही अन्धेरा छा गया। गहरी काली घटाएँ। आकाश में चन्द्रमा के होते हुए भी चाँदनी का नाम नहीं। रुक रुक कर फुहार पड़ जाती थीं। हवा चल रही थी परन्तु मच्छर झुण्ड बाँध कर टूट टूट पड़ रहे थे।

(मृग नयनी)

अभी तक हमने वर्माजी के प्रकृति के स्थिर चित्र ही देखे। ऐसे अनेकों चित्र उनके उपन्यासों में भरे पड़े मिलेंगे। ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रकृति चित्रण की दृष्टि से 'विराटा की पद्मिनी' सबसे अधिक सफल है। ये प्राकृतिक दृश्य वास्तविक रूप में चित्रित हुये हैं। किन्तु वर्माजी के प्रकृति-चित्रों की प्रधान विशेषता यह नहीं है। उनके मन मुग्धकारी चित्र तो वे हैं जिसमें उन्होंने प्रकृति और मानव का मेल कराया है; जहाँ प्राकृतिक दृश्यों और घटनाओं को एक सूत्र में बाँधा है। हिन्दी साहित्य में वर्माजी की यह अपनी विशेषता है। प्रकृति की सहायता से घटना को गतिमान बनाया गया है। प्रकृति के दृश्य "दिवस का अवसान समीप था", के सदृश

केवल पृष्ठ भूमि के रूप में नहीं जोड़े गये हैं। पृष्ठ भूमि इनसे बनती अवश्य है। ये दृश्य और मानव जीवन साथ-साथ घुलमिल कर चलते हैं, ये एक ही साथ कई काम करते हैं। पृष्ठ भूमि बनाते हैं, वातावरण का सृजन करते हैं, घटना या चरित्र को गतिमान करते हैं और हृदय में उत्सुकता पैदा करते हैं। दूध और पानी की नाईं सम्मिश्रित हो ये दृश्य और घटनाएँ सफल ऐतिहासिक वातावरण को चुप से ला खड़ा कर देते हैं। प्राकृतिक दृश्य एवं घटना के साथ उत्सुक वातावरण का निर्माण निम्न पंक्तियों में कितना सुन्दर है—

"गढ़ी में इस ठिये के नीचे एक बड़ा पेड़ था जिसकी गुम्मट और शाखें ऊपर तक आई थीं। इसकी छाया में वे किसान पहरा देते सो उठे थे। लाखी उत्सुकता के साथ बैठ गई। उसकी आँखों में नींद या ऊब का लेश मात्र भी न था।

थोड़ी देर बैठी रह कर वह खड़ी हो गई। कंगूरों के झरोखों से होकर नीचे की ओर देखा। अतुल अन्धकार। निबिड़ वन का कोई भी अंश नहीं दिखलाई पड़ रहा था। ऊपर तारे छिटके हुये थे। दूर की पहाड़ियाँ लम्बी ताने सोती सी जान पड़ती थीं। टेढ़ी तिरछी बहती हुई सांक नदी की पतली रेखा जरूर झाईं सी मार रही थी। दूरी पर डेरा डालने वालों के डेरे की आग सुलग-सुलग कर राई गढ़ी के सङ्कट को जगा जगा दे रही थी। वैसे राई की डाँग में नाहर इत्यादि जङ्गली जानवर रात में प्रायः बोला करते थे, परन्तु आक्रमण कारियों की रौंदा रौंदी के मारे वे बहुत दूर खिसक गये थे। सिवाय झींगुरों की चीं-चीं के और कुछ नहीं सुनाई पड़ता था। सुनसान को छेदती कभी-कभी गढ़ी के भीतर 'जागते रहो, जागते रहो' की पुकारें भर सुनाई पड़ जाती थीं।" (मृगनयनी)

और हम भी लाखी के खड़ा होने के साथ अपने कानों को खड़ा करके सुनने का प्रयत्न करते हैं कि इस सुनसान एवं त्रस्त वातावरण के पीछे क्या है। और तभी "लाखी को उन शून्य वेधी पुकारों के ऊपर कंगूरों के नीचे सघन अन्धकार के पेट में कुछ खरखराहट सुनाई पड़ी।" हम सांस रोककर इस वातावरण के रहस्य को जानने का प्रयास करने लगे।

इस वातावरण के पीछे उत्सुकता है। एक और प्रकृति और घटना के साथ अनुस्यूत दृश्य देखें। इसमें उत्सुकता उतनी नहीं जितनी गति है। दोनों भागे जा रहे हैं।

"आगे निर्मम मार्ग। अगाध अँधेरा। झींगुर झङ्कार रहे थे। उनके ऊपर घोड़ों की टापों की आवाज हो रही थी। सब ओर सन्नाटा छाया हुआ था। पीछे झाँसी में आगें जल रही थीं और आवाजें आ रही थीं। आगे अन्धकार में जङ्गल और गढ़मऊ का पहाड़ लिपटे हुए दबे हुए से दिखलाई पड़ते थे। चिड़ियाँ पेड़ों पर से भड़भड़ा कर उठतीं और घोड़े को चौंका देतीं। घोड़े जल्दी चलाए जाने के कारण ठोकर ले-ले पड़ते थे। आगे का मार्ग अँधकार पूर्ण और भविष्य तिमिराच्छन्न ज्यों-त्यों करके आरी नामक ग्राम के पास से यह टोली आगे बढ़ी। पहूज नदी मिली। लोगों ने चुल्लुओं से पानी पिया और आगे बढ़े।

(झाँसी की रानी—लक्ष्मीबाई)

प्राकृतिक दृश्यों द्वारा निर्मित इस वातावरण में उतनी उत्सुकता नहीं, जितनी गति है। ऐसे ही विराटा की पद्मिनी में एक ऐसे गत्यात्मक चित्र में वातावरण बनाया गया है जिसमें गति के साथ सावधानी है। इसमें युद्ध से पूर्व का वातावरण सजीव हो बोल उठा है—

"रात होगई, खूब अन्धकार छा गया। जगह-जगह लोग आक्रमण रोकने की योजना में लग गये। गाँव में खूब हल्ला गुल्ला होने लगा मानों असंख्य सैनिक किसी स्थान पर आक्रमण कर रहे हों। कुञ्जर, सिंह, नरपति के मकान के बाहर वेश बदले शस्त्र सज्जित टहल रहा था। पहरे वालों की टोलियाँ,

इस मकान के समाने कुछ क्षण के लिये खड़ी होकर "अम्बा की जय, दुर्गा मय्या की जय" कहती हुई गुजर जाती थी। (विराटा की पद्मिनी)

प्रकृति का अंधकार यहाँ पृष्ठ भूमि को बना रहा है। वर्माजी का सबसे सुन्दर गत्यात्मक चित्रण भी विराटा की पद्मिनी में ही है। मेरी समझ में यह सबसे सुन्दर एवं मनमोहक है। कारुण्य की एक वीणा पर द्रुत धारा के साथ यह दौड़ कर हृदय को झकझोर देता है। यह चित्र हिन्दी साहित्य में बे जोड़ सा है। अपनी द्रुत गति से यह मन की गति पर हावी हो अवाक् छोड़ झट भाग जाता है। अलीमर्दान कुमुद (वर्माजी की सभी पात्रियों में सबसे अधिक सुन्दर एवं कोमल पुष्प) के पीछे पकड़ने के लिए दौड़ता है। पापात्मा क्या उस स्वर्गीय कुसुम को दबोच लेगा? प्रकृति के दृश्यों-पहाड़, सूर्य रश्मि, और नदी की सहायता से घटना में गति लाकर एक अद्वितीय और अप्रतिम छवि-भर दी गई है।

"कुमुद चट्टान की टेक पर खड़ी हो गई। ऐसा मालूम होता था कि मानो कमलों का समूह उपस्थित हो गया हो या प्रकाश पुंज खड़ा कर दिया गया हो। पैरों के पैंजनों पर सूर्य की स्वर्ण रेखा फिसल रही थी। पीली धोती मन्द पवन के झकोरों से दुर्गा की पताका की भाँति धीरे धीरे लहरा रही थी। बड़े बड़े काले नेत्रों की बरौनियाँ भौहों के पास पहुँच गई थी। आँखों से झरती हुई प्रभा ललाट पर से चढ़ती हुई उस निर्जन स्थान को आलोकित सा करने लगी। वे चट्टानें और पठारियाँ, वह दुर्गम नीली धार वाली बेतवा, वह शान्त भयवना सुनसान, वह हृदय को चञ्चल करने वाला एकान्त और चट्टान की टेक पर खड़ी हुई अतुल सौन्दर्य की मूर्ति।

अलीमर्दान और कुमुद के बीच में अभी कई डगों का अन्तर था।

कुमुद शान्त गति से ढालू चट्टान के छोर पर पहुँच गई। अपने विशाल नेत्रों की पलकों को उसने ऊपर की ओर उठाया। उँगली में पहने हुई अगूठी पर किरणें फिसल पड़ीं। दोनों हाथ जोड़कर उसने धीमे स्वर में गाया:—

सलिनिया, फुलवा ल्याओ नन्दन बन के
बीन-बीन फुलवा लगाई बड़ी रास।
उड़ गए फुलवा रह गई बास ॥

उधर तान समाप्त हुई, इधर उस अथाह जल-राशि में पैंजनी का "छुम्म" शब्द हुआ। धारने अपने वक्षस्थल को खोल दिया और तान समेत उस कोमल कंठ को सावधानी से अपने कोश में रख लिया। ठीक उसी समय वहाँ अलीमर्दान भी आ गया। घुटना नवाकर उसने कुमुद के वस्त्र को पकड़ना चाहा, परन्तु बेतवा की लहर ने मानो उसे फटकार दिया।" (विराटा की पद्मिनी)

प्रकृति गतिमान और मुखर उठी है। प्रकृति एवं घटना के मणिकांचन संयोग ने कैसा सुन्दर गत्यात्मक चित्र खींच दिया है। यही वर्माजी की अपनी प्रमुख विशेषता है।

(पृष्ठ ४६४ का शेष)

का स्पष्ट प्रभाव है। महिमभट्ट ने स्वभावोक्ति को स्पष्ट रूप से अलङ्कारत्व प्रदान किया था। हेमचन्द्र की विचार-धारा महिमभट्ट की इसी स्वभावोक्ति-व्याख्या से प्रभावित है। हेमचन्द्र अपने 'काव्यानुशासन' में महिमभट्ट का एक लम्बा उद्धरण भी देता है।[1] इन दो-एक आचार्यों के अतिरिक्त सभी पूर्व के आचार्यों ने दोनों में अन्तर किया है चाहे कितना ही हलका अन्तर इनमें हो, पर है अवश्य।

१—काव्यानुशासन : निर्णयसागर : पृष्ठ ३३०

पूर्व की ओर

श्री कन्हैयालाल शर्मा एम० ए० साहित्य-रत्न

'पूर्व की ओर' नाटक के लेखक श्री वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी साहित्य में उपन्यासकार रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके उपन्यास इतिहास की शोध पर आधारित होते हैं। उनमें ऐतिहासिक रोमांस पाया जाता है। यही ऐतिहासिक उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति वर्माजी को जब नाटक लिखते पाती है तब इतिहास को उनके साथ कर देती है। प्रस्तुत नाटक अश्वतुङ्ग के जीवन के उत्थान-पतन के साथ ही साथ ऐतिहासिक शोध द्वारा तत्कालीन अनेक तथ्यों का भी उन्मीलन करता है। वह तत्कालीन नाक द्वीप (निकोबार) के जीवन पर तो प्रकाश डालती ही है; उसमें पल्लवकालीन भारतीय संस्कृति के दर्शन भी पाठकों या दर्शकों को होते हैं। उसका कथानक उस युग के जीवन की अनेक प्रथाओं और परम्पराओं पर प्रकाश डालता चलता है।

कथानक:—प्रस्तुत नाटक का कथानक ऐतिहासिक है। इसका नायक अश्वतुङ्ग है। कथा का आरम्भ गौतमी और कन्दर्पकेतु से होता है। गौतमी विहार के भिक्षु जय स्थविर के पास उपसम्पदा ग्रहण करने के लिए पिता द्वारा लाई जाती है, पर उसका मन चञ्चल है अतएव उपसम्पदा नहीं प्राप्त कर पाती। वह जय के सम्मुख अश्वतुङ्ग को कनखियों से देखती है; जो अपने अश्वारोहियों के साथ रसायन-कोष प्राप्त करने आया है। अश्वतुङ्ग का अभिन्न मित्र गजमद भी उसके साथ है। वे भिक्षु को यातना देकर भी पुस्तक प्राप्त नहीं कर पाते। तदनन्तर अश्वतुङ्ग कांची पर आक्रमण की सम्भावना बतला कर चन्द्रस्वामी से धन अपहरण करना चाहता है, पर असफल ही रहता है। वह एक नकली ताम्रपत्र लेकर प्रतिष्ठान को हड़पना चाहता है, पर महानागर ताम्र पत्र को नकली समझता है, अतः उसकी अवहेलना करता है। इस पर अश्वतुङ्ग उसको अपने साथियों द्वारा बन्दी बनाना चाहता है, पर इसी बीच महादण्डनायक वीरवर्मा का आज्ञापत्र दिखला कर अश्वतुङ्ग को बन्दी बना लेता है। अश्वतुङ्ग तथा उसके साथियों का भाग्यनिर्णय वीरवर्मा द्वारा होता है और उन्हें देश-निष्कासन का दण्ड मिलता है। चन्द्र स्वामी के पोत में वे सब 'पूर्व की ओर' ले जाये जाते हैं। जिस समय वे पोत में जा रहे थे उस समय एक भयङ्कर तूफान उठता है और वे नाक द्वीप के तट पर फेंक दिये जाते हैं।

नाक द्वीप में यह प्रथा है कि जो व्यक्ति द्वीपवासियों के पंजे में फँस जाता है उसको जीवित जला दिया जाता है—नरमेध किया जाता है। तट पर पड़े हुए संज्ञा-शून्य अश्वतुङ्ग; गजमद, चन्द्रस्वामी, महानाविक आदि द्वीपवासियों द्वारा पकड़े जाते हैं, पर प्रथम तीन को छोड़ कर शेष छूट भागते हैं। इन तीनों की रक्षा भी धारा के द्वारा हो जाती है, क्योंकि वह अश्वतुङ्ग से प्रेम करने लग जाती है। तुम्बी धारा की प्रतिद्वन्द्वी बनती है।

उक्त तीनों व्यक्तियों को तीन वर्ष का समय द्वीपवासियों में व्यतीत करना पड़ता है। इस बीच में धारा द्वीप की रानी बन जाती है और तुम्बी-धारा की शरण ग्रहण करती है। इसके पश्चात् महान्नाविक, जय स्थविर गौतमी और कन्दर्प केतु का पोत द्वीप तट पर आकर लगता है। उसी पोत में अश्वतुङ्ग, गजमद तथा चन्द्रस्वामी धारा सहित वारुण-द्वीप को प्रस्थान करते हैं। धारा अस्थायी रूप में द्वीप की रानी बना दी जाती है। पोत में गौतमी का वर्षों पुराना प्रेम अश्वतुङ्ग पर प्रकट होता है, पर जब वह देखती है कि अश्वतुङ्ग बर्बर-धारा का हो गया है तब वह उन दोनों से घृणा करने,

जगती है और बाद में उस सम्मान को ग्रहण कर लेती है।

इधर अश्वतुङ्ग वारुण द्वीप पहुँच कर द्वीप वासियों के जीवन में काया कल्प कर देता है। उनके द्वीप में नहरें बनाता है, और अन्न-जल की व्यवस्था करता है। द्वीपवासी उसे अपना राजा घोषित करते हैं, और धारा को महारानी का सम्मान मिलता है। यहीं कथा की समाप्ति हो जाती है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु का निर्माण ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर किया गया है। समस्त घटनायें पल्लव काल की हैं, उनको एक देश काल में एकत्र कर दिया गया है। इतिहास को रक्षा करने के परिणाम स्वरूप कथावस्तु अधिक लम्बी हो गई है। ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालने की वासना लेखक के मन में रहने के कारण नाटक को अत्यधिक विस्तार प्राप्त हो गया है। प्रस्तुत नाटक का नायक अश्वतुङ्ग है तथा नायिका धारा। नाटक में नायक के दर्शन प्रथम अङ्क के प्रथम दृश्य में नहीं होने पाते हैं वह दूसरे दृश्य में सामने आता है। गौतमी को प्रथम ही दृश्य में पाकर तथा दूसरे दृश्य में नायक के जीवन से उसका सम्बन्ध देखकर उसको नायिका समझने का भ्रम पाठक को हो जाना स्वाभाविक है। अतएव अश्वतुङ्ग तथा धारा से सम्बन्धित घटनावलियाँ आधिकारिक कथा कही जा सकती है और गौतमी तथा तुम्बी की कथा में प्रासंगिक कथा में पताका और प्रकरी कही जा सकती हैं, जिनकी विकृत आधिकारिक कथा को आगे बढ़ाने के साथ ही साथ अनेक ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालती हैं। नाटक की घटनावली में प्रेम की त्रिकोणता (Trigularity of love) दिखलायी गई है। धारा, गौतमी और तुम्बी तीनों अश्वतुङ्ग से प्रेम करती हैं, पर धारा ही उसमें सफल होती है।

नाटक की कथावस्तु को कार्य की अवस्थाओं की कसौटी पर कसते हैं तो ज्ञात होता है कि नायक का फल राज्य प्राप्ति करना है। जिसका प्रारंभ प्रथम अंक से हो जाता है और यत्न का स्वरूप भी प्रथम अंक में दिखलाई पड़ता है। प्राप्त्याशा नायक के नाक द्वीप में होती है जहाँ द्वीप की स्वामिनी धारा तुम्बी को हराकर सच्ची प्रेमिका के रूप में अश्वतुङ्ग को सर्वस्व समर्पण करके विवाह का प्रस्ताव करती है पर यहाँ नायक सफल नहीं होता। द्वीप पर गौतमी महानाविक आदि का पोत आकर घटनावली को दूसरी ही दिशा में मोड़ देता है। नियताप्ति का स्वरूप वहाँ समझना चाहिए जहाँ अश्वतुङ्ग वारुण द्वीप में लोगों के हित के लिए अधिक परिश्रम करके उनके हृदयों पर विजय पाता है। इस बीच में तुम्बी और गौतमी भी उसके प्रेम के मार्ग से हट जाती है। और जब वह द्वीप का राजा घोषित कर दिया जाता है तब फलागम समझना चाहिए।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि नाटक की वस्तु ऐतिहासिक और कलात्मक है। उसकी घटनावली में कार्य-कारण सम्बन्ध पाया जाता है। कथा सम्बन्ध उत्सुकता अन्त तक पाठक को बनी रहती है। इ तुम्बी और नाक द्वीप का परिणाम जानने के लि पाठक अन्त तक भी उत्कण्ठित ही रहता है।

चरित्र-चित्रण:—प्रस्तुत नाटक के कुछ चरि तो बर्बर जाति के हैं जिनका मानसिक विकास पूर्ण रूपेण नहीं हो पाया है और कुछ सभ्य भारतीय तुम्बी प्रथम प्रकार की स्त्री पात्र है तथा अश्वतुङ्ग गजानन्द, चन्द्रस्वामी, गौतमी, कन्दर्पकेतु तथा जय स्थविर दूसरे प्रकार के। धारा को दोनों के मध्य में रक्खा जा सकता है।

जय-स्थविर—दूसरे प्रकार के चरित्रों में जय स्थविर साधारण मानव से ऊपर उठे हुये हैं, जिनमें दूसरों को भी उठाने की कामना और क्षमता है इसी उद्देश्य को लेकर वे वारुण और नाक-द्वीप में जाते हैं। वे शान्त-गम्भीर, मितभाषी, चतुर और सहिष्णु हैं अश्वतुङ्ग के अत्याचार उन्हें विचलित नहीं करते। क्षमाशील होने के नाते वे अश्वतुङ्ग के अपराधों को क्षमा कर देते हैं बुद्धवाद को प्रधानता देने के कारण गम्भीर रहना इनकी चरित्रि

वशेषता बन गई है। भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित हिंसा में उन्हें पूर्ण विश्वास है, जिसमें वे बर्बर जाति को सुधारने की शक्ति पाते हैं। वे आत्म-तोषी भी हैं।

अश्वतुङ्ग—अश्वतुङ्ग नाटक का नायक है। वह वीर वर्म्मा का भतीजा है। आरम्भ में वह वीर-महत्वाकांक्षी, अहंकारी, लालची, धूर्त, चालबाज और अत्याचारी रूप में सामने आता है। प्रतिष्ठान को हड़पना, जय स्थविर को दण्ड देना, चन्द्रस्वामी की सम्पत्ति का अपहरण और किसानों की फसलें उजाड़ना, उसकी उक्त मनोवृत्तियों के परिचायक कार्य हैं। किन्तु देश निष्कासन के पश्चात् उसके जीवन में एक दम परिवर्तन आता है। वह सच्चे शूर-वीर की वीरता को लेकर समस्त भावी सङ्कटों को सहन करता है। गजमद उसे जिस हँसी का मूल मन्त्र देता है उसे वह जन्म भर नहीं छोड़ता यह वीरता में हँसी का संयोग मणिकाँचन ही संयोग है। यह अद्भुत संयोग उसके जीवन में अल्हड़ता और मस्ती को जन्म देता है। धारा के प्रेम का आलम्बन बनकर वह कुशल, चतुर तथा व्यवहार पटु व्यक्ति रूप में सामने आता है। उन तात्विक बुद्धि बर्बर द्वीप वासियों के बीच में तीन वर्ष का समय सकुशल निकलना एक चारित्रिक पहलुओं का प्रमाण है। मातृभूमि से दूर भी होते हुए भी वह दृढ़ प्रतिज्ञ है अतएव वह निष्कण्टक नहीं लौटना चाहता। वह कुशल व्यवस्थापक भी है। वारुण तथा नाकद्वीप वासियों के जीवन में जो काया कल्प हुआ है वह अश्वतुङ्ग की कुशाग्र बुद्धि द्वारा की गई व्यवस्था का ही परिणाम है। धारा का वह उदार प्रेमी है। असभ्य बर्बर स्त्री के साथ वह विवाह ही नहीं करता, अपितु उसे धीरे-धीरे सभ्य भी बना देता है।

गजमद:—इस चरित्र की अवतारणा नाटक में विदूषक रूप में की गई है जो अनेक रहस्यों का उद्घाटन भी करता है। गजमद वाचाल, कायर और चापलूस है। कवियों का अहं उसमें विद्यमान है। बात को सीधे कह देना उसे आता ही नहीं है। उसकी कविता उसका साथ सुख में ही देती है। विपत्ति में उसकी कायरता उसे पीछे डाल देती है। उनके कायर स्वभाव का परिचय वीर वर्म्मा के सम्मुख साक्षी रूप में तथा नाक द्वीप वासियों द्वारा पकड़े जाने पर भली प्रकार मिल जाता है। वह दुख में विक्षिप्त हो जाता है। शारीरिक यातनाओं को सहन करने की शक्ति उसमें नहीं है। पर उसमें आत्माभिमान अवश्य है।

चन्द्रस्वामी:—चन्द्रस्वामी दर्पपूर्ण धनपति है जिसे अपने धन से अत्यधिक प्रेम है। कायरता, लालचीपन, एक व्यापारी के चरित्रिक गुण उसमें विद्यमान हैं। धर्म के कार्य की ओर प्रवृत्ति उसमें संकट काल में ही दीख पड़ती है, अन्यथा तो 'चमड़ी जावे पर दमड़ी न जावे' सिद्धान्त का ही वह प्रतीक है। उसको जो प्राणों का मोह है वह तो पकड़े जाने पर प्रकट होता ही है, पर धन का मोह भी उससे कम नहीं है। शारीरिक यातनाओं को सहन करने की शक्ति उसमें नहीं दीख पड़ती है पर वह कृतज्ञ अवश्य है और वारुण द्वीप में अश्वतुङ्ग को अपना अतिथि बनाकर इसका प्रमाण देता है। सेनाध्यक्ष के लिए रुपया देकर वारुण द्वीप वासियों की सहायता करना भी बाद में उसने सीख लिया है।

गौतमी—कन्दर्पकेतु की पुत्री गौतमी चञ्चल तथा जिज्ञासु लड़की है। समुद्र यात्रा की आकांक्षा उसके हृदय में विद्यमान है। अश्वतुङ्ग के सौन्दर्य में आसक्त हो गई है। पर जब वह देखती है कि अश्वतुङ्ग धारा का प्रेमी है तब उसकी स्त्री सुलभ ईर्ष्या जागृत हो उठती है। वह धारा को घृणा की दृष्टि से देखने लगती है। यही ईर्ष्या उसे उपसम्पदा ग्रहण करने को फुसलाती है।

धारा—जिष्णु की पुत्री धारा भारतीय होकर भी नाक द्वीप में जीवन व्यतीत करने के कारण बर्बरता युक्त हो गई है। वह नाटक की नायिका

है। द्वीप की प्रथाएँ, परम्पराएँ और वहाँ का अविकसित जीवन इसे पूर्णरूपेण प्रभावित कर देता है। इसलिए उसमें सोचने समझने की शक्ति कम है। बर्बर जातियों की ज्ञणिक बुद्धि उसे द्वीप के वातावरण से प्राप्त हुई है। वह अश्वतुङ्ग पर उसके शारीरिक सौन्दर्य पर आसक्त होकर उसे प्रेम करने लगती है और सच्ची प्रेमिका के रूप में उसका नरमेध तो होने ही नहीं देती उसकी जीवन-सङ्गिनी बन कर रहती है। अश्वतुङ्ग का संसर्ग उसके भारतीय संस्कारों को जगाता है और मनोवृत्तियों को परिस्कृत करता है। इसलिए विवाह के सम्बन्ध में वह द्वीप वासियों की प्रथाओं को स्वीकार नहीं करती। अश्वतुङ्ग की प्रेमिका बन कर वह उसे पूर्ण समर्पण कर देती है और उसी के इङ्गित पर तूम्बी से सन्धि कर लेती है। गोलमी पर आक्रमण करना उसकी बर्बरता का द्योतक है। अश्वतुङ्ग का सम्पर्क उसके गुण धारा में ला देता है। अतएव वह हास्यप्रिय और कुशाग्रबुद्धि बन जाती है।

तूम्बी—बर्बर जाति की स्त्री हैं। वह लड़ाकू तथा ज्ञणिक बुद्धि है। वह प्रेमिका भी है, पर वह बर्बर प्रेम ही जानती है। कन्दर्पकेतु एक व्यापारी है। उसकी विचारशीलता अपनी पुत्री के लिए उसे चिन्तित रखती है। महानाविक, निर्भीक, वीर तथा कुशाग्रबुद्धि है। परिस्थिति को समझना और उससे लाभ उठाना उसे भली प्रकार विदित है।

कोई भी नाटककार चरित्र-चित्रण के लिए चार प्रणालियों का उपयोग करता है। प्रथम दो या अधिक पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप द्वारा, द्वितीय किसी अन्य पात्र द्वारा किसी चरित्र की कोराई आलोचना द्वारा, तृतीय पात्र के स्वगत कथन द्वारा तथा चतुर्थ पात्र के क्रिया-व्यापार द्वारा। नाटक में द्वितीय प्रकार से किया गया चरित्र-चित्रण श्रेष्ठ प्रकार का नहीं कहा जा सकता। क्योंकि नाटक दृश्य-काव्य है। दर्शक या पाठक वहाँ व्याख्या या सम्मति नहीं चाहता अपितु उस वृत्ति को मञ्च पर चरितार्थ होता देखना चाहता है। अतएव कुशल नाटककार इस उपकरण को यथा सम्भव कम उपयोग में लेते हैं। वर्माजी का उपन्यासकार रूप सामने आकर इस प्रणाली का भी उपयोग करता है। अन्यथा चरित्र चित्रण सर्वथा निर्दोष, मनोवैज्ञानिक और कलापूर्ण है। पात्र स्वयं अपना मार्ग खोजते चलते हैं; नाटककार के संकेत पर नहीं नाचते हैं। देश-कालानुरूप चरित्र चित्रण भी इस नाटक की विशेषता है।

रस—प्रस्तुत नाटक में तीन रस मुख्य रूप से पाये जाते हैं—वीर, शृङ्गार तथा हास्य। भयानक और रौद्र रसों की भी सामग्री यत्र तत्र बिखरी पड़ी है। नाक द्वीप वासिनी बर्बर धारा की रति की वृत्ति परिष्कृत अवस्था तक आरम्भ में नहीं पहुँच पाई है। आरम्भ में उसमें कामुकता और सङ्कोच अधिक है, परन्तु—अश्वतुङ्ग द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा भारतीय संस्कारों की प्रतिष्ठा के परिणाम-स्वरूप वह उदात्त होता दीख पड़ता है। समाज के संस्कृत-स्वरूप में वह भी संस्कृत हो उठता है। नाटक में हास्यरस के लिए नाटककार को अधिक अवकाश मिल गया है। गजमद का चरित्र तो हास्य-रस की सृष्टि के लिए ही नाटक में अवतरित है और चन्द्र स्वामी भी स्थान-स्थान पर इसमें योग देता है। इस रस के उपभोग द्वारा नाटककार ने कई ऐतिहासिक तथ्यों की विवृत्ति करके भी नाटक में शिथिलता नहीं आने दी।

प्रस्तुत नाटक का प्रधान रस कौन सा है; इसका निर्णय नाटक के कार्य द्वारा ही किया जा सकता है। नाटक का कार्य है—अश्वतुङ्ग के द्वारा राज्य-स्थापना। नाटक इसके लिए आरम्भ से ही प्रयत्नशील है और अन्त में उसको इसकी प्राप्ति हो जाती है। उसका अदम्य उत्साह वारुण द्वीप में राज्य स्थापना करने में दीख पड़ता है। ऐसी दशा में नाटक का प्रधान रस वीर है; शृङ्गार रस उसका अङ्ग बन कर आया है। शृङ्गार रस की नाटक में

व्याप्ति उसे प्रधान रस समझने का भ्रम उत्पन्न कर सकती है।

कथोपकथन:—कथोपकथन नाटक का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है। इसी के द्वारा नाटककार वस्तु, चरित्र, देशकाल, उद्देश्य आदि तत्वों पर प्रकाश डालता है। अतएव किसी भी नाटक का कथोपकथन अत्यन्त प्रभाव शील, वास्तविक तथा स्वाभाविक होना चाहिए। 'पूर्व की ओर' नाटक में पात्रों के अनुरूप कथोपकथन की योजना की गई है। गजमद वाचाल और कवि है अतएव उसके कथन अपेक्षाकृत लम्बे और अलङ्कार युक्त (काव्यमय) हो गये हैं। उधर इस चरित्र के ठीक विपरीत जय स्थविर का चरित्र है। जिसमें शब्दों तथा विचारों की मित-व्ययिता देखी जाती है। धारा के आरम्भिक कथनों में उसके विचारों की कङ्गाली तथा भाषा पर अनाधिकार प्रदर्शित होता है, पर बाद के कथन सजीव तथा मार्मिक है। पात्रों के अनुकूल वाक्य रचना में भी समय-समय पर अन्तर दिखलाई पड़ता है। जहाँ पात्रों का अवकाश होता है, वहाँ बातें बढ़ती हैं और नाटक में वर्णनात्मकता अधिक आ जाती है, पर जहाँ पात्र क्रिया व्यापार में उतरे होते हैं वहाँ कथोपकथन छोटे और मूल विषय पर प्रकाश डालते चलते हैं।

कथोपकथन तीन भागों में बँटा हुआ होता है—नियत श्रव्य, सर्व श्रव्य और अश्राव्य (स्वगत कथन) वर्माजी ने प्रस्तुत नाटक में नियत श्रव्य कथोपकथन का उपयोग नहीं किया और अश्राव्य कथोपकथन के भी अवसर नाटक में एक दो ही आ पाये हैं।

नाटक दृश्य काव्य होने के नाते दर्शकों को सर्वथा भुलाकर नहीं चल सकता अतः न उसमें दार्शनिक कथनों के लिए अधिक अवकाश है और न अलंकृत भाषा के लिए; न उसमें लम्बे भाषणों की आवश्यकता है न अत्यधिक वास्तविक अप्रासंगिक कथनों की। प्रस्तुत नाटक इन दोषों से मुक्त दीख पड़ता है। पात्रों की प्रकृति के अनुकूल लेखक इधर-उधर झुकता है, पर यह उसका दोष नहीं; पात्र स्वयं उसे उधर खींच ले जाते हैं। गजमद वर्माजी के हाथों में पड़ कर या रङ्ग-मञ्च का ध्यान रखकर अपनी प्रकृति तो नहीं बदल सकता, पर वह उससे लम्बे काव्यमय भाषणों को मञ्च पर खेलते समय सँभाल लेने की क्षमता अपनी विदूषकवृति के कारण रखता है। सक्षेप में, नाटक के कथोपकथन नाटकीय हैं।

देशकाल:—'पूर्व की ओर' नाटक पल्लव राजा वीर वर्मा के काव्य वातावरण को हमारे सामने लाता है। समस्त घटना चक्र एक लम्बी अवधि को समेट कर चलता है अतः इसमें काल सङ्कलन अचिन्त्य है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने इस नाटक में देशकाल सम्बन्धी भूलों को नहीं आने दिया है। उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों को भलीभाँति सँवार कर उन्हें नाटकोपयोगी बना दिया है। उस समय नाक द्वीप के लोग वल्कल से शरीर ढकते थे, विवाह के समय दुल्हा भाग जाता था, उसे पकड़ कर लाया जाता था और दुलहिन की गोद में बिठलाया जाता था। वहाँ नरमेध के लिए लोगों को लट्ठों पर बाँधकर लाया जाता था। किसी के विदा होते समय उसका हाथ फूँकना तथा मिलने पर रोना, उनके अन्धविश्वास आदि सभी ज्ञातव्य बातों पर लेखक का ध्यान रहा है। उस समय के नाविक स्थल का पता लगाने के लिए कौवे का उपयोग किया करते थे तथा बौद्ध भिक्षुओं का भोजन सूखे चावल और इमली का पानी होता था। इसी प्रकार की अनेक बातों का पता नाटक से लगता है। तत्कालीन नाक द्वीप वासियों की भाषा, उनकी संस्कृति आदि भी नाटक में देखने को मिलती है। नाटककार ने न केवल वाह्य बातों को देश काल के अनुरूप बनाया है, अपितु यह भी ध्यान रक्खा है कि उस समय के मनुष्य की मनोवृत्ति किस प्रकार की थी, भावों और मनोविकारों का परिष्कार भारत तथा नाक द्वीप में कितना हो चुका था आदि।

भाषा-शैली—नाटक में खड़ी बोली का व्याकरण सम्मत रूप ही अपनाया गया है। सभी पात्रों

या नाटक की भाषा खड़ी बोली है। पात्रों की भिन्नता विभिन्न भाषा भाषी होने में नहीं दिखलाई गई है, अपितु एक भी भाषा को विभिन्न पात्रों द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रयोग करने में दिखलाई गई है। कहीं कहीं वाक्य रचना भी उर्दू के ढङ्ग की हो गई है। पुस्तक में बोलियों के अप्रचलित दो चार शब्द भी मिल जावेंगे। संस्कृत पदावली का उपयोग पुस्तक में मिलता है।

गीत या छन्द नाटक में दो ही स्थलों पर आये हैं जो प्रसङ्गानुकूल हैं। इनमें दुरुहता नहीं है और न वे दीर्घ ही हो पाये हैं।

उद्देश्य—प्रस्तुत नाटक में नाटककार का मूल रूप से तो एक ही उद्देश्य दिखलाई पड़ता है। वह है—अश्वतुङ्ग या वीरवर्म्मा के काल को और तत्कालीन नाकद्वीप वासियों के जीवन के ऐतिहासिक तथ्यों को पाठक या दर्शक के सम्मुख रखना पर इसके साथ ही साथ एक आदर्श राज्य की स्थापना की कामना भी नाटक में देखी जाती है। वारुण तथा नाकद्वीपों में अश्वतुङ्ग द्वीप की शासन व्यवस्था को इसी ओर ले जाता है। श्रम तथा संपत्ति का मेल करवाकर वर्तमान समय में बढ़ते हुए पूँजीपतियों और श्रमिकों के विरोध का भी शमन नाटक में दिखलाया गया है। साथ ही भारत के नौका-नयन की प्राचीनता तथा उसकी समृद्धि से भी पाठक प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता।

अभिनेयता—नाटककार ने नाटक को मञ्चोपयोगी बनाने पर दृष्टि रख कर ही लिखा है, पर ऐतिहासिक शोध का मोह वह संवरण नहीं कर सका अतएव नाटक अधिक लम्बा हो गया है। पूरे नाटक में चार अङ्क और कुल मिला कर ३० दृश्य हैं जिनका अभिनय ५-६ घण्टे बिना सम्भव नहीं है।

नाटक के कुछ अंश वर्णनात्मक अधिक हो गए हैं—अतएव व्यापार की शिथिलता मञ्च पर खटकने वाली बन सकती है। अश्वतुङ्ग, गजमद आदि का द्वीप में प्रवेश होने से निकलने तक का कथांश वर्णनात्मक अधिक है। वहाँ व्यापार की कमी है। ऐसे दृश्यों को मञ्च पर खेलना तथा दर्शकों का ध्यान आकर्षित किए रखना कठिन हो जाता, पर नाटककार ने स्थान-स्थान पर हास्य का पुट देकर नाटक को सँभाल लिया है।

नाटक में हास्य के अतिरिक्त शृङ्गार तथा वीर रसों का अभिनय सर्वथा मञ्चोपयोगी है। प्रस्तुत नाटक में ये ही तीनों रस मुख्य हैं। जो क्रिया व्यापार में किसी प्रकार का अभाव नहीं आने देते।

भाषा पात्रों के अनुकूल और सरल होने के कारण नाटक दर्शकों की सहज ही समझ में आ सकता है। वह प्रसाद के नाटकों के समान दुर्बोधिता के कारण रुकावट बनकर दर्शक और पात्र के बीच में खड़ी नहीं हो जाती। गजमद को छोड़ कर अन्य कोई भी पात्र लम्बे कथन बकने का आदी नहीं है। पर गजमद तो नाटक का विदूषक है अतः उसमें लम्बे कथनों को भी सँभालने चलने की शक्ति और क्षमता है।

नाटक का वातावरण प्राचीन होने के कारण तथा नौका आदि के दृश्य प्रस्तुत करने के कारण नाटक के सूत्रधार को अधिक सतर्क रहना पड़ेगा। नाटक में वन प्रदेश के दृश्य अधिक होने के कारण तनिक हेर फेर से सभी दृश्य सरलतापूर्वक मञ्च पर सजाये जा सकते हैं, पर नौका और स्थल का दृश्य साथ साथ दिखलाने में तनिक सावधानी आवश्यक है।

प्रस्तुत नाटक में यत्र तत्र कतर छाँट करके तथा कुछ दृश्यों के सौन्दर्य को अक्षत रखते हुए हटा कर नाटक को मञ्च पर खेला जा सकता है। नाटककार द्वारा दिये गये विस्तृत मञ्च संकेत इसे रङ्गमञ्चोपयोगी बनाने में विशेष सहायक सिद्ध होंगे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वर्माजी का यह नाटक कुशल नाटक है जो प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों जैसी छायावादी शैली, दार्शनिक संवादों और काव्यमय कथनों के अभाव के कारण रङ्गमञ्च के अधिक निकट है, पर मनोदशा के पारखी प्रसाद जी फिर भी वर्मा जी के नाटकों से अपनी विशेष भिन्नता और महत्व रखते हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता

श्री मुक्तिनाथ ठाकुर एस० ए०

परिस्थिति के प्रति कलाकार की प्रतिक्रिया चार प्रकार की हो सकती है। वह परिस्थितियों के आघात से एकदम भाग सकता है। इस प्रतिक्रिया से कल्पना चित्रों, रोमान्टिक अथवा रहस्यमय गाथाओं की उत्पत्ति होती है।

दूसरा, वह परिस्थिति के आघात का साहस-पूर्वक सामना करके निराश और भग्नाकांक्ष हो सकता है, जिसका परिणाम कठोर और नंगा यथार्थ-वाद होगा।

तीसरा, वह असुन्दर तथा कठोर परिस्थितियों में से सुन्दरता को ढूँढ़ सकता है और उसकी महत्ता प्रतिपादित कर सकता है। इस संयमित विद्रोह का चिन्तन-शील आशावाद का दृष्टिकोण है, जिससे बहुधा उत्तम काव्य पैदा होता है।

चौथा, वह परिस्थितियों को निष्क्रिय भाव से स्वीकार कर सकता है, उनसे परास्त और जड़ित हो सकता है। इसमें भाग्यवादी, भोगवादी (Hidonist) सिनिकस (Cynics) या साधारण तथा सभी तरह के निराशावादी हैं।

आज की अधिकाँश कविता पहली और चौथी श्रेणी में रखी जा सकती है। अर्थात् यों कहें आधुनिक कवि या तो परिस्थिति से भाग जाता है या उसके आगे परास्त हो जाता है, चिन्तन शील आशावादियों की तथा यथार्थवादी की संख्या बहुत कम है। दारुण यथार्थता की चोट इसका कारण है। प्रतिक्रिया अति की सीमा पर पहुँच चुकी है। आज हमारा जीवन परिस्थितियों की टक्कर से चूर सा हो गया है। हमारे युग को 'अश्रद्धा का युग' कहा जा सकता है।

अपने-अपने झुकाव के बल पर आधुनिक कवियों को चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—

(१) सौन्दर्योपासक, (२) रहस्यवादी, (३) बुतपरस्त और (४) भाग्यवादी।

सौन्दर्योपासक वर्ग के कवि सौन्दर्य खोज में लगे रहते हैं। ये यथार्थवाद का सम्मान नहीं करते हैं; सुरक्षित शान्त और प्रायः अनुल्लेख्य जीवन बिताते हैं। अपनी अन्तरात्मा प्रकृति में, रंग और रूप में रमा देते हैं—

> जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है,
> नव बसन्त जिसका शृङ्गार,

इसके प्रतिनिधि कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त हैं। पन्तजी पर वर्डसवर्थ (Wordsworth) की कविता की गहरी छाप है। पर प्रकृति के नाते, वर्डसवर्थ से कई दोष भी अपना लिये हैं; जैसे चेष्टा से लायी गई सरलता तथा यत्न से लाया गया भोलापन। आज के अनेक कवियों की भाँति पन्तजी भी वेदना के गीत गाते हैं—पर अनुभव नहीं बल्कि कल्पित हैं। सौन्दर्योपासक साधारण तथा अपूर्ण विकसित (Subnormal) व्यक्ति होता है। उसकी वासना शक्ति बहुत क्षीण है। वह पूँजीभूत नहीं होती, निरन्तर असंख्य छोटे छोटे आकर्षणों में बिखरती रहती है। कवि कभी उपवनों के नवोढ़ा फूलों को अपने यौवन प्याले में भरकर अपने प्रिय मधुकर को पिलाते देखकर मुग्ध होता है और कभी इन्द्रधनुषी दल का रेशमी घूँघट बादल पर आकर्षित कर देता है। सौन्दर्योपासक की प्रतिभा स्वयं उसके आस-पास चक्कर काटती है। वह सदा आत्मोपासक होता है। पन्तजी स्वभावतः शैशव के कवि हैं। शैशव ही एक स्नेह की वस्तु है। अब पन्तजी में चिन्तन की मात्रा बढ़ती जा रही है।

दूसरा वर्ग रहस्यवादियों का है। विश्वास के रूप में यह एक विशाल वस्तु खिलौना या प्रतीक

होता है। रहस्यवादी समर्पित व्यक्ति है। उसकी एक अनवरत खोज है—वह है अनन्त और असीम की खोज। ससीम और असीम के सम्मिलन का नियमन करने वाली एक मात्र शक्ति साधन की एकाग्रता या तीव्रता ही है। इसलिये रहस्यवादी एक क्षण में प्रिय मिलन के सुख का वर्णन करता है तो दूसरे क्षण वात्सल्य से भरी माँ की शरण में जाने वाला शिशु-बनता है। इसकी प्रतिनिधि कवयित्री 'महादेवी वर्मा' हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा असीम की चेतना की ओर आकर्षित सी दीख पड़ती हैं। कभी आत्मा की सान्त्वना की खोज में दीखती हैं, कभी शिशु की भाँति माँ की गोद के लिये उदास हो जाती हैं; कभी प्रिय मिलन के लिए उत्कण्ठित सी जान पड़ती हैं। इनकी कविता में कहीं विश्वास, अभिमान, कहीं आत्मदान का परिचय मिलता है। इनकी कविता संगीतमय होती हुई भी एक रास्ता लिये होती है (Monotony)।

तीसरा वर्ग बुत-परस्त वालों का है। (Pagan) अर्थात् 'काफिर' प्रतिमा पूजक आदि शब्दों से इसका अभिप्राय निकाल सकते हैं। इसके प्रतिनिधि कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी हैं। ये सच्चे अर्थ में रोमान्टिक कवि हैं। इनमें तीव्र अनुभूति का अनुभव होता है। इन्होंने जोश के आगे सूक्ष्म अभिव्यञ्जना को बलिदान कर दिया है। 'नवीन' जी की कविता की एक विशेषता है—स्थूल भौतिकता के प्रति उनका आग्रह। वे प्रेम को अध्यात्मिक और काल्पनिक बनाने की प्रकृति से विद्रोह करते हैं। यौवन और जीवन, जीवन और यौवन ही इनके गीत का अभिबोध है। कभी कभी प्रश्न भी पूछ बैठते हैं :—

"कुछ छिन, कुछ दिन, कुछ मास और कुछ
बरस, यही है क्या जीवन ?"

इसके बाद भाग्यवादी कवियों का वर्ग आता है। अन्य तीनों वर्गों में परिस्थिति के प्रति एक ही प्रकार की सूझ है। तीनों में एक ही प्रकार के पलायन (escape) से बच भागने की प्रवृत्ति है। उन भाग्यवादियों में भोगवादी और निराशावादी शामिल है। इसके प्रतिनिधि कवि श्री हरिवंशराय बच्चनजी हैं। इनका विचार समाज के और साधारणतया अस्तित्व मात्र के प्रति नाकारात्मक है। उनकी एक उक्ति है—

जब उठा हो भार जीवन।
तब लगाया ओठ प्याला॥

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी कविता में साधारणतः गहराई तथा विशालता की कमी है। विराट कविता का सर्वश्रेष्ठ रस जनता का रक्त ही है, फिर भी हमारे कवि जनता से खिंचे रहते हैं। आज जन साहित्य की उत्पत्ति के लिये कृत्रिम साधनों का उपयोग होने लगा है। हिन्दी में जीवन, प्राण और उत्साह है, जो जन साहित्य के लिये उपयोगी हैं।

प्रसादजी और रस-सिद्धान्त

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०

कविता, दार्शनिकता और विद्या की त्रिवेणी का प्रवाह-स्थल है प्रसाद का व्यक्तित्व। वे एक साथ ही कवि, दार्शनिक और पण्डित थे। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' जो उन्होंने लिखे हैं, वे उनके तलस्पर्शी पाण्डित्य का साक्ष्य भर रहे हैं। किन्तु उनके पाण्डित्य पर भी उनकी दार्शनिकता की छाप प्रायः सर्वत्र दिखलाई पड़ती है। प्रसाद द्वारा किये हुए रस सिद्धान्त के विवेचन को ही लीजिये। वैदिक काल के प्रारम्भ से ही वे आनन्द तथा विवेक की दो धाराएँ मानकर चले हैं। आनन्दवाद की धारा के प्रतीक थे इन्द्र तथा विवेकवाद की धारा के प्रतीक थे वरुण। परवर्ती काल के अनात्मवादी बौद्ध इसी विवेकवादी धारा को अग्रसर करने वाले हुए। आगे आने वाले भक्ति-सम्प्रदायों के सम्बन्ध में भी प्रसादजी की धारणा है कि वे अनात्मवादी बौद्धों के ही पौराणिक रूपान्तर हैं। अपने ऊपर एक त्राणकर्ता की कल्पना और उसकी आवश्यकता दुःखसंभूत-दर्शन का ही परिणाम है। उधर उपनिषदों में आनन्द-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई तथा साथ ही प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना की गयी जो आनन्द सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर तर्क के आधार पर विकल्पात्मक बुद्धिवाद का प्रचार हुआ, वहाँ दूसरी ओर प्रधान वैदिक धारा के अनुयायी आर्यों में आनन्द के सिद्धान्त का भी प्रचार होता रहा। आगे चलकर आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनन्द मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना पद्धति में प्रचलित रक्खा और इसे वे रहस्य-सम्प्रदाय कहते थे।

प्रसादजी ने आनन्दवादी तथा विवेकवादी दो धाराओं के आधार पर साहित्य की भी दो कोटियाँ स्थिर की हैं। रस-सम्प्रदाय को वे आनन्दवादी धारा से प्रभावित मानते हैं तथा अलङ्कार, रीति एवं वक्रोक्ति—सम्प्रदाय उनकी दृष्टि में विवेकवादी धारा से प्रभावित है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "इस प्रकार का श्रेणि-विभाग नया, विचारोत्तेजक और प्रसादजी की प्रतिभा का परिचायक है। हिन्दी के साहित्यिक और दार्शनिक क्षेत्रों में यह प्रायः अश्रुतपूर्व है।"

नाटकों में भरत के मत से चार ही मूल रस हैं—श्रृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स। इनसे अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी गयी। श्रृङ्गार से हास्य, वीर से अद्‌भुत, रौद्र से करुण और वीभत्स से भयानक। प्रसादजी के मतानुसार आनन्द सिद्धान्त के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्व-साधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्य-रसों की उद्भावना की थी। रसों का विवेचन भी अभेद और आनन्द को लेकर किया गया। भट्ट नायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट तथा सामाजिक एवं नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोक सामान्य प्रकाश—आनन्दमय आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई। भट्ट नायक ने साधारणीकरण व्यापार द्वारा जिस सिद्धान्त की पुष्टि की थी, अभिनवगुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वासनात्मक तथा स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा भेद विगलित हो जाने पर आनन्द-स्वरूप हो जाती है। उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है।"

भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र में कहा गया है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। प्रश्न यह है कि रस के रूप में निष्पन्न होने वाली वस्तु क्या है?

ऊपर अभिनव गुप्त के उद्धरण में स्पष्ट किया गया है कि रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा आनन्द स्वरूप हो जाती हैं, और ये वृत्तियाँ स्थिर या स्थायी भाव हैं जैसा कि अभिज्ञान शाकुन्तल के निम्नलिखित दार्शनिक छन्द से प्रकट है—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् ।
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ॥
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं ।
भावस्थिराणि जनन्तारसौहृदानि ॥"

इस सम्बन्ध में स्वयं भरत ने भी लिखा है—"विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावो रस नाम लभते" (नाट्य शास्त्र अ० ७) अर्थात् मुख्य स्थायी मनोवृत्तियाँ विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों के संयोग से रसत्व को प्राप्त होती हैं।

रसानुभूति किसे होती है? यह प्रश्न भी प्रसाद ने उठाया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "रसानुभूति केवल सामाजिकों में ही नहीं प्रत्युत नटों में भी है। हाँ, रस विवेचना में भारतीयों ने कवि को भी रस का भागी माना है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते हैं कि कवि में साधारणी भूत जो संवित है—चैतन्य है वही काव्य पुरस्सर होकर नाट्य व्यापार में नियोजित करता है, वही मूल संवित् परमार्थ में रस है। अब यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि रस विवेचना में संवित् का साधारणीकरण विवृत् है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एक रस हो जाता है।"

भारतीय साहित्य में दुःखान्त प्रबन्धों का निषेध क्यों किया गया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रसाद कहते हैं कि 'संभवतः इसीलिए दुःखान्त प्रबन्धों का निषेध भी किया गया क्योंकि विरह तो उनके लिए प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था। चिर विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा। अभिज्ञान शाकुन्तल इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।"

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद ने रस सिद्धान्त की अपने ढङ्ग से अनूठी व्याख्या की है। अभिनवगुप्त द्वारा किये हुए निरूपण का सर्वाधिक प्रभाव प्रसादजी की इस व्याख्या पर है। आनन्द-सिद्धान्त का काव्यात्मक रूप जहाँ प्रसादजी की 'कामायनी' में प्रकट हुआ है, वहाँ इस सिद्धान्त का सैद्धान्तिक विवेचन प्रसादजी के रहस्यवाद तथा रस सम्बन्धी निबन्धों में हुआ है।

महादेवी के जीवन दर्शन और काव्यकला पर परम्परा का प्रभाव

श्री शैलेन्द्र मोहन झा, एम० ए०

अरूप की आराधिका महादेवी का आधुनिक काव्य जगत में उत्कृष्ट स्थान है। अपने काव्य को वेदना की कल्याणी वाणी प्रदानकर उन्होंने जिस भावलोक की सृष्टि की है वह उनकी काव्य कला की अभिनव वस्तु है। श्रीमती महादेवी वर्मा जी का हिन्दी के कलाकारों में प्रमुख स्थान है। छायावाद के गिने चुने कवियों में उनकी गिनती है। उनके काव्य का स्वयं व्यक्तित्व है। उनकी जैसी कवयित्री पर परम्परा का बहुत बड़ा प्रभाव देखा जाता है और यह छायावाद के प्रति अज्ञात कुलशीलता का भ्रम करने वालों के लिए चुनौती है।

महादेवी के अनुभव और काव्य सृष्टि का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि उनमें अतीत का गहरा मोह है। वह निरपेक्ष होकर काव्य रचना नहीं करतीं। अतः उन परम्पराओं पर विचार करना अनिवार्य है जो उनकी काव्य सृष्टि को प्रभावित करती है और उन परिस्थितियों पर ध्यान देना समुचित है जिसमें उनकी भावधारा प्रवाहित होती है।

लेखक या कवि को यह गर्व रहता है कि उसकी रचना रूढ़ि ग्रस्त नहीं है और परम्परा की जञ्जीर से जकड़ी नहीं है। रूढ़ि बद्धता अवश्य बुरी चीज है और इसके अनुकरण से मौलिकता की हत्या होती है। पर परम्परा से सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक है। यदि व्यक्तिगत प्रतिभा की सहायता से उसे नवीन रूप दिया जाय तो वह वाँछनीय है। प्राचीन साहित्य से सम्पर्क बनाये रखने के विषय में Eliot ने एक स्थान पर कहा है—Not merely with his own generation at his bones but with the feeling of the whole of the literature of Europe from Homar and within the whole of the litera. ture of his own country has a simultaneous order.

प्राचीन साहित्य से उसी प्रकार सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए जिस प्रकार युग से। महादेवी का काव्य हमारे प्राचीन गौरवमय साहित्य का विशेष ऋणी है। उनका दर्शन, उनकी भावधारा, उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति, सभी पर परम्परा की मुहर लगी है—और इसे महादेवी ने भी माना है।

महादेवी का जीवन दर्शन शिराओं में बहने वाले रक्त के समान उनके काव्य में सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है। इस क्षेत्र में उन्होंने परम्परा से प्रेरणा प्राप्त की। साहित्य का मूल उत्स वैदिक साहित्य से प्रारम्भ करने पर देखते हैं कि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से महादेवी पर इसका प्रभाव है।

महादेवी रहस्यवादी कवि हैं। आज हम रहस्यवाद के जिस रूप को ग्रहण कर रहे हैं वह परम्परा से आती विभिन्न विचारधाराओं की विशेषताओं से समृद्ध है। 'उसने परा विद्या से पार्थिवता ली, वेदान्त से अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भावसूत्र में बाँधकर तथा प्रेममार्गी सूफी सन्तों के प्रेम से अतिरञ्जित होकर अपने कलात्मक रूपमें महादेवी के काव्य में अवतरित हुआ है।

महादेवी ने अपनी कविता में जो प्रकृति की चारु चित्रशाला सजा दी है, उसकी आत्मा में जो परमात्मा का आभास पाया है वह वैदिक साहित्य के अन्तःस्पर्श से 'प्रकृति के अस्त व्यस्त सौन्दर्य में रूप प्रतिष्ठा, बिखरे रूपों में गुण प्रतिष्ठा, इनकी समष्टि में एक व्यापक चेतना की प्रतिष्ठा और अन्त

में रहस्यानुभूति का जैसा क्रम बद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।'

महादेवी का सारा काव्य प्रकृति के चेतन संस्पर्श से अनुप्राणित है। प्रकृति के प्रत्येक उपकरण में वह अपनी प्राण चेतना के समान एक प्राण चेतना अभिभूत देखती है और अपनी आत्मीयता की बाँहें बढ़ा उसे अपना लेती है। समस्त प्रकृति में अपने प्राणों की प्रवेग पयस्विनी देख उसमें निर्माण-कर्त्ता एवं नियन्त्रणकर्त्ता की पुनीत प्रतिमा देखती है।

पुष्प में है अनन्त मुसकान।
त्याग में है मारुत का गान॥
सभी में है स्वर्गीय विकास।
वही कोमल कमनीय प्रकाश॥

जैसा कि सुश्री महादेवी वर्मा ने कहा है, छायावाद का मूलदर्शन सर्वात्मवाद है, प्रकृति के अन्तर में प्राणचेतना की भावना करना सर्वात्मवाद की ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक ऋचाओं से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृति में स्पन्दित जीवन चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अति प्राचीन है।

सभी छायावादी कवियों ने इसका अध्ययन किया होगा। यह नहीं भी माना जाय, पर इतना तो निश्चित सा है कि रवीन्द्रनाथ के माध्यम से उन पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा है। महादेवी ने इसे साधना या ज्ञान के सहारे भले न प्राप्त किया हो, पर उनकी जो सहज अनुभूति है, परम्परा का प्रभाव है, वह उनकी वाणी में मुखरित है।

ऋचाओं का गम्भीर प्रश्न जो उपनिषद के ज्ञान समुद्र में मिलकर लहर-मात्र बन कर रह गया, महादेवी की हृदय सरिता में, उसकी नन्हीं-नन्हीं ऊर्मियों ने भावना का कोलाहल भर दिया है और अपनी विविधता के साथ भारतीय दर्शन परम्परा महादेवी में परिलक्षित होती है। एक स्थान पर महादेवीजी लिखती हैं–'सखे! यह है माया देश।' 'संसार की अस्थिरता, क्षण भंगुरता, निष्ठुरता निर्ममता उसके स्वार्थ और विश्वासघात का प्रतिपादन दार्शनिक तथ्य के गूढ़ चिन्तन का ही फल है।'

जैसा कि अद्वैतवादियों का कहना है यह दृश्य-जगत मिथ्या है और एक मात्र ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। एक बार वह अद्वितीय ब्रह्म एकाकीपन से अकुला उठा और फिर इस विश्व की रचना की।

हुआ त्यों सूनेपन का भान
प्रथम किस के उर में अम्लान
और किस शिल्पी ने अनजान
विश्व प्रतिमा कर दी निर्माण?

इस सृष्टि के पूर्व इस संसार का कोई अस्तित्व नहीं था—न स्यते पूर्व मसमेव महादेवी ने भी इस कथन को स्वीकार किया है—

न थे जब परिवर्त्तन दिन-रात
नहीं आलोक तिमिर थे ज्ञात
व्याप्त क्या सूने में सब ओर
एक कम्पन की एक हिलोर

इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता स्थापित करने के लिए महादेवीजी ने चन्द्रमा और उसकी किरणों का उदाहरण दिया है—

मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश।

उसी प्रकार 'आत्मा को इन्द्रियों का लय स्थान मानकर प्रश्नोपनिषद में सूर्य और उसकी मरीचियों द्वारा समझाया गया है कि जैसे स्वप्नावस्था में सारी इन्द्रियाँ मन में लीन रहती हैं और जाग्रतावस्था में सक्रिय हो जाती है, उसी प्रकार सृष्टि काल में हम किरणों के समान उस पुरुष दिवाकर से पृथक होकर भी उसके निष्क्रियकाल में उसी में लीन रहते हैं।

अनेक स्थलों पर महादेवीजी ने प्रियतम को हृदय में बसा हुआ बताया है—

(१) वह गया बँध लघु हृदय में
(२) मेरे ही मृदु उर में हँस-बस

(३) प्रिय मुझी में खो गया
अब दूत को किस देश भेजूँ।

उपनिषद में भी उस पुरुष का निवास-स्थल अन्तःकरण में ही बताया गया है—

इहै वान्तः शरीरे सौम्य स पुरुषः

विश्व की नश्वर पार्थिवता ने उस अव-निश्वर के लीलामय चरणों के प्रति लोक जीवन में एक विरह की सृष्टि कर दी है, मानो प्रत्येक की आत्मा इन्द्र-कला की तरह भूतल पर बिछुड़ पड़ी हो और वह सदा स्मरण करती हो—

'कहाँ से आयी हूँ कुछ भूल'

इस बिछुड़न के कारण ही प्रत्येक का जीवन विरहमय हो गया है—

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास;
अश्रु गिनता दिवस इसका अश्रु, गिनती रात
जीवन विरह का जलजात।

इस पारलौकिक विरह को रहस्यात्मक संस्पर्श न भी मानें, उसे उनके अध्ययन का ही प्रसाद समझें फिर भी यह मानना पड़ेगा कि महादेवी ने उसी अनुभूति के आधार पर पारलौकिक विरह की अभिव्यक्ति की है। वेदों और उपनिषदों का उन्हें कितना गहरा अध्ययन है यह तो इसी से समझा जा सकता है कि उन्होंने बहुत-सी ऋचाओं का सफल अनुवाद भी किया है। और सफल अनुवादक की अनुभूति मूल लेखक से भिन्न नहीं हुआ करती है।

जिस प्रकार कबीर ने आत्मा को प्रेयसी और लीलामय परमात्मा को प्रियतम मानकर अपनी वाणी की वीणा बजायी थी, उसी प्रकार उसी वीणा का स्वर महादेवी जी की कविताओं के भीतर भी ध्वनित है। परन्तु कबीर की वाणी ज्ञान प्रधान थी, भाव-प्रधान नहीं। मीरां ने उसे भाव प्रधान बनाकर करुण मधुर कर दिया था। महादेवी जी ने कबीर की निर्गुण उपासना में मीरा की मधुर उपासना का समावेश कर उसे अपनी कविताओं में प्रतिफलित किया है।

हाँ, मीरा की उपासना 'गिरिधर गोपाल' में केन्द्रित थी, किन्तु महादेवी ने चतुर्दिक प्रकृति से रूप रङ्ग लेकर उसे अपने हृदय में कुछ और ही स्वरूप दे दिया है। मीरा ने जिस प्रकार अपने उपास्य के लिए आवेदन क्रन्दन किया उसी प्रकार महादेवी ने भी किया है। अन्तर इतना ही है कि मीरा रूप की साधिका है और महादेवी अरूप की आराधिका।

इसी प्रकार जायसी की परोक्षानुभूति चाहे जितनी ऐकान्तिक रही हो, किन्तु उनकी मिलन विरह की मधुर और मर्मस्पर्शिनी व्यञ्जना उनकी अलौकिक कलारूप सप्राणता से महादेवी का पूर्व परिचय है।

महादेवी का दुखवाद उनके जीवन दर्शन की महत्वपूर्ण वस्तु है। रश्मि की भूमिका में कवयित्री ने इस ओर संकेत किया है। उसे हम बचपन के प्यार दुलार की प्रतिक्रिया न भी माने पर वेदना के प्रति उनकी आसक्ति बचपन से ही थी यह उनके वक्तव्य के आधार पर कहा जा सकता है। उन्होंने कहा है—"बचपन से ही मुझे भगवान बुद्ध के प्रति अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुखात्मक समझने वाली फिलासफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।"

बुद्ध की करुणा में प्राणिमात्र का क्रन्दन है। महादेवी ने इसको अपनी परिधि में सीमित कर काव्यगत वेदना का रूप दे दिया है—

रजत रश्मियों की छाया में,
धूमिल घन सा वह आता।
इस निदाघ से मानस में,
करुणा का स्रोत बहा जाता।
उसमें मर्म छिपा जीवन का,
एक तार अगणित कम्पन का।

एक सूत्र सबके बन्धन का,
संसृति के सूने पृष्ठों पर,
करुण काव्य वह लिख जाता।

इस दुखवाद को महादेवी ने एक समृद्ध परम्परा से प्राप्त किया है जो उनकी रचना के लिए कल्याणकर ही नहीं, भावुककता से प्रेरित, अवास्तविक होने के कारण इनका दुख अन्य की भाँति विनष्ट नहीं हो जाता।

इस प्रकार महादेवी का जीवन दर्शन, उनकी भावधारा जैसा कि उन्होंने कहा है—"मूलतः नवीन नहीं है। क्योंकि इसका कहीं प्रगट, कहीं छिपा हुआ हम अपने साहित्य की सीमान्त रेखा तक पाते हैं। कारण स्पष्ट है—किसी भी जाति की विचार सरणि, भाव पद्धति, जीवन के प्रति इसका दृष्टिकोण आदि उसकी संस्कृति से प्रसूत होते हैं।"

महादेवी की रहस्यभावना पर कुछ और प्रभाव कहे जा सकते हैं। धर्म में आर्य समाज के प्रभाव ने विज्ञान और वर्त्तमान बुद्धि प्रधान शिक्षा के सहयोग से पढ़े लिखों के हृदय में अवतार वाद की भावना को शिथिल कर दिया। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के वेदान्तसम्बन्धी व्याख्यानों ने तो रहस्यवाद की आधार शिला का काम दिया। उस समय रवीन्द्र की अलौकिक प्रखर रहस्यमयी किरणें बिखेर चुकी थी। महादेवी पहिले अपने अन्तर का कौतूहल लेकर खड़ी हुईं। संस्कृत के दार्शनिक ग्रन्थों ने उन्हें इस ओर और भी आकर्षित किया। बीच बीच में संसार का जो असुखद अनुभव हुआ उसका प्रतिवर्त्तन उन्हें अतीत वेग से रहस्यवाद की ओर ले गयी।

महादेवी की कविता गीति काव्य के स्वरों से है। गीतों की परम्परा सीधे वेदों से स्थापित की जा सकती है। गीतकाव्य की यह धारा साहित्य में सतत् प्रवाहित होती रही। महादेवी ने भी इसे परम्परा से प्राप्त किया है। जैसा कि वे कहती हैं—'शैशव से ही मैं गीतों के संस्कार में पली हूँ। माँ की भावमयी गीताञ्जलियाँ, घर में जन्म आदि अवसर पर गायी जाने वाली गीति कथायें, परिचारिकों के ऋतु पर्व आदि से सम्बन्ध रखने वाले लोकगीत, कलाविदों का ध्वनिसंगीत, प्राचीन ज्ञान और सौन्दर्य द्रष्टाओं के वेद छन्द, माधुर्य भरे संस्कृत और प्राकृत पद और पिछले उनके वर्षों से सुने ग्रामगीत सबकी के प्रति स्वाभाविक आकर्षण रहा है। मेरे ये गीत आध्यात्म के अमूर्त्त आकाश के नीचे लोकगीतों की धरती पर पले हैं।"

आलोचना

सटीक कबीर वचनावली—सम्पादक श्री तेजनारायण टण्डन तथा श्री योगेन्द्रनाथ शर्मा 'मधुप' प्रकाशक–विद्यामन्दिर, रानी कटरा, लखनऊ। पृष्ठ ११२, मूल्य २॥)

पुस्तक के आरम्भ में १८ पृष्ठों की एक प्रस्तावना है जिसमें कवि का परिचय दिया गया है। आरम्भ के ६४ पृष्ठों में कबीर के ७८१ दोहे दिये हुये हैं; 'परिशिष्ट' के शेष पृष्ठों में मुख्य मुख्य शब्दों के अर्थ तथा दोहों की व्याख्या है। कुछ शब्दों के अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं :—

गौन = शरीर (नोन गला पानी मिला, बहुरि न भरिहै गौन दोहा ५२)

बाहिरी = बाहरवाला अर्थात् मूर्ख परखनहारा बाहिरी, कौड़ी बदले जाय दोहा २०८)

दाझना = झोंकना (आठ पहर का दाझना मो पै सहा न जाय दोहा १५८)

'गौन' शब्द हिन्दी शब्दसागर में संस्कृत 'गोणी' से व्युत्पन्न बतलाया गया है। 'टाट' कम्बल या चमड़े आदि की बनी हुई उस खुरजी को 'गौन' कहते हैं जिसमें दो ओर अनाज आदि भरने का स्थान होता है और जो भर कर बैलों की पीठ पर रखी जाती है। लादने पर इसका एक भाग बैल के एक तरफ और दूसरा दूसरी तरफ रहता है। २०८ के दोहे में 'बाहिरी' शब्द 'बिना' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'दाझना' शब्द भी 'झोंकना' के अर्थ में नहीं, 'जलना' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्रेस की अशुद्धियाँ भी अनेक स्थानों पर हैं। दोहों के पाठ में भी पर्याप्त सावधानी से काम नहीं लिया गया है। कहीं कहीं किसी दोहे की व्याख्या भी छूट गई है। —कन्हैयालाल सहल

विद्यापति की अमर काव्य—सम्पादक–श्री गुणानन्द जुयाल एम० ए०, प्रकाशक–साहित्य निकेतन, कानपुर। पृष्ठ १६०, मूल्य २)

विद्यापति के १०० विशिष्ट पदों का इस पुस्तक में संकलन किया गया है। इनमें कुछ पद विनय के, शेष शृङ्गार के हैं। प्रारम्भ में विद्यापति के जीवन स्थान आदि का परिचय और उनकी कृति की विस्तृत आलोचना है अन्त में २६ पृष्ठ की टिप्पणियाँ हैं। विद्यापति का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के लिए पुस्तक उपादेय है।

कामायनी समालोचना—लेखक–श्री ब्रजलाल वर्मा एम० ए०, प्रका०–सहयोगी प्रकाशन कानपुर, पृष्ठ १८०, मूल्य २॥)

इस युग की महाकृति 'कामायनी' पर अब तो लगभग एक दर्जन पुस्तकें निकल चुकी हैं। सभी पुस्तकों में विभिन्न दृष्टिकोणों से 'कामायनी' की चर्चा है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने दस अध्यायों में कृति के विभिन्न रूपों की आलोचना की है। अध्यायों के शीर्षक हैं—कविता, कामायनी की कथा, चरित्र विधान, मनोवेग सिद्धि और आनन्द आदि। कामायनी के विद्यार्थियों के लिए पुस्तक छापी गई है।

पद्मावती समय—सम्पादक–श्री विश्वनाथ गौड़ एम० ए०, प्रकाशक–साहित्य निकेतन कानपुर। पृष्ठ ८५, मूल्य १।)

पृथ्वीराज रासो का 'पद्मावती समय' कई परीक्षाओं में है। इस ग्रन्थ की वैसे भी बड़ी चर्चा रहती है। प्रस्तुत पुस्तक में मूल कृति के साथ उसकी टीकाएँ और टिप्पणियों के अतिरिक्त रासो का परिचय और समीक्षा भी है। परीक्षोपयोगी एक प्रश्नावली भी दे दी गई है।

नूरजहाँ-समीक्षा—लेखक-श्री ब्रजलाल वर्मा एम० ए०, प्रकाशक-सहयोगी प्रकाशन, कानपुर। पृष्ठ १३०, मूल्य १॥)

श्री गुरुभक्तसिंह कृत नूरजहाँ आज कई जगह परीक्षाओं में स्वीकृत है। इस पुस्तक में उसीका आलोचनात्मक परिचय है। इसके पढ़ने से नूरजहाँ के कथानक का परिचय मिलता है, साथ ही कवि का भी। विभिन्न रूप में कृति की परीक्षा भी हो जाती है। विद्यार्थियों के हित से पुस्तक लिखी गई है और उनके काम की है।

निबन्ध

दृष्टिकोण—लेखक-श्री विनयमोहन शर्मा, प्रकाशक-नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस। पृ० २०२, मूल्य ४)

प्रस्तुत पुस्तक में श्री शर्माजी के ३२ निबन्धों का सङ्कलन है। कुछ निबन्धों में साहित्यिक सिद्धान्तों और वादों की चर्चा की गई है तथा कुछ निबन्धों में हिन्दी साहित्य की कतिपय प्रसिद्ध पुस्तकों को लेकर व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। शर्माजी ने स्वयं इन निबन्धों को लघु निबन्धों का नाम दिया है किन्तु 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' तथा 'अभिव्यञ्जनावाद' जैसे कुछ निबन्ध तो इतने संक्षिप्त हो गये हैं कि वे लघुता की अवांछनीय सीमा का स्पर्श करते हुए जान पड़ते हैं। वैसे समस्त पुस्तक परीक्षार्थी छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। 'कृष्णायन', 'उद्धवशतक', 'लहर', 'यशोधरा', 'अप्सरा', विद्यापति की पदावली' आदि अनेक ग्रंथों की समीक्षा इस पुस्तक में एक साथ देखने को मिल सकेगी। पुस्तक की छपाई-सफाई और गेट-अप सुन्दर है।

धर्म और संस्कृति—सङ्कलन कर्ता-श्री जमनालाल जैन, प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल, वर्धा। पृ० १४३, मूल्य १।)

प्रस्तुत पुस्तक में धर्म और संस्कृति पर अनुभवी सन्तों और विद्वानों के चिन्तनपूर्ण विचारों का सङ्कलन है। श्री मशरूवाला, जैनेन्द्र, विनोबा, भदन्त कौशल्यायन के आदि विचारोत्तेजक निबन्धों से सांस्कृतिक विकास की बलवती प्रेरणा मिलती है। वर्तमान सङ्घर्षशील युग में इस प्रकार की रचनाएँ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगी। यह हर्ष की बात है कि पुस्तक का मूल्य भी कम ही रखा गया है। पुस्तक सभी के लिए उपादेय है।

—कन्हैयालाल सहल एम० ए०

धर्मनीति—लेखक-महात्मा गाँधी, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ २५१, सजिल्द, मूल्य २)

महात्मा गाँधी के धर्म और नीति सम्बन्धी लेखों का इस पुस्तक में संग्रह किया गया है। मण्डल ने इन लेखों को पहले चार छोटी छोटी पुस्तकों में नीति-धर्म, मङ्गल प्रभात, सर्वोदय, और आश्रमवासियों से—के नाम से प्रकाशित किया था। इस पुस्तक में इन चारों पुस्तकों को एक जगह कर दिया गया और इस प्रकार अब यह पुस्तक गाँधजी के धर्म सम्बन्धी विचारों को जानने के लिए एक अच्छी पुस्तक बनगई है। पुस्तक में कुल ५० लेख हैं जो सभी पढ़ने और आचरण करने योग्य है। आज की नैतिकता और अनुशासन हीन समाज में ऐसी पुस्तकों का जितना प्रचार हो अच्छा है। —म०

कविता

अग्नि शस्य—लेखक-श्री नरेन्द्र शर्मा, प्रकाशक-भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ १२६, मूल्य २॥)

'अग्नि शस्य' नरेन्द्र की नई कविताओं का संग्रह है। काल-क्रम की दृष्टि से इसमें १९४६ से १९५०

तक के गीत संकलित हैं। यह समय भारतीय इतिहास का संक्रान्ति-काल है। युग-युग की यंत्रणा से निस्तार पाने के लिए राष्ट्र की चेतना ने जो प्रयत्न किया है उसे तो इन कविताओं में स्वर मिला ही है, पर यंत्र-युग की सभ्यता से मानव जीवन में जो घुटन पैदा हो गई है उससे त्राण पाने की आकांक्षा भी इसमें प्रकट हुई है। कवि अनुभव करता है कि सर्व लङ्का और अणु-माया से विश्व आज भी आक्रान्त है और रावण की कैद में भूमिजा-मानवता-त्रस्त। किन्तु उसे विश्वास है कि विगत युगों की विकृत अभावों के विस्फोटक शीघ्र फूटेंगे—

आज परिणति पा रहे हैं जन्म जन्मान्तर,
यह युगान्तर है, न सद लघु एक भय-कातर।

इस संग्रह में नरेन्द्र की वाणी ने जो आस्था ग्रहण की है वह निसंदेह मङ्गल-विधायिनी है। उसके सामने आज दो तत्व प्रधान हैं—मिट्टी और तेज। मिट्टी की जड़ता में जग की जड़ें जमती हैं और महाप्राय ज्योति के संस्पर्श-संघात से जीवन-अंकुर फूट निकलते हैं। अतः भूरज और सूरज में ही सृष्टि का मङ्गल-विधान है। अग्नि-शस्य की यही सार्थकता है—

वह चिर अभिनव, चिर पुराचीन,
वह सृजन शक्ति का आदि-बिन्दु।
वह महा-प्राण, तेजस महान
बुद्-बुद् रवियों का ज्योति सिन्धु।

कविताओं का यह एक वर्ग है। इसी वर्ग में कुछ प्रशस्तियाँ भी हैं जो कवि ने निराला, नेहरू, पटेल, तमिल-कवि भारती आदि की प्रति लिखी हैं, कुछ स्तवन भी हैं जो 'आह्वान' 'प्रणाम' आदि में जीवन तत्वों के प्रति व्यक्त हैं। इनके परे एक दूसरा वर्ग है जहाँ कवि की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है। इस वर्ग की कविताओं में उसके जीवन के कुछ ऐसे रूप स्पंदित हैं जिनकी अभिव्यक्ति में कवि का मोह फूटा पड़ता है। उसके मानस में स्वर-रूप रङ्ग-रस बन कर जो सुहासिनी लहरा रही है, वह उसकी 'रश्मि शरीरा' सहचरी है। अब नारी के प्रति कवि का दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ है—रूप-ग्रस्त युवक की पीड़ित दुर्बलता का वहाँ अब आभास भी नहीं रह गया है। कवि जानता है कि वह नारी महान् है, एक दिन यम पाश से लकड़हारे पुरुष को उसमें मुक्ति दी थी, उसमें पुनः चैतन्य लपट बनने की सामर्थ्य है—

बनो पुनः चैतन्य लपट।
ओ भस्मावृत्त चिनगारी॥

'अग्नि शस्य' नरेन्द्र की अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। 'ऊर्ध्व-संचरणशील शिखी' की वन्दना करने वाले कवि की इस कृति का हम स्वागत करते हैं।

—प्रो० मोहनलाल

मौन के स्वर—लेखक-श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह। प्रकाशक-मानस-मन्दिर, जबलपुर। पृष्ठ ६१, मूल्य ||)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने ६५ संलापों का संग्रह किया है। इन संलापों में जीवन को सार्थक बनाने वाली भावनाओं के स्वरूप को मूर्त रूप देने के लिए लेखक ने अधिकांश अचेतन वस्तुओं को चुना है। दो अचेतन पदार्थों के संलाप से अनेक मानवीय भावनाओं का उद्घाटन हुआ है। इन संलापों में कुछ छोटे हैं कुछ बड़े, हैं पर सब ऐसे जो एक विचार, एक भावना देते हैं। हम इन्हें गद्यकाव्य का एक नया रूप कह सकते हैं। उदाहरण के लिए 'छिद्रान्वेषण' नामक संलाप लीजिए—

चलनी ने सूप से कहा—
'तुम असार वस्तु को ग्रहण कर,
सार को फटक डलते हो।'

सूप ने कहा—"जरा अपने छिद्रों की ओर तो देखो, फिर दूसरे के दोष निकालना।"

श्री सियारामशरण गुप्त ने 'दो शब्द' में ठीक ही लिखा है कि व्योहार राजेन्द्रसिंह इस रचना में कवि इस दृष्टि से हैं कि किसी से बात करने में उन्हें

संकोच नहीं होता, और द्रष्टा इस दृष्टि से है कि सबको आत्मीयता देकर भी तत्वसंचय में असावधान कहीं दिखाई नहीं पड़ते। दृष्टि उनकी जागरूक है और अवश्य सन्नद्ध। उनका सारा वातावरण सप्राण है।

रचना पठनीय और विचारादि दोनों दृष्टि से उत्तम है।

वीर वचनावली—लेखक-भाई वीरसिंह। प्रकाशक-भाई वीरसिंह अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, पोस्ट बॉक्स नं० ३६२ नई दिल्ली। पृष्ठ ९५।

भाई वीरसिंह पञ्जाबी के सर्व-श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उन्होंने आधुनिक पञ्जाबी कविता में नए भावों और नई कल्पनाओं को ही जन्म नहीं दिया, उसको नई वेश-भूषा और नई कला भी दी है। उनकी कविताओं में सन्त कवियों की आत्मा बोलती है। कवित्व और दर्शन का ऐसा सुखद संयोग अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। कल्पना की उड़ान भी कहीं-कहीं ऐसी है, जो कवि की प्रतिमा के अद्भुत्य का प्रमाण है। 'गाँधीजी' शीर्षक कविता में करुण रस लबालब भरा है। एक स्थान पर पिस्तौल बेचने वाला इस प्रकार शोक करता मिलता है—

"काश।
मैं कदे न घड़दा।
जो मैनूँ पता हुन्दा
कि मेरे घड़े पिस्तौल,
नूं !

'जगत विख्यात' दा घात करना है,
मैं तैनूँ कदे न घड़दा॥
मेरे हत्थे निकले पिस्तौल।
मैं तैनूँ कदे न घड़दा॥

(मेरे हाथ से निकले पिस्तौल, यदि मुझे पता होता कि तू 'विश्व विख्यात' व्यक्ति का खून करेगा तो मैं तुझे कभी न बनाता)

पाद टिप्पणियों में पञ्जाबी के भाव स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है फिर भी हिन्दी पाठक के लिए हिन्दी में इनका अनुवाद आवश्यक है। यों रसा-स्वादन करने वाला पाठक इस रूप में भी रस प्राप्त कर सकता है।

—कमलेश

कहानी

जय दोल—लेखक-श्री अज्ञेय, प्रकाशक-प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ १६८, मूल्य ३)

'जयदोल' में अज्ञेय की ११ कहानियाँ सङ्कलित हैं। इन कहानियों में लेखक की कलात्मक रुचि विविध नवीन रूपों में प्रकट हुई है। अज्ञेय के विस्तृत देशाटन और युद्ध कालीन अनुभवों ने इन कहानियों में एक अनोखा आकर्षण भर दिया है। इस संग्रह की कम से कम तीन कहानियाँ—पठार का धीरज, आदम की डायरी और जयदोल कला और टेकनीक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। पुस्तक के आरम्भ में जो एक वाक्य लेखक ने लिखा है—'यह साक्षी हो कि पठार के तीतरों को नाम पुकारते मैंने भी सुना है'—उसका सत्य इन कहानियों से प्रकट है। पठार के तीतर जो नाम पुकारते हैं उनकी ध्वनि इन कहानियों की गूँज है। अज्ञेय की अवचेतन जो रोमांटिक झलमल है वही इस कहानी-संग्रह का प्राण है। अतः जीवन की व्यग्रता और विभीषिका के परे वहाँ मन का प्रपीड़न और आवेग ही संगृहीत मिलेगा। जिसे अज्ञेय कहानी में 'एक दौड़ती लहर का गति-चित्र मानता है वह मन के इसी रूप का, इसी मनःस्थिति का गति-चित्र है। इसकी अभिव्यञ्जना में वह अत्यन्त कुशल है, कारण उस गति-चित्र की बारीकियों को पकड़ने और स्पष्ट करने की उसमें क्षमता है। 'आदम की डायरी' में पत्ता लेटी है और निकट है आदम। अज्ञेय लिखता है—"....और उसके दबाव से शरीर भी जैसे टूटते से थे, थकित चकित क्लांत से होते थे पर फिर भी ढीलना नहीं चाहते थे, तने ही तने रहना चाहते थे, अर्थात, अश्लथ, खण्डित, असंकुचित, अपरावृत्त...."।

इन कहानियों में अज्ञेय का जीवन के प्रति आकर्षक सञ्चित है। उसने इनके वातावरण में

सौन्दर्य के साथ अनोखापन संयोजित किया है। ये कहानियाँ एक कुशल टेकनिशियन की बारीक कला-कृतियाँ हैं।

मारने की हिम्मत—ले० महात्मा भगवानदीन, प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल, वर्धा। पृष्ठ ११८, मूल्य १)

इस पुस्तक में भोजी, ईंट की चोरी, साड़ी आदि ग्यारह कहानियों का संग्रह है। यह सभी कहानियाँ चरित्र को उन्नत करने वाली हैं और मनोवैज्ञानिक कहानियों की श्रेणी में आती हैं। महात्माजी बड़ी शुद्ध सरल व सीधी भाषा लिखते हैं। उनकी शैली बड़ी हृदयग्राही है। डॉ० हीरालाल के शब्दों में "ये कहानियाँ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की कसौटी पर पूरी उतरती हैं, यह ऐसी कहानियाँ हैं, जिन्हें बाल वृद्ध, स्त्री और पुरुष सभी को निस्संकोच पढ़ने की प्रेरणा कर सकता हूँ।"

पाषाण नगरी—लेखक-श्री शिवसहाय चतुर्वेदी, भूमिका लेखक-डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक-राजकमल पब्लिकेशन्स दिल्ली। पृ० २०३, मू० ३।।)

प्रस्तुत पुस्तक बुन्देलखण्ड की १७ लोक-कहानियों का संग्रह है। हिन्दी के राष्ट्र भाषा बनने पर हमारा यह उत्तर दायित्व हो जाता है कि साहित्य के सर्वांगीण विकास के लिए जनपदीय साहित्य और लोक-वार्त्ताओं के अधिक से अधिक संग्रह प्रकाशित किए जायँ। इस पुस्तक में लोक-कथाओं का अत्यन्त सुचारु रूप से सङ्कलन किया गया है। कथाएँ रोचक ढङ्ग से और सुबोध भाषा में लिखी गई हैं कहानियों की वातावरण-सृष्टि में चतुर्वेदीजी की सफलता असंदिग्ध है। प्रत्येक कथा के आरम्भ में जो टिप्पणी दी गई है उससे और वासुदेवशरणजी की गम्भीर भूमिका से पुस्तक की उपादेयता बढ़ गई है। ऐसी पुस्तकें संग्रहणीय हैं।

नीराजन—लेखक-श्री यदुनन्दन साहित्यालङ्कार, प्रकाशक-सुन्दर प्रकाशन, कदम कुँआ पटना—३। पृष्ठ ७२, मूल्य १।।)

'नीराजन' लेखक की 'मर्म स्पर्शी अठारह मनोवैज्ञानिक' कहानियों का संग्रह है। लेखक ने अपनी ओर से यह निवेदित किया है कि पाठक इन कहानियों में किसी नवीन कला का आग्रह न ढूँढें और न किसी खास बारीक टेकनीक को देखने की कोशिश करें। पर अनजाने ही लेखक एक नवीन कला एक नवीन टेकनीक को अपना लेता है—वह है स्केच कला, स्केच टेकनीक। अतः इस संग्रह की कहानियाँ प्रायः कहानियाँ न हो कर स्केच हैं। क्रैक माइंडेड, कलाकार, नया समाज, शीला, अभिनेत्री आदि स्केच हैं और जहाँ तक स्केचों का सम्बन्ध है वे सुन्दर हैं, पर उनके चारों ओर जो कहानी बाँधने का प्रयास किया गया है, वह किसी-किसी स्थान पर भले ही सध गया हो, अन्यथा स्केच की सुन्दरता पर वह हावी है। लेखक में अनुभूति की सजगता और धरती का यथार्थ है। वह स्केच से कहानी की ओर बढ़ सकता है।

मुक्ताहार—लेखक-श्री बैजनाथ राय, प्रकाशक-भारती भवन, सोहांव, बलिया। पृ० १५८, मूल्य २)

पुस्तक लेखक की नौ कहानियों का संग्रह है। अन्तिम कहानी के नाम पर पुस्तक का नामकरण हुआ है। उसमें लेखक उषा के गले में शिशिर के द्वारा मोतियों का हार पहनाता है—पहले स्वप्न में ओस के मोतियों का, बाद में सच्चे मोतियों का। मोतियों की सार्थकता कहानी संग्रह के लिए 'मुक्ताहार' हो जाती है।

लेखक की इन कहानियों के सम्बन्ध में पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर लिखा हुआ है—'लेखक की चुनी हुई सामाजिक, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक नव-नवीन मौलिक कहानियों का संग्रह।' इतनी बड़ी विज्ञप्ति से आक्रान्त न हो कर जब पाठक कहानियों को पढ़ता है तो उसे लगता है जैसे लेखक इन समस्याओं को छूते-छूते विह्वल हो उठा है, और विह्वलता ऐसी जिसके साथ समस्याएँ मेल नहीं खातीं। कारण यह है कि लेखक मूलतः समस्याओं का

लेखक नहीं, मनः स्थितियों का लेखक है। उसकी भावुकता समस्या से जूझ नहीं पाती। फिर भी कहानियों में सार्थकता है, कारण वहाँ लेखक का आग्रह है। उसमें कहानी कहने की रुचि है।

गङ्गा किनारे—लेखक-हरिवल्लभ बी० ए० साहित्यरत्न, प्रकाशक-संस्कृति-सदन, कोटा। पृष्ठ १००, मूल्य १)

पुस्तक में लेखक की नौ कहानियाँ संग्रहीत हैं। क्रम के अनुसार दूसरी कहानी के नाम पर पुस्तक का नामकरण किया गया है। वह संग्रह की एक सुन्दर कहानी है पर उससे भी सुन्दर कहानियाँ संग्रह में हैं। अतः नामकरण में लिए किसी विशेष कारण को नहीं ढूँढना चाहिए।

इस संग्रह की कहानियाँ प्रायः सामाजिक स्तर पर खड़ी हैं, यद्यपि उनमें व्यक्ति की चरित्रगत् विशेषताओं की भी बात कहने का प्रयत्न किया गया है। पहाड़ी, लजवन्ती आदि के चरित्र-चित्रण में लेखक को विशेष सफलता मिली है। घटनाओं और परिस्थितियों के घात-प्रतिघात को प्रकट करने में भी वह कुशल है इन सबसे अधिक उसमें कहानी कहने की लगन है। यह आशा की जा सकती है कि यह लगन भविष्य में अधिक समर्थ होगी।

—मोहनलाल एम० ए०

जीवनी-संस्मरण

मेरे साथी—लेखक-महात्मा भगवानदीन, प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल वर्धा। पृष्ठ १२७, मूल्य १)

इस पुस्तक को पढ़कर हमें २५ वर्ष पहले की याद आई। महात्मा भगवानदीनजी उन दिनों एक कर्मठ कार्यकर्त्ता थे (यद्यपि आज भी वे अकर्मण्य नहीं हैं)। महात्माजी ने अपने समय के आठ विशिष्ट व्यक्तियों के सम्बन्ध में अपने संस्मरण लिखे हैं। इन आठ में से एक जैनेन्द्रकुमारजी को छोड़कर बाकी सभी दिवंगत हो चुके हैं। भाई अजित प्रसादजी का स्वर्गवास अभी गत वर्ष हुआ है और उनके आत्म-चरित्र की चर्चा हम इसी अङ्क में अन्यत्र कर रहे हैं। श्री अर्जुनलाल सेठी को कौन नहीं जानता, गुरु गोपालदासजी जैसा संयमी व्यक्ति मिलना कठिन है, बा० दयाचन्द गोयलीय बड़े ही कर्त्तव्यनिष्ठ समाज सुधारक थे, श्री जुगमन्दरलालजी बैरिस्टर ने अपने जीवन भर जैन सिद्धान्तों का प्रचार किया और मरते समय अपनी सारी सम्पत्ति इसी के लिए अर्पण कर गए। श्री वीरचन्द्र गांधी विदेशों में प्रचार करने वाले सच्चे भारतीय थे। श्री रामदेवी बाई, महात्मा जी की बहिन और बाल जैनेन्द्र (हिन्दी के ख्याति-प्राप्त लेखक श्री जैनेन्द्रकुमार) उनके भानजे हैं। श्री रामदेवी बाई सम्बन्धी लेख इन संस्मरणों में सबसे बढ़ा है जो चरित्र उत्थान के लिए बड़ा सहायक होगा।

—म०

एक आदर्श महिला—लेखक-श्री विनायक तिवारी, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली। पृष्ठ ६२, मूल्य १)

महात्माजी की प्रथम महाराष्ट्रीय शिष्या श्रीमती अवंतिका बाई गोखले की यह एक जीवन गाथा है। श्रीमती गोखले महाराष्ट्र की एक आदर्श महिला थीं जिन्होंने अपने सेवा मय जीवन से देश के महान् नेताओं को आकर्षित कर लिया था। उन्हीं के स्फूर्ति दायक कार्यों का इस पुस्तक में वर्णन है, जो सभी बहिनों और भाइयों को लाभदायक होगा।

—प्रतापचन्द्र

राजनीति

पन्द्रह अगस्त के बाद—लेखक-महात्मा गाँधी प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ २४०, सजिल्द, मूल्य २)

स्वराज्य मिलने के बाद यानी १५ अगस्त १९४७ के बाद महात्माजी के निधन यानी २९ जनवरी १९४८ तक गाँधीजी ने जो लेख लिखे थे, उनका इस पुस्तक में संग्रह किया गया है। पूरे १०० विषयों पर गाँधीजी के विचार जानने का लाभ तो इस पुस्तक के पढ़ने से मिलेगा ही, साथ ही इसमें

इन ५-६ महीनों का राजनीतिक इतिहास, उस समय की परिस्थिति का दिग्दर्शन भी इसमें मिलेगा। पुस्तक की महत्ता स्वयं सिद्ध है।

बापू की कारावास कहानी—लेखक-श्रीमती सुशीला नैयर, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ४५६, सजिल्द, मूल्य १०)

१६४२ के आन्दोलन में गाँधीजी सर आगाखाँ के महल में रखे गये थे और वहीं उन्होंने कई घटना पूर्ण वर्ष बिताए थे। सुशीला नैयर उन दिनों गाँधीजी के साथ थीं। उन्होंने गाँधीजी को निकट से देखा था और प्रत्येक घटना से उनका थोड़ा बहुत निकट का सम्बन्ध रहा था। उन्हीं घटनाओं का—जिनका महात्माजी पर ही नहीं सारे देश और समाज पर गहरा असर पड़ा—इस पुस्तक में विस्तार से वर्णन है। महादेव भाई की मृत्यु और पूज्य बा के निधन का मर्मस्पर्शी वर्णन पढ़ते ही बनता है। श्रीमती नैयर की यह पुस्तक बडी ही मार्मिक है और उसका वर्णन बड़ा ही प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही है। राजनीति के विद्यार्थियों के लिए तो वह पुस्तक बहुत ही महत्वपूर्ण है। —म०

सुदूर दक्षिण पूर्व—लेखक—सेठ गोविन्ददासजी, प्रकाशक-प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ १७१, सचित्र, मूल्य ५॥)

अंग्रेजी भाषा में ऐसी पुस्तकें शीघ्र पढ़ने को मिल जाती हैं जिनसे हम दूसरे देशों की वास्तविक स्थिति, वहाँ के रहन सहन, वहाँ की सभ्यता-संस्कृति और वहाँ के लोगों की अपने देश के प्रति भावनाएँ जान सकते हैं परन्तु हिन्दी साहित्य में ऐसी पुस्तकों का बड़ा अभाव रहता है। प्रसन्नता की बात है कि सेठ गोविन्ददासजी ने अपनी सुदूर दक्षिण-पूर्व की यात्रा के संस्मरण हिन्दी में प्रकाशित किये हैं। सेठ जी न्यूजीलैण्ड में कामनवैल्थ देशों में पार्लमेण्टरी एसोसिएशन की सभा में भाग लेने गए और भाग लिया व न्यूजीलैण्ड के मनुष्यों का जीवन इतना सम्पन्न और सुखमय है कि हम उन्हें स्वर्ग में निवास करने वाले भाग्यशाली मनुष्य मान सकते हैं। वे बड़े ही सभ्य और सुसंस्कृत हैं। उनके रहन-सहन और आचार व्यवहार का अध्ययन करने से हमें बहुत कुछ मिल सकता है। वहाँ ऊँच-नीच, गरीबी और बेरोजगारी नाम निशान के लिए भी नहीं है। वहाँ बहुत सी जमीन और अपार प्राकृतिक साधन हैं जिनका बहुत बड़ा भाग मानव शक्ति के अभाव में अछूता पड़ा है। न्यूजीलैण्ड में पशु पालन के दृश्य देख ऐसा मालूम देता है मानों वही श्रीकृष्ण की वास्तविक व्रजभूमि हो। वहाँ का डेरी व्यवसाय आश्चर्य चकित करने वाला और भारत में 'गोहत्या' बन्द करो का कोरा नारा लगाने वालों को शिक्षा देने वाला है। न्यूजीलैण्ड के गोरों ने वहाँ के आदिम निवासी मावरियों के प्रति समानता का व्यवहार कर जहाँ दक्षिणी अफ्रीका और अमरीका के मुख पर कालिख पोत दी है, वहाँ वह अपने यहाँ आबादी बसाने के प्रश्न पर गेहुँए व श्याम रंग के लोगों की उपेक्षा करते हैं। वे पिछले महायुद्ध के अपने दुश्मन जर्मन व इटेलियनों को बसाने को तैयार हैं पर भारतीयों को नहीं। इन देशों में करोड़ों व्यक्तियों के बस जाने की गुञ्जायश है। फीजीद्वीप में अंग्रेज साम्राज्यशाही आज भी किस प्रकार 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपना रही है वह भी पुस्तक में ज्ञातव्य है। सभी वर्णन रोचक है, भाषा बड़ी सरल है और उसके अध्ययन से न केवल सुदूर दक्षिण पूर्व के देशों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है बल्कि इस पर भी कि वहाँ के लोग, हमारे साथ किस प्रकार का व्यवहार करते हैं। हिन्दी साहित्य में इस तरह की पुस्तकें जितनी अधिक प्रकाशित हों उतना ही अच्छा। —आनन्द

भारत के युद्ध—लेखक-कमलचन्द्रदास, प्रकाशक-ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना। पृ० ८६, मू० १)

पुस्तक में महाभारत से लेकर सन् ५७ की अमर क्रान्ति तक के कुछ विशिष्ट युद्धों का वर्णन दिया गया